

वैचारिकी

(साहित्य-समालोचन)



ललित
शचीरानी गुर्ग



1962

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक तथा पुस्तक बिन्देवा

काश्मीरी गेट

दिल्ली 6

VAICHARIKI
(Literary Criticism)
by
Shachi Rani Gupta
Rs. 10 00

COPYRIGHT

© ATMA RAM & SONS, DELHI

प्रकाशक

रामलाल पुरी संचालक
घाटमाराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट दिल्ली-8

साक्षर

हीर बास नई दिल्ली
मार्ग हीरा गेट जाह्नवर
बौड़ा रास्ता जयपुर
जयमपुर रोड मेरठ
विरवविद्यालय क्षेत्र अन्धीगढ़

मूल्य बस रुपये
संस्करण प्रथम 1963

मुद्रक
सुरेन्द्र प्रिंटर्स प्राइवेट लि
टिप्टीनग दिल्ली-8

निवेदन

‘बेचारिकी’ मेरे स्फूर्त निबन्धों का संकलन है। समय-समय पर भीतरी और बाहरी प्रेरणा बस—कभी पत्र-पत्रिकाओं से लेखों की माँग के कारण कभी रेडियो-बार्ताओं के रूप में जबका नई कृतियों व कृतिकारों की विचारधारा का मन पर पड़ी छाप या प्रतिक्रिया बस जो मिलना पड़ता है—उन्हीं सब लेखों को संशोधित और परिष्कृत करके प्रस्तुत पुस्तक में दे दिया गया है। कुछ वर्षों से राजकीय सेवा में होने के कारण जीवन बहुत व्यस्त हो गया है। मेरे समय का अधिकतर उपयोग सरकारी कामकाज और सरकारी हिन्दी के निर्माण में होता है फिर भी दस मागबौड़ और अत्यधिक कार्यव्यस्तता में जो साहित्य से मेरा संपर्क है उसी का परिणाम है बेचारिकी। इस स्थिति में योंकि कि स्वानाधिक है विषय चयन में कोई क्रम या तारतम्य नहीं है, किन्तु बाबजूद इसके यदि विद्वान् पाठकों को उनके मनोमुक्त रूप में कोई सामग्री मिल सके या वे कोई क्रम या तारतम्य खोज सके तो मुझे प्रसन्नता होगी।

११	कन्नडकार देवेयवास	२४७
१२	<u>सुमित्रालम्बत पंत की काव्य-शासना</u>	२६९
१३	काश्मीरी सप्त कवयित्री—सम्प्रदे	२७९
१४	सुमित्राकुमारी श्रीहाम का वात्सल्य	२८९
१५	महादेवी की काव्य-शासना	२९५
१६	हिन्दी कवयित्रियाँ	३१४
१७	प्रकृति का महान् चिंतन—महाकवि कालिदास	४०४
१८	प्रकृति का महान् चिंतन—विश्वामित्र बङ्ग उर्वर	४४९
१९	महाकवि नेट के दार्शनिक विचार	४५६
२	कंठशर्षा टाइट्यास	४६३
२१	कुछ पाश्चात्य कवियों की काव्य सामाजिकता	४७४

आज के आलोचना भित्त पर दृष्टिपाठ करते हैं तो उसका प्रत्येक स्तर गतिमय प्रतीत होता है। युग बदला है तो युग के वैचारिक इन्धन न [टिकोय भी बदले हैं। पृष्ठों की कोमल-प्राप कल्पना आज अधिक सक्रिय अधिक जागरूक हो उठी है। युग और जीवन से टकराकर अब तक की बची पड़ी कल्पनाएँ बोट बामे नियंत्रण की भाँति फन उठाए ह। बुजुर्गों की पीढ़ी आगत-अनागत के आह्वान से मरी थी। उनका अनुभव-सिद्ध सहज भाव-हरियों का अलग-अलग राष्ट्रीय नियम एक कोरमठ इन दो कूर्मों को स्पर्श करता हुआ घट-सहज बापों में उच्छ्वसित हो—संरक्षणीय की भाँति—अप्रतिहत वेग से बहा करता था। उनके मर्यादित चिंतन का बीच कम टूटता था उनकी तुष्ट दृष्टि ठरकीक न हुई थी। पर नई बेतना में टकराकर लेकर अपथाहत सतर्क हो गया है। वह पूर्ववर्तियों से अपने आपका उच्छिन्न करते सर्वथा नई लीक का राही है। साहित्य के प्रति उसके दायित्व नये हैं उसके कर्त्तव्य का मानवष्ट मया है। उसके मर्यादित का विज्ञान मया है। भीतिवता के विकास के साथ ज्यों-ज्या रागात्मकता विविध पढ़ती जा रही है बौद्धिकता उपर रही है। एतत् संक्रमण की इस अराजकता के बीच आलोचना की ऐसी अमिमन प्रभावित्य विकसित हुई हैं जिनमें साहित्य के प्रति एक महीन और तीव्र बेतना का आभास दिखता है।

तो परिधिप्रता ने आलोचना को कई डग आगे बढ़ाया है। मानवीय चिंतन एतना आगे बढ़ गया है कि जगमें नई सूत्रनोत्पत्ता के साथ-साथ बौद्धिक जिज्ञासाओं की साहसिक प्रयासों से निरबी सूजन को आँकने की स्नाहिया भी जय गई है। आचार्य पुस्तक के बार हिन्दी आलोचना रत्नात्मक पम पर अग्रसर होती रही तो कि उसके स्थायी मूल्य और माप की कसौटियाँ अभी मुस्तिर नहीं हुई। दिनानुदिन बौद्धिक नवीनता के आग्रह न आलोचना के उपायों को उन निरे रुक अपों में ही ग्रहण नहीं किया अपितु आलोचना-परम्परा की लीक से अल्प हट कर साहित्यिक प्रक्रिया के सच्चे स्वरूप और जीवन की रागबोधारमक अनुभूतियों एवं बाह्य वास्तविकताओं के साथ उसके सर्वेकारमक सम्बन्धों का जानने और समझने का

भी प्रयास किया। अच्छता आलोचना की प्राणवाम परम्परा अभी विकसित नहीं हुई, पर साहित्य में उसकी नष्टी जकें है उसके निर्माण में उसकी गठन में उसके स्वाभित्त में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

मौजूबा आलोचना प्राचीन और नवीन का समिधबिद्ध है। वह अभी समुद्रि के उस छोर को नहीं छू पाई, जहाँ से दिग्भ्रान्त हाग का सतरा टक जाता है। पर अन्य प्रमाओं को आरमयाए कर बाहर से बाय ने उसे सुबद्धित और परिपुष् किया है। साहित्य के समुहगत पर्यालोचन परीक्षण बिहसेपय उसके सत्य क्रिया अर्थ नत्य निष्कपों की सोज सम्मक अनुसोसन तथा देशीय एवं बहिवेपीय अन्तबिरोधों ने इधर कितनी ही प्रवृत्तियों को जग्य दिया है जिनमें मुयीत मैबिध्य और असाभाम्य पुनयोग है। मुख्य रूप से तो दो ही प्रवृत्तियाँ काय कर रही हैं—अन्तर्बादी और बस्तुबादी। अन्तर्बादी प्रवृत्ति का मूल मनोविज्ञान है जिसमें बहुवृत्ति आत्म-अपीकन स्वप्न-परिपुष्टि और बमित इच्छाओं के कारण स्व-रत्वारमकता (Neurosis) आदि मैवक्तिक विकृतिमाँ सघबित है। कुछ आत्मकेन्द्रिक आलोचकों ने मनोबिस्तेपन का बायरा सीमित कर ऐसे अन्तर्मुखी अमम्य असापीटी तत्त्वों की सोज की है जिनमें मानव-मन के भीतरै पत्तों में बबी पड़ी काम-कुष्ठाओं का बिबेचन है। जैसे-जैसे भौतिकशास्त्रियों की पबेपणाएँ आमे बड़ रही हैं मानव-विज्ञासा के पीछे छिपी कठिपय स्वीहृत्-अस्वीहृत् साम्यताओं के पटीसामरमक प्रयोग शुरू हो पए हैं।

परामित भोगवाद

कहना न होया—ऐसे आलोचक कायड के मतबाओं से प्रभावित हैं जिनमे मनुष्य की समान विकृतिमाँ अथवा सांवातिक मानसिक रोषों की उत्पत्ति निरोबित प्रेरणाओं ने खोजी है। उसके अनुसार मनुष्य की मन-प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो स्वभावतः अप्राप्य की बाह बीड़ा करती हैं। वे सग बस्तुमाँ को पाग के लिए सतत चेष्टाशील रहती हैं जो नितांत सामाजिक अथवा ब्यावहारिक जीवन में अमान्य हैं। अपने प्रयत्न में बाबा पाने से मनुष्य की प्रबस भोगेच्छा उसकी सम्मत उहाम लाछसाएँ उग्र संवेन मिरन्वर बमित होने के कारण अचतन मन में इह वैबा करते हैं और ऐकांतिक वृत्तियों पर हाबी होकर अन्त-करण के अश्रेष्ठ स्तरों में सघिब हो पाठे हैं जो बाहर से तो अोजक पर भीतर से मनोव्यापारों का अकिभाम्य भंग बने रहते हैं। इन ठिरोमूठ अबांछित मनोवेषों जुटे इच्छाशी बजबाठों का सभिक दृष्टि से सभन नहीं होता अपितु समय-असमय इन्हें अति बमित्त अत्तेचना मित्सी रहती है जो सजय चेतन के असंख्य तारों को अनापास ही सनसना बेटी है। मन के मङ्गार में बबी पड़ी ये काम-कुष्ठाएँ, कायड के अनुसार, नाताबरन के अनुकूल नियमित होती रहती ह और मनुष्य के सच्चतर 'अहँ' हास उसका संस्कार वा परिष्कार होसा रहता है। पर जब-जब उनमें अयंकर बिस्फोट

होता है अर्थात् मनुष्य की उच्छ्वसक वृत्तियों पर से बुद्धि की राध डीली पड़ जाता है तो मानसिक उच्छ्वानों और असन्तुष्टि मनोविकारों को कोई बाह नहीं है।

फायर ने मानव-मन की मूल प्रेरक शक्ति 'काम' मानी है। इसी कसौटी पर उसने अपनी सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक भित्ति खड़ी की है। मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा शुक्ल-वृद्ध, सुख-एवं उदात्त चिन्तन विचारधारण, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष और जानी-अजानी क्रियाएँ, सचेत अचेत तथा अचेत मन के अज्ञात अवाचित निष्ठा सुपुष्टि अथवा आपदावस्था के कार्य-व्यापार, उसकी दूधानी या सतुष्टि वृत्तियाँ—समा का उद्भव 'काम' अर्थात् भोगव्यय उत्तेजना है जिसको फायर युवावस्था में ही नहीं बल्कि शैशवावस्था से ही—बहिर्मुख रूप में—स्वीकार करता है।

अपने यहाँ भी विदलेयकवादी आलोचकों का एक ऐसा बग बन गया है जो फायर के पथचिह्नों का अनुसरण करता हुआ सभी और पुरख के बीच के स्पृक घाटी रिक्त इंडात्मक आकर्षण को ही सर्वोपरि मानता है।

'हमारे व्यक्तित्व में होने वाला संघर्ष मुख्यतया काममय है और बूझि-कलित साहित्य तो मूलतः रक्षात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में काम वृत्ति की प्रमुखता अस्ति है।' (डॉ. जे. ए. 'विचार और अनुसृति')

इसी प्रकार डॉ. जे. ए. ने अस्त-छायावादी काव्य को 'काम' से प्रेरित माना है। प्रेमव्यय वाले केस में उन्होंने लिखा है

"साहित्य में कामाहित स्वप्न-व्यपनाओं का असाधारण घोर रहता है। ये तबसता हैं जिस साहित्य का बहुबाँस इन्हीं काम-व्यपनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संघर्ष प्राप्त करता है। ('विचार और विवेचन' पृष्ठ १३)

'अज्ञेय' ने तो भाव के समुचे साहित्य को कृष्णवात माना है। 'त्रिधक' में 'परिस्थिति और साहित्यकार' शीर्षक निबंध में उन्होंने स्पष्ट उद्घोषणा की है—

"भाव का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अनृष्टि का या कहूँ कीचिड़ काठसा का इच्छिण विचार (wishful thinking) का साहित्य है।"

इसी केस में एक अन्य स्पष्ट पर से लिखते हैं

" हमारे देश की सामुक्त अवस्था में अनुकूलता की संतोषजनक सामाजिक परिस्थिति की भाँव वृत्तह ही उठी है।"

इसी भाँव के कथित हो भाँव से जो बोहूँ जो वसन्त अनृष्टि पीदा होवी है वह एक विशेष प्रकार के साहित्य की ही प्रेरित कर सकती है।

भाव का हिन्दी साहित्य प्राम्-ठीक ऐसा ही साहित्य है।"

'अज्ञेय' ने मनुष्य का अनुधाहित करने वाली या प्रमुख वृत्तियाँ मानी हैं— बहूँ और काम जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है। मनुष्य की उपयोग वृत्ति के

साथ उसका यह टकराता रहता है। कहीं महामात्र में दमित काम का पर्यवसान हो जाता है और कहीं काम के अनुपासन को स्वीकार करके महामात्र की एकांगी विकासमूलक साधना की चरम परिणति ही दृष्टिगत होती है। नैतिक व्ययथान और सामाजिक परिच्छेद मानवीय विफल कुष्ठार्थों पर प्रवचना का पर्वा डाल देते हैं जिससे असाहनीय स्थिति अर्थात् उनकी भाषा में—'बीहूँ ब पैदा हा जाता है।

क्रामक के मनकल्पना सम्बन्धी छिटाओं के इलाजग्र जोड़ी भी क्रामक हैं, पर उनका अनुभव-क्षत्र विद्यास है और वे किसी भी मठबाद की चौहूँ में न बँध कर मनोविज्ञान की व्यापक स्थितियों को स्वीकार करते हैं।

मिरे मन में मानवीय मन का विभाजन केवल दो या तीन खण्डों में नहीं किया जा सकता। मनुष्य का मनोभोक केवल सभेत मन या अर्द्धचेत मन तक ही सीमित नहीं है। वह असंख्य स्तरों में विभक्त है जिनमें से अधिकांश स्तर साधारण चेतना की अवस्था में हमारी अनुभूति के लिए अज्ञात रहते हैं। जिन अर्वाचित प्रवृत्तियों का हम ध्यान करते जाते हैं वे किन्हीं स्तरों में आकर उन्हीं में पुनर्मिश्रित जाती हैं। प्रतिक्षण एक न एक अज्ञात स्तर हमारे सभेत मन को प्रेरणा देता रहता है। पर असाधारण अवस्थाओं में एक नहीं अनेक स्तर, एक दूसरे से टकराते हुए, सभेत मन पर आकर हमला करते हैं और एक प्रचण्ड मानसिक भूकम्प की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। अन्तस्तस में निहित कौन स्तर कम और क्यों उठ कर तुझान मचा बैठेया इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है।”

('विहतेवम' पृष्ठ १२)

हम तो कहने मानव-मन की क्रिया-प्रतिक्रिया इतनी सूक्ष्म और बहुबन्ध है कि उसे किसी विषय खंडों अथवा स्तरों में विभक्त किया ही नहीं जा सकता। मन की सम्मगधीक क्षणिकी कैवल्य प्राणीतिक है। वे एक ऐसे स्वतःपूर्व समन्वय की सजीव प्रक्रिया हैं जो अपन धाप में अविभाज्य हैं। उन्हें अप्पु, परमाणु या उसके भी सूक्ष्म तम कर्मों में विभाजित करना असम्भव है। मन का निर्माण इतना उल्लासपूर्व और रहस्यमय है साथ ही उसके पुनारमक भूखों की सत्ता इतनी संक्षिप्त और अविभाज्य है कि उसके स्वरूप का निर्धारण किया ही नये जा सकता है। अतएव अन्त और अमित चेतना को 'काम' की सीमित परिधि में बंदी बनाना अथवा उसका एक ही मुक्त एवं अपरिणत आचार जोखना सर्वथा गलत और भ्रामक है। मन की मुक्त तरंगों अपरिणत प्रयोग से अनेकधा होकर प्रवहमान होती है जिनके ओर-ओर का पता लगाना अथवा मनोभोक की सभी असंख्य वृत्तियों की कामोन्मुख मानना गिरी विवम्बना है। मोरधन्य उत्तेजनाएँ तो क्षणिक उत्साह की धिबाएँ हैं जो एक बार प्रवीण होकर किसी भी स्थितप्रज्ञ साहित्यकार की बुद्धि को अस्विकर कर सकती हैं। किन्तु महान् स्रष्टा की सृजन-चेतना तो अभी विरहट होगी जब कि वह सबांध के ध्येय प्रेम को आत्मबद् ग्रहण करने का अम्यस्त होगा।

प्रश्न है कि क्या किसी भी अक्षय अथवा इन्द्रियातीत सूक्ष्मतम सस्कारों को अंतिम दृष्टि से वास्तविक सिद्ध किया जा सकता है या नहीं ही बहुमों एवं असत्य आचारों को प्रत्यक्ष द्वारा पीपन मिमा है ? मन से परे अचेतन की अमम्य अवस्थामों से छायाकार बड़ी व्यक्ति कर सकता है जो अन्तर्नृति के वन पर अन्तस्थापना के मार्ग का अनुवाचन कर चुका है फिर भी ये भीतरी अनुभूतियाँ मानसिक वातावरण में से मुक्त कर जब भाषा में व्यक्त होती हैं तो उनमें परस्पर भव प्रभेद एवं विषय परिवर्तन या ही जाती हैं जिनकी न व्याख्या हो सकती है न विश्लेषण ।

स्वयं प्रत्यक्ष के दो सिद्धियों एकर और मूल ने आय कर [उद्यम विरोध किया था । प्रत्यक्ष के काम-बाधना के महत्त्व और चेतन-अचेतन के अन्तर को उन्होंने सर्वथा अनुपयुक्त माना था । एकर के मतानुसार मनुष्य की मूल प्रेरणा-व्यक्ति मोक्षपना अथवा बह्यपन प्राप्त करने की इच्छा है लेकिन उतनी में एकरेस्त महत्त्व-कांक्षाएँ कठोर यथार्थ के अत्यन्त सङ्कुचित दायरे में विरस्तार हो जाती हैं । धर्म-धर्म-उद्यमों आत्महीनता की भावना बघती है जिससे उद्यमों भीतरी जीवन में बहुत कुछ अस्तम्यस्तता और अघान्ति छा जाती है ।

इसके विपरीत यूज ने मनुष्य में विभिन्न मन-व्यवस्थाएँ इच्छाव्यक्ति और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ होते हुए भी कमाकार के रूप में उसकी उच्चतर स्थिति मान कर उसे 'सामूहिक मनुष्य' और मानव-मान के अचेतन मानसिक जीवन को प्रेरित और स्थापित करने वाला प्राणी स्वीकार किया है । उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो गया कि मन के अक्षयनीय उद्यमों की कोई ठोस परिचीना नहीं है । यह अवश्य है कि प्रत्यक्ष ने जितना को एक नया मोड़ दिया पर आधुनिक मनोविज्ञान हमारे-भीतर काम कर रहे जीवन और चेतन्य के क्षेत्रों की जो धोज कर रहा है उसमें यह बहुत दूर तक नहीं के जा सका है । ज्यों-ज्यों नये संशोधित सिद्धांत आये जायेंगे पुष्पनी साम्यताएँ पीछे पड़ जायेंगी । मनोविश्लेषणवादी आलोचक प्रत्यक्ष या परीक्षक रूप में स्वयं इस बात को स्वीकार कर चुके हैं । इसाचन जोशी प्रत्यक्ष के एकापी और संकीर्ण दृष्टिकोण की मत्सना करते हुए अपना अनिमित्त में व्यक्त करते हैं

'प्रत्यक्ष ने यह निर्दिष्ट किया है कि इन भीर की अवस्था में—आपत अवस्था में भी—जितने भी स्वप्न देखते हैं वे बरते हुए रूपों में हमारी दमित धीन भावनाओं को ही विस्फुलित करते हैं । उसके कथनानुसार हमारे स्वभाव की जितनी भी विवृतियाँ हैं उनका मूल कारण दमित धीन प्रवृत्ति है और जितनी मुक्तियाँ या सुसंस्कृत और समुन्नत प्रवृत्तियाँ हममें पाई जाती हैं वे भी दमित धीन प्रवृत्ति के प्रजातीकृत रूप हैं । मरज यह कि मानव-जीवन को प्रवृत्ति की ओर बढ़ाने वाली भाषा विवृति की ओर बीछे घसीटने वाली मूल परिचायिका अस्तित्व एक ही है, और यह है धीन-प्रवृत्ति । यह कंता एकापी और संकीर्ण दृष्टिकोण है विद्येपत्तों को यह बताने की आवश्यकता न होगी । यह ठीक है कि धीन-प्रवृत्ति के भीतर एक बहुत बड़ी अनु-व्यक्ति निर्दिष्ट है जिसके अतिव्यक्ति विस्फोट से मनुष्य के सतत जीवन

पर अभावही प्रभाव पड़ सकता है तथा जिसके सुनिश्चय से जीवन के सुचारु संचालन में एक बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। पर तमस्त मानवीय भावनाओं मनुष्य की सभी सुख-दुःखमयी बेरनाओं और आकांक्षाओं की पून नियंता एकमात्र यही प्रकृति है। ऐसा सम्झना घोर भ्रामक होना। अर्थात् मानवीय पून प्रकृतिमाँ ऐसी है जो यौन भावना से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रखती और जो मानव के संपूर्णमय जीवन को कुछ निश्चित विद्याओं की ओर धक्का देती रहती है।”

(“विद्वैतधर्म” पृष्ठ १८)

जो तमोग्र जमी फायद के मतवालों से मुक्त नहीं हो पाए हैं— ‘प्रपतिवाद के एकाध नाशान होस्त की मोटी बस में फायद का महत्त्व नहीं बैठ पाता पर इससे फायद का कुछ नहीं बनता-विमडता।

पर झपटा है उनके विचार अब समयमान तमों हैं और वे फायद से पीछा छुड़ाना चाहते हैं। एन रेडिनो-प्रचारित भाषा में उन्होंने कहा था ‘मेरे सहोमी और सम-सामयिक मुक्त फायदवादी धमसते हैं किन्तु उनकी यह धारणा भ्रम है।’

‘अज्ञेय’ तो उनके जीवनवादी होते हुए भी प्रपतिशीलता का धर्म मरते नहीं सकते। ये बुद्धिकोण ही उनके जीवन के ‘धुन’ हैं और पुस्तकें उनकी माध्य।

लेकिन फायद के इन स्वूस वैदिक आकंपन न इधर अपरिपक्व नीतिज्ञानों की बुद्धि को इतना झकझोर है कि जो स्थापनाएँ अब परिचय में ही सविष्य हो गई हैं या उन्हें ना-फायदी मान कर फिटने ही हेर-फेर किए जा रहे हैं—उन्हें मने धिरे से अपना कर वे अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं। बो-एक प्रतिष्ठित बालोचकों की यह पाकर तो आधुनिक मनोविज्ञान के प्रतिमानों का जो स्वर्न सैधव और प्रयोग की संविष्पावस्था में है हिन्दी साहित्य पर इस प्रकार पोषा जा रहा है कि नकारात्मक सकीच स्वेच्छावादी प्रकृतियों को प्रथम दिया जा रहा है। फायद के इन अल्प मतानुयायियों का देखकर उन अज्ञेयविलिप्त कामतुर और विकृत रोपियों की सम्प्री इतार बाँधों के सामने आ बड़ी होती है जिनके मस्तिष्क में विषयता की घुटन है और बहमी उमसतों के कीड़े कसमसा रहे हैं। मनोविज्ञान की आड़ लेकर और मतवादी संकीर्ण सीमाओं के कटवरे में बाँधकर जो साहित्य को एकाधी और मर्यादाहीन बना रहे हैं वे उसे धरम विकास के मुद्दाने पर ले जान के बहाने कहीं—कितनी दूर तक—अपकीच में—ले जाकर छोड़ देंगे—कहा नहीं जा सकता। भीतर-ही-भीतर बाधना का ‘धुन’ उन्हें बाएँ जा रहा है जो इनके पधुत्व को बमार कर अविकाधिक उन्हें खोसका और पुंसत्वहीन बना रहा है।

नि-सम्येह इन भीतरी धम-विद्यारों के विमापी छिद्र और तिस पर अनयंत इच्छा-आकांक्षाओं के न जान कितन ही निसेकुसे अनन्त स्तर हैं जिनके पटिल बाल में समुधा जीवन और उनके अनपिन व्यवहार-स्यापार उलझे हैं। संविषों में गुन कर से बने-बुट विकार ही तीव्र से तीव्र होकर जैसे आज के छिन्न-मिलन जीवन के

विसृष्ट और वृद्धि के यन्त्र की सही उकारों से संघेरी मुहामों को मुजाते अंतर्मन के कोनों-कोनों में सफ़ि बेने का रस भरते हैं। सब कुछ नया अनदेखा बनजाता बे-अनसा—एक निरर्थक दुस्वप्न-सा—बुटन और हठाया की पसायतवादी परिपथि में आ सिमटा है। जीवन के अगल फेमिल प्रवाहों की ओर जन्मुन पर उक्त प्रवाह के मयवेग को बस करने वाली भीषण बट्टामों की ही तरह जहाँ अनेकामक बिकारों के उपकरण मौजूद हैं—ऐसे 'बोबिस काम्प्लेक्स' के जवाकार जावतों में दिग्भ्रान्त—कस्य से भटके हुए, मयर छिर भी किसी एक ओर ही बढ़ने की जिह् उरने—सुन-मन की बकान और जीवन-समयों की तमछी तिय ऐसे-ऐसे दूरस्थित कोरों पर भटक जाते हैं जहाँ सामंजस्य के बिन्दु या किसी प्रकार का मौलिक साम्य नहीं है जहाँ इतफ़रक से एक हवा टकराई तो डूधरी कलपकर गुजर जाती है। मनोवैज्ञानिकों के मत में यह 'बोबिस काम्प्लेक्स' ही तो सारी मसीबत की बड़ है। बस यही ठो है वह गलाब जिसकी बोट में मसकी और नकली बेहरे छुपे रहते हैं। मसबेयन की दुर्मस परतों में आत्म प्रपीडन अहकार और ब्यक्तित्वहीनता पूजा इप और बुमबिगा बिषार, भावना और परिस्थितियत इन्ड' बाकर्पन-बिकरण और क्रिती ही मुसबियों-मुसबियों से उपजी अकारण प्रवृत्तियाँ—ऐसे-उसे असक्षय अपराधों की समावताओं को नित्य बनाते रहते हैं जिनमें बहुमुखी विराट् बाह्यम के अन्तर्भाव स्पन्दन अपने छिछले प्राणस्पन्दन से एकमेक कर ये मताय इम्पी और संकीणमना लोग निबी इच्छा-आकांक्षाओं के बिम्ब प्रतिबिम्ब उभारते रहते हैं। साहित्य के जीवन्त प्रेरणादायक स्वरूप को न समझते हुए अपन सुद्र विरवायों की दुर्बल उलगा में बहक कर ऐसे-ऐसे अप्रत्याशित परिदृश्यताओं के 'जलाइमेक्सों' द्वारा इस तरह के वृष्टि कोष मतवाब धारणाएँ और भव-विमंभ प्रस्तुत कर रहे हैं जिनके द्वारा एक निवास्त कुष्ठि जड़ता में साहित्य के सुजनशील तत्त्वों का रस बोटा जा रहा है।

किसी भी आलोचक को आलोचना की निजी बचीटी बक्षियार करने की तो स्वतन्त्रता है परन्तु साहित्य को इस प्रकार स्वच्छानुसार से कुष्ठि करने का उसे कोई अधिकार नहीं।

अतिचारवाह या अक्षय जन्मुवित

उपयुक्त मनोविरलेपनवादी बारा के समानांतर कुछ अन्य प्रतिमामी प्रवृत्तियाँ भी छाप-ही-छाप वनप रही हैं। मुख्यतः हमारे अत्याधुनिक समीक्षकों में यह भावना बर करती जा रही है कि बिषार और अभिभ्यक्ति में ब-रोकटोक स्वतन्त्रता बरतनी चाहिए। जैसे ही वे प्रपत्तितीक हों या प्रयोमशील अबबा ऊपर से फायद के बुरमन ही क्यों न हों—वे किसी भी साहित्य के आचार उपचार को न मान कर बहते हैं—किसी भी प्रतिबन्ध को न मानो जो बाट बहनी हो समे बिस से बहो। किसी की पबह न करो किसी का सिहाय में अपने भीतर की बबी हुई बासनाओं बक्षिधों आकांक्षाओं का मसा न बबामो। बसएव उग ठरवों और निपकों को निमू क कर दो जो कसा के रूप और बिपन की पूम स्वतन्त्रता एवं निर्बोबता में

बढ़गा डालें। एसा प्रतीत हाता है कि मानसिक सचय मनुष्य की चेतना को ठेक कर भीर उसका नसमसाता भीठरी बिद्रोह ठक कर न सीस कर समस्त बंधनों को तोड़ता हुआ बाहर पूर पड़ना बाह्या है। मनोबिदलनवादीसिद्धि का नाममात्र महुत कुछ मतकस्मना है, अतः बौद्धिक अधिक है। जिन्हें इसमें कास्वयिक मुक्त मिंसा के इच्छे सम्मोहित ही अधिक हुए, क्योंकि भारतीय साहित्य-परम्परा के अन्तर्गत इस विजातीय तत्त्व की पुनतमा अपत न हो पाई। यहाँ के मनो-बिदलनवादी आलोचना भी इसे बुद्धि द्वारा ही ग्रहण कर सके अनुमृति द्वारा उसे अनुप्राणित नहीं कर पाए।

किन्तु ममार्थवादीसिद्धि ने इस मानना को नय स्वर से बयाया है। वे मन के सवुम बाबरणों का पर्यायास कर 'काम' के उद्देश्य का सुसा निर्बाध निष्कासन पतन करते हैं। इस पतनवादी प्रवृत्ति की ऐसी सहर सी आई है कि उपन्यास कहानी नाटक कविता आदि पर तो इसका पह्य प्रमाण है ही आलोचना भी इसके अठर से अछूती नहीं रह सकी है।

एक और प्रवृत्ति इपर फोरों पर है जो साहित्य की सहज गति को इधर करने वाली है। प्रायः जो आलोचक आलोचना के क्षेत्र में उतरते हैं वे विचार या तर्क-वितर्क करना तो पसन्द करते हैं, पर पाही नहीं है। कोठी मुक्तिर्मा ही उनके पास है अनुमृति की पू भी उनके पास बहुत कम होती है। परिचाम यह होता है कि ऐसी अधिकार्य आलोचनाएँ मसगत और अनिश्चसनीम उतरती है।

प्रगतिवादी समीक्षा

नये युग की नवोद्भावित चतना ने इपर साहित्य को गई राह दी है। जीवन बिकर कर इतनी धाराओं में बहने लगा है कि साहित्य का पठि-परिचर्जन अनस्यम्माही भी हो गया। समष्टियुग गतिवेग न प्रगतिवादी आलोचना को प्रथम दिया और इस उच्छ की आलोचना क्रुब पनपी भी पर परम्परागत संस्कारों में अनास्था उत्पन्न करके विचारों की कसमकस श्रेष्ठता के इन्म और गित-गई सम-स्थानों की जीचठान ने जीवन के दुर्बल पक्ष ही उसमें अधिक उचारे। फिर यों-यों प्रगतिवाद मार्क्सवादी दार्शन इन्द्रारमक भौतिकवाद (Dialectic Materialism) से प्रभावित हुआ वह बर्षहीन समाज-म्यबस्था में विववास करने लगा और उसके बाह्य परिवेस भी बबस गए। गई-गई संकामों के साथ नए-नए समापान और निरासी समस्याएँ भी सामने रखी गई। बर्तमान को अतीत से विच्छिन्न करके देखा गया और साहित्य के धारबत तत्त्व इन्द्रबाय में आ सिमटे।

इस उच्छ से उद्भूत एक पठिरोष इपर की आलोचनाओं में बीस पड़ रहा है। प्रगतिवादी समीक्षक इन्द्र में ही विकास का स्रोत समझकर विच अधिकारवादी रूप को अपनाते जा रहे हैं वह सकीने सताबाब का बाह्य बत कर प्रगतिवादी और परस्पर-विरोधी तत्त्वों का एक दूसरे में अंतपटन कर साहित्य को पठिमान करने की

ब्रजाम उसके वेम को रोक रहा है ।

अब तक विद्येय सिद्धास्तों की कवौटी पर विभिन्न विचारधारा के विपक्षी दलों में ही परस्पर आलोचना प्रत्यालोचना हुआ करती थी जिससे साहित्य के बच्चे-बुरे, सबल और दुर्बल पहल उभर आया करते थे । इससे राहत मिश्री भी और अपनी अपनी रक्षियों को प्रयत्न देने का मौका भी मिल जाता था । मसमन ऐसी आलोचनाएं सबेब अमिनदनीय होती थीं और हमारी राय में कभी भी उनकी महत्ता कम न होगी जो साहित्य के मिथुनाचार का बहिष्कार कर उसे स्वस्थता की ओर प्रेरित करेंगी ।

“बहसुयायन की बार-बार कक्षाकार के ‘स्वानुमूत सत्य’ और उसकी ‘ईमानदारी’ की बात उठाते हैं बातें दोनों ही ठीक हैं । जिस साहित्य में कक्षाकार का अपना स्वानुमूत सत्य नहीं होता वह घटिया साहित्य होता है घटिया और प्रभावशून्य । बिलकूल ठीक बात है । उसी तरह जिस साहित्य के पोछे साहित्यकार की ईमानदारी नहीं होती वह वो कौड़ी का साहित्य होता है । बिलकूल ठीक बात है । देखना यह है कि इसमें कुछ बात बिन-कहूँ भी छोड़ दी गई है । वह बिन-कहूँ बात यह है कि एक छान तरह की अनुमूति ही अनुमूति है और एक छास तरह की ईमानदारी ही ईमानदारी । यानी अगर अपने कमरे में बन्ध आप अपने काम-प्रसिद्ध या मूर्खीकृत या धुलन और अचकार जरे मन की बारीक गुलकारियाँ बिलकारों तो वह आपकी सच्ची अनुमूति और स्वानुमूति मानी जायेगी लेकिन अगर आप किसी कठिनाई या भावना या पदना का बिज बोधे तो वह आपकी स्वानुमूत बात नहीं मानी जायेगी वह रचना कम्युनिस्ट प्रकार के अन्ध परिगमित हो जायेगी । अगर बात समझ में नहीं आती कि मेज पर पड़ी हुई पूल या कमीन पर रेंवते हुए कौड़े या मक्खी को अपने आँक में जँसाने वाली मक्खी या मँबुन करती हुई छिपकली या क्यूतरी या कनोमी स्याही की बाबल का पचाबंबारी निकलिकक बरफैस्तान तक पहुँचा हुआ बिजब अगर कवि की ईमानदारी में बाधित है तो कुछ बिहार के पोलीकांड पर एक कहानी या कविता या रिपोर्ताज लिखना उसकी ईमानदारी में बाधित क्यों नहीं ? घरदू की जुनहूँ या नदी तट की अपार बालुका राशि देखकर ही हमारे इन कवियों की सरस्वती क्यों जगती है ? मिथीय की ठिठुरती हुई निस्तबब बेला में उगई हूर बार अपनी प्रिया का ही ध्यान क्यों आता है एक बार भी कितनी परीब बैबारी लड़की का ध्यान क्यों नहीं आता जो ठिठुरते हुए रतल काट रही है और बिलकी हूर रात इन्ही तरह करती है ? कवि तो बड़ा धातुक मरखी होता है । क्या एक बार भी उसे इस परीब लड़की की पीड़ा की अनुमूति नहीं होती ? अगर होती है तो उसके अपने साहित्य में बचका प्रभाव ? और अगर नहीं होती तो क्यों नहीं होती ? वह सत्य कभी भी उसका स्वानुमूत सत्य क्यों नहीं बनता क्यों ये बोधें सबा उसके लिए बेगानी रही आती है ? कवि के सारे प्रतीक व्यर्थता और पकल पीड़ा और अचकार, पराजय और मृत्यु के ही क्यों हैं एक छान तरह की Ennui क्यों उसका सामन नहीं छोड़ती ? क्यों नयी दिग्गो का उवाक उसका बोस और अवागो, उसका अज्येय संकल्प उसका हुआर लर-

बीछों में भी मृतकराना उसका sense of fulfilment अन्वेष करते कवियों के यहाँ नहीं मिलता (यहाँ बड़े विवेकी साहित्य में) यह तबाल हम वास्तव्यम भी से पूछते हैं। क्यों ऊँच और बलम और भीत और अंधेरे और छायायीय मनोविज्ञान के बारीक से बारीक रसों को तराज मापको उनके यहाँ मिस कामपो मगर छातक-बर्ष के बड़े-से-बड़े कुर्म और बड़ी से बड़ी सक्तियाँ पोसियाँ और लाडियाँ और पुस्तिका की खिराघत में और शिलों में ही यई संवचार्ह—इनकी तबकी कोई प्रतिष्पति इस कवि-हृदय में नहीं होती इनके कितलक एक भी प्रतिषाव का स्वर उसके मुह से नहीं निकलता। मरे हुए कुले को बेवकर यह भीत वक्तियों की एक कविता लिख सकता है। मगर सत्तम के बैक पोलीकाई में मरे हुए पञ्चीत और धामल एक ही राजबंदियों की बाबत पढ़कर और सुनकर उसे दो वक्तियाँ लिखने की भी प्रेरणा नहीं होती। कवि कहेना—“मह मेरा स्वानुभूत नहीं है।”

(अमृतराय 'हंस' दिसम्बर, १९३१)

और इपी तरह कृपयीय वक्तिका की कुस्तित मनोवैज्ञानिकता को कड़ी कताप देते हुए सिखयानसिंह बीहान न सिखा है

“मोटे तौर पर, अनुष्य की मानसिक प्रतिष्पामों का अण्वयन करके लख्य वक्तियों आवेनों और भावनाओं की अणिक धानबोध संस्कृत और स्वस्य बनाने वाली सामाजिक प्रभावों का निर्बेस करना मनोविज्ञान का काम है। वरन्तु ये मनोवैज्ञानिक।

इन लकड़बाओं के धुचित मनोविज्ञान पर टिप्पणी करना भी किसी इंसान का स्वाभिमान पचारा नहीं कर सकता। मानबोध विचार नैतिक अर्थात् मानवीय भाव सांस्कृतिक वरम्परा समाज सम्बन्ध कता दर्शन विज्ञान मात्र कोई चीज भी तो इन भीत के व्यापारियों के निकट लख्य और पुनीत नहीं है। मानव अरुभा और मानव विवेक की हत्या करके यहाँ पर एक विसिप्य वरमभी कुमकरप्य को अपनाया मात्र इनकी विष्पंस योजना का अनिवार्य अंग है। उनका कु-स्वप्न कभी सफल नहीं हो सकता क्योंकि जीवन मृत्यु से अधिक बलवान है।”

(‘नई खेतना’ अंक ४ १९३१)

मगर मानवीय विवेक जयाने वाली और सवुभावना व हमबर्षी से विचारों के आदान प्रदान की चीखें इपर कम लिखी जा रही हैं। कुछ अर्थ से प्रपतिवारी समीक्षा में एही धाधिक पटेबाधी बस रही है कि व लोग कुव एक कुदरे पर कीचक सछास कर बेबुनियाद सिद्धांतों के प्रचार प्रसार में समय नष्ट कर रहे हैं। अविदवास और सुद अहंकार ने उनके बीच दुर्लभ्य प्राचीरें लड़ी कर दी हैं। इसका एक सबसे बड़ा कारण यह है कि प्रपतिवारी या माक्सवादी नई बात वाले बातोचक अधिकतर तो वे अधकचरे बबसरवादी नवमुनक हैं जो नवीनतम की अकार्णीय में बे-वर के उड़ कर बरसी पर पैर टिकाना नहीं चाहते। वे बबहवाष एक छमाकर इस कुदर जाने बड़ने की हिमाकृत कर रहे हैं कि प्रपति की बीड़ में सबको पीछ डकेड देना चाहते हैं। ऐसे वीरजिम्मेदार लेखक न साहित्य को नई परम्परा दे सकते हैं, न यम्पीर

मौलिक जीवन-दृष्टि और न मानव-हृदय को उद्बलित करने वाला अन्तर्मर्कों का बाह्य-प्रतिपात । प्रगतिवादी विचारधारा के कतिपय माम्य जासोचकों ने यथार्थ समस्याओं को सामने रखकर युवीन दायित्वों की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया था जबस्य पर सब ठो उनके दिकों में भी गहरी खाई, विचारों में विस्मय और साहित्य के अस्वपन की परीक्षा करने वाली उनकी एक-सी प्रतीत होने वाली कसौटियाँ बिन-दिन रय बदन रही हैं । महान् क्रांति के उन्मायक और साहित्य को सशक्त बनाने वाले उत्तरवादी केन्द्रक आज सुमराह हुए से लपटे हैं ।

नवम्बर, १९५१ के 'हुँम' में अमृतदास ने प्रगतिवादी जासोचकों की सर्वनात्मक धर्मिता का परिचय देते हुए डॉ. रामबिभास शर्मा शिवदान सिंह चौहान प्रकाश चन्द्र गुप्त अमृतमाला नगर डॉ. रंजय रावत डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन शमशेर बहादुर सिंह चन्द्र भूपण शिवेदी रामाङ्कण भाबि कई लेखकों के नाम गिनाए व और लिखा था "क्या इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि सभी भोग बहुत मौलिक प्रतिभाएँ लेकर साहित्य में आए हैं और सभी ने अपने-अपने माध्यम से साहित्य को भावों की नई गहराइयाँ नई सूक्ष्म-सूक्ष्म बचान की नई करवटें टेकनीक के नये निहार दिए ? पर क्या इतने ही से यह बात साक नहीं हो जाती कि हमारी पीढ़ी बाँस नहीं है ?"

उपर्युक्त मत से हम सहमत हैं और मानते हैं कि प्रगतिवादी शर्माद्या महज बूझ पर स्थित या जमाड़ बीराने में से नहीं नुकर रही है । उसमें प्ररक सक्ति है युग-चेतना के अधिक अनुकूल सत्य की साबता है और सामाजिक अर्थ में सुजनसीक सत्य भी उसमें अधिक सक्षि हैं ।

जहाँ तक प्रगतिवाय की सङ्घ बतिसीक प्रवृत्तियों का प्ररन है वे केवल स्वीकार्य ही नहीं अपितु सामाजिक चेतना को उद्बुध करने के लिए आवश्यक भी है । कोई भी उनकी उपयोगिता एवं दुर्बेय सक्ति का तिरस्कार नहीं कर सकता । साहित्य के बृहीत रस को सर्वसुख्य बनाने के लिए युग की आत्मा की बनेकमुखी स्यंजता अनिवार्य है और साहित्यकार अपनी सचेतना को अधिकारिक उमाड़ कर मानव-जीवन की व्यापक अनुमृति में पँठ सकता है । प्रगतिवाय शुक से ही सामूहिक परक्रांति के रूप में सभी सोने और औपचारिक बन्दनों को विच्छिन्न करता हुआ एक गतिशील विराट् सक्ति बन कर आया । उसने न केवल प्रबलित कड़ चारपाओं के विपरीत बरन् समाज के ढाँचे और उसकी मौजूबा व्यवस्था में निहित अन्याय आधिक असमानता समाज के बुन 'पूजाबाह' अनिवाय बय-सचर्य और परस्पर विरोधी बम-अबर्भ सामान्य-विशिष्ट, सापेक्ष-निरपेक्ष औचित्य-अनौचित्य की इडा एक अन्धिठि पर गहरी चोट की । उसने हमारी धार्मिक और नैतिक स्थापनाओं को लेकर जीवन-साम्य का समाधान प्रस्तुत किया और दलित घोषित मानवता के चिन्म बाँक कर व केवल हमारी कोदल बृतियों को शकशोच बलिक समाज की उभरती

हुई घितियों और साहित्य व कला के दैत और विसंघितियों पर भी दृष्टिपात किया।

व्यापक से बृहत्तर व्यापकता की ओर मनुष्य की गति है। वह निजत्व का प्रसार और बौद्धिक चेतना को क्रमशः विकसित रखना चाहता है। प्रगति की भावना उसके विचारों को ठेकती कुरेवती और जाने बढ़ाती है, मस्यमा जीवन बस नहीं पाता। शरत्कण्ठ ने लिखा है 'यदि मृत और कच्छहर ही हमारा रास्ता रोके र्हेमे तो आये बड़न को पक कैसे मिलेगा? बाठाबरण और परिस्मृतिमें के अनुसार मनुष्य की भावनाएँ विकसित होती र्हेती है। विगत युगों में जो हमारा जीवन सबम या वह भाव भी कैसे स्थायी रह सकता है? अपने सुख-सुख में तो हृदय एक परिवृष्ट विह्वलता का अलमल करता ही है, किन्तु समाज में रह कर वह बाह्य घनपों से भी मुह मोड़ कर कैसे जी सकता है? अतएव विकास के क्रम का कौन हिमायती न होगा पर यह उत्कर्ष यह विकास साहित्य में मूर्च्छ होना चाहिए। कोरे सिद्धांत कोरा विरोध कोरी स्वरूप कल्पना कुछ मानी मही रसती। कोई मस्सुक्ति न होनी यदि यह कहा जाय कि परस्पर-विरोधी दृष्टियों एक संघय नावता से प्रेरित होकर साहित्यकारों ने साहित्य में कुछ ऐसी सीमारेखाएँ निर्धारित की हैं जिसके संबुधित दामरे म हमारी सामान्य सृजन-सक्ति और सारा अंतस्चेतना उत्तरोत्तर ग्राह को प्राप्त हा रही है।

'इज्ज' की भावना म अमीष्ट सद्दय को भुलाकर लर्क-विठर्क और तये गत बादों की प्रवर्तना की है। हमारी साहित्यिक प्रतिमाएँ कुछ गुटों बायो और दल-बन्धिया के दलबल म फँस कर अपनी सक्ति का अपस्यय कर रही है। उन्होंने एकागी असामाधिक रस अपनाकर एक दूसरे के विचारों ना बहुत कुछ सपन मञ्जन किया है और साहित्य के उच्च सस्य से पचन्नष्ट होकर अराजक साहित्य की सृष्टि की है।

"अपने कान्ति-विरोध का लभूत देकर चौहान ने दुर्मुंजा मनोविज्ञान की भासा अपनी शुक की। मार्कंडबाब अपुरा है उसे दुर्मुंजा मनोविज्ञान से मिलाकर मरापुरा बनाओ—यानी साहित्य का लड़ाकू वर्णक्य उत्पन कर दो साहित्य को रैर कानिबहार बनाओ बम-संघर्ष में निरसिप्त और निरसंग र्हेओ चौहान ने पू जोबाब के पकाए हुए तोते की तरह यह रस समानी शुक की। बप के नाम पर अयाबाबो विचार-मसु की हिमायत की और भास्तिर में अलक बीसे दुठपूजिया लैसक को गोर्की और प्रेमचण्ड की बराबर बिठस्या। प्रयत्तिशोक लैसकों का मोर्चा कमबोर करने के लिए चौहान ने यह नारा पठाया कि कलाकार स्वभावतः प्रयत्तिशोक होता है और कला अमसिद्धि का परिणाम है।"

(डॉ रामविलास समी 'जया सबेर' में प्रक्यासित सिधबाल सिंह चौहान पर लिखे गए निबंध से)

भुजो मो जो के अनुसार जो व्यापक संयुक्त मोर्चा तीस बयें संपुरत

कार्य और सम्मिलित संघर्ष और उससे उत्पन्न चीनी लेखकों की पारस्परिक सद्भावना और एकता का स्वाभाविक परिणाम होना था उसे रामबिलास शर्मा ने तीन चार वर्षों तक नियमित रूप से प्रवृत्तिशील लेखक मांडोलन की बड़ों पर कुठार चलाने और देश की साहित्यिक दृष्टियों में फूट और वमनस्य की चौड़ी खाई खोदने के बावजूद एक अतिबाध्य आरम्भ-विन्दु के रूप में वैद्य कर दिया और इस प्रकार अपनी और अपने कुत्सित समाजशास्त्रीय जनश्रोही मुद्र को संस्कृति-विरोधी करतूतों पर पर्दा डालने की चप्या की।”

(शाबबाम सिंह चौहान—“आलोचना” मयतुबर १९५१)

रूस के बुखारिन के लेखक मैक्सिम गोर्की का लेखक ही इन दोनों आलोचक महारतियों के आरोप-प्रत्यारोप का एक ममूगा बैकिए—

‘चौहान मार्क्सवाद और परित बु खोबाबी मनोविज्ञान के सामन्वय का मसीहा पैदा करते रहे हैं वह साहित्य में तटस्थता की माँग करते रहे हैं और गोर्की तक के लिए उन्होंने लिखा है कि उस महान् लेखक ने कभी कान्ति से अक्षर पर ‘तत्काचीन प्रश्नों की लेकर ओ रचनाएँ कीं’ उनका इसी तरह की बास्तीपर और शर्मा की रचनाओं की तरह ‘कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा। चौहान की कोशिश रही है कि प्रवृत्तिशील साहित्य को तत्काचीन प्रश्नों से हटा कर पारवत तथा अर्द्ध पारवत प्रश्नों की तरफ मोड़ा जाय। (‘इस मई १९५१)

‘प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना क्यों नहीं की जा सकती और गोर्की को प्रेमचन्द से हीन क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता ? और सबसे पहले यह सिद्ध करने का श्रेय भी डॉ रामबिलास शर्मा को है। सब तो यह कि ‘साहित्य’ के इस डाक्टर ने एक ही तौर से बिम्ब के तीन महान् लेखकों—टास्तवोव दास्ताम्स्की और गोर्की—को प्रेमचन्द के मुकाबले में बराबारी कर दिया। उन्होंने ‘पुग के साथ’ होने को ‘अनबादी’ कसौटी पर कस कर सिद्ध किया कि ‘अनेक दृष्टियों से ये महान् लेखक अपने पुग से विच्छिन्न थे।’ (बैकिए डॉ रामबिलास शर्मा द्वारा ‘प्रेमचन्द’ की भूमिका प्रथम संस्करण पृष्ठ ३)

इस हिन्दी आलोचक के हो चर्यों में गोर्की के पिछड़पन का चरम मुल्कहजा फर्माए।

‘गोर्की में आभारपूर्ण अत्यधिक या और बग-संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जान कारो न थी। उसने अपनी ज़ायरी में अपनी आभारा प्रवृत्तियों का मार्मिक बर्णन किया है। अपने रोमांटिकपन के कारण वह कान्ति के पश्चात् भी कान्ति के पूर्व के ही बिभ्र बनाता रहा। प्रेमचन्द अपने पुग के साथ थे और अपने पुग की अवस-पुनल को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।’ (वही ‘पृष्ठ’ ३)

“ इस बक्तव्य के सूत्रार्थों में नापर में सावर धरा हुआ है।”

(‘प्रेमचन्द और गोर्की’ बुस्तक से उद्धृत पृष्ठ २३४)

और 'प्रपत्तिशील साहित्य के मानदण्ड पुस्तक में डॉ. रागेय रायच का यह भाष्योद्यम का विद्वान्

'डॉक्टर साहब ठीक कहते हैं। चौहान को भी पसन्दी है कि वे अपनी तरह सबको पसन्दी मनुष्य बनाने वाली ईमानदारी का भासिक सम्पत्ते हैं। उन्हें दुःखपूर्विका बस की व्यवस्थाबद्धिता के पक्ष पर मार्क्सवाद से शिक्षा लेनी चाहिए। तब यहाँ मितालें गिना देना डीक होया। आज जैसे डॉ. रामविलास शर्मा चीन की बात चीन रहे हैं एक दिन वे इस की भाँव निकल रहे थे।' (पृष्ठ ८)

डॉ. रामविलास शर्मा ने सुमित्रानन्दन पंत और राहुल सांकृत्यायन पर सम्बन्धी भाष्योद्यमों की भी बिन पर कितनों ने ही अपने-अपने बंध से एतराज किया। मसँ तब एक हमारा सा मथा रहा जिसके आसार अब भी लर्बना मिटे नहीं हैं। डॉ. बर्मबीर भारती म पंत की का पक्ष लेते हुए 'संयम' में लिखा

"जैसे एक पापक कराना कभी-कभी क्षितिया कर अपनी ही पूछ लेखने के लिये ताकने छमता है जैसे ही इन प्रपत्तिवादियों ने अपने ही पक्ष वालों को ह्वाव नवा-मथा कर पासिया देनी शुरू कीं। सबसे पहला बार तुआ पंत की पर। पंत की के उक्त कैम्प में जाने से लोगों को आश्चर्य हुआ था परन्तु पंत की की छरकता से जो लोग अत्यन्त से से आगते थे कि कस्ता कस्त विद्यया गया था। और बाद में उनके लिखने को पंत की के लिए बर्बात करना अत्यन्त ही मया।"

और राहुल जी के पक्ष-समर्थन में डॉ. प्रभाकर माधवे ने 'प्रज्ञाशु' नाम से अपना भाष्योद्यमों व्यक्त किया

'डॉ. रामविलास शर्मा के लिखों का शास्त्रीय विस्लेषण आवश्यक है, क्योंकि उनका बुद्धिकोण मिलात अध्यासत्रीय अर्थशासिक है। राहुल को तो उन्हें निमित्त मान बनाया है। उनका जर्नेम कुछ और ही है। उनका जर्नेम स्पष्टात्मक नीति के लिये नीतिक समर्थन प्राप्त करना है। उस नीति की अत्यन्तता की क्षीत से व्याकुल रामविलास इस प्रकार की अर्थी आलोचना के लेख लिख कर प्रपत्तिशील आन्दोलन का कितना बड़ा अक्षि कर रहे हैं यह धायब से नहीं समझते। एक ओर संयुक्त साहित्य मीलों की चर्चा और दूसरी ओर से प्रसिद्धि के करमाक—जाज त्रिबवाल सिंह चौहान की चारों जाने बिल करो कल पस्त को पटक दे मारो परतों रायच रायच को 'मोरी पछम्प' से नरतों पछपाल पर कर्क केकर डीक बड़ो। यह है साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में रामविलास की बहलबानी और उनके पद सिध्य अत्यन्त ही तिह की का उस्ताव की ताबीज पहन चुबबर में तैल चुपकना।"

('अवधुव' २४ जून १९२१)

इस वर शीलताकर डॉ. शर्मा ने लिखा

'यह कीचड़ कैंकते हुए इन सम्जन की जुब कनकी दुर्बन्ध से इतनी पीड़ा

हुई कि उन्होंने मुझे पर कपड़ा बाँध लिया और अज्ञात नाम का 'म' लेकर मकली नाम प्रभावशु रक्ष कर ही साहित्य के मदान में इतरण रख सके।"

('हूँ' मई १९३१)

उपर्युक्त आरोप का उत्तर दिया डॉ. राधेय राव ने । अपनी पुस्तक 'प्रगतिवादी साहित्य के मानवार्थ' में उन्होंने लिखा

"तो यह पता चला कि डाक्टर साहब के सर्क के अनुसार जब कोई नाम बदलकर लिखता है तो वह डरता है । तब रामविलास जी जब अणिया बेताल निरंजन अशोक आदि नामों से लिखते थे तब वे डरते थे । या तो डाक्टर साहब को अपनी नीकरी का डर रहा होगा या उन्हें जैसे साहित्य को स्वीकार करने में शैष्य होयी । जब वे घातक्रेटी साहित्य को, पार्सी इस्ताबेडों को छन्दबद्ध करके रख रहे थे और उससे जनकारी कला का हम घोट रहे थे तब शायद उन्हें अपने डाक्टर जैसे भारी-मरकम नाम के बदलाने होने का डर था, क्योंकि कड़ीबोली की वह कविताएँ जो आधुनिक प्रचलित शैली में लिखी गईं हैं उन पर उनका 'इम्पेटर' घोषित है।"

इस प्रकार के सँकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें आहत शोभ हुआप्रह, आबेध और गुणात्यासक बलौकों का प्रथम किया गया है । एक ही विचार बारा और सम सिद्धांतों के सम्मानित केवकों में इस तरह के विवेकहीन एक और फटकितियाँ पेश की जा रही हैं कि जिसस मकीर्य विचार-भूत में ही सिमट कर प्रगतिवादी समीक्षा सर्वथा एकान्गी और बिध्वंसक होती जा रही है ।

और भी किन्ती ही क्षामियाँ हैं जिन्हें नजरअन्दा नहीं किया जा सकता—

१ कधी मान्यताओं को लेकर चलने के कारण प्रगतिवाद अपनी भारतीय जीवन-व्यवस्था में पूर्णरूपेण वृहीत न हो सका पर इसके समर्थकों ने इसके सामान्य दुर्गों के लम्बे-लम्बे बाध्य कर हमारे देशकाल की विशिष्ट परिस्थितियों पर इसे कर्बवर्ती धोने का प्रयास किया है ।

२ प्रत्येक कलाकार अपने युग से संबंध माने होता है । उसकी प्रतिभा निर्माणोन्मुख और सबकों को चीरती हुई सहज परिशील होती है फिर मंगल-अर्थवत्त तकें द्वारा प्राचीनों का मूल्य बटाना अथवा तात्कालिक परिस्थितियों की बदलूकना कर उनके हितत्व की किसी खास पैमान से मापजीन करना सर्वथा असामयिक है ।

३ 'चारवत्' और 'निरलस' से बिहने वाले नासमर्थों द्वारा प्राचीन अष्ट साहित्य एक को मात्र के उचने विवाहीन साहित्य की दुकना में पटिया सिद्ध करना या उन्हें पूबक करन बाटी बिमानक रेणाएँ खीचना (क्योंकि उसमें उनका कबीष्ट या विशिष्ट साम्यताएँ नहीं हैं) अपनी प्राथम्यता साहित्यिक वृत्तों को बिल्कुल चीरट करना है ।

४ ऐसी विचार-परम्पराएँ, जो बय-विषय से सम्बन्ध होती हैं, उधसे बाहर उनका कोई विषय मूल्य नहीं होता। इसके विपरीत वातिगत और वैधपत सीमाओं की अतिक्रमण कर जो मानवीय अनुभूतिवाँ सांख्यिक सार्वकालिक और सामयिक हो जाती हैं उनका महत्ता सदैव अलुप्य बनी रहती है। वे 'माउट जॉन डट' नहीं होती बस वे ही पुन-सुगन्ध की बरोहर हैं। जन्मीं में स्वाधिता और असाधारणता होती है जो 'साखत' और 'विस्तन' की कोटि में आ जाती है।

५ प्रगतिवादिनों ने मोट ठौर पर 'रहितों' और 'घोपितों' को अपनाया उनके तर्क ही समझा-बुझा समस्त बुद्धिओं और कमजोरियों पर पर्दा डाल कर जन्मी की बेबना और गिरीहता का रोना रोया। परन्तु दूसरे पक्ष वालों की भाषनाओं और मनोमत्त इन्हों से इतई जैसे मूख भी जो कि अपने ठिकाण साहित्य में भ्रम होय को समान रूप से समेटने की सामर्थ्य होती चाहिए।

६ इन लोगों ने जीवन के 'सूक्ष्म' को 'स्फूर्क' 'कोमक' को 'कर्मक' और 'सुपङ्क' को 'अनगङ्क' के अन्त में लिया है। पर सर्वथा विपरीत छोरों को मिचाने की न इनमें योग्यता है न सहनशीलता।

७ नास्तिक तो वे हैं ही आत्मा की सत्ता में भी पूर्ण अनास्था है। वे सभी स्वप्न आदर्श प्रेरणाएँ और महत्त्व सक्षय इनकी बुद्धि में मिथ्या हैं जिन्होंने (मार्क्स से पूर्व) मन्वीर चिन्तना की है जो हमारी संस्कृति के अन्त विकास से सम्बन्ध रहे हैं और जीवन की मत्वात्मक आरामें जहाँ से उद्भूत हुई हैं। इनका बुद्धिकीम निरप भीतिक है और जीवन-वर्धन अत्यन्त संकुचित।

८ प्रगतिवादिनों ने जीवन की आधिक व्याख्या स्वीकार की है पर क्या प्रतिकूल आधिक परिस्थितियों और विषम सामाजिक अवस्थाओं में आप्त साहित्य की मृष्टि नहीं हुई? यथाच के मूक बेष्टाविहीन चिन्तन में उनकी मृष्टि पूर्ण रूप नहीं हुई वे मार्गों अस्थिर आत्माचक्र में ऊपर-ही-ऊपर चक्कर काटते रहे। अस्तु उनमें कृमिमत्ता अधिक अनुभूति की लचरई और रसमीची चिन्तना कम है।

९ प्रगतिवादी वर्धन पतिवाद की आगुति का हिमायती होकर भी जीवन के श्रेय-श्रेय का बाहक न बन सका यही कारण है कि कोई व्यापक मानवीय भावना—ऐसी भावना जिसमें व्यक्ति समाज और बनों के भय रहते हुए भी सब इन्तों से परे संकुचित सीमाएँ मिट जाती है, हमें प्रगतिवाद में नहीं मिलती।

१० शुरू में प्रगतिवाद एक नये आशा-अरे संदेश को लेकर अघाड़े में उतरा था। बड़ी आकर्षक बोली में जनता जनता का ध्यान आकृष्ट किया। कुछ अज्ञान के बाद अघने-सत्ता हाथिल की पर अन्त में उसी पुरानी कीचड़ और बन्दगी में आ गया।

११ 'प्रगति' का अर्थ है 'आग बढ़ना' लेकिन अघपम्बी सक्षीय विचारवाप ने साहित्य में अस्ते 'अ-गति' पैदा की है। ऐसी प्रगति जस 'कोम्क के बीस' की सी

है जो गीत परिचित में आँसों पर पट्टी बाँधे आगे रूय तो बढ़ाता है पर किसी निश्चित व्येय पर नहीं पहुँच पाता ।

१२ 'संयुक्त मोर्चे' का मारा धर्म का बितंडा है, सेसकों का ध्यान आकषित कर उपयुगी साहित्य की सज्जना में इससे शक्ति पहुँची है । क्या किसी भी सच्चे सज्जन की निर्बन्ध सेसनी को किन्हीं प्रस्तावित उद्देश्यों कायमों नियमों और एक विधान से बाँधा जा सकता है ?

१३ एक प्रगतिशील आलोचक के शब्दों में—'मानसभाव न जीवन को देखने-समझने और बदलने के लिए समरु करन का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है पर यह दृष्टिकोण आदु की सफ़ाई नहीं है कि उसको छूते ही आबमी 'सर्वगुण सम्पन्न' बन जाता हो ।'

१४ निश्चय ही साहित्य अतिमम है परिवर्तनशील है, मले ही उसका गति नम प्रेरक रूप तुरन्त पकड़ में न आता हो किन्तु उसके कोई निश्चित फामूके नहीं ह । किन्तु कळ ससकों में हर गगन्य विचारबारा और व्यक्तिगत प्रभृतियों को सेकर को नित-नये 'बासों' की मृष्टि हो रही है उससे साहित्य के सहज आचित्य बोज से विमुक्त—विमलशियों और उल्लास के कारण—उसकी मूळ स्थापनार्थ उगमगा नई है ।

असंतुलन

आज अन्तर्बासी और बस्तुबासी घनीला का उिचापस्त र्वपम्य ही इमारी सयस्या नहीं बना हुआ अपितु अपन यहाँ चितकों का एक ऐसा नर्म भी है जो विभ्रम और सघम की इस स्थिति में कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा है । साहित्य के पहले के स्वापित सिद्धान्त एवं मानबंड अपबा उसकी मान्य सीमा से परे ने उसमें ऐसे अमिनब तल्ल बोज लागत चाहते हैं जो अब तक कभी प्रयोग में नहीं आए । उनका मत है कि जो कुछ लिखा जाय उसमें गम्यता और नियन्त्रापन तो होना ही चाहिए । उनमें अपनी सेप्यता का शम्भ तो है ही साहित्य के अंतरंग मलय मोटों के प्रति कुला किटोह भी है जिससे एक तिनत बुटम और मसमोप का स्वर नित-नई बबलटो विचारपारा के सल्ल तीघतर होवा जा रहा है । सनातन मान्यताओं के प्रति निष्प ओकर ब ऐस बेतुके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करन में नहीं हिचरते जिनसे उनकी भावनाओं का कभी लगाब नहीं हुआ किनको उन्होंने अपन मीतर अनुमब करने की आबलपकता नहीं समझी और जिनमें उनकी आत्मा की विचित् भी कधी पैठ नहीं हुई ।

इस नम्य भूमि पर उतरने के प्रयास में उनकी अमित भेजना साहित्य के नर्म और अलक्षित को मुझा र्ठी है । एक विचित्र विरोधायास सा इकर शील पक़ रहा

१ विचरान सिंह चौहान 'आलोचना' अक्तूबर, १९५१

है जिससे एकाएक विरोधी बलाओं से विगुंलक वृत्तियाँ अतिव्यय और संघम में उनके स्वानुभूत से सादारण्य नहीं कर पाती ।

इन अन्तर्विरोधों की कोई सीमा नहीं है और न इनके द्वारा किसी विघेप मत या सिद्धांत का प्रतिपादन ही हो सकता है । एक प्रकृति यदि सुजन को व्यक्ति परक तो दूसरी उसे सामाजिक बनाने के पक्ष में है । सामाजिक संकल्प से अधिक उसमें व्यक्ति के विकल्प गुंने हैं । साहित्य की संतुष्टि धक्तियाँ आज एक ऐसी अविभाज्य इकाई के रूप में नहीं दीख पड़ती जिसमें घण्ट के अनेक पहलू सिरोहित होकर एक पुंजीभूत प्रकाश पैदा कर सकें । इसके विपरीत 'बादों' का बहु एक बड़ा उत्साहपूर्ण समवाय है जिसमें बाह्यपरक होना उसकी सम्पूर्ण सामना की एक अनिर्वाय सत बन गई है और जिनका न परस्पर समझौता हो सकता है और न समन्वय । स्पष्ट है कि साहित्य के ये बाह्यपरक पहलू एक सम्पूर्ण समष्टि के रूप में नहीं व्यष्टि के रूप में एक बड़ी प्रायोगिक प्रक्रिया के अन्तर्भूत हैं जिनमें जिन्ययी की सही सीमाएँ आंकने की शक्त है न वस्तु और अविभाज्यता का अंतरंग सम्बन्ध और न सहजात स्वनिर्मित बेचारिक स्वीकृति ।

आज आलोचना का क्षेत्र विस्तृत है पर उसका अभावी की सर्वांगीण पूर्ति के लिए कौन से प्रयत्न हो रहे हैं ? हमारी वर्तमान आलोचना का स्वर क्या है ? पाठकों की भाव क्या है और उसकी किस प्रकार पूर्ति हो रही है ? यह किसी ने कदाचित् मोक्षन का कष्ट नहीं किया । तर्क-वितर्क और बाह-विचारों का आग्रह जोरों पर है जिससे उसमें सामन-संभन बटोरने की शक्ति बढ़ी है पर साहित्य की यह अकाकुल स्थिति जीवन और जगत् के पतिमन प्रकार तत्त्वों को कितना समय तक स्थायित कर सकेगी—यह समझना है ।

प्यों-ज्यों साहित्य में विद्यावटी अतिरंजित और बाह्य असम्माननाएँ बढ़ रही हैं पमाननवादी नकारात्मक तत्व उसमें अधिकधिक उभर रहे हैं । नवीन परिस्थितियों के साथ भौतिक आधेयन युग-विघेप की भावनाएँ, संवेप शक्तियाँ और मनोगत इन्द्र जीवन की अटिल समझता के साथ सामंभन नहीं कर पाएँ । बतएव इस इत और अस्थिर कम में मनुष्य इतना कृत्युष्टि और विभ्रान्त था है कि वह साहित्य के ओर-ओर हीन विस्तार के बीच मुहं बाएँ विस्तृत्य बढ़ा है । सामाजिक समस्वाओं में उलझा हुआ और अपने व्यक्तित्वत मुक्त-मुक्तों में रत साथ ही जीवन यापन की अविगत अस्थिरता परेशानी व्यस्तता और कथमकथ ने उसके रसोत्रेक को धिक्क और चिन्तना को ऐंसा वंगु-सा बना दिया है कि वह कुछ भी सोचने-समझने में सक्षम नहीं है । एक विशिष प्रकार का 'अहं' उसमें जगा है जो भीतर-ही भीतर बुलकर प्राचीन और नवीन के समन-प्रताप और वैविध्य से एकरस नहीं हो पाता । यत साहित्य में स्थायी और निर्माणक तत्वों का बहुत कम समावेश हो पा रहा है । अतीत की योवी बेचान मिट्टी में या तो नय आघातूर उपाने की वेष्टा की जा रही है अथवा नये-नये मतवालों के नावपाय में पकड़े जाकर जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव

सचेतना और बेबस दुराग्रह का अनिश्चित कूहासा छाया है।

फिर भी आलोचक कृष्ण अधिक जामूत है वह भीतर ही और बाहरी अस्त-विरोधों में संतुलन स्थापित कर साहित्य को नई गति दे सकता है। प्रत्येक युग के कुछ खास प्रश्न होते हैं और नीर-नीर-बिबेकी आलोचक की प्रखर प्रतिभा अपने हथ में उन सभी का समाधान ढोत्रती है। युग-युगान्तर की कड़ी से बँधकर वह समय की मज्ज को टटोळता हुआ सचेत होकर, भावपूर्ण रह कर, सर्जक के हृत्स्यन्दन को उसके सूत्रन के स्पन्दन से एकरूप कर साहित्य के मूल आचार्यों को नया पय देता है।

आलोचना का मापेय

इसमें सदेह नहीं कि लेखक के मनोबल पर परिस्थितियों का भारी दयाव है और वह इसे बसूनी महसूस भी कर रहा है पर आलोचक का आम्पावान् इयम अभिव्यक्ति को निरूपित करने वाली समता का विस्सर्क होता है अतः वह कभी भी हार नहीं मानता। एक स्पष्ट जीवन-दर्शन विचारों एवं अनुभूतियों की एकतागत भावना एवं विवेक बुद्धि का समीचीन संतुलन—इस प्रकार उसके सहज ज्ञान द्वारा प्रतिपादित स्वयंसिद्ध और अकाट्य तक साहित्य के रूप और मूल्य के प्राणवात स्पन्दनों के बाहक बन सकत हैं मोट रूप में—उसके उबलते बिरलेपय स नहीं परन्तु उसकी मूल्य से मूल्य प्रतिविधियों और निहित अर्थवत्ता को वह आत्मसात् कर सकता है। आलोचक का कतव्य है कि वह साहित्य के सत्य और सौंदर्य को अधिक पूर्णता और अंतर्दृष्टि से आँके उसकी समग्रता में पठ कर विषय-वस्तु का अंगानि अनुपात जोत्रते हुए अधिक महत्पई और अज्ञात रूप में उसे हूय।

आलोचक के पास मूल्य आँकने की म्यावहारिक बसोटियाँ हैं किन्तु उसके हृत्तिल की अंतरंग परीक्षा द्वारा हमें ऐसता यह है कि उसमें अलसता का अरातन क्या है सुवीन कामिलों को उसने कहीं तक निमाया है और किन शक्तियों को मुक्त करता हुआ वह मनायन क्या का मापक बन सका है। उसकी दृष्टि जितने ही सूत्र तक जैसे जीवन पर पड़ती उतने ही सौंदर्य के धारवत स्वरूप की प्रतिष्ठा वह अपने हृत्तिल में कर सकेगा और उसकी महत्पईयों में उतर सकेगा। उसके हिस-दिमाग का दायरा अ्यों-अ्यों फैलता जायया उसकी विषय-वस्तुयों बँडों सावनीन सस्कारों का ग्रहण करने क अलावा उसके आत्ममक सबकों और अनुभूतियों का शत्रु विस्सृत होया और सुम-सत्य का प्रेय्य अलावर सामयिक निरूपणों को वह अधिक सचाई से आँक सकेया।

आलोचक की मुक्तियों में सुमानुस्य विचारों के प्रतिरूप और अंतर्दृष्टि की बुनेय शक्ति निवास करती है। किसी भी अमात्मक हृत्ति और उसके सौंदर्य भावन की प्रविदा को ऐनी विवेक-मुग्ग पर रख कर जीवन-परलना चाहिए कि जिसने उसकी अस्तित्वत आँकी जा सके। सामंजस्य की कसौटी पर आलोचक एक कड़ी हथ तक किली भी हृत्ति की नाप मोस कर सकता है, पर म्यार किए अलस

और समीक्ष्य सामग्री दोनों में समानुपात और धर्मपूजता तो आवश्यक होनी ही चाहिए।

ता फिर वह कौन ही तुला है जिस पर समीक्ष्य सामग्री को तोला जाय ? सबसे पहली बात तो कला-परौलक करते समय आलोचक को अपने गम्भीर दायित्वों को ध्यान में रखना है। साहित्य के स्वस्थ समुत्थयन के लिए—जब कि इस संक्रान्ति युग में घारे प्राचीन मूल्य और मान बरसते जा रहे हैं—धार्मिक उदार चढ़ाव को भांपना हुआ वह रूप और स्वरूप की अचर्यता को लेकर बाह्य विवेचन और आन्तर अनुभूति के निरूप सम्बन्ध की ओर दृष्टपाठ करे। उसमें यदि सचाई होनी तो वह स्थापित कलाकृतियों में निष्पक्षता और निष्ठा बरत सकेगा।

साध्य और सामन

आलोचक की जूबी 'सत्य' की पकड़ है पर ही—इस अनित्य 'सत्य' का जो मूल प्रकार है वह सदा अविच्छिन्न रूप से परिवर्तनशील तत्वों के ऊपर उठा होना चाहिए। आज साहित्य जैसे उसूलों के बोझ से बसा करतल रहा है। विभिन्न बाहों मठ-मठान्तरों और सिद्धांतों से जूसकी सांस बूट रही है लेकिन कोई भी उसकी मर्यादा को नहीं माप सका है। सुगीन समस्यार्थे नित्य बरसती है और इत्यान उनसे जूसता है खोजता है, उलसता है पर उनकी कोई बाह नहीं पाता। समस से टकराकर साहित्य के धारण उपारान पीर्य होकर भूमिवात् नहीं होते बरन् नित मए रूप में उमरते हैं। आलोचक को इस उलख इस कथमकथम में से ही पन खोजना पड़ता है। उसकी लैसगी की शक्ति असीम है किन्तु उसकी शक्ति की असीमता सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रबलता में है। उसे समीक्षा के व्यापक तत्वों की बनेवना करते हुए ऐकान्तिक से समष्टियत और एकदेशिक से सार्वभौम सिद्धांतों का प्रतिपादन करना चाहिए।

आज आचर्यकता इस बात की है कि आलोचक अपनी आन्तरिक दायित्व मानना को पुर्यंतता उच्चुड करे। वह विग्नमित न हो अपितु विरोधी सिद्धांतों एव बाव-बिबाहों की बहिर्गत विपयता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल पर साहित्य के स्वीकृत सीढरीत्मक स्वस्थ तत्वों को नारमसात् कर के क्योंकि उसकी मूल्य-माप्यताओं का प्रसन्न कैबड बौद्धिक संवेदन का प्रसन्न नहीं है साहित्य के निर्माण और विन्यास का प्रसन्न है।

वर्तमान युग के दो अन्तर्द्वीय व्याधि-माप्य विविष्ट आलोचक टी एन इकिमट और आई ए रिचर्ड्स ने एकमत हो स्वीकार किया है—“आलोचक का उद्देश्य कृती वस्तु के मूल्यों का निर्धारण करना है।

पर इससे एक और सवाल पैदा होता है कि ये निर्धारित मूल्य कंसि हों और वह उन्हें किस रूप में सामने रने। आलोचना का सौष्ठव उसकी अर्बबता और उसका सात्त्विक आचार उसके महत्तर अन्त-संवेदन में निहित है वही आलोचक

केवल उस हवा से—जहाँ कि वह साँस लेता है—सार परमाणुओं को एकत्र कर ही घुष्ट नहीं होता प्रत्युत् कलात्मक मूर्त्यों का अपनी जतना से तावात्म्य कर और अपने मन-प्राप्तों में उन्हें उतार परिष्कृत करता है। सेंट ब्यूबे के मत से "साहित्य की इलाह्य परिपाटियाँ स्थापित करके ही आलोचना को जँबा उठाया जा सकता है। साहित्य तो अनन्त स्रोत है जिसकी प्राणदायिनी बूँद आत्मा का अभिव्यक्ति और जतना-केन्द्रों को अनुप्राणित कर सकती है। साहित्य को आँकने वाली कोई निश्चित मापरेखा तो नहीं सीधी जा सकती परन्तु कलात्मक मूर्त्यों का महत्व आलोचक की प्रबुद्ध सहानुभूति में रम कर कहीं अधिक व्यापक कहीं अधिक महनीय हो सकता है। वह अपनी जिम्मेदारी को जितनी ही गहराई से समझता उतनी ही अपनी निद्विष्ट कसौटियों को साहित्य की स्थायी परम्परा से यथित कर सकेगा।

नई कविता केन्द्र और परिधि

दुःखर कुछ असें से सर्वांगीण काव्य के उत्कृष्टतर विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली नई कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं उनमें अर्धस्य विसंगठिनी विभ्रम और अन्तविरोध गहरा जा रहे हैं। कवियों की मनोवृत्ति क्या है विपत्त युगों के आगत की परिणति और अनागत की प्रेरणाओं से परिष्कारित उनके नवीन केन्द्रस्थ विस्थाप और परिधिगत मूर्तियों के आश्रय किस विधा की ओर अनुशासित हो रहे हैं मुख्य रूप से तात्कालिक वक्तमान के लिए अवबोध चाहने वाले इन महत्वाकांक्षियों ने अपने बहुमुखी माध्यमों और सुगन्धि-भासोम्यार से निष्पन्न अप्रतिरोधित रसोद्रेक द्वारा एक अपनी विशिष्टता को ज्ञापन की है किन्तु इस विशिष्टता ने निरवधि काल प्रवाह की अपरिहार्यता को चुनौती देते हुए कवि-वैतना के इसहामी स्वरूप पर बल देकर—कि कवि को दरअसल किस युग विषय का संवेद्यवाहक बनना है—याव ही निजी अन्तःस्फूर्ति द्वारा इन्द्रियबन्ध और इन्द्रियातीत के आवरण-घट को छिन्न कर वह कौन से ऊर्ध्वकांक्षों को स्पर्श करन का प्रयत्न कर सकता है और उसके परिवेश के विभिन्न वस्तुओं का मिलन-बिन्दु क्या है बस भीतरी भावबोध का उद्घाटित स्तर वस्तु-सत्य के भाषण के समकक्ष है कि नहीं—य कुछ विचारणीय प्रश्न हैं जो आज के युग के मूल में समाजहीनता के तत्त्वों को बटोरकर विस्फोटक बाहर का काम कर रहे हैं। आधुनिकता की भाँति मांसक कल्पना-प्रवृत्ता और अव्यक्त-विज्ञासिता के अतिरेक से तन्मयी जीवन-मूर्तियों की स्थापना को एक अपरिहार्य मोड़ दिया है और उसकी सर्वथा नयी व्याख्या प्रस्तुत की है।

कहना न होगा—काव्यगत मूर्तियों का उक्त कम-विषय कभी-कभी सिलबाइक सिखा कुछ नहीं। अर्थ-संघर्ष के दौर में अस्थिर अनुभूति और अशासित उक्त-विषय से सिरजे गए इन रंग रेशमों के व्यापार का क्या कोई मापदण्ड नहीं है ? जहाँ रेशमों की गति निर्बन्ध हो और नाताविष टकनीक की मूर्तियों का अक्षय ही कम बम बाव 'वास्तव' एवं 'प्रतीति' में कोई भेद न रहे तथा विभूतक विषयों बसबा असम्बद्ध राज्य चरण के वैधिय में ही अक्ष कौजने की चेट्टा की आग तो प्रेरणा का स्रोत उक्त परिधि के भीतर या बाहर कहीं ठेक से जामना—कहा नहीं जा सकता।

माना कि व्यष्टि मानव और समष्टि मानव के पुनीतावकाशीन पुनिवार अन्तविरोध के फलस्वरूप अनेक कवियों ने कविता का नया रूप-संस्कार किया है तथापि जीवन के प्रति उस विस्तृत और गंभीर प्रतिक्रिया को एक गत्यात्मक व्याख्या के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में जो उनकी अद्वैत विद्वृपता कल्पना-विम्बों में उमरी है उन पर बौद्धिक प्रक्रिया का ऐसा आचरण बढ़ा है कि वह अतीत और वर्तमान के व्यवधान के बीच सांभोपाय संपूर्ति का साधन अथवा सहज संवेद्य बनकर आत्मा में रमने वाला नहीं हो सकता। भूत में प्रतिपक्ष परिणत होता वर्तमान और भविष्य की दोष्य परिधि में घिरीटा अनागत मिश्र-नई मानव-चेतना का पारम्य बनकर प्रवृत्ति-यम की ओर निर्देश करता है। जब-जब नवोदित कान्ति ने लोक-चेतना में आलोड़न उत्पन्न किया है नई ताजी सुकी हवाओं के झोंके बहुमुखी क्रियात्मक व्यक्ति एवं सार्व के प्रति आचरक बनाकर विचार और क्रम की सजीवता से मुक्त करते हैं पर इसके विपरीत यदि ये हवाएँ कृत्तिकार की समताओं पर अट्टहास करती अथवा उसके अंतस्तुत की अकसोरती नैसर्गिक सुजन की मूल प्रेरणाओं को विच्छिन्न करने वाली हैं तो युगीन दर्शन आचार और रीति-नीति उनके भूर बोधों से आहत होकर बेमानी हो जाते हैं।

उत्सुकता वातायम या पाठी-मचकटी आवाज हवाएँ सुने बिना और सुने दिमाग को सह देती हैं। वे सुप्त मानस को जगाने वाली और भीतर की अन्व कारा में नई कह जगान वाली हैं मगर ये सरपट पास से गुजरने वाले प्रबंध बखबर—अपने सक्रमणकारी प्रभाव से—क्या कलाकारिता की कसौटी को ही नष्ट भ्रष्ट न कर दें ?

प्रगतिवाद

साधारण की कर्मों की प्रतिक्रिया सहसा प्रगतिवादी कविताओं में प्रबल जीवनाकांक्षा का उन्माद लेकर प्रकट हुई थी। साधारणतः किसी प्रमुख प्रवृत्ति के बहुध दिनों तक एक ही विद्या में बसते रहने से जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है वही आकास्तर में प्रबुद्ध मानवों द्वारा प्रवृत्ति-यम कोबती है। प्रगति एक ह्र तक अनि वार्य और जीवन-सापेक्ष्य भी है। आत्मवेन्द्रित विमूर्च्छस मान-चेतना बाह्य जीवन क्रम में एक प्रकार का अचरोप उत्पन्न कर देती है जिससे बाध्य होकर पतिशील सत्य और सामाजिक चेतना के भीतर से उपादान कोबने पड़ते हैं। कलाकार चूँकि अधिक आग्रह है वह भीतरी और बाहरी अन्तविरोधों में उत्तुलन स्वापित करता है और अपनी अचरकत अविभ्यक्ति द्वारा समाज का नेतृत्व करता है।

आज के संपर्पेडीक युग में विन्वयी की मौजूदा कडमकड और विरोधाभासों ने मानव के पून रसोरेक को विचिक्र नियन्त्रित और गुप्क बना दिया है। जीवन की दृष्टि र्पयी बरक पई है। कवि की प्रखर चेतना इंद्रात्मक पक्षितियों को लककार कर कान्ति का आह्वान किया चाहती है। यह आपी मिर्छ हवा नहीं इसकी रिखा विकासोन्मुन है। इसके कोआहस के भीतर बरकटी बुनिया की तस्वीर छिपी है। नवीन जीवन के

निर्माण की ओर उत्थरित यह मतिहीन भ्रान्तिकापी दृष्टिकोण ही आज प्रगतिवाद के नाम से बढ़ हो गया है और आलोचक इसके पल-विपल में अपने अभिमत व्यक्त करते रहे हैं।

अष्टमूढ सत्य की साधना ही साहित्य में आबरोम है और प्रगतिवाद की यह पहली और आबरोमक छत होने के कारण बहुत कुछ संकुचित और अवास्तविक आदर्शों को ठुकराया गया है। आयाचार का धूम बापनी कला-विकास इपर बहुत कुछ एकांगी हो गया था। उसमें जीवन की सीधी निर्वाच अभिव्यक्ति न थी इसलिए यह स्वीकार करने में हमें आपत्ति न होनी चाहिए कि लोगों के दृष्टिकोण बदलने में प्रगतिवाद का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यह कुछ इतनी ठीकी से प्रिय भी हुआ कि उसके कलम के बाहु को कोई रोक नहीं सका। उसने बाहु विभव के सजाठ को उबात बनाकर दर्शना और प्रगति के मार्ग में रोड़ा अटकान वाली प्रतिमाभी धक्तियों को कुचल कर भावी भ्रान्ति के लिए आबरोमक मनोभूमि का निर्माण किया।

पर यह प्रगतिवाद का विनायक पक्ष है। प्रस्त उठता है—अपनी बौद्धिक निष्ठा और टार्किक आयाचार के अलावा उसने साहित्य को और क्या दिया? यह किन आस्थाओं किस भेतना और किन संस्कारों से गतिमान होकर बहसर हुआ और उसने कौन सी 'मिशन' पूरी की? सचाई से प्ररिष्ठ होकर बड़-बड़ आत्व-विषयात और बृह संकल्प के साथ जन-जीवन से तावात्म्य स्थापित किया गया तब-तब साहित्य समाज के संस्कारों की समष्टि बनकर जाया और भेष्ठ एवं स्फूर्तिप्रद समझा गया। मठ-प्रचार की संकीर्णता से मुक्त जहाँ यह विचार-आवृत्ति का प्रबता बना वहीं निम्न तक से उठकर उच्च चरातक पर पा टिका और कलाकार की अमर साधना का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ।

युक्त विधेय की माँग क्या है—इस प्रश्न न अतक बार हमारे साहित्यकारों की सामाजिक और राजनीतिक भेतना को झकसोय। उनके परम्परागत संस्कारों पर समय-असमय परिस्थितियों की जोट पड़ी और वे कल्पनिक आदर्शों को भुँडाकर एक नवीन संस्कृति के स्वरूपस्था हो गए। निराशा पंत मरेन्द्र बन्धन भयवती चरक बर्मा दितकर आदि कवि भी इस झहूर में बहू गए। स्वप्नदर्शी पंत न आकाश से बुन्धी की ओर झाँका और दुवर्गों को भी ऐसा ही करने के लिए प्रेरित किया।

लाक रहे हो भयन ?

मृत्यु—भीतिमा—काल-भयन ?

निःस्वप्न शुभ्य निर्जन निःस्वप्न ?

बेहो पू को !

जीवन मृत्यु को !

हरित मरित तह

पलकित नर्भरित

कूजित वृजित
कुमुमित
मू को !

सुन्दर से असुन्दर को सहन करने की भावना भी उनमें बनी ।

'बहु अन्तःसौर्य' सहन कर सके
बाह्य बह्य विरोध ।

पद्य के सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा बंस प्रयतिवार से प्ररित है । प्रयति की होड़ में न जाने कितने ही अन्य कवियों ने भी सुन्दर कविताएँ रचकर साहित्य को समृद्ध किया लेकिन यज्ञे यज्ञे यह 'बाह' फसल बन गया और बाहरी संघर्ष से भीतरी प्रतिक्रिया का सामाज्य न हो सकने के कारण अनेक बार प्रयति-कवियों के कृतित्व का संवृत्तन हो गया ।

सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति ने न सिर्फ़ इस में बरन् यहाँ भी जीवन की नींव हिंसा की थी । फसल किसान मजदूर, बीन-बुसी सोपित-उत्पीड़ित बर्मे ही कवियों के आकषण का केन्द्रबिन्दु बन गया । जीवन का अंतविरोध यहाँ तक बढ़ा कि कुछ समय तक साहित्य के मूलभूत तत्त्वों में भी तनाव और तीक्षापन अनिवार्य समझा गया ।

'आज घोषक-सोपितों में हो गया जय का विनाशन ।
अस्थियों की नींव पर, अकड़ा अड़ा प्रसाह का तन
धातु के कुछ ठीकरों पर मालवी संज्ञा वितर्जन ।
मोक्ष कंकड़-पत्थरों के बिन्द रहा है नमूना जीवन ।

(शिषमंगलसिंह 'सुमन')

बहु गरम जिसे कहते मानव कौड़ों से भाव गई भीती ।
मुस जाती तो आसर्ब न बा हैरत है पर करते भीती ॥

(अंशल)

'रे बी दिन का
उसका जीवन ।
तपना छिन का
रहना न स्मरण ।
दुओं से पिस
दुर्गिन में बिस
अर्बर हो जाता उसका तन ?

बहु ज्ञाना अतमम यौवन जन ?
 बहु ज्ञाना तट का तिनका
 जो लहरों से हँस-सेना कुछ जन ?

(सुमित्रानन्दन पंत)

नष्ट कर दो
 आज भरती पर झड़
 अनिश्चाप से
 इन राजमहलों को अज्ञान
 नष्ट कर दो
 लक्ष्मी के लाड़लों के
 ये विशाल भवन ।
 हे लड़के जो भीष लैकर
 आज मानव के बचिर की ।
 नष्ट कर दो.....
 दीप रह जाये न कोई
 इस जगत में ---

(विश्वनाथ मिश्र)

बहुत बज चुकी खरब बीजा, बहुत प्रेम का पाग हुआ ।
 बहुत ही चुका रात-रैव कवि । बहुत विनों मज्जुपात हुआ ।
 बहुत विनों तक हुआ न्याय का भीर बहुत अपमान हुआ ।

(नरेन्द्र)

'तपन क्षिति जन मन मचसेपी प्रांत प्रांत पुर पुर विछसेपी
 लड़ी-गली प्राचीन रुद्रि के भवन विरसे दुर्म हँगे ।'

(नेपाली)

विश्व साहित्य से अनुप्राणित होकर वहाँ के साहित्य का यदि-परिवर्तन आवश्यक भी हो गया था । अतः जीवन विचार कर अनेक पाठकों में बड़ा भीर यद्यपि बीच में कितनी ही आयाएँ आई, किन्तु उसकी प्रगति न रुकी और दृष्टान्तों किम्पों के बावजूद भी वह आये बढ़ता रहा । आज भी ऐसे बचिवावीय सिककों की कमी नहीं है जो प्राचीन आचरणों से विपटे रहकर साहित्य की बचि को दृष्ट करना चाहते हैं लेकिन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उनके द्वारा भी वह धार स्वीकृत हो

सुका है कि साहित्य सीमित शब्दों का व्यक्त-केन्द्रित होकर नहीं भी सकता। सामाजिक दायित्वों की सर्वथा उपेक्षा करके घनिष्ठ अर्जन करना उसके लिए असम्भव है। कारण—जीवन-सत्य की परिचय ही साहित्य की सार्वकता है।

इस व्यापक उद्यम को स्वीकार करके कवि नूतन पथ पर अघसर तो हुआ किन्तु मानव-समाज के विकास के साथ ऊबड़ से ऊबड़ मिलाकर युग को बांधी देने का नवीन दायित्व न निभा सका। प्रगतिवादी कविता पगपी तो लही किन्तु उसमें बिड़ोह का स्वर इतना ठीका था कि साम्राज्यवाद और पुँजीवाद के शिताऊ मार्गों बाद और सर्वहारा वर्ग के नाम पर बेहद उष्ण लक्षता समा गई। धर्म-धन-यत्न-विद्या ने मनु 'रोक्स' जैसा जवाब और समाज के हामी बनकर बिना किसी अंकुश के न सिर्फ उनके अस्वस्थ मन एवं बिह्वल प्रतिष्ठी के परीक्षण किये बल्कि उनके उपचार का भी दावा किया।

आध्यात्मवाद और आत्मानुभव को ठुकराकर दिव्यत्व स्वस दृष्टिकान अस्ति वार किं नए, साध ही नीति और आचारवाद को अस्वीकार करके गर-नाटी के पारस्परिक पहिण सम्बन्ध वहाँ तक कि उनके सैयिक आकर्षण तक को स्वस प्रकृत प्रेम के अन्तर्गत किया गया।

‘जग धान के कड़े हुए सेतों के उस पार,
 भंस के पीछे एक काजी-सी कितान-काम्या
 नाडे से बरबर की जनी उस छह में
 पात में मोटा-सा लड्ड लिए एक पुबक
 भंस की नीठ पर कुतुबी किकाए हुए
 बैकते ही बैकते चिकोटी काटी जतने
 छातिरों मसल बीं, पलने और ।
 बाड़ी में बैठे हुए बम्बू के मन में
 तेरत-बैतना की प्रतिभिया हुई ‘लि- लि- में
 वेसिए अतम्बता यवारी की,
 मुके भेजल में....
 घेत कलिहान में
 ‘थे’ के भापे बड़ने में उनही लुप्तम्य बाजी ...
 मोड़ा बायिका की भांति सङ्कुच तिमट गई !
 पगहू क्या पता कि....
 स्वस कान को अपेक्षा नहीं
 महल अटारी और तोपक-पलम की।

अनेक कवियों ने अपने कृतित्व में सहज मर्यादा तक को गुंथाकर उन्मुक्त यौन-कवियों की परितुष्ट करने के लिए रसात्मक सर्जना की जो उन्हीं की प्रतिपत्नी इच्छाओं की प्रसन्न अभिव्यक्ति के रूप में वा कहे कि छिन्नमूल संयुक्तिरुता के वास्तविक सं मुक्त समनस्य तीव्रता में पृष्ठ पड़ी ।

‘जस मस में छलक-छलक उठती कैसी तुम्हा मरिदा बजात
किस नख तरंग से कसक बस कर रहा प्रबल उल्लसत बल

‘यह तावग की नखमरी रात’

(अंशत)

पंत की स्वरूप बुम्बनेच्छा किन्ता ही सबाधम और तदुभाव किए हो किन्तु व्यावहारिक जीवन में अमनोर्बहानिक और व्यर्थ की बलपरा मात्र है ।

‘बिक रे मनुष्य तुम स्वल्प शुद्ध निरुद्ध बुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अक्षरों पर ।
क्या बुद्ध भुव ही बना रहेगा बुद्धिमान
नर-नारी का यह तुम्बर स्वर्णिक आकर्षण ॥

प्रगतिवाद आज के साहित्य का सब से पुष्ट अंग है । नख केतना उसमें जिस अनुपात से प्रतिबिम्बित हुई उसी अनुपात में जनमत को प्रभावित करने की शक्ति उसमें बनी, पर धिकायत मही है कि अपने यही प्रगतिवाद का ठीक विकास नहीं हुआ और इसी नास्यताओं को लेकर बचने के कारण अपनी भारतीय जीवन-स्यवस्था में वह पूर्वकपेव महीठ न हो सका । प्रगतिवादी दर्शन सतिवाद और जापति का हिमायती होकर भी जीवन के श्रेय-श्रेय का बाहक न बन सका यही कारण है कि कोई व्यापक मानवीय भाषना—ऐसी भाषना जिसमें व्यक्ति समाज और वर्गों के नेत्र रहते हुए भी सब हानों से परे संकुचित सीमाएँ मित जाती हैं—इसे प्रगतिवाद में नहीं मिलती । विरोधों के बीच प्रतिपत्नी शक्तियों पर दृष्टि रखते हुए विकास का पथ खोज लेना सामान्य सिद्धान्तों में वैमिष्य-विशेष के बावजूद व्यापक समानता को सापेक्ष बनाता और जैसे संस्कार एवं प्रकाश का एक सम्बन्ध होता है उसी प्रकार प्रतिकूल प्रेरक क्रियाओं में भी परस्पर सांगठिक तत्त्व खोज लेना साहित्य में अभिव्यक्ति की पूर्णता की कसौटी है । प्रगतिवाद इसी कसौटी पर उतर कर हमारे अतीत और वर्तमान की पूर्ववर्ती और परवर्ती मूल्य-दृष्टियों का समन्वय प्रस्तुत कर सकता है ।

हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि हमारी भाव की समस्याएँ भी वे ही ह जो पृथ्वी की और उनमें निश्चित उलट-कर नहीं होना चाहिए । प्रत्येक युग की कुछ निम्न समस्याएँ होती हैं और उनका हल भी न्य ही होगा वे किया जाता है । लेकिन श्रेष्ठ

साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह अवर्ण्य बन कर अपने चारों तरफ देखे और वस्तु के लक्ष में पीछे का प्रयास करे। उसे तात्कालिक समस्याओं में नहीं उलझ जाना चाहिए केवल कुछ प्रश्नों और एक-दो समस्याओं में ही वह अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित न कर दे उसे जो साहित्य के चिरंतन सत्य और निरपेक्ष ध्रुव पर आ टिकना चाहिए। वह जनेक कोनों से जीवन के विभिन्न पक्षों और मिथ्य-विम्वुओं की परत करे और युव-वैतना से सम्पृक्त होकर यथाव स्थितियों की पर्याप्तता में प्रवृत्त हो। कारण— युवनाश्लो छेड़क टकसाली सिद्धान्तों का जन्म उनके विस्मय से काम नहीं चला सकता उसे किहीं भी मनोवैज्ञानिक मुक्तिओं और वैतन-अवैतन के इन्द्र-सर्प का घामना करन के लिए स्वकीय सिद्धान्त दिया निरिष्ट दृष्टिकोण तो अपनाते ही पड़ते हैं।

प्रतिधार के विषय में आज जो विचार फैले हुए हैं उसका कारण है कि इधर उसका शायद बहुत मनुष्य हो गया है। सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति न होकर राजनीतिक इन्द्र और समाज की इन्द्र ही साहित्य में व्यक्त हो ने लगी है। यथार्थ के मुक्त वेष्ट-विहीन चित्रण में चिरन्तन प्रश्न गीत हो गए हैं और स्वयं यथावैतना भी इतनी अटल और बहुमुखी हो गई है कि जिस प्रश्न के लक्ष तक एक या दो ही समाधान हो सकते थे वह आज लक्ष-लक्ष होकर सामन विस्तृत पड़ा है और उसको समटना एक समस्या बन गया है। मनुष्य क समाज उसके विचार और दृष्टिको— उसकी भावनाएँ और संवेदनाएँ एक विषय सामाजिक परिवृति से घिरे हैं। परिस्ति— तियों के बजाय ने उसे परतस कर दिया है, उसकी कलान्त मनुष्य दुस्वह हो गई है। अन्य उमगी अभिव्यक्ति भी बटिया किसम की और बेजान होती जा रही है।

प्रयोगवाह

साहित्य और कला के विषय में प्रयोगवाहियों की आमतौर पर बुनियादी स्थापनाएँ निम्न हैं

नवीन भाषा नवीन छन्द नवीन टेकनीक असाधारण प्रतीक-विधान और मनमानी भावामक इकारियों का कविता में अतिरिक्त रूप।

निव-नए प्रयोगों की प्रक्रिया के भीतर से जीवन और वस्तु-भाषेक्य प्रायोगिक शक्ति।

वस्तुपरक दृष्टिकोण का आत्यधिक मापह।

स्वयन् चिन्तन रूप-दिल्य काम्योत्पत्तिकायी व्यक्तता सामाजिक संघटन से परामुक्त या पुनराह भाववेतना का प्रयत्नपूषक पोषण समुद्रि-विकास एवं कलात्मक साधन-संचार।

जीवन के मूल तत्त्वों में बाँधित उलट-कर और अस्तव्यस्त उलझी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को सहज सचवनीय बनाना।

एक प्रयोगवादी कवि के शब्दों में 'सरम्भत भाषा में रंग-बिरंगी विज्ञात्मकता से समन्वित साहसपूर्ण उन्मुक्त रूपपासना तथा उद्दाम जीवन के सर्वथा मांसक भीत।'

प्रयापवादिनों का दावा है कि मनुष्य की मूल्य दृष्टिमें—सुग और बातावरण के अनुबन्ध—उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है अतएव उसकी मजबूतचित्त चेतना भीतरी बोधवृत्ति का जो परिष्कार और रूपान्तर करती चकती है वे ही समयानुकूप साहित्य में बीजस्त और सञ्जत प्रयोग बन जाते हैं। मानवीय भावनाओं का आलोचन सामाजिक चेतना से सज्जा विच्छिन्न नहीं किया जा सकता इसी कारण उसमें समयाभिन्न इन्द्र-संघर्ष और उसी की मजबूरियों से उत्पन्न पलायन के तत्त्व उभरते रहते हैं जो अनक बार उसकी पूर्णता के परिचायक बन जाते हैं।

चूँकि सुग बबल मया है अब मात्रप्रबल मिथ्या परिकल्पनाओं के आमागत वैभव में मानव की वृत्ति नहीं रमती और जीवन की बोझिली ठोस बौद्धिकता ने जी उत्तमें संघय और क्षीम पैदा कर दी है। युगानुरूप विरवास और मस्तिष्क को जाग्रत करण के लिए ये प्रयोग साहित्य की प्रेरणा बन सकते हैं। ये जीवन के 'सत्य-सिर्ष सु-वरम्' को आत्मसात् करके कला-साधना का पथ प्रशस्त कर सकते हैं—इसमें बाध भी सत्वेह नहीं।

प्रयोग की प्रवृत्ति और बड़े पैमाने पर प्रयोगशील सञ्जय उपकरणों के संघटन का प्रश्न कुछ ऐसी व्यापकता लिए है कि उसकी अनिवार्यता किसी मूल में बसबीकार नहीं की जा सकती। पर प्रयोगों के मूल्यांकन की कसौटी क्या हो? उनका रूप कैसे सुनिश्चर किया जाय? किन पैमानों पर उन्हें जीवा और परखा जाय—ये कुछ महारबपूज प्रश्न हैं।

विज्ञासा और उद्घापोह का यह क्या गुण किसी पुरानी वस्तु को उसी रूप में स्वीकृत करण के लिए कौंसे जसत हो सकता है? समय की रसक से परम्परागत विरवासों और मिष्टान को जो गहरा बक्का लगा है इसके फलस्वरूप कितनी ही गवीन समस्याएँ सामने आ सड़ी हुई हैं और कवि सज्जा कलाकार को अपनी बात को अधिकारिक मानिकता एवं प्रभावित्वा प्रदान करण के लिए अभिव्यंजना में नये नये प्रकारों से जूलना पकता है।

बात यह है कि प्राचीन से ऊब कर लचीलता की चाह प्रत्येक में होती है और मनासत भावनाओं को बनेक बार नए थोके में पैर किया जाता रहा है। हर सेखक का अपना निराशा बंध होता है वह दूसरे से जिन ठौर-ठौरका अहितवार करना चाहता है, कम से कम उसमें यह स्वाहित्य ता होती ही है कि वह अपनी बात को कमत्कारिक बंध से कहे। दूसरे लोग उसकी प्रतिभा की बात में और वह जो कुछ कहे या प्रकट करे उनके बिल-दिमाग में पूरी तरह बँध जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर सर्वक अभिनय प्रयोग करता आया है और दूसरों को प्रभावित करने की सतत चेष्टा करता रहा है।

प्रयोगों की यह परम्परा नई नहीं है वह आज के मस्तिष्क की उपज भी नहीं है हाँ—उसे 'बाब' बनाने का दुराग्रह तथा कहा जा सकता है।

यह निबिबाब है और काव्य-सृजन की आदिम परम्परा से लेकर उसके परम पुष्ट विकसित काम तक का इतिवृत्त भी यही सिद्ध करता है कि प्रयोग सदा से होत आए ह और उनसे कल्पना की समृद्धि एवं सारस्य की अभिवृद्धि होती है। श्रुति वैचित्र्य अलंकार, ऐसे-समेक अनुप्रास अतिशयोक्ति आदि तथा ध्वनि रीति लक्षणा व्यंजना असामान्य रूप-विधान अथवा वस्तु वृक्ष घटना और जीवन के अनवरत सचर्व-विराम से प्ररित संबेदनशील अनुभूति साहित्य-अप्ट की उत्कृष्ट एकाग्रता व तन्मयता से एकारम्य हो काव्य की सशक्त पार्श्वकता को उजागर करती रही है पर साथ ही यह भी सच नहीं कि विविध व्यंजना अथवा नितांत नए भावों को नई सीढी में नए रूप-विधान के साथ प्रस्तुत करना ही एकमात्र काव्य की कसीटी है। न कभी काव्यगत प्रयोग इतन छिछके स्तर तक ही बाधनीय हुए हैं जहाँ कलात्मकता क्षयन हुई हो और न द्विस्य एक प्रकार में अद्भुत समावधानों का इतना उत्कट आग्रह ही कभी प्राण्य हुआ कि जिनमें नई सृजन-श्रवणा का नितांत अभाव हो। पुराने जमान के कवि अपने प्रयोगों में भी सत्य के खोजी हुआ करते थे और उनका सत्य भी वही हुआ करता था जिन्हें वे समग्र रूप से ग्रहण अथवा आत्मसात् कर लेते थे। विचारों को अलंकृत करने के उद्देश्य से रूपक या उपमा सहभाष अथवा सादृश्य कल्पना उनके अपने स्वामुखों और चारों ओर के पर्यवेक्षण और जीवन के प्रति बंध-प्ररित एवं काल्पनिक प्रतिक्रिया के आचार पर निर्भर होती थी। इनका काव्यत्व उनका समग्र चित्त-विधान—इसी चरम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त नियोजित होता था कि सर्वस्वीकृत ज्ञान में डले होने के कारण विविध वैयक्तिक सम्बन्धों से समन्वित होते हुए भी वे सार्वजनीन रूप से कैसे मान्य हों यथा—

“पिया विनु सौपिन कारी रात
कण्ठुं आभिनी होत बुम्हेया,
इति उलडी हूँ जात ।

उपयुक्त पंक्तियों में सुरबास ने कृष्ण पत्र की भयावह रात्रि की उस काली सपिणी से तुलना की है जो इसल के उपरान्त तुरन्त उकटी हो जाती है और इस तरह उसके पैर की इबेतिमा रात्रि की उत्तराख जादनी भी कौंधकर बिरहिनिनों के लिए अत्यन्त कष्टग्रह और असह्य होती है। रात्रि की सपिणी से तुलना आज भी एक नया और अद्भुत प्रयोग कहा जा सकता है पर कितना समीचीन और वस्तुस्थिति के सत्य को ग्रहण करने वाला।

“क्यों मुझ मुहुर [मरुच निज पानी
पहि न जाइ अति अद्भुत बानी’

(गुलसीदास)

अयोध्या कांड में राम के बल से पुनः अयोध्या लौट जाने की बम्बीर बाठी का प्रसंग है। राम ब्रह्म में बिभोर भरत की काफी थोड़ाओं को पहन करना उसी प्रकार कठिन प्रतीत हो रहा है जैसे हाथ में रथपथ वाले हुए भी और मुख की प्रति अठिब इतनी समीप और नजरों के सम्मुख होते हुए भी पकड़ में नहीं आती।

इसी तरह के अनजित प्रयोग मर्मितकाल और रीतिकाल के कवियों में अस्ति नई कि उनसे भी पूर्वकालियों और परकालियों में मिलते हैं बरन्तु काव्य में जो अपेक्षित स्थायी मृग होने चाहिये अर्थात् कभी न खोप होने वाली मध्याता और एक असीम समन्तता—उसका पहले निर्वाह किया जाता था। बिचारपाठ में प्रपति काम वाले अंत मूर्खों की भाँव करके प्रत्येक की विधेयताओं का वर्गीकरण और सम्बन्धों का निरूपण कर देने के बल्वात् उस विशिष्ट नाम-ब्रह्म के भीतर उसी की छोटी की या उससे महान् मूर्खों की स्थापना में एक-एक पहलू का सर्वव्यापी महारक निरूपित कर लम्ब किया की और अरुहर होने की श्रेष्ठ की जाती थी। एक-समय तास्त्विकता मौलिक और धारकत वचन को विस्मृत न करती थी और निरपेक्ष मय की सीमा-रेखा माग की असीमता को झुटका न पाती थी। उच्चसम्पत् बौध्दिक आचार पर व्यक्त की कियाशीलता साक्षात्कृत क्रियाशीलता बनकर महत्वाकांक्षा और निरपेक्ष में प्रवृत्त करती थी। यों प्रवृत्तिशील या प्रयासशील कहे जाने वाले गहिर्य की मान्यताएँ किसी विशिष्ट राजनीति बर्ष अथवा सामयिक परिस्थितियों संयुक्त न होकर सचाई से उन तथ्यों का अधिकतर भावजन करती थी जिसमें एक समन्वित समग्रता तो निहित होती ही थी पर जो काकाल्तर में साहित्यिक ओहक्यता की भी उत्तरक मिष्ट होती थी। किन्तु इसके विपरीत आज की सम्बन्धीक निरिचयता में बहि की हूँ अनियमित अभिव्यक्ति को स्थितिजन्य कहकर प्रत्यक्ष परोक्ष रूप में सत्य और सर्वोचित की परिपक्वता में परिभत करने का बंध कितना हित साधित हुआ है। मुँठिठ मस्तिष्कों की ह्लासमूकक प्रकृतियाँ लज-नारी के यौन गपार और उनकी प्रम वृथा के संवेदनारमक विच अथवा प्रकारान्तर से जनवादी सत्ता की दुहाई देकर झूठ-मूठ के शिष्य-विधान की प्रवचनता द्वारा जनता के स्वल्प ल गई विम्वरी की निर्माण-वृत्तता को ललकारना कहीं तक सही है और किस रूप निरिचयता का अन्त कर बह बया बीजम फूटने में समर्थ होगा—कहा नहीं जा सता।

उबम बड़ी विस्कृत प्रयोजवादी रचनाओं की सीमा रेखा निर्धारित करने में ती है। प्रपतिबाह और प्रयोजवाह दोनों में इतना मूरम अब है कि पार्थक्य कभी भी कठिन सा हो जाता है और अन्क प्रगतिवादी रचनाएँ प्रयोजवाद के अन्वर्षत परिचयित की जा सकती हैं। यथा

“और के तारे अनी भी विमदिनाकर मीक मरकसे किलकरी,
है उन्हें क्या बात ?

कितनी भूख से मन छटपटा कर सो पये पुत्रपाप पर हैं
भीर कितने धोर मर्यादा
होते हैं यहाँ पर
निकल जाए इन्हें क्या, बस हो गई है रात ।”

यह प्रगतिवादी कविता है। इसी भावना से प्रेरित एक प्रयोगवादी कविता

ज्योति के ये कन्ध हैं क्या ?
ये नवल रश्मि-रश्मि जते
जिनकी से कुछ परज्वल
मौतियों से जयमयाते
हैं विमल मनु मुक्त बंधन ।
इसेत मुक्ता सी बमक पर
कर न पाये नभ प्रकाशित
ज्योति है त्रिज कर न पाये
पुनं बनुधा किन्तु ज्योति ।
कौन कहता हीन ये जो
ज्योति से कुठिया लज्जते ?
ये निरे अंधार हैं बस
जो निकट ही जगमगाते ।
ये न हैं आसोक पाये ?
बस बमक केवल दिखते
प्रिलमिलते मौम जयजित
कथ जयन-मू की मिलते ?
ज्योति के तब कन्ध हैं क्या ?”

(महन्द्र मटभागर)

उपर्युक्त दोनों कविताओं में बहुत कम अंतर है। ऐसी ही संकेतों कविताएँ एक दूसरे में सुझकर बिलखी हुई हैं जिनमें प्रगतिशील उपकरणों और नए विषय के विशिष्ट अभिधानों व अन्वावा छन्द भाषा सीसी और अभिव्यंजना के माध्यमों में नवीन प्रयोग बरत गए हैं। विगत पन्द्रह-बीस वर्षों में 'प्रगति' के महान में आगे जान की नए पुरान कवियों में जो परस्पर होड़-सी होती रही उनी न उनमें चिह्नकारी शैल और जफलता जोश मरा और उसी न उन्हें नए सदास प्रयोगों की प्रस्ता बी। भगवती बरब बर्मा नरेन्द्र शर्मा अंशक दिनकर-उहाँ तक कि निराला और पंत तक ने मापन जागरण-युग की भावनाओं को महान करने हुए कविता को अधिक मधेक और मराकन बनाया। उस समय जो जनवादी कविताएँ लिखी गईं उनमें सामाजिक उत्थ और वैचारिक संघष तो है ही विषय-वास्तु और रूप-विधान में भी

ऐसे कलात्मक प्रयोग किए गए हैं कि उनमें अभिप्रेत सामंजस्य उत्पन्न होकर विमोहक-नीमा मिट गई है। प्रगतिशील और प्रयोगशील दोनों प्रकार के क्लेशों ने उन्हें ऐसा ठोस आधार प्रदान दिया है कि आज वे एक विशिष्ट दिशा एक निश्चित गन्तव्य पथ की ओर संकेत कर सकी हैं।

प्रगतिवादी क्लेश अब तक प्रयोगवाह के भी पुरक रहे थे यद्यपि यह मर्यादा प्रकृति अभी स्पष्ट नहीं हो पाई थी। प्रगतिवाद में सामाजिक चेतना और राजनीतिक इन्द्र-संपन्न प्रमुख होता है जबकि प्रयोगवाद में प्रकृत वैयक्तिक चेतना के साथ साथ भाव-वस्तु और शैली-सिद्धि के प्रयोगों के प्रति अप्रत्याकृत आत्मकता और वस्तुपरक स्वाभाविक दृष्टिकोण होता है। आज के संवत्सरीय युग में मौजूदा परिस्थितियों के साथ कवि-जगत् जिमाना कुछ कठिन सा हो गया है। ऐसे अन्तर्विरोधों को दूर करने और कविता की जीवन्त चक्षुष्या को उद्बुद्ध करने के लिए प्रयोगों की आवश्यकता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। प्राचीन से अब मन टक जाता है तो कुछ नया पाकर सतोष होता है, ताजगी और खुस्ती खाती है। यों भी सृजनशील कलाकार पुरानी शीक पर कदम से कदम मिलाकर देर तक नहीं चल सकता वह अपनी निरवस्था झुंझता है। अपनी अतिस्वयंजना-सक्ति विभिन्न बंध से मुक्तित्व करता है, कर्म से कर्म एक-दो पथ बाध बढ़ कर साहित्य पर कुछ अपनी स्थायी छाप छोड़ने की इच्छा तो रखता ही है।

कहना न होया कि उक्त परिवर्तन आज दृष्टिकोण हो रहा है। साहित्यकार की बहुमुखी प्रतिभा स्वापकता की ओर बढ़ रही है। मने ही विपयमूठ विविध बाह्य परिस्थितियों तक ही उसकी दृष्टि सीमित हो किन्तु मिरचेष्ट होकर बैठना उने नहीं सुहाता। वह साहित्य को एक नया मोड़ देना चाहता है। नई पतपती हुई प्रकृतियों के साथ यथार्थ के अधिक निकट जाने की प्रस्था उसमें जग रही है।

तो साहित्य और कला में वहाँ तक जीवन की विद्यात्मक विविधता के तथा वेधा का प्रथम है उसका खेप स्वापक और विस्तृत किया जाना ही चाहिए। इसी से वह आगे बढ़ सकता है और मनुष्य की अंतर्घनित को जया सकता है, पर इससे आगे बढ़ क्या है? जीवन की दृष्टि बिरोध वास्तविकताओं के अनुपात में वह कहाँ तक घेष्ट चिंतन क मात्म-विरवास का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ है—वह विचारनीय है। मिथ्यात्व के कुहरे को जेर कर वास्तविक भूमि पर उतरना मुश्किल है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य के परम्परागत रूप को छोड़-मरोड़ कर कलात्मक की अभिव्यक्ति और लचील प्रतीकों के सृजन में इतना विमोह हो जाये कि अंतरंग चिंतन और पदार्थक आलोचन की सर्वथा उपजा ही हो जाय।

काव्य का ध्यय मनुष्य का अमुरंजन है। तीव्र भावावेश में ही हृदयस्व अनुभूतिवाँ कविता बन जाती है। वही भावावेश मन्त्र होगा वही भावना मूक और भावा श्रीकी पड़ जाएगी साथ ही काव्य संकीर्ण परिधि में बन्धी होकर उन्मुक्तता और जीवन से वादात्म्य तो बँटेगा। इस स्थिति में काव्य की अंतरंग परीक्षा द्वारा हमें देखना यह

है कि उसके उत्कृष्ट का परावृत्त क्या है अपन युग से उसका क्या सम्बन्ध है और वह किस दृष्टियों को मुबार कर रहा हुआ सनातन कला का मापक बन गया है। सर्वक की दृष्टि जितन ही दूर तक फैले जीवन पर पड़ेगी उतन ही सौन्दर्य के साक्षर स्वरूप की प्रतिष्ठित वह अपने इतिव में कर सकेगा और उसकी गहराइयों में उतर सकेगा। उसके दिग्दर्शन का दायरा ज्यों-ज्यों फैलता जाएगा उसकी दिग्दर्शियों बढ़ेंगी सार्वजनीन सस्कारों को ग्रहण करने के असावा उसके रागात्मक सम्बन्धों और अनुभूतियों का साथ विस्तृत होगा और युग-स्वरूप को प्रत्यक्ष बनाकर सामयिक स्थितियों को वह अधिक सचाई में जाँच सकेगा।

यह सच है कि लिखन के कोई आम नियम नहीं होत। प्रत्येक को अपने रंग से रहने का अधिकार है। यह भी आवश्यक नहीं है कि सबके प्रत्येक उपकरण एक से हों कुछ न कुछ भिन्नता तो बनी ही रहती है किन्तु यह अममम्ब है कि कलक कलात्मक सिद्धांतों के बरमे अन्य महत्त्वहीन सिद्धांतों की रचना करे। साहित्य के साक्षर उपादानों की अकहलना करके ऐसी चीजें सिद्धे बिमसे उसकी भावनाओं का क्या न हो जिसको अपने भीतर अतन्त्र करने की उसने आवश्यकता न समझी हो और जितमें उसकी आत्मा न झकती हो।

युग बढ़ी लगी से बढ़त रहा है और युग के साथ-साथ साहित्य-रूप की अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पहलू भी बढ़त रहे हैं। काव्य प्रणालियाँ इतनी बहुमुखी हो गई हैं कि सूत्र-न्याय में समस्त मानस की गतिविधि और उसकी सूक्ष्म प्रविष्टि समझना कठिन हो गया है। यह माना कि नवीन परिस्थितियों के साथ भौतिक आवेष्टन युग-विशेष की माग्यताएँ, संवेद रचियाँ और हमारी मनोवृत्ति का अन्त जीवन की अटल समझता के साथ सामंजस्य नहीं कर पात फिर भी कलाकार की अपनी सीमा होती है और उसकी दृष्टि अतीत में जुड़कर उसकी आत्मा के भीतरी स्वरूप को पहचानती है।

प्रयोगवादियों ने अब तक साहित्य-क्षेत्र में कुछ अप्रुत विषया पर बुग्यात किया है सही किन्तु उनका अपना कोई स्वतन्त्र दशन नहीं है। अभी उनकी कविता का कोई रूप भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। अधिकतर प्रयोगवादी रचनाओं में का मिश्रता है वह है गहरी अस्पष्टता अस्तुमन वैचिभ्य और प्रत्येक वस्तु को एक नवीन दृष्टिकोण से देखन का गहरा मोह। अब स साहित्य में यथार्थ के चिन्तन की प्रवृत्ति बढ़ी है नारा साहित्य वैचिभ्यक वास्तविकता की दुर्लभ एक अस्पष्टात्मक अभिव्यक्तियों से भरना आ रहा है। वह जिनको क किमी भी पश्य, किमी भी पश या विगर्दक और कही स भी मनामा बदलन को ताक में रहता है। मनोगत अन्त संघर्ष अन्तकनी आद्य प्रवेयों को समझन का उसके पास न अकवासा है और न असाह। जिन्कर व्यक्तिवादिता पनप रही है अहम तरब और पड़ गए ह। अन्त अन्त की प्रवृत्तियों में अकसा कवि स्वयं नहीं अगम पा रहा है कि वह निम्नता क्या चाहता है और किस क्या रहा है। उसके एक बाहर स मत्प प्रतीत होने हुए

भी बीठर से बोने और बजान है । उसकी लेकनी राहु-बराह रेंगती है और मन के निराधार मलयगारों को सहसा झनझना देती है ।

प्रयोगवादी धारा का एक रूप है काव्य की परिचित परम्परागत लीक से असन्न हटकर चलना । वह अपनी प्रकृति और स्वभाव दोनों में भिन्न है । उसकी बुरी बिलोपदा है वैचित्र्य-विधान की प्रवृत्ति और बिकारी वस्तुओं पर मुद्र के मोक्ष चित्रों सिकमिल छायाओं रूपकों और कल्पित प्रतीकों का आरोप लक्ष्य से निरन्तर वह व्यक्तिगत अवृत्त कृष्टाओं से आक्रान्त है और उसकी प्राचयता ही स्वच्छन्द विचारों के बजाय से जो कल्पना में छायाचित्र छन्न जाये उनका अनूठा चित्रण है । प्रयोगवादी हर पंक्ति में प्रयोगज और व्यञ्जनापठ समन्वय चाहता है मने ही उसे अनेक स्वकों पर बेमेस और हलता छोकर अपनी प्रतिपादित विधिष्ट ताओं को मिथ्या छाबित करना पड़े ।

“सामने के छील मन ने

आवरण निज की कमानी, बाँह मस्तिष्क की बिछी है ।

(नरेशकुमार मेहता)

“मेरे प्राणों के पहिएं जूनि बहुत नाच चुके
झिमेमा की रोनों-सा कसके सिपदा है सभी कुछ
मेरे अन्तर कमानी कुत्तन को भरती है तुमसे
जो तुमने, इतना ही कहना है, तुमने
“तुम से मुझ”

किन्तु टहरो तो आस

इतने भी अच्छी कोई बात मान आ जाये ।”

(रघुवीर सहार)

नीचे की पंक्तियों में बीकों को छाल्टेन की बीड़ी परिधि में समेटा गया है
“दिन से बुझार
रात्रि की मृत्यु,
के बाद हृदय पुंस्तक हीन
अनामनुष्य रिक्त सा पैह
जो आत्मेन से नयन हीन ।”

(गजानन मुक्तिशोष)

इस बुरी कविता में नयनों को दो मोमबतियों से बसाया गया है
“निज ! पुन संकलित को इस मोड़ पर
ने दका कुछ वर्ष
अरब सिंघर, मू जामा में बँध गए

और एक दूसरे कवि भाँकों की बेमाप पहचानों में ही मानों लो गये हैं
 'आँसू धार बाली है
 जिनमें मैं समुन्दर की बेमाप पहचानियाँ
 बनकर लो गया हूँ ।

(केदारनाथ सिंह)

मृगुर-ध्वनि और कल्प की आकाश में कोई छाप नहीं है फिर भी
 'तू सुनता रहा मृगुर मृगुर-ध्वनि
 यद्यपि बनती थी कल्प ।

(भारतसमूहण)

कही पाँवों की ध्वनि बारात बनकर आई
 पावों की ध्वनि की बारात से
 बिजलियों की भाँकों की छाया में
 सड़क बड़ी लाल रंगी
 चिन्तारे पर गीता के ।

(रामदरम मिश्र)

एक अन्य कविता में अँटों की कठार को रँगने वाले काले प्रसन्नबिन्दुओं-सा भाँका
 मना है

‘आँसू हुई—
 दूर आकाश के पीले
 ऐतिहासिक डीलों पर
 भूखे विचित्र अँट,
 मुझ विचित्र की ओर झर सर उठाए
 पीठ पर धारा लाले
 कितनी बीसल पड़ाव की ओर लके मरि
 काले प्रसन्नबिन्दुओं से रँगने लगे ।”

(सचेश्वर दयाल सक्सेना)

निम्न दो कविताओं की पहली कविता में 'भीम कुपियों के राजहंस' और दूसरी
 में 'सपनों के राजहंस' कही दूर से टिककर उड़ते आते या जाते हैं
 'भीम कुपियों के राजहंस दूर-दूर लड़े जाते हैं'

(नेमिचन्द्र बेन)

‘एक रोज मेरे भीतर में पर फेलाए
 सपनों के राजहंस कही से निकले जाए ।”

(रामानंद 'दोपी')

लेकिन वे ही सपन एक कविता में 'फूलों की नाव' दूसरी में 'सिम्बुफेन' और तीसरी में 'प्राण की छद्म नाव' बन गए हैं

एक जब तुम्हारे सपनों के फूलों की नाव
टिप्प टिप्प हो गई थी
किसी के 'बैर-बैरोंस' की
अद्वान से टकराकर ।

(वीर ड कुमार जन)

'सिम्बुफेन' से सपने बिलीन हुए

(सम्भूनाथ सिंह)

'अरे यह आगरा की रात
पावन प्राणना की रात
निद्रि का तिमिर-भारावार
उसमें बड़ रही अचिरान
मेरे प्राण की लघु नाव'

(अजमोहन गुप्त)

नीचे उड़ते पंक्तिपों में बावक की शीघ्र श्चेतिमा हृद्दी की मतहूस मछेदी के समकक्ष आंकी गयी है

पूरव दिशि में हृद्दी के रंमवाला बावस सेटा है
बेड़ों के ऊपर पगल खेत में
दिन का खेत अरव मार्ग के अम से अरकर मरा पड़ा श्यों ।

(नरेशकुमार मेहता)

यही प्रकाश की उपमा सब के सफ़द परिवान से भी गई है
'इनका प्रकाश
अम के विगतल
दाब का सछेद परिवान सछ ।

(गजानन मुक्तिबोध)

और इसी कवि महोत्सव में एक अन्य स्थल पर पुनो की आँनी की सिलमिल सिलमिल रेगम में नुक्तता की है

'ईली यह सफ़लता की अरता की
कीति-भी रेगम की पुनो की आँनी ।

परन्तु एक अन्य कवि न आँनी को गुड बनसगि भी समान का दुस्ताहम दिया है

‘यह देखो दुनिया चाँदनी
 भाव बिलोरी है भरती पर
 कुछ अनस्पष्ट धी धी अितमें रंज न अब तक मिल पाया है ।

(केसवचन्द्र वर्मा)

वहाँ देखिए—

पूर्वमासी रात भर
 पीती रही सुखा
 शंक में हासि के सिमरकर
 बोती रही क्यामक बचन
 मुबमुब बितार
 दिन सारीली इबैत अन्तर हाँक ।

(सकुशाळा मापुर)

चाँदनी रात है—

किसी अबोध कुमारी के सरस नेनों ली
 मचाहू नकमरी, पीसी

(नेमिचन्द्र जैन)

हर रम्य
 अब चाँदनी
 हर संभव धम्मियारि में
 हाँकने की कोशाशा करने लपती
 और अब स्वप्न से
 रंगीने रंज कपा नीचे लीने
 सीमाहीन आकाश में
 दिन भर की पचापता की अट्टल से बकरा
 बुर बुर हो जाती ।

(अनिल)

चाँदनी का अितम दूरा आ रहा है
 चाहती अबनय
 किसी अनिहारिका के मधु कलस में
 नु ह छिपाना
 रात से पिछले पहर तक
 प्राण नितनी बैबती है

(परमार)

बाँह पर घर पाल
बिचुरी अलक सुन्दर
मा जठी अपनी कहानी
तिमिरहूर उम्मादिनी ।

(गंगेय राभव)

केन्द्रित जब—

“उत्कामों के रज पर सवार हो गई हृष्य,
इस क्रिया तिमिर अजगर ने तारों का रात्रा ।

(मीरज)

तो एक दूसरे कवि के शब्दों में —

श्रृंखला है चारदी तित
विधिर की शक्त-निरा की शक्ति है निस्तार ।

(अज्ञेय)

निम्न दो कवियों ने चाँद की लकीरी बधू से उपमा दी है

“विश्रुत बधू सी है चारदी
बिबा की बेला में
सजग्यी सी उम्मादिनी
यही है यही है शरद हासिली”

(राजन्द्र किशोर)

और

“डाल कर परवा कुहासे का
यह घरद की लीन हुलहल सी
पाँव के तिहरे सिबलों पर
पालकी से सहम कर उतरती ।”

(शंभूप्रसाद भीवास्तव)

और इनमें उल्टे मन की धून्यता को कामी बमाप चाहर-मा बताया गया है
अप्यता की स्वाह-सी बेमाप चाहर से
जमी श्यों डरु गया हो धून्य जी का प्राप्त ।

(नेमिचन्द्र)

बाड़ों की धूप एक अन्य कवि को 'सिमल की भरवीली बर्द' सी धान पड़ती है

निमल की परधीली हस्की गई समाज
 भाइों की रूप खिली भीने आसमान में
 झाड़ी झुरझुरी से उठे लम्बे मेवाज में ।

(गिरिबाबुमार माधुर)

अनुभूति की महारई कभी अन्तर की विराटता खोजा करती थी और काव्य के मूलाधार—भाव विचार और प्रत्यगा—अनुभव की कुठि हृदय मस्तिष्क इन तीन शक्तियों से परिष्कृत हुआ करते थे पर अब की हृदयवन्म अनुभूतियाँ बाह्य बुद्धि गम्य अनुभूतियाँ बन गई हैं । उनमें बँसी रागात्मकता या रंजनकापी तरलता नहीं है जो उमड़ कुमड़ कर भाष्कृत करके इसके विपरीत एक डुक्कड़ धमसाध्य मस्तिष्कीय व्यापार है जो लयलता के आकार पर प्रभावों की समरता और उठके सहज वैशिष्ट्य के साथ बलात्कार सा करता है ।

“जिजर बीदल काली भौहूँ
 प्रधनचिन्ह सी झूल रही हूँ
 जातक सी ये कर्ब विभावें
 और बीटो-पिगार बीसी
 ओठों की बुर्बल सीमाएँ,
 बूट बसों सी काली मूँ
 पुह-अन्न की काई असी
 रिक्त कपोलों की गहुराई
 अस्मित बावुपाल के झुलसे
 ईने बीसे अर्जर कम्पे
 विस्तार की स्टुटेबी बीसी
 मेघदण्ड की पड़ी हड्डियाँ
 सखंसाइट की मन्ध बँदरी बीसी उलती
 किली सादरेज की अर्धकित महरी सति ।”

(सुकुमीशान्त वर्मा)

साम्य और वैषम्य के कुछ और मन्त्रीबोपरीन विष बाण देनिए

“कोकाकोला भेता हुस्व
 बुला बुला सा काल काल सा
 चिड़पन बीसी मुहप्यत
 पीकी पीकी सी पीठी पीठी सी
 कोराली डादरों की नदर से

पुला पुला सा रेंगा रेंगा सा निहरा-निहरा
तेरे केनों का लज्जा लज्जा ।

(कनौरसिंह दुग्गल)

'बाबामी पंजड़ियों से मछ
गहराई मटर फन्नी-ती रक्तिम अंगुलियाँ
तीसी कलों से सुन्दर सुरमई नयन
मेहूँ का गौरा पेड़
कोपसी भौंठ'

(रामसङ्क श्रीवास्तव)

"गालो की भरती पर
आँसू की झीलें हूँ ।
आँसू का आसमान
बरस बरस जाता हूँ ।
कड़ियों का हृदय किन्तु
तरस नहीं जाता हूँ
छिद्रों के घूने से
आँसू की झीलों में,—
इन्द्रधनुष के समान
सरसिज के बल के बल
छिलते हूँ—बासमान ।
सिहरन से हिलते हूँ !"

(शिषुमार श्रीवास्तव)

कवि की कोमल कल्पना इन्द्रधनु के बिम्ब या उनको छाया ग्रहण कर मधु
रूप विभावयिनी शक्ति के रूप में स्फूर्त हुआ करती थी जयन्ति संवैहनजन्य अनुभूति
के घोष से सावस्य-सावस्य के सहारे बृष्ट छबियों को प्रहृत छाँचों में डाल कर बित्तन ही
माधुर्यवित्त बिज उमाप करती थी पर आज की जयमाएँ महड ज्यामिति या एल-
बजा के लासणिक प्रयोग हूँ जो कुंठानों की कसकन सिन्धे पाठकों के मन पर उतर
जाते हैं—

"तुम्हारे पास, हमारे पास
सिर्फ एक बीज है
ईमान का बंडा है
बुद्धि का बस्तम है
अनप की भेती है

हृदय की तपारी है — तसला है,
 नये नये बनाने के लिए
 मकन मसला के
 मनुष्य के
 हृदय की तपारी में होते हैं हमी लोग
 बिन्यापी की गौली और
 महकती हुई मिट्टी को ।”

(गजानन मुक्तिबोध)

गौरी उद्भूत पहली कविता में पगडंडी छपिणी सी धन फसाए है—
 “पगडंडी ऊपर बुर्जिली सी; उभयना
 भावि भूमि बबारी मकझूई विपबामपी
 पठी कन बँला कर बड़ा मेदा ।”

(सम्भूतान सिंह)

किन्तु दूसरी कविता में उसी पगडंडी की बँकली बामकर बराने को चुनौती
 दी जा रही है

“ओ पगडंडी की बँकली बामकर
 है बराना तो कैसे राह बनारसोमे ?”

(रामावतार रयागी)

दरबसक बाब का विषम मातावरण बेहद आबापठरें और बानाघबौपी
 बतिया उचार रहा है फलतः सब कुछ चारों ओर उसे बेयाग सा लगता है। एक
 बट्टहास करवा हुआ प्रथमर्ष पिशाच सुबल बेतना पर छाया है जो बस्तुस्विति के
 जाने मलधर नहीं बल्कि बड़े ही उद्वेग गाब-मन्दाब से छिर उँबा लिए है। बिन्यापी
 के इर्दगिर्द न जाने कौसी समझती-बुमझती मलझूत बटापें उबियाबा-बँपेरा संलाब
 काई की-सी स्थाह बनता किए एक मिथ्या बमिजात्य या इसके ठीक विपरीत बनारसा
 का कफन ओढ़े है

‘मिनर कहीं
 लज्जे होंत
 पीली बाँबें
 मुरां बरुँ
 बब रू-रू कर बिस्तली हैं।

(दीनारु बाबुपेयी)

और
 “और अब हम बोलते हैं,

बात होवों पर तनिक निःशब्द रखकर—
 सोलती है,
 न जाने कसै कहाँ से
 वह हमारे धम्म लेकर,
 हमें कूछा अर्थ लेकर,
 हमारी ही मुठियों से—
 एक जीवित सोनबिड़िया-सी
 फुरकती भाव जाती है ।”

(केदारनाथ सिंह)

एक और सौंपे की मानिक संवेदनात्मक अभिव्यक्ति भी बाहरी मुहम्मता बनकर रह गई है

“सोने की वह मेघ नील
 अपने कमलीले पंखों में से
 संवकार भव बैठ गई-विल भंडे पर
 नदी बधु को नय का मोती नील के गई ।

(नरेश मेहता)

जूनै हर युग का कवि जिज्ञासु है अतएव परों के पीछे टाक-झाँक करने की प्रवृत्ति को वह मान भी इसी जिज्ञासा का एक अर्थ मान रहा है। व्यपटीम कविता की रसकता में बहुकर बहु उसके मोडपन का बकन का प्रयास करता है। इस ना-तकस्कुती के दौर में वह अपने संयम का आचरण उतार कर हम कहर दुराधही और आत्मनिश्वासी बन गया है कि अब अपने 'आचार्यत्व' का यम है वह अपनी बड़ी शौमन बनता है और यथार्थ से कतराकर ऐसे-एसे कल्पित स्वप्नजाल में उलझ जाता है—बन के पछियों की तरह आजा" और मुक्त— एक अजीब मस्ती और बेसामान्य धिये—बड़ी वासना उत्पन्न है प्रेम बंधन है और अनावृत आचरण और कुदधि उन्नताना ही पीरक समझा जाता है। कविता क्या है—मानिक एव्यामी का प्रतीक— जो अपने रगीत पंखों पर मार्गों कहीं उठा कर से चामयी। अपने अंतर्मन के आगे अकर्मक मुलहूटी चित्र उभार कर और बौद्धिक रिक्तता व विषयन को तूक देकर वह कुछ एसा नया और चौका देने वाला वैलक्षण्य खोजता है जिसमें जोबे रंग देन वाले उपादानों के आगे उसकी कल्पना का दारिद्र्य छिन जाय। बुमाफिरा कर अग्रप्रथम बन में कोई एसा पहलू हाथ नय जाय जिससे कोई बड़ी संभट न हो और इस प्रकार उसकी कलई मुमन से रह जाय।

“ठिली घाली विपासलाई की बची
 अन्तिम बलती तोली-सी हंसो

मोरपक्ष की भाँतों के प्यार भरे पीत ।
 बस्मीक पर फेंको हुई बाँवली की बैल ।
 शबनम के अर्लकार ।
 इन्हें अब रहने दो ।”

(शिनभूटीकाठ घर्मा)

“एक तीव्र धोर ।
 मन ने दर्द से कहा—ये हम सब हैं ।
 दूटे प्यालों में तिगरियों की रात
 सोसली हूँती की सनकारें—
 मुझे तड़प उठे ।

(मलबज)

इसी प्रकार—
 ‘अपशकुन दम्भे लरीका मौन ।
 बूटी से दँधे इन नगर सतों पर
 हँसा है—ईसा लरीका ।

(बसमित्र)

‘बुप का कछन’ मोड़े एक दूसरी कविता—
 ‘बौपुरी की कब पर बुप का कछन में
 मुठिठमाँ पत्थर किए हैं बन्ध ।
 कौन ?
 बुप के बरन को
 तेज मुई की तरह से छेवता ?
 बिम्ब के इस रेत बन पर
 मैं अहं का मेघ हूँ ।
 उन दिशा की वासिबों के संवरधर के करों में
 जय बरन हूँ मीरा बसा ।

(नरस कुमार मेहता)

यही ‘कछन का कबच’ जीवन का संरसाक बन गया है—
 “हम कछन लम्बे बन्ते सबा लही हैं
 इतलिए कि बत जीवन का कबच यही है ।”

(भारतभूषण अष्टाव)

धोर निम्न पंक्तियों में ‘इन्द्रबनुप की बरली जैसे सारी कविता पर छाई

हरे हैं ।

‘सुपके-सुपके प्राणी की यह अवला बरली
भीतर बाहर छापी इन्द्रधनुष की बरली।’

(त्रिलोक्यन शास्त्री)

प्रतीक या उपमान स्वरूप वस्तुतः के अन्तर्गत ही अपितु उसकी अंतःप्रकृति के अनुसंधान सूक्ष्म सम्बन्ध तत्त्व पर आधारित होने चाहिए, लेकिन वर्तमान नई कविता की प्रतीकबहुल यत्नसाम्य और स्वच्छन्दतावादी प्रकृति के ऐसे सफुटों उदाहरण बिये जा सकते हैं जिसमें बरले हुए दृष्टिबिन्दु से उपमाएँ, रूपक और साम्य प्रस्तुत किये गये हैं। कला की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उनकी उपादेयता और औचित्य क्या है और वे किस हद तक सफल कहलायेंगे—यह तो बताना कठिन है, हाँ—इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नवीन कर्म-विषय और नूतन प्रयोगों के मोह में निरर्थक रूप विमान और कलाहीन प्रचार सर्वथा रुक जाना चाहिए।

मीथुन युग की प्रत्यक्ष स्मृति एवं इतिवृत्तात्मकता के फलस्वरूप कवियों में यह विपरीत प्रतिक्रिया इतनी अन्तर्मुखी और अस्मिन्मूर्त होती जाती जा रही है कि उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी प्रकृतियों को पूर्ण रूप से न अपनाकर कास्मिक कुहासे और रंजीत छायाविशों में भटक रही है। सम्य रचना पद-विन्यास प्रतीकवाद (Symbolism) रूपप्रकारवाद (Formalism) स्वरूप सञ्जा और शैली-सिद्धि के गुम्फित बँसब में अग्रित उसकी पेटना अपनी कला के गर्भ और व्यक्तित्व को मूक र्कटी है। कई बार उपमाएँ पचाई नहीं पोपी गई सी जाग पड़ती हैं।

छायावादी समाजियत कम होने पर एपों-एपों नव्य वास्तविक भूमि पर उतरने का प्रयास किया गया एपों-एपों साहित्य में एक विशिष्ट विरोधामास उपस्मित होता गया और यह विरोध दो व्यक्तियों में नहीं बरन् एक ही व्यक्ति की विभिन्न मानसिक स्थितियों से उत्पन्न दृष्टिकोणों में बीज पड़ा। ‘अज्ञेय’ द्वारा संपादित ‘ठार सप्तक’ ‘दूसरा सप्तक’ और ‘तीसरा सप्तक’ के अनेक कवियों में यह विरोध-वैमिश्र्य स्पष्ट है। अनेक बार उनकी अन्तर्गत प्रस्थापकी संबन्धनाओं से अस्मन्मुखी भगती है और एकाएक विरोधी दशाओं से उनकी विश्रुतक वृत्तिमा अनिश्चय और संसम में उनकी स्वानुभूतियों से अन्तर्मूलन नहीं कर पाई हैं।

हमें किसी भी ‘बाद’ से परहेज नहीं है, न ‘बाद’ की ओट में हम किसी महत्त्व-पूर्व वस्तु को निरस्तृत और बहिष्कृत करना चाहते हैं। पर साहित्य की यह संका कुल स्थिति जीवन और जयत् के गतिमय प्रेरक तत्त्वों को कितने समय तक रूपायित कर सकेगी—यह समझना है। कोई भी साहित्य इसीलिए स्पष्ट नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह प्रयोगशील या वादपरक है। उसकी हीनता अथवा स्पष्टता की कसौटी तो उसकी अन्तर्हित शक्ति एवं रसात्मकता ही सिद्ध करती है।

प्रयोगवाद की सापेक्षता में हमारा अविश्वास नहीं है बल्कि इसके विपरीत हमें प्रायोगिक अन्तर्गत आकारों का रूप सुस्मर करना है और उसमें धार्मिकता तत्त्वों

का समावेश कर अस्तनृमूर्तियों से समन्वित करना है। सत्साहित्य जीवन का दर्पण ही नहीं बल्कि भीतर उमरकर युग-मुपात्तर की जीवन-धारा को मोड़ने की क्षमता भी रखता है। अतएव सच्चे साहित्यकार को जिम्मेदारियाँ बड़ी हैं। वह आत्मा का इंजीनियर है। वह न केवल सच्ची कला के निर्माण में सहायक होता है, अपितु उसका संस्कार और परिष्कार भी करता है। उसकी कल्पने की पद्धति अथवा टक्कीक साधारण से भिन्न होती है। वह पुराने ढंग को नये ढंग से अस्तित्वार कर सकता है अथवा अपनी रचना को अतीत से विच्छिन्न करके नये युग के अनुकूल पकड़ सकता है। जब एक सच्ची कला के साथ सच्चे कलाकार का इतिहास जुड़ा रहेगा तब एक साहित्य में अभिन्न प्रयोग होते रहेंगे और कलाकार की सृजनशील प्रतिभा अत्युर शक्ति के साथ उसका उपयोग करेगी।

हमें कोई आपत्ति न होगी यदि प्रयोगवादी कवि जीवन के विराट् क्षणों को अपने कृतिरस में अधिकधिक साकार करें, अपनी निरच्छल और बिखरी स्वामुक्ति को आकर्षक और नूतन ढंग से दूसरों के सामने रखें उनकी अभिव्यक्ति में जनवादी स्वर हों उनकी पुकार में मर्म को कचोटन वाली संवेदना हो और सबसे बड़ी बात उनमें व्यापक सत्य सर्वांगपूर्वता और समयतत्त्वों को उद्घोषित करने की शक्ति हो। ऐसी चीजें दिल खोल कर अपनाई जायेंगी किन्तु जहाँ नवीन प्रयोगों के मोह में पड़कर भाव और भाषा अटपटी हो गई है अतिव्यक्तिक शब्दों में धावनाएँ जनमित्त हो गई हैं और तब तब का कवि नैतिक स्थापनाओं से सहज एकमुखता विच्छिन्न हो गई है वहाँ प्रयोगवाद निरा बन्ध का बिलबाड़ है। यह मनोरंजन तो कर सकता है साहित्य की महान् परम्पराओं को भीकित नहीं रख सकता।

विकल्प या स्वेच्छाघार

सबसे बड़ी बातक स्थिति इस स्वेच्छाघारी दौर में अस्माहत स्वातंत्र्य और उन्मुक्त उन्मुक्तता की भावना है जो कविता को विभ्रमित और डीबाडोक कर रही है। दौर प्रतिस्वियास्वरूप एक नकारात्मक अनास्था और अनिश्वास—संज्ञा त्तिक अज्ञापोह में—न केवल हाथीमुखी वृत्तों से अस्त है, अपितु उमास समास और सामाजिकता से उसे भयंकर द्रोह है। अत्यधिक आत्मकेन्द्रित और बहुवादी तर्क क्रियारमक रूप से एक ऐसे नये संदर्भ के स्वर्ण का उद्घोष कर रहे हैं जिसे साहित्य में कुरबि और अपरिच्छुत डिवा के उद्गम विभ्रमित करते हैं। कलात्मक संयम तत्त्वचितन और एकनिष्ठता का तो प्रस्न ही नहीं उठता इसके विपरीत बुद्धमनीय सौन्दर्यच्छा, यौन-अभेद और अनिमित्त आचरण ने उनकी अभिरुचि और प्राहक शक्ति को निताप्त छिछन्ना बना दिया है। अतएव काव्य-सृजन की प्रक्रिया में—बौद्धिक जोड़तोड़ स्थापित होकर—नये-नये पङ्क्तु और डीबे उभारते हैं। शब्दों और वाक्यांशों के नये आरोह-अवरोह कवियों को आधने और अनुभूति को अविद्यार्थ करने में आघातीत अकल्पित भावों की ध्वनना कर रहे हैं।

“कभी तुम बहुत पास समते हो
 कुल की किसी तरह में
 बंटी हुई, छिपी हुई
 बिल की पड़कन हो जैसे
 कोई पुस्तकम्पन ।
 और बासना के धूबे मेरे बालिपन
 पूड़ते रहते हैं तुम
 मुझमें की पशुच के बीच
 कबलों की दूरी में
 मेरे बासना के धूबे बालिपन ।”

(कमलसिंह दुग्गल)

“और यदि तुम कह पाए कुछ सत्य तो
 फिर तुम असम्य
 समाज से अलगित
 मनसोसल' कहाओगे ।
 किन्तु, सारी बिम्बपी धूसे मरोग
 पूरित्या' कहाओगे ।
 है अभी कलौ समय—
 यदि खेत बाओगे ।
 क्या सही है इसे छोड़ो ।
 जिस तरह भी बने
 अपने पर मुझमें को बढ़ाओ ।
 ये समय की मांग है
 ये नाइच्छी परसेम्ट लोगों के विचारों का निचोड़ ।”

(विनोद सार्वा)

समता है—मानवजात की इस उपज्वला में कबिको प्रकृतत् ऐसी नशोरकम्य
 विविध दृष्टि हासिल हुई है कि वह बेहद भावेण या दुरम्य विकृता में एक ऐसे
 बिन्दु पर पहुँच गया है जो ध्वंसावस्था पर निमित्त का अभिप्राय बनकर अपनी
 महत्कारासाधों का प्रासाद कड़ा करना चाहता है । नई पाण्डित्यों और नकार
 विचारों न अच्छ-बुरे की विभेदक सीमाएँ तोड़ की है । भारतना कुछ और है, कर्म कुछ
 और । स्वभूत वास्तव की कलात्मक प्रकिया ने अर्थपूर्ण को इसी श्रेणियों में दिखान
 कर दिया है कि प्रत्येक का सर्वर संघीत अब पूरतर जात का कोरक प्रकृतत्
 उत्पन्न नहीं करता बल्कि पूर्ण से सके विनिमय से कितने ही 'अर्थव्यवस्था' में बाह्य-
 बाही पैसाओं में मानो बुरी-बुरी ही विचकियाँ उभारता है । प्रेम की ट्रेनी की कुछ
 बंशियाँ—

← ▽ →

(हाथ ।)

← △ ←

(नहीं खेत

जापते ही कट पपी रीत)

→ ←

(प्रेम यानी इरक यानी कच ।)

"।"

"।।"

▽ + △

?

(अरमानों के पाल पर बाँटा

शरद्वीर का काँटा)

← ? →

(मुहम्मद में षाटा ।।)

(संवाद सफ़ीउद्दीन)

आवेस बाहें एक दबी सी नील नील-नील में बसह्य मीन और बाँसु मरु
सिचकियाँ—रात के छलाटे में—रेडियो-संगीत सुनकर एक वृद्धरे कवि का मामो कुछ
और ही अहसास होता है

मे

मुसू या तेरी आवाज

पेरती बर्ज़ की घतहों में रोघन

तीर-सी

शबलम की रस्तों में

तारों की छूटती

बर्म

गर्म

शमधीर सी ।

तेरी अम्बाज

उबाषों में पूमती-मुमती

बाहों की एक तस्वीर सी

मुसू या : तेरी-तेरी है यह

खोई हुई

रोई हुई

एक लकड़ीर सी ।

(पहों में- बल के- प्राप्त

मिलमिल मिममिल

कमल बल)

रात को हँसी है

तेरे गले में

सोने में

बहुत काली सुमयी बसकों में

साँसों में लहरीली पलकों में

भाई तू - और किसकी ?

फिर मुस्कुराई तू ।

(भीर में - प्रामोस - बल)”

(रामरोर बहादुर सिंह)

इसी रूप पर एक और कविता—

“नहीं

मुझे कुछ भी याद नहीं

कुछ भी तो याद नहीं आता”

झोठों को छ-टू कर

पसकें छा सेंते हैं

बही”

बही अपने कर्मों पर जिदारे

बहके बहके

रैगयी मुक्तमय असकों के बावस

और पनमें

मदकती निमज्यों सी

मेरी दिग्भ्रान्त जोगसियाँ ।”

(रामन्द्र यादव)

प्राचीन ब्रजनामों को स्वाभाविक मन्दस्विति में स्वीकार करने में याद के कवि को अनैतिकता या दुबलता की हिचक महसूस नहीं होती । श्रुति सभी पहली मान्यताओं के समक्ष सहरे प्रान्विन्ध रने हैं अतः अपने अपिक्रांत हृत्स्यों और उनके पद में रिये गए तनों का बहु स्वयं उत्तरदायी है । बाहरी और भीतरी अस्पष्टता अथवा नममन्त्रा के कारण एक सीमाहीन संताप से पिरा अपनी बोधवृत्ति के

सन्दर्भों से यह नितास्त अद्यय वा पड़ा है जहाँ द्विविधा में विकस्पहीन एक अस्पष्ट कुहेतिका में उसे विरभ्रमित कर दिया है ।

इसका परिणाम है कि बादों का एक भीषण बर्षाकर उठ खड़ा हुआ है और नये-नये प्ररभासोत्त मए-नए तीर लठिके और नई-नई मनोवृत्तियाँ काम कर रही हैं । मौजूदा जीवन-संघर्ष की चकान और पस्ती ने एक विभिन्न बहू और पछामनबाहू बगाकर उसे ऐसा बना दिया है कि जो 'मड' या तरम उसमें उठती है उसी के मुताबिक वह बाहरी तन्मों को खोजता है और उधका उधेस किन्हीं सामाजिक बाग्रह या स्वामी काम्यमय मूल्यों को धाँकने का नहीं है, बल्कि सत्याभासों की बाढ़ में उसकी अपनी हुनिवार अनिदिशतता स्पम-विभूप दुख-बैग्य जावि-म्यावि पीड़ा-मुटन कुछ योजन औरपाने की हृदिस स्पर्श का मात्र और सीमाएँ तोड़कर आने बढने की प्रभृति बमभितक और एकान्तिक बंधीकरण एभिन्न तुष्टि के निमित्त यौनबादी 'एरोष' सबसे बड़कर आंतरिक इन्द्र और विरोधी तत्त्वों के बीच समाधान पाने के लिए प्रति पाद्य विषय के रेपे रेपे को उधड़कर अत्यन्त होधियारी से तराचे हुए उपादान साथ ही इष्टिकोपवादी जनकता को पचाकर अथवा प्रयोगित नमीमता से जुने पए उप करणों को साथकर अपनी सैचारिक प्रक्रियाओं को स्वस्व और धयस्कर और पुसरे को एकल और निकम्मा धावित करने का वह प्रमत्त कर रहा है । ज्यों-ज्यों सामयिक उतचलना और छिछरी भावुकता के कारण उसके पत्रवादी अग्रसाने 'प्रोपेन्ड्या मिट रेचर' बनते जा रहे हैं अपने बंग से इस्तेमाल करने के उठे कितने ही 'गुर' भी मालूम हो गए हैं—जो एक नये तर्क और अत्याज में कमाक की हूब तक तो से पाते हैं पर बाध के चटकारे और सहक में ही जो अपनी यहुमिबत को धेते हैं ।

एक और महत्वपूर्ण प्रश्न है कि ऐसी कविता ने विस्तार, बहुराई और धक्ति सामर्थ्य की दृष्टि से क्या कुछ दिया क्या कुछ चहेबा और विसेध । इत प्रस्त और इस जैसे अमक प्रश्नों का उत्तर यही है कि मौजूदा कवि अपनी सविधय कल्पना के उन्मुक्त क्षणों को कुछ धम्बों में बाँधकर प्रकट करटा है । वह हवा में तैरता सा है । उसमें कुछ सुधियाँ हैं तो कितनी ही धमियाँ और नाटाजदियाँ भी । जिधे इतिहास नहीं बना पाया उसे ये जमाये हुए हैं बर्षात् वे स्वर्ग ही अपना इतिहास हैं और इति हासकार थी । एक ओर मूल्यों का विघटन प्रारम्भ हो गया है तो दूसरी ओर मूल्यान्वेषण का धौक चर्याया है । ऐसी कविता की टेकनीक और धैली-धित्य अक्षम है पर उसमें अमभन्न एवं असंगत तत्त्वों को रचने की अजीब धक्ति है । कारण—उसकी सैचा रिक्ता अधिक अर्धविस्तारों बाकी होती है, उसने कितनी ही कुनीन स्थितियों और स्तरों को बिना धके बहुत जोड़ समय में पार किया है । नई और पुरानी परम्पराओं से टकर केकर बाज के नैजानिक विकास और चमत्कारों के बीच यह तुब भी बर्षात्कर तत्त्वों का बटार कर बहू चटत और मगमोजी हो गई है जिस पर किसी भी प्रकार का केबक नहीं लबाया जा सकटा । धही तो यह है कि नया कवि अपनी उल्लट माववाओं को किसी भी रूप में प्रकट करने से नहीं इतपटा । सम्म, अर्ध रध

जबकि हम यदि छन्द स्थाकरण और मसंकार आदि काव्य के प्रचुर सामग्री से तो वह माता ठोड़ ही चुका है, किसी विपत्त भाव-ऐवक्यं या कल्पना-विशेषों में भी वह रजस नहीं करता है। वरन् इसके विपरीत वहाँ तहाँ अतृप्त कवियों से जुड़कर सुगीम यान्त्रिकता व शक्ति समाधान में उसकी कविता ऐसी सज्जत है जिससे समता है— काव्य-साधना जैसे अजीब समाया या करतब हो समाधानहीन समस्याओं में जलती वह हम ताड़ रही हो तथा जीवन का ध्येयस्वर भरघोमूल पहलकों की नोक पर स्पर्श बमानी हो। इस एटम के 'स्वीड' यम में भाव-भावकर हम फुछा फुकाकर कवि अपनी प्रतिमा को बेजान कर रहा है। उसे फुसंत नहीं है, कविता का सम्मोहन समत न बनकर उसके लिए विप बन गया है, अतः वह अपने तजुवों को सच्ची भाविक प्रेरणा पर सरबोह देने लगा है। क्योंकि यह सच्ची प्रेरणा एक ऐसा उद्बोध और जब बाटी बनत है जो इतफाक से लग भर किसी विचार पर टिकी हो एक बिम्ब छोड़ कर बची गई पर दूसरे ही लग कहीं और फिलस कर रपट गई। दरअसल परस्पर विरोधी बिन्दुओं को जोड़ने में भी कोई मौलिक साम्य नहीं जैसे विचारों की इकाई संशय वदित हो गई हो। हवा की इस बरतों को या तो यह अपने से बहुत सज्जत पाता है अथवा वह अपनी हीनता या कबुल से परास्त हो जाता है। इस दुरापा में उसकी कविता इतनी बाकारू और छिछली है कि वह उसे किसी भी तरह गड़ सकता है अपनी हर बड़पी अभिव्यक्ति को कविता का जामा पहना सकता है और टूटे बिस के नयनों का कविता की हव में जीव बनता है।

'यह ठीक नहीं कि इच्छा के तिलछ

अभिव्यक्तियों द्वारा बरते कार्य

ठीक नहीं कि आकास के नक्षत्रों के जुम्नों को

सर भुकाकर सहते जाये

यह भी कि जिस किर्णों में रहना नहीं चाहते

वहाँ मजबूरन रहते जायें।

ठीक यह कि अभिव्यक्तियों नक्षत्रों और

किर्णों की प्रतिकूलताएँ हमें न छलें

ठीक यह कि इस शाम को हम

रौशनी की नई वीणाओं

हवाओं की जुम्नों

और किलतिलमाहद के नयनों में बरते।"

(भीकान्त बोनी)

यों प्राचीन दर्शन की रक्षा न बरतते हुए कोरा सज्जत और उद्बोध बसिक रहें—कि कोई भी स्थिति और यदि सापसु सारवम्य पर आभित नहीं श्रिबिवा और इन्द्र मार्गों अनुदिश परिस्थितियाँ उसे भर सिटी है अपने जाल में जकड़ है और अपनी निरिष्ट सीमारेषाओं में इस प्रकार बाँध लटी है कि वह जन्मजात रह जाता

है। जगता है—उसके अंतर की बुटन समूचे सेन्सरों का क्लृप्तभाव कर बाहर पूरा पकना चाहती है। यही कारण है कि आज का कवि बंसी है, हिपोथैट मन से रग्न और संभस्त यह पुस्तकों को भी हिप्नोटाइज करना चाहता है जबकि उसका विभाषी कैमरा जो अस्स ग्रहण करता है वह अनुभूत या यथार्थ नहीं बरन प्रत्याभास मात्र है जबकि बुद्धिगत परिस्थितियों—विहृति और बुटन बगकर भी—आयी हैं और उसके बौद्धिक विवाधिमेलन को प्रतीकों की बाधिरुता में समोना चाहती है। ऊपर-नीचे पहल-पीछे बेतरतीब क्रमबग्न निरान्त विधिष और अनीवोद्यतीब विमये नहीं म कुछ तथ्य है न रूप न बौध्दिय न निमामकता केबस बोधे विचार मात्र है उसकी कुठारों और रग्न विचारधारा के बात प्रत्याभास से अपने रग्न और अंधर हैं विहृ-कविता में पिट करना भी मदिकन है जो कल्प की विरन्तमता को दाधिकता में समेटने का प्रयास करते हैं। प्रयोगों से टकराकर कविता के विधायक तत्त्व ही मष्ट हा ही गये हैं उनके आपेक्षिक भेद-प्रभेद और पृथक् सत्ता को भी उस पहुँची है मानो उसका सब कुछ टीक-लीक होकर विचार गया है। दिसाहारा कवि छबंधा नई लीक पकड़कर तो चलना चाहता है, कुछ करिदमा कुछ बुस्ती कुछ अपनी कयमात दिखाने की परज से पर ऐसी डीपाडोक मनःस्मिति में—कि यह भी नहीं वह भी नहीं कुछ भी तो डीक नहीं फिर है तो क्या है, किसी पर भी तो उसका मन उसकी आत्मा टिक नहीं पाती।

“क्या यही हूँ मैं
अंधेरे में किसी संकेत को पहचानता सा ?
चेतना के पूर्व सम्बन्धित किसी पहरेष्य को
आगत किसी सम्भावना से जाँचता सा ?”

(सरयेन्द्र धीवास्तव)

एक दूसरे कवि के शब्दों में—
‘हम शरीर हैं
यही है धार
अब यही हममें तरपित गाल
और बन्धन की बंधा में खोयमा अतिमात्र।

(भारतभूषण अषवाड)

इस संगाय और अमास्वा की मकारात्मक स्थिति में कैसे के मूल्य पुनः स्थापित किया जायें जबकि उसका भीतरी विद्रोम मात्र कुंठाओं में अब जाता है। जगता है—
कविता निरी विमवाक या कलाबाजी अथवा इसके विपरीत बू डे समझोतों व हमारपी
रीती बुद्धि की मनवापपूम बकाम है जिसकी सचाई तो कभी की मर चुकी केबल
उसकी मू ज-अनगु व ऊबड़पाबड़ बाटियों से टकराकर मार-मार अपने को बोहटा रही है
और धककर, नूर-नूर, बर्बद, मष्टप्राय अदृष्टहास करती कसपती-सिसकती चीक के

जगलों में जा मटकी है—

पूछ लो अन्धों में
वे तुम्हें मटकालों में बौझायेंगे
छिप जायेंगे—

इनका ठिकाना क्या ?

यहाँ लंठे वहाँ पाया—

उपर जाकर छा पाये ।”—

(कदारनाम सिंह)

कथत इस बकापेक्ष में कविता का सही दिया-निर्देश अर्धमत्र सा हो गया है । उक्त प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में हमें कुछ अच्छी चीजें भी मिली हैं पर वैयक्तिक कुण्डलों से मष्ट भीड़ी कृष्ण करध विचारभाषा और रूपधिस्य के इन्निम विमान न नैसर्गिक व मुद्रित भावनाओं को कुचल डाला है । दृष्टे लंबित स्वप्नों ने साहित्य में एक ऐसी भ्रष्टारमक अराजकता उत्पन्न कर दी है वा अजगर को-ही उग्रता किये उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को आन्वोसित कर अपने आप में लीक लेता चाहती है ।

स्पष्ट है कि उक्त विद्वम्बना किसी भी विकसित साहित्य के आपत्क अपराधन मनोबल की विरोधी है । अतिसत मामसिक उद्देश्यों अमान्तर स्थितियों विकसित प्रतीतियों और अग्रपत अर्थविरोधों न ह्यारी संकल्पनील मूजन की परिभा को लीन किया है । सर्वानाथ अणुवॉक क सर्वोम्बुकी बहुविध ठरुणों को अतिप्रय पड़ता और अनिरक्ष्य की कारा में बन्दी बना लिया गया है । या कहें कि कविता इस कथत एक ऐसी अग्रमम दियाहारी मोका बन गई है जिसमें पास नहीं बप्पु नहीं अदक-अगल पाट या टहराक की बगह नहीं बनू निरक्षर मटकले उसके सम्मुख एक ऐसा अकल्पित प्रसार है जिसका और-छोर दियाई नहीं पड़ता ऊपर अनापिन छापाई बाछराधि ही उस पर मँडरा रही है पर जैसा कि क्सी लता स्थाकिन ने कहा है 'साहित्यकार आत्मा का इजीनियर है । वह कमी भी कृषत को सहाय देकर उसे सुरक्षित बना सकता है घारा-प्रदाह के वेद से अथवा उच्छल तरणों से भागकर नहीं बलिक उसमें बहने हुए उन्हें नीरकर, उनकी प्रकलता को मुट्टी में बाँधकर, अन्नी पन्चाप से उसके बिखल दर वा नापकर रास्ता बना सकता है ।

अप्य की सीमाहीनता अि कहती है कि वह बँधी नहीं है वह पति की ओर अनुपादित है तो लेसक भी बँधा नहीं है, वह अलक्ष्य की ओर बढ़ना जानता है । अपनी उग्राम बल्पनाओं व अकि में प्राचीन की गसा मुसाकर वह नित्र-भई योवनाओं के कपावारों को डाला करता है । उसकी पीषन की अटिलता में अनीत की परिणति है तो अविष्य के मूत्र भी गुँघे ह । इन मूर्खों के आपार पर ही उसकी अगहित मूजन-अक्ति को पहचाना जा सकता है ।

अतएव जो अन्ने साधनादिष्ट हैं—के साधारण परिस्थितियों स सत ऊपर उठे रहते हैं । उनका अक्षय शुद्ध पुरा-क्षय और छिछली भावनाओं का प्रचार प्रसार नहीं है ।

इसके विपरीत उनकी दृष्टि भीतरी स्तर को देखती है, साथ ही वैयक्तिक अनुभूतियों को सामूहिक मान्यताओं में आत्मसात् करके अपनी विशिष्ट चिन्तना एवं चैतन्य जागरूकता द्वारा वे सहज परिस्थितियों में हृदयकम्प-सा तो मचा देते हैं पर मर्यादित पुनर्पुन्य कोवते हैं ।

स्रष्टा की शाली में ममानुरूप विश्वासों के प्रतिरूप और अंतर्दृष्टि की दुर्बल शक्ति निवास करती है । उसे मिथ्या द्वेष-द्वन्द्व और परस्पर तिरस्कृत-बहिष्कृत करने की भावना का परिहारा करके विश्वास के दरवाजे खुले रखने चाहिए । जगत और जीवन को साहित्य में स्मान्तरित करने के लिए मूल्य के उत स्थायी और सार्वजनीन तत्वों को अपनाना चाहिए जो मानवीय उदात्त कल्पना को शाली की अक्षय्य पूर्णता में परिणत कर सकें ।

आज की उच्छ्वसन और ऊद्यमऊद्य में एक प्रकार की चुनौती है । हमें अपने परिचित पथ को गति को बदलकर चलना है । साहित्य के पोषक तत्वों को लेकर एक ऐसे तीसरे साहित्य की सृष्टि करनी है जो प्रत्येक देश प्रत्येक जाति प्रत्येक युग की बरीहुर हो और एक अक्षय्य इकाई के रूप में हमारी भवना का उद्बुद्ध और कल्पना-सहित को परिपुष्ट कर हमें अबाध रूप से आम बड़ने की प्रवृत्ति प्रदान करे ।

कहानी जीवन के मम और हेय सभी तत्वों को भीतर समेटे हुए मनुष्य की राधा त्वक बुराियों का उद्भासित करती है। कहानी का सत्य जीवन के सत्य से भिन्न नहीं है, बल्कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व बाँधनीय नहीं। अतएव मानव के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप एवं उसकी अक्षय क्षितिपूर्वियों के भीतर मचनेवाला पुत्रतम अन्तर्भावों का आसोड़न ही कहानी का प्राप है।

कहानी कैसी हो?—इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों का मतानुसार कहानी जीवन की प्रतिरूप होनी चाहिए, अर्थात् विभिन्न जीवन-प्रसवों को प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करना ही कहानी-विशेष अथवा उसकी तकनीक की विशेषता है किन्तु इसके विपरीत कुछ लोग कहानी में रोचक आकर्षक तत्वों को अधिक महत्त्व देते हैं। अस्तुतः मनोरञ्जक कहानियों की माँग हमदा से बहुत अधिक रही है और इससे संकटों द्वारों व्यक्तियों के मन की परिष्कृति होती है किन्तु कहानी में मनोरञ्जन की स्थापाधिक प्रक्रिया के साथ-साथ कथानक अरि-विषय वास्तविक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विरसेपय प्रसंगानुसार वाक्यों और शब्दों का प्रयोग भाषा और उसी घटनाओं की सुस्पष्टिष्ठ संवेचना और रचना-संघटन पर भी ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। कहानी सर्वत्र जीवन के व्यापक अर्थ को व्यक्त करने वाली हो साथ ही उसकी प्रमुख घटनाओं कथानक और अरि की व्याख्या को इस प्रकार जीवन से संतुष्ट कर देना चाहिए कि कहानी की नाटकीयता का पाठक पर ईषित प्रभाव पड़े।

कुछ नये उत्साही लेखक कहानी लिखने की तीव्र इच्छा रखते हुए भी इस बाध से अनभिन्न होते हैं कि कहानी बस शुरू की जाय। प्रचारात्मक दृष्टिकोण प्रारम्भ में ही अथवा सैन के कारण उनकी दृष्टि सन्निहित हो जाती है जो जीवन के मम में पन नहीं पाती। यद्यपि प्रचारात्मक दृष्टिकोण भी उपेक्षणीय नहीं इससे व्यावहारिक ज्ञान बढ़ता है तथापि तत्प-समय और बाह्य आधुनिकताओं की दृष्टि भी मानवीय मनोवैश्यों की पूषा संघटि के साथ क्पायित कर देनी चाहिए। एक अन्त कलाकार जीवन की गहराइयों में वृत्तर तन्मन्मयी वास्तविकताओं, परि

स्थितिजन्य वैविध्य एवं निगूढ़ मनोवृत्तियों का उच्चाटन करता हुआ कहानी के उन नैसर्गिक मुहूर्तों की ओर आकृष्ट होता है जो उसकी आंतरिक कविता को उद्बुद्ध करते हैं। सर वास्टर बसेंट ने कहानी की व्याख्या करते हुए उसकी उपयोगी मान्यताओं का सफ़स आकस्म किया है।

कहानी कला में वर्तन-मदुता सचाई, विश्वास सूत्र पर्वविद्यम-समता तटस्थ वृष्टिकोम वस्तु धवन मुहूर्तों विचारों की प्रस्तुति पारित्रिक विवेचताओं का उच्चाटन रचना प्रणामी की चारता और कहानीकार का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिये जो पाठक के हृदय में जीवन्त विश्वास और अन्तर्निजाया बना सके तथा उसकी सामासिक वृत्ति एवं आनुक अन्तःप्रकृति को एक व्यापक संवेदना से भर दे।

उपन्यास और कहानी में अन्तर

कुछ लोग कहानी और उपन्यास में बहुत बड़ा भेद मानते हैं प्रत्युत् यों कहें कि कहानी को उपन्यास का ही छोटा रूप समझते हैं। कहानी और उपन्यास इसलिये भी एक दूसरे के साथ गूँथ गये हैं क्योंकि बहुत से उपन्यासकार उतनी ही लंबी से कहानी-साहित्य का भी सुजन करते हैं (अर्थात् कई बार लंबी से नहीं)। प्रायः कहानी लेखक—अनुभव और परिपक्वता पाकर—कहानीकार से उपन्यासकार में परिवर्तन हो गये हैं किन्तु इसका प्रमुख कारण है कहानी के विधात्मक तत्त्वों से उनका गहरा लगाव—जो आत्मनिर्वाण बनाता है और उपन्यास के विस्तृत 'कैम्बस' पर चित्रण करने की मुख्य प्रतिभा प्रदान करता है।

कुछसे लेखक मझे ही उपन्यास और कहानी की विभेदक सीमा को पाटने की सामता रखता हो किन्तु नए कहानीकार को दोनों की पृथक-पृथक टेकनीक को हृदयमम कर लेना चाहिए।

(१) उपन्यास और कहानी का मध्य भेद विस्तार और सीमा का है। उपन्यास का विस्तृत चित्रपट सामन-जीवन की विविध परिस्थितियों एवं समस्याओं का जेसा किये होता है, किन्तु कहानी की संकीर्ण परिधि में मानव-जीवन के किसी एक अंश या पहलू पर ही प्रकाश डाला जा सकता है। एक खास घटना जीवन की कोई स्थिति-विशेष जबकि किसी केन्द्रीय भावना को लेकर कहानी मिली जाती है। उसमें जनाश्रयक प्रसंग विरोधी वृत्तियाँ मुख्य ध्येय के विपरीत एक जीवन से टपकर लेने वाले दुसरे प्रतिरोधी जीवन के तथ्य नहीं रखे जा सकते। कथा परिस्थिति और घटनाओं का सारतम्य एक ही केन्द्रबिन्दु की ओर अनुवाचित होता है। उदाहरणार्थ—'ग्रंथमन्व' की 'ग्रेरवा' कहानी को लिया जा सकता है।

सूर्यप्रकाश नामक विद्यार्थी अत्यन्त हीन और गरीबी है। उसकी विविध कपट-नीड़ा, ठगन और पड़सलों से समस्त विद्यार्थी और शिक्षक संवृत रहते हैं। उसका अपनी बधाय का प्राप्तेमर सबसे अधिक परेधान है किन्तु देवयोग से उसकी बदली हो जाती है। बिना के खनों में शिक्षक और विद्यार्थी दोनों में ही मुक्त स्नेह

उपलब्ध पड़ता है। सैतान सूर्यप्रकाश के हृदय में परजाताप का अंकुर खसता है और उसकी आँखों में बभ्रु-विन्दु छलक आते हैं। केन्द्रक परजाताप को केन्द्रविन्दु बना कर ही कहानी का क्रमिक विकास दर्शाता है। प्रोफेसर का त्यागपत्र गाँव में एकात्मतास भक्तस्मात् खिली कमिन्तर के रूप में सूर्यप्रकाश से भेंट उसकी बदली हुई जीवन-परिस्थितियों के बिखरेपन से कि कैसे ममेरे माई की संघर्ष से उसकी सर्षया कामायतट हो गई आदि बातों से मुख्य ध्येय पर प्रकाश पड़ता है। सूर्यप्रकाश के स्वभाव में परिवर्तन और उसकी आदतों में सुधार—इस प्रकार एक व्यक्ति-विषय के जीवन में लक्ष्य कितने ही प्रबलबिद्ध सहसा उद्घाटित होते हैं।

बहुत ही आश्चर्यकथा नहीं कि कोई एक वैश्वीय बटना अथवा परिस्थिति अन्य इन्हीं की कबोट से ही छोटी कहानी को सफल बनाता या सफलता है। कबोट और तीपता गप्ट होते ही कहानी समाप्त हो जाती है। एही कहानियों में बटनाका का संबोजन इस प्रकार होता है कि चरम स्थिति पर पहुँच कर ही अन्त में उसका प्रभाव पड़ता है।

एक दूसरी छोटी यशवी कहानी में जिसमें प्लॉट की अपेक्षा चरित्र-चित्रण को बिराजता है, एक ऐसे व्यक्ति का बड़ा ही मनुष्य पण्ड-निज अंकित किया गया है जो यज्ञ में अग्न्या होकर निराश और दुखी अपने पैदायवी ग्राम में सीटता है। वहाँ मार्ग में भटकते हुए उसकी बूट कर्मक से भेंट होती है या हाथ पकड़ कर उसका पय प्रदर्शन करता है। जिन वस्तुओं की देखन में वह अभ्रम है उनका रोचक वर्णन करके कर्मक उसके निराश और विपन्न हृदय में प्रेरणा और प्रोत्साहन भरवा है। साथी के मधुर ध्वज पकितबदक टॉनिक की भाँति उसमें आनन्दव्यंगमक स्फूर्ति भर देते हैं। उसकी प्रयत्न मृदा और बहुकरी यारों को मुक्त कर उस अन्त्य सपिण के विचार और इच्छिकोर्षों में परिवर्तन हो जाता है। बूट कर्मक के विदा होते ही वह आत्मतोय और धार्मिक का अनुभव करता हुआ चुपचाप बैठ जाता है। तभी उसकी उस लड़की से भेंट होती है जो इन दुरवस्था में भी उसकी सहायिका रही है। वह उसे बताती है कि बूट जगल भी उसी की भाँति विस्तृत अग्न्या और अक्षहाय है। जैसा कि स्पष्ट है इन कहानी का निरूपण चरम स्थिति पर पहुँच कर ही प्रकट होना चाहिए था। बीच में ही उसका उद्घाटित करना समबोजित और प्रभावोत्साहक न होता। कलात्मकता पर पहुँच कर तीव्रतम स्थिति के साम-ही-साम कहानी का अन्त भी वाञ्छनीय होना चाहिए।

२ कहानी में दूसरी विचारणीय बात उसके आकार की है। कहानी कितनी बड़ी हो—इस पर अन्तिम कम से निर्णय देना कठिन ही नहीं असम्भव है। कुछ कहानियाँ इतनी बड़ी मिली यदि हैं जिन्हें हम आसानी से छोटा उपन्यास ही कह सकते हैं। प्रायः सभी विश्व सम्पादकों के मतानुसार कहानी की सीमा ३०० के ४०० शब्दों तक की अधिक सुविचारजनक है यों बहुत सी कहानियाँ हार्ड सी से आठ हजार शब्द तक की भी मिलती हैं। वस्तुतः कहानी और उपन्यास में अन्तर

केवल आकार का ही नहीं, बरन् रचना प्रसामी और उद्देश्य का भी है।

३ कहानी के मूलतः निर्माणक तत्त्व उपस्थापना की अपेक्षा साधारण हैं। साधारणतः केन्द्रीय भावना के अतिरिक्त अभावस्थक प्रसंग एक से अधिक तथ्यों की चर्चा तथा ऐसे पात्रों का चित्रण जो कहानी की एकसूत्रता और प्रसूत उद्देश्य पर व्यापार पड़ते हैं—छोटी कहानी में बहुत कम मुंजाइस रहते हैं। एडगर एडन को भी कहानी में एक ही फासतू शब्द और भाष्य का जोर नियम दिया था। बाद में हबर्टन ने भी संक्षिप्तता पर जोर देते हुए यही बात बोल्यारी। मीत्रवा भाषोपकों के मध्य से प्रभाव-एकम और स्वतन्त्र रचना होने के कारण कहानी का छोटा होना अनिवार्य है। ज्ञात एवं अज्ञात रूप से सेलक द्वारा प्रत्येक वाक्य का परीक्षण होना चाहिए, बड़ी बापीकी और बुद्धिमानी से यह जानने के लिए—कि वह कहानी के विकास में कहीं तक सहायक है। नए कहानी लेखकों में एसी कुछ बड़ी बारीब आरतें होती हैं कि वे जो कुछ एक बार लिख लेते हैं उसे फिर निकालना नहीं चाहते विद्यपकर जब उन्हें कोई शब्द बचवा मुहावरा दब जाए। यह बुरी आरत है और इसका बुद्धता से बहिष्कार होना चाहिए। कहानी लिखत हुए प्रत्येक वाक्य की समाप्ति पर गम्भीरतापूर्वक मनन करके यह निर्णय कर लेना चाहिए—कि क्या यह कहानी के लिए आवश्यक है? क्या-क्या अथवा ईच्छित प्रसंग भी वह मरब ठो कर रहा है? यदि कोई वाक्य ध्यर्भ हो और प्रस्तुत नियम से उसका सीधा सम्बन्ध न हो तो उसका हटा देना ही योग्यकर है।

४ इसके अतिरिक्त कहानी का एक और विधिष्ट एवं अत्यावश्यक गुण है जिसको अनुमती सेलक ठो आन-अनजाले माप ही लेते हैं किन्तु नये लेखकों को समझने में कठिनाई होती है।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक नहीं कि कहानी के सभी परिपोषक अंतरंग तत्वों में जीवन का क्लृप्त निर्माण विभव होता है। कहानीकार भीतिक तत्वों से पराङ्मुख होकर कभी भीतर की ओर अपनी धृष्टि केन्द्रित करता है और कभी कल्पना से प्रसूत सामान्य राय वाले क्रियाकलापों और विस्तृत संदर्भों का मार्मिक अंकन करता हुआ जीवन की संक्षेपवाचक प्रक्रियाओं की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। जब हम कोई कहानी पढ़ते हैं तो हमें लगता है कि विस्ववर्ती तत्वों से परे कहानी का सम्बन्ध समासाधारण की चित्तवृत्ति और आशावरण से अधिक है, जिससे प्रभावित होकर लेखक ने उसका निर्माण किया है। हम बिल्कुल दूसरी दुनिया में पहुँच जाते हैं। क्या-सम्राट प्रेमचन्द ने कहानी का विवेचन करते हुए लिखा है, "साहित्य में कहानी का स्वाग इसीभिन्ने जैसा है कि वह एक क्षण में ही बिना किसी पुमान फिरोज के आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है आत्मज्योति की आधिक शक्त विद्या देती है और जाहे चोड़ी भाषा में ही क्यों न हो, वह हमारे परिचय का दूसरों में अपने को देखने का दूसरे के हृदय या सोक को अपना बना देने का एक बड़ा देती है।

जीवन के अन्त प्रवाह एव अंतर्संघर्षों में झँककर देखने की आकांक्षा मानव स्वभाव है। गहरे और प्रखर मनोभाव जिन्दगी की ऊँच-नीच और गहराइयों में पठ कर मानवीय दुर्बलताओं और उसकी सक्षम शक्तियों को व्यक्त करना सत् और असत् के संघर्ष मनोरंजक अथवा हृदय को हिंसा देने वाले सूक्ष्म चहस्यों के गूढ़ आशय को समझने का प्रयत्न करना तथा ऐसे अनगिनत दुस्व्यों, दुःखों और मार्मिक पहलुओं को हृदय में उतार लेना मानव की सहजात वृत्ति है—जो विषय विस्तार में झाँकने की नित्य प्रेरणा प्रदान करती है। जब कोई अनुभूति किसी स्मृति से झुझ पाती है अथवा भीतर संचित संस्कारों के समानांतर हमारे उप-विराग से जा टकराती है तो आच्छेदन उत्पन्न होता है और वे ही राग-विराग कला की सृष्टि करते हैं। कमी-जमी कहानियों को पढ़ कर लगता है कि जैसे हम किसी सच्ची घटनाओं में से गुजर रहे हैं। जीवन के अमर्षित पुरुष-विषय अतीत की भूखी बिसरी बातें जब की कहीं की सुनी-देखी घटनाएँ कहानियों को पढ़ते हुए अन्त यास ही मामल पटक पर कौब जाती हैं। कमी-कमी तो यथार्थ जीवन की घटनाओं से भी अधिक कहानियाँ हमारे हृदय पर प्रभाव डालती हैं। इसका कारण है कि कुछ कहानीकार जीवन के यथार्थ और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को इस स्वाभाविक ढंग से कहानी में चित्रित करते हैं कि पाठक के सूक्ष्म मनोभाव उसमें केन्द्रित होकर सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। प्रेमचन्द के चर्चों में—“कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं ही सफ़ा है मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते—जब तक कि वह निजत्व की परिधि में न जा पाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो भिन्न के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसते और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है इतना ही नहीं बल्कि कहानी पढ़कर न सोच भी रोते या हँसते ऐसे जाते हैं जिन पर छाया रजत सुख-दुःख का कोई अंतर नहीं पड़ता। जिनकी आँसू समझान या छद्मिस्तान में भी उबक नहीं होती वे शीघ्र भी उपन्यास-कहानी के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँच कर रोने लगते हैं।

पायब इसका यह कारण भी हो कि स्कूल प्राप्ति सूक्ष्म मन के उतने घनीप नहीं पहुँच सकत जितने कि कला के सूक्ष्म चरित्र के। कला के चरित्रों और मन के बीच में एकता का यह पर्य नहीं होता जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और अगर हम यथार्थ को हू-ब-हू चीँककर रख दें तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की गरल का नाम नहीं है।

वहाँ तक कथाचित्त और जीवन की विकसित चेतना का प्रयत्न है, वहाँ भीड़ी अनुभूति नहीं बरन् स्पष्ट बुद्धिकोण और सूक्ष्मता चाहिए। चित्त और जीविक प्रतिमाओं में अन्तर्गत समानता की अपेक्षा प्रकृतिगत समानता का विषय महत्त्व है।

'साक्षरम' या 'प्रतिष्पता' किसी भी कहानी की जिम्मा तहायत तो है ही जीवन और कथाकार के सम्बन्ध-सूत्र को परिष्कृत करने का ठोस आधार भी है। कथाकार अपने धिम्प की प्राथम्यता का संस्कार तभी बन सकता है जबकि उसकी अंतःप्रवृत्ति में पैटे और सामान्य जीवन के अनुरूप बूढ़ निष्ठा के साथ उसे मानवीय संवेचना से जागरित करे। कारण—कहानी अंतरात्मा की वह मुकुरता है जिसमें कथाकार के अविष्ट संस्कार प्रतिष्पन्न होते हैं। वह उसी रूप-रूपायों और जीवन-रूपायों की प्रभावात्मकता में पैठता है जो उसकी कल्पना का प्रेरित करते या उससे तादात्म्य स्थापित करते हैं। उसकी शक्ति और कार्यान्वय में मेव हो सकता है पर प्रभाव या संवेचना की इकाई बनने के लिए उसमें तादृश सजीवता और जमत्कार तो अपेक्षित है ही। महान् कथाकार का जीवन महान् बटनाओं से ही नहीं बल्कि अदना से बनता व्यक्तियों और जीवन-असंगों से जुड़ा होता है। मनोवैज्ञानिक रूप में वह प्रत्यक्ष उसकी कल्पना में मूर्तिमान् हो जाता है अर्थात् उससे तद्रूप हो वह निजी अनुभूतियों को ता प्रकट करता ही है, अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से नये चरित्रों को भी जन्म देता है। कहानी तो सभी कह सकते हैं—चाहे कोई अनपढ़ हो या विद्वान्। मगर कल्पना से घिरने इन कथाकारों में वह किन्तनी सूक्ष्म और यही देखाएँ मौक सका है जो उसकी निरन्तर तन्मयता या दूसरों की आत्मा को छू सकी है—यह देसना है। एतदाही चेतना के संतुलों को बाधित करनेवाली ईमानदार साधना ही किसी भी कृति को महत्त्वपूर्ण बनाने की सच्ची कसौटी है और उससे जो एकारम्य स्थापित होता है वही वस्तुतः कला की परम अनुभूति है।

कुछ कहानीकार की सूची है कि वह अपनी कहानी में यथार्थ की तादृश प्रतिष्ठि उत्पन्न करते जो यथार्थ न हावी हुई भी यथार्थ ही ही जाय हो। इस कला में जो जितना ही पारंपर्य होना उतना ही वह सफ़ल कलाकार हो सकता है।

प्लॉट

यों तो कहानी में क्रमबद्धता अथवा बटनाओं के संयोजन का कोई नियम नहीं है तथापि कथा-कालों के उत्कर्ष के लिए सुन्दर प्लॉट होना आवश्यक है। प्लॉट में परिवर्तन की स्थितियाँ इतनी सुसंगठित होनी चाहिए कि बटनाओं का एक निश्चित क्रम हो जाए और वे अन्तःकार के गहन सूक्ष्म घटकों को उद्घाटित करती हुई अपना सामूहिक प्रभाव छोड़ जायें।

जीवन के जिस क्षेत्र से कहानीकार अपनी कहानी का प्लॉट ले उससे उस पूर्व संबंधित होना चाहिए। अपनी प्रथम कल्पना-शक्ति से वह ऐसे भी किन्त ही दूसरों दृष्टाओं और मनाभावों का प्लॉट के साथ प्रसिद्ध कर सकता है जिसका उसने प्रत्यक्ष अनुभव न करके कल्पना द्वारा अनुमान लगाया हो। वह सत्य है कि संसार की विभिन्न वस्तुओं प्रकृति का उन्मुख प्रसार और उसमें छिपे अपनिय रहस्य तथा मानव जीवन के कतिपय मर्मस्पर्शी पहलू कहानी के प्लॉट और विषय बन सकते हैं

तथापि इसमें मानवीय आत्मा की वह उदात्त चेतना होनी चाहिए जो कहानी को प्रभावशाली और प्रेरक शक्ति से भर दे। कुछ कहानियाँ पुराने विषयों को लेकर ही बहती रहती हैं, यथा—कौतूहल और वैचित्र्य से भरी छोटी-छोटी प्रणय कथाएँ जो बुद्धान्त अथवा सुबान्त होती हैं। सामान्य जीवन-स्थिति के लोगों की बरेलू ब्यबस्थाएँ, कस्बि और रहस्यपूर्ण किस्स तयाम और बलिदान को दर्शाने वाले विषय ऐसे प्कॉट जिसमें किसी कुछ व्यक्ति की प्रधानता रहती है अथवा किसी निष्कर्ष को लेकर चलने वाली कहानियाँ जिसमें राजन का उत्कर्ष और बुर्बन का अथर्व दिखाना जाता है। यदि इस प्रकार के महानिघ उपमोय में जाने वाले साधारण और परिचित विषय भी कुछ कहानीकार की सैखनी से असाधारण और जीवन सिद्धांतों से अतिशोत होते हैं। नये दृष्टिकोन से लिखे हुए पुराने प्कॉट कथारमक स्पर्ष पाकर मनोरंज और आकर्षक तर्कों से युक्त आचार की विविधताओं से शक्ति व्यापन सवेरना और मानवीयता से आन्वयित इस लोक के होते हुए भी कहीं और के, किन्ही बन्ध ही प्रकार के व्यक्तित्वों से भरे शीत पड़ते हैं जो पाठकों के हृदय पर अमित प्रभाव छोड़ पाते हैं।

प्कॉट क्या है? यह कहना अथवा इसकी ठीक-ठीक व्याख्या करना कठिन है, किन्तु हम इसे कहानी का बीजा कह सकते हैं। अरिण-विजय यातायाप और वर्णन की संकुलता से युक्त यह कहानी का शरीर मात्र है। कभी-कभी प्कॉट और बीम (मन्थन) में भी भ्रम हो जाता है। निःसन्देह, प्कॉट शरीर है तो बीम केन्द्रत्व धारता। बीम कहानी को सफल और सघन बनाता है।

एक मसहूरछाटी अंधेबी कहानी में कश्चित् सम्पति को अनेक भाषिक कठिनाइयों में से गुजर रहे हैं अपने विवाह के प्रथम भाषिकोत्सव पर एक बूधरे को अन्धे-से-अन्धा उपहार देने को उत्सुक हैं। वे गुपचाप बिना बलाए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु देनाकर भी नैत देना चाहते हैं। वह युम विधि जाती है और पति अपनी पत्नी के सुन्दर बाओं के लिए नीमती पिन कंचे बादि अपनी अत्यत प्रिय बड़ी बेच कर ले जाता है, किन्तु सहासा उसे यह जानकर बहुत दुःख होता है कि पत्नी ने उसकी बड़ी के बाधिर सोने की बेन मँट करने के उद्देश्य से अपने अन्धे सहुराते फाले बाक कटवा डाल है।

उपर्युक्त कहानी के प्कॉट में केन्द्रत्व विषय मँट की कथन परिचय है जो कहानी को सघन बनाती है।

प्कॉट और बीम में पर्याप्त अन्तर है। बीम में साधारणत एक ही विषय की प्रमुखता रहती है प्कॉट परीय-अपरीय रूप से अनेक छोटी-मोटी आचरयकताओं की पुति करता है। बीम एकरम सैखक के मस्तिष्क में कौन जाता है जब कि प्कॉट की रूपरेखा शनै-शनै तैयार की जाती है। जैसी कि कुछ लोगों की धारना है सामान्य चटनाओं का बन्ध मात्र ही प्कॉट नहीं है। प्कॉट का सहीग पठन इस प्रकार होना चाहिए कि उसका यदि कोई अर्थ निकाल लिया जाय तो वह अर्थन न हो। ऐसा

निर्मात्र-कीर्तन कहानी को असामर्य बना देगा। यद्यपि ऐसी बेस्ट कहानियाँ विश्व साहित्य में बहुत कम मिलती हैं।

प्लॉट डूढ़ने के लिए कहानीकार के सम्मुख समग्र मानव-जीवन विखरा रहना चाहिए। यों ऐसा सम्भव नहीं है कि उसके सभी विभिन्न पहलू समाप्त रूप से मुख्यबानु समझे जायें। मए बेसकों को कुछ उत्कृष्ट कहानियों के प्लॉट हृदयंगम कर लेने चाहिए। जो कोई अच्छी कहानी उसकी गहरों से गुजरे उसके प्रतिपाद्य विषय का मुख्य भाँकने के लिये उससे उद्भूत रागात्मक तत्वों की चरित्रमत्ता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उसे उसके गुण-दोषों का सक्षिप्त विश्लेषण किसी कापी में नोट कर लेना चाहिए। इस प्रकार तीस-चासीस अच्छे प्लॉट लिख लेने पर कहानी लिखने की कला उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है।

एर वास्टर बेसेंट के अनुसार अच्छे प्लॉट डूढ़ने के लिए कहानीकार को अपनी सामग्री आने पर रबी हुई पुस्तकों से नहीं। उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उस निरर्थक ही चारों तरफ़ मिलते रहते हैं। ऐसा कौन है जिसके पास कुछ कहने-सुनने को न हो। किसी के भीतर रंज-राम है तो किसी के पास कुछी मरी अनुभूतियाँ हैं। कोई निराश प्रेम में तड़पा है तो किसी में प्यार की रंज-रामियाँ मलाई हैं। बरा छड़िने तो किसी के बिना के ठार, फिर वह अपनी कितनी-कितनी दास्ताँ सुनाने को बेताब हो जाता है। जीवन में घटित होने वाली छोटी-छोटी घटनाएँ, समाचार-पत्रों में पढ़ी हुई खबरें, स्टेशनों पर मिलीं व्यस्त छड़कों, भवास्तों और इतस्ततः बिखरे अतथित वृत्तों को देखकर कहानी लिखने की प्रेरणा मिलती है। यान कीजिए हम किसी अज्ञात में हड़ताल की खबर पढ़ते हैं। अज्ञातक यत्न करते-करते हमारी बाँधों के सामने एक विश्व बिख जाता है। महानगरक मजदूर वर्ग की वर्तमान जीवन-स्थितियाँ, स्त्री-पुरुषों और बच्चों की दुरवस्था, पम-पम पर उष्ण बर्ष द्वारा उनकी भर्त्सना, विरहकार और अकहेतना आदि वृत्त एक के बाद एक दृष्टि-पथ के समक्ष बिख जाते हैं। तत्काल हमारा ध्यान बिख कर किसी प्लॉट पर केन्द्रित हो जाता है और हम उससे मिलन किसी और ही अज्ञातक कहानी का बाँधा संभार कर सकत हैं। मचा—

एक बिजली-कम्पनी में काम करने वाले व्यक्ति का बच्चा सख्त बीमार है। चिन्तित परेषान माता-पिता को डाक्टर बताता है कि अभी तीन दिन तक कोई छतरा नहीं है। पिता निश्चित होकर सेबर यूनिवर्स की मीटिंग में सम्मिलित होने के लिये गया जाता है। किन्तु उठी रात्रि को अज्ञातक बच्चे की स्थिति बिगड़ जाती है। बही डाक्टर बुलावा जाता है। वह माँ को आश्चर्य करता है कि कोई भय नहीं है। बच्चा एक छोटा-सा आपरेसन बच्चे की स्थिति में परिवर्तन ला देना। उत्तरचात् डाक्टर बिजली के बस्त्र के प्रकाश में बच्चे के ऊपर झुकता है और बीमार से माँ का चिह्न बनाता है। समीप ही बच्चे की माँ बितातुर खड़ी है। किन्तु पत्तक झोपते ही शीघ्र अज्ञातक। मकान की सारी बिजलियाँ एकदम बुझ जाती हैं। 'ओह! आप

बहु क्या कर रही है ? राबटर भीकता है । बच्चे को भीरता हुआ करण स्वर सुन पड़ता है 'बिजली मेने नहीं बुझाई । सब पामल से रिबन कटखटाते हैं किन्तु व्यर्थ । चारों ओर बंधकार-ही-बंधकार, कुछ घुस नहीं पड़ता । बड़ी कठिनाई से एक मोम बत्ती मिलती है लेकिन इतनी देर बाद कोई लाभ नहीं बच्चे की मृत्यु हो जाती है । तभी द्वार पर धम-धम होती है और किसी के भारी जूतों को बागान मजबूत जाती हुई सुन पड़ती है । किबाड़ लुपता है । मृत बासक का पिता बिजलीकास से मुस्कुराता हुआ सामने आता है । 'हमारी भीत हुई, वह खोर से बिस्काता है 'आज रात नगर में एक भी बत्ती नहीं बल रही है ।

इस प्रकार छोटी-छोटी घटनाओं से उल्लूक्य फाँट मड़न की प्रेरणा मिलती है । एक किस्सा दूसरे किस्से को जन्म देता है 'राग-रागे' फाँट हुआ एक मनोरंजक-मस्तिष्कीय व्यायाम बन जाता है और अभ्यास हा जाने पर हमारी दृष्टि अपन मत्तक की बात टटोल लेती है । कल्पना के योग से मानसिक चर्चित का बर्धन होता है और हमारी बुद्धि उत्तरोत्तर तीव्र और सजदगीक होती जाती है ।

हेनरी जम्स ने लिखा है 'यदि किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-मुक्त है तो वह सूक्ष्मताम मार्गों के योग से जीवन को व्यक्त कर देती है वह बापु के स्वप्न को भी जीवन प्रदान कर सकती है । परिश्रम और साधना सफलता का द्योतक है । फाँट जस्का पाठ के संयुक्त आकाश से हमारे मस्तिष्क में मड़ी उतरते और न ही वे लेखक-जो कलम से जमीन खोजते हुए सिर पर हाथ रख बैठे रहते हैं-उसे पाने के अधिकारी होते हैं 'बरन्' वृत्त-जगत् में चारों ओर इतर-उपर घटनाएँ बिजली हुई हैं । जो चाहें उनमें से महत्त्वपूर्ण चीजें बटोर सकते हैं ।

चरित्र चित्रण

फाँट के बाद कहानियों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म विश्लेषण अपेक्षित है । कहीं-कहीं तो वह फाँट से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है । मानवीय संवेदना की सौंदरीय व्याख्या के नियम पात्रों के भाव विचार और प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विवेचन साप ही उनकी विचार प्रक्रिया और मनोरामों की निरपेक्ष अभिव्यक्ति उन्हें अंगठ-अथवा सम्यक रूपेण जीवन के निकट ले जाती है । पाठक की दृष्टि कमी-कमी स्मृत घटनाओं की अपेक्षा पात्रों की अंतर्बर्ती सत्ता पर आ टिकती है । वह व्यक्ति की ऐका-न्विक अन्तरेतना को बाह्य व्यापारों और जीवन के प्रेरक विचारक तत्त्वों में आर-पित करके बहुत कुछ देखन-समस्तन की बिट्टा करता है । अतएव कुछस कहानीकार को चाहिये कि वह अपने पात्रों में जीवन-तरुओं का ऐसा बेतन संघटन प्रस्तुत करे कि उनके पास बीती-आगती तस्वीर बन जायें । उनके अनु-परदानुओं में सारे पर मरूरेरों को समाविष्ट करके वह उनमें खन्व-चित्रों की भाँति असाधारणक प्रभाव उत्पन्न कररे किन्तु इसके लिये उसे परिश्रमपूर्वक वैदिकिक निरीक्षण भी बरदा को विवक्षित करना होगा । जीवन की संशुद्धता में झीक कर मनुष्य के विभिन्न रूपों उनके स्वभाव प्रवृत्ति

और विशेष गुण-बोधों को हृद्यगम करना होया । जिन कहानी-लेखकों की चरित्र-चित्रण की ओर विशेष अभिरुचि है उन्हें बिना किसी हिचकिचाहट के बदन-समूह में कुछकर विभिन्न व्यवस्थितियों की आर्थिक विशेषताओं का मननपूर्वक मंजीर अध्ययन करना चाहिये और उननी काष्ठ आकृति बेध-भूया आवि का भीतर की वृत्तियों से साम्य स्थापित करके उनकी छोटी-छोटी बातों पर गौर करना चाहिये । फिर ऐसा न हो वे अपने अनुभवों को यों ही भूल जायें या उनकी उपेक्षा कर दें । उन्हें अपनी मस्तिष्कीय पवित्रिणा को तत्क्षण कागज पर उतार लेना चाहिये । एकान्त में बैठकर वे मन ही मन अपने अनुभवों को एकत्र करके और लिखते जायें । पहले वे भुवनाय अपने मित्रों और परिचितों के रेखाचित्र खींचें फिर उन्हें बराबर पढ़ें और सद्योचित करतें जायें । लिखते हुए उनकी भाषा स्वस्थ स्वाभाविक और पात्रानुरूप होनी चाहिये ।

कहानी में चरित्र-चित्रण उपम्यास की अपेक्षा अधिक सुकोमल और संकीर्णतामक होता है । वैसे कि सेमूर हेवन ने लिखा है—कलम का किचित् सा स्पर्श गहरी रेखाएँ बीच देता है । यदि वे सुसंयत अथवा सुविचारित होती हैं तो वह कुछसकल का र माता जाता है अन्यथा उसकी कला एक कर्मक बन जाती है । कला के किसी भी शान में स्वयं का इतना बड़ा महत्त्व नहीं है । एक रेखा यदि संगत बैठी तो वह अतन्त्र हो जाती है । इसके अतिरिक्त लेखक की अनुभव-समष्टि कहानी की परिमित परिधि में इतनी संकुल और बनौमूत होकर प्रकट होती है कि वह अपने पात्रों की जितना ही संवेध और विरचयनीय बना सके उतना ही अच्छा है । सूक्ष्म रेखाकार अपनी शब्दाका से भी अमरकार उत्पन्न करता है वही कथा-लेखक अपनी केशली से कर दिखाता है । रेखांकन कला रंगों की सूक्ष्मता में रमती है तो कहानीकार को वृत्ति और मस्तिष्क कुरेद कर जीवन-तत्त्वों के भीतर गह्रा पँटना पड़ता है ।

हमारी अन्तरंग वृत्तियाँ स्वभावतः चैतन्य होने के कारण मानव-चेतना में ही अपने अस्तित्व की आवृत्त अनुवृत्ति पाती हैं । सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया विन्न-विन्न उद्देश्य प्रकृत्य अभिधायाएँ और मनो-वृत्तियाँ प्रायः बहुत कुछ एकत्री हुवा करती हैं । कहानियों को पढ़ते हुए पात्रों की वृत्तियों के साथ हमारा आशात्म्य स्थापित हो जाता है और हमें लगता है जैसे वे हमारे ही अंश और परिचित हों । हम उनके सुख दुःखों में समान रूप से भाग लेते हैं और उनके जीवन में जाने ही जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं । प्रथमचरित्र लिखते हैं—घाघु पिता का अपने कुम्बघनी पुत्र की रक्षा से दुखी होना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है । इस आशय में पिता के मनोबोधों को चित्रित करना और तबनुकूल उनके व्यवहारों को प्रवर्धित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है । बुरा बादमी भी विस्तृत बुरा नहीं होता उसमें कहीं देवता अन्तर छिपा होता है,—वह मनोवैज्ञानिक सत्य है । उस देवता को तोलकर दिया देना अफस आश्वायिका लेखक का काम है । विपत्ति पर विपत्ति पढ़ने से मनुष्य फिटना बिलेर हो जाता है—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिये तान टोक कर तैयार हो जाता है, उसकी

समस्त दुर्बलताएँ माप जाती हैं उसके हृदय के किसी मुष्ट स्थान में छिपे हुए जीह्वर निकल जाते हैं और हमें चकित कर देते हैं यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।..... जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उन से परदा होने वाला इह आस्पायिका को चमका देता है। सत्यवारी पिता को माकूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे म्याप की बर्षी पर बलिदान कर दे या अपने जीवन पिता मर्तों की हत्या कर डाले ? कितना भीषण इह है। परचात्ताप ऐसे इहों का बखड मोत है। एक माई ने अपने दूसरे माई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है। उसे शिक्षा माँते देल कर क्या कमी माई को जरा भी परचात्ताप न होया ? जयर ऐसा न हो तो वह मनुष्य नहीं।

निश्चिह, ऐसे मनोवत माव और इह हमारे हृदय को छूते हैं। कहानीकार को उस इह का यम्भीर ज्ञान अपेक्षित है। वह चार्त्तात्ताप क्रिया और विभिन्न चट्टाओं द्वारा अपने पात्रों का यचार्य और माकपक चित्रण प्रस्तुत कर सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ स्वभावगत विशेषताओं को आरोपित करके वह अपने पात्रों की मनोवृत्तियों को भी प्रयोप में ला सकता है। हम प्रायः प्रतिदिन ऐसे व्यक्तिपों से मिलते हैं जिन्हें सिर जुवान या पैर हिलाने की खादत होती है। किसी को छंपसी चटकाना या छीटी बनाना बहुत भाता है। कुछ लोगों को कोई-कोई घम्य महाबरे और बाक्य इतने मह चड़े रहते हैं कि वे बात-बात में उसका प्रयोप करते हैं। इस प्रकार कहानीकार अपने पात्रों में कुछ विधिष्ट मनोवृत्तियों को आरोपित करके उन्हें और भी सजीव एवं चिरचतनीय बना सकता है।

चार्त्तात्ताप

मनुष्य में अपने चिचारों को दूसरों क समझ व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है। वह चार्त्तात्ताप द्वारा अपनी और दूसरे की बात कहने-सुनने को सात्तापित रहता है। कहानियों के पात्र बहुधा अपनी सजग स्पष्ट और यम्भीर बावचीत से हमारे मन में चर पर सते ह। उनका अपना व्यक्तिरुह हमारे सम्मुख फइक जाता है और भीषरी वृत्तियाँ मजीव होकर उमर पड़ती हैं। इससे बध्य चिचय तो गतिमान होया ही है पात्रों के मनोवेगो अभिर्चियों और उनके अन्तरय मासिक स्तरों का छून का भी सुजबसर मिल जाता है।

जिल प्रकार प्लॉट और चरित्र-चित्रण प्रतिराध चिचय का माप बढ़ाते हैं उसी प्रकार चार्त्तात्ताप भी पट्टामाओं को चनिनील वातावरण को रोचक चरित्र चित्रण को प्रकर और कहानी के व्याख्यात्मक तत्त्वों का निर्माण करता है। चार्त्तात्ताप में भी वे ही प्रमय व हो चार्त्तों और व ही चिचार व्यस्त करन चाहिए या प्लॉट के विकास में सहायक हों और चरित्रों के मुष्ट मनोमाओं का चिरचन करे। एक सुप्रसिद्ध जपनी लेखक ने एक बार लिखा था— किसी भी कहानी में यह लिखन की बावत्यकता नहीं कि अमुक स्त्री या अमुक मादमी सपइलू और कर्मेया है।

उस सामने लाकर खड़ा कर दो और बकने-सकने दो । इस प्रकार अनेक विविध पात्रों के आर्त्ताकाप से ही उनकी मनोवृत्तियों का अभ्ययन हो जाता है । कोय भूषां द्वेष हर्ष-शोक प्रेम-अनुराग हँसी-बुहक आदि मानव-मन के प्रबलतम पहलू उनकी बानी द्वारा व्यक्त हो जाते हैं और हम उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं को हृदयगम करने में सफल होते हैं । निम्न आर्त्ताकाप में प्रेम कर्त्तव्य और क्यथा की छटपटाहट का कैसा सुन्दर अर्थसाधो चित्रण है—

‘जया के आजीक में समा-मंडप बसकों से भर गया । बन्दी अरण को देखते ही जनता ने गेप से हुंकार करते हुए कहा—‘बध करो !

राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी—‘प्राणदण्ड’ । मन्त्रिका बुलाई गई । वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई । कोसल-मरेश ने पूछा—‘मन्त्रिका तुझे जो पुरस्कार देना हो माँग । वह चुप रही ।

राजा ने कहा—‘मेरी निज की बितनी खटी है मैं सब तुझे देता हूँ । मन्त्रिका ने एक बार बन्दी अरण की ओर देखा । उसने कहा—‘मुझे कुछ न चाहिए । अरण हीच पड़ा । राजा ने कहा—‘जहाँ मैं तुझे अरण्य दूँगा माँग के । ‘तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले’—कहती हुई वह बन्दी अरण के पास जा खड़ी हुई ।

(‘पुरस्कार’—प्रसाद)

आर्त्ताकाप सरल सजीव और आकर्षक होना चाहिए, साथ ही वह ऐसा न हो जो जीवन से दूर जा पड़े । घेष्ठ कसाकार नहीं है जो प्रसंगानुक्रम चरित् परिस्थितियों एवं पात्रों के अनुरूप आर्त्ताकाप प्रस्तुत करता है—हूँ उसे यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि उसका आर्त्ताकाप बर्णन और स्वाभाविक होना हुआ भी इतना साधारण और निम्न कोटि का न हो जो गँवाक और सर्वथा कच्चाहीन हो जाए ।

भाषा और शैली

कहानी लिखने के लिए यह आवश्यक नहीं कि अपनी समस्त चरित भाषा और शैली पर ही केन्द्रित कर ली जाए । यदि विचार-गाम्भीर्य न होया तो भाषा और शैली की बाह्य आरवा निरर्थक है, वरन् ध्वस्य अलंकार, उपमाओं से लदी भाषा अस्वाभाविक और तुकड़ हो जायगी । कहानी-लेखक अपनी मनोवृत्तियों के अनुरूप आत्माभिर्व्यंजन की इच्छा से प्रेरित होकर भाषा का निर्माण करता है । यदि उसकी कल्पना और कला में जीवन की व्याख्या निहित है तो उसका महत्त्व भाषा की शक्ति में केन्द्रित होकर उसके अन्तर्गत को द्विगुणित कर देता है । वह उसके भावों और विचारों की बाह्य होकर उसके प्रतिपादन की पद्धति पर आरिष्ठ रहती है । न केवल भाषा में उसके भाव प्रतिफलित होते हैं प्रस्तुत भावों के अनुरूप उसकी भाषा भी इस विन्धु ने सुदूर विन्धुओं की ओर अग्रसर होती रहती है और विषय को उपयोगी बनाती चरती है ।

कोई भी दल लेखक भाषा का अतिदास नहीं वरन् भाषा ही उसकी बध

प्रतिमा होती है। उसकी मूर्त उसकी दम्भीरता विचार-अनुक्रम और मस्तिष्कीय सम्भावनाओं की कमित छाप उसकी भाषा और शैली पर स्पष्ट अंकित हो जाती है। जनमाने ही वह लिखता जाता है और भाषा बुपके-बुपके उसकी गूजम-समित और प्रतिमा के अनुकूल ढलती चलती है। बेकम ने लिखा है

“अच्छे केसक अधिक नहीं पढ़ते अपितु जो पढ़ते हैं उसे पचाते अधिक है। व्यापक अध्ययन-इत्य और मस्तिष्क में जोशप्रोत होकर—माथी साहित्य-शास्त्रा में सहायक होता है किन्तु जिन्हें हम पढ़ते हैं उनका मग्न अनुभूति होना हमारी बौद्धिक हीनता का चोटक है।

केसक इतस्तत पढ़कर और अध्ययन करके ही उत्कामीन विचारभाष को अपने कृतित्व में उतारता है, केसक उसका लिखने का ढंग मौखिक होगा चाहिए। अपनी सीर्य की अतिव्यक्ति को वह भाषा के शीबित्य और सृजन की अवस्य शक्ति से परिपूरित कर सकता है।

कहानी के उदात्त तत्व

कॉट, चरित्र-चित्रन चार्ताकाप और शैली के प्रमख अंगों के अतिरिक्त कहानी में कुछ ऐसे उदात्त तत्व भी निहित होने चाहिए जो पाठक में सम्भाव और उदात्त विचार उत्पन्न कर दें। कहानी समाप्त करके ही वास्तविक परिस्थितियों की महत्त्वपूर्णों में डूबी हुई जीवन के सत्य की ऐसी जाग्गस्यमान रेखाएँ उसके समस्त विकीर्ण हो चारों बिसमें वह अन्त-प्रेरणा की धारवत शक्ति को उद्बुद्ध कर सके।

कहानी मनुष्य के जीवन की व्याख्या है। उसका मूल धारा मनोविज्ञान है। वह जीवन के दृग्गात्मक सत्य मनुष्य के मन की प्रंथियों उसके प्रच्छन्न भाव भावसिद्धि क्हापोह, उक्तसन अन्तर्भव एवं विकारप्रस्त कल्पनाओं का मनोविस्फेषणात्मक पठति पर उपाङ्क-उपाङ्क कर चर्चाती है। जीवन खुस के सहस्रों परमाणु उसकी परिधि में घिमटे रहते हैं, कपा-नेसक को तो उन्हें ठीक से चर्चाने-सुबाग की आवस्यकता है। कहानी में निहित उदात्त विचारों से आत्मतुष्टि धो होती ही है, साथ ही जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर भी प्रकाश पड़ता है।

कहना न होमा—कहानी को उदात्त बनाने के लिये उसका सबाव पठन अनिचाय है। बीसा उसका वारम्भ प्रमावात्मक हो बीसा ही उसका अन्त भी स्वस्य और गुन्दर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कहानी में घटना-क्रम परिस्थितियों का विस्फेषण भाव-अव्यञ्जना उद्देश्य आदि भी ऐसा होना चाहिए जो कहानी के प्रसार-क्रम को सिचिध न होने दे।

कहानी साहित्य की आधारचिन्ता है। उसमें सदा से ही अतीत जीवन की झाँकी मिच्छती रही है। यही कारण है कि प्रत्येक देश की प्रत्येक भाषा में चाहे वह सम्य ही या असम्य कहानियों का प्रचलन रहा है।

विश्वरूपा-साहित्य में भारतीय-साहित्य के अध्येष, उपनिषद् ज्ञान आदि

के दृष्टान्त, उपाख्यात तथा भीम में प्रन्तर कथनों पर सुधी प्राचीन पाषाणों को छोड़ कर ग्रीक और लैटिन कहानियाँ ही सबसे प्राचीन मानी जाती हैं जिन्होंने सारे यूरोप में कहानी-साहित्य का सूत्रपात किया है। ईसा से चार सताब्दी पूर्व हिरोडोटस की पुस्तक में इसकी विस्तृत कहानियों का उल्लेख मिलता है जो बहुत कुछ भारतीय कहानियों का किचित् परिवर्तित रूप ही कही जा सकती हैं।

बौद्धिकी सताब्दी में इटली में बोकेजियो की कहानियाँ पढ़कर इस मोर लोगों की अल्पविक्रम अभिवृद्धि हुई। उसकी अनेक कहानियाँ छँच भाषा में अनूदित हुईं और उनका इतस्तत् प्रचार किया गया। 'घने-घने' इन्हीं अनुवादों से मौखिक कहानियाँ लिखने की नी प्रेरणा प्राप्त हुई।

हमारे साहित्य में आधुनिक कथु कथाएँ लिखने की प्रथा पश्चिम से आई है, जो यह बात नहीं कि हमारे यहाँ अपना कथा-साहित्य ना ही नहीं। संस्कृत में हमारे प्राचीन कर्मग्रंथों के रोचक आख्यानों के अतिरिक्त 'हितोपदेश' 'पंचतन्त्र' कथा 'सरिस्थामर' 'बृहत्कथा मंजरी' 'पद्मकुमार चरितम्' 'कारम्बनी' आदि स्वतन्त्र कथा-ग्रंथों की भी रचना हुई जिनका प्रभाव न केवल भारतीय मापाणों पर ही पड़ा बल्कि मध्य एशिया के अन्य देशों की मापाणों पर भी देखा जाता है।

हिन्दी में वर्तमान छोटी कहानी अंग्रेजी से बंधा और बंधता से हिन्दी में आई है जैसे यहाँ 'रानी केतकी की कहानी' 'नाथिकेतोपाख्यान' आदि कुछ पुराने दूर की कहानियाँ पहले से ही लिखी जाती रही हैं, पर इन कहानियों में और आज की कहानियों में आकाश-माताम का अन्तर है।

चमत्कारपूर्ण विस्मयोद्बोधक प्रयासी से किसी उपरोक्त विधेय की योजना बनना किसी-न-किसी रूप में मनोरंजन किस्मे-कहानी बड़ बड़ पाठकों का मनोरंजन करना इन पुरानी कहानियों की विशेषता थी। उनमें अद्भुत तत्व का अंश अधिक और मानवीय माननाओं का विमोक्षण कम था। जीवन अपनी स्वच्छता न जिन तन्त्रों को उभार कर रखता है उनसे परे आन्तरिक परिस्थितियों और पहलुओं की व्याख्या न की गई थी। किन्तु आज की कहानी जीवन और जीवन-मर्म की विस्लेषक है। वह महत्त्वपूर्ण समस्याओं को हल करने का एक महान् साधन बन गई है।

उन्नीसवीं सताब्दी से विद्य-साहित्य में कहानियों का विशेष प्रचलन हुआ है। इस युग इंग्लैंड आदि के सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक डॉस्टोइवस्की टालस्टाय (पूर्वमेव) चेखव मैक्सिम बोर्की बाल्ज्क मोपांसा गाई-डी पियेरकोटी डिब्रेंस हाडी वेस किस्किन सार्सेट यंट. ब्रांटी आदि ने सुपाठ्य उपस्थित कर दिया और इन्हीं के अनुकरण पर छोटी कहानियाँ अर्बन्तु 'सर्टि स्टोरी' लिखी जाने लगी।

सन् १९० में 'सरस्वती' में किशोरीलाल गोस्वामी की सर्वप्रथम मौखिक कहानी 'इन्दुवती' प्रकाशित हुई। किन्तु यह भी दोस्तपीवर के नाटक 'टैम्पेस्ट' के कथानक के आधार पर लिखी गई थी। इसके बाद अनेक कथांतरित और अनूदित कहानियों के बलाभा बंध-साहित्य की 'दुलाई वाली' मौखिक कहानी लनी जिसे

साहित्यिक कहानी का प्राथमिक रूप कहा जा सकता है। सन् १९११ में जयचंकर प्रसाद की 'धाम' कहानी 'दलु' में प्रकाशित हुई और इसके बाद काफ़ी संख्या में कहानियाँ छपने लगीं।

उन दिनों सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में जो कहानियाँ प्रकाशित होती थीं उनमें मौखिकता के चिह्न होते हुए भी शक्ति का विशेष बलकार और जीवन की मूल शास्त्र परिसंस्थितियों का इह न वा। अविनाश कहानियाँ ऐसी बटनाओं प्रेमा स्वामय ककानकों और उपवेद्यात्मक चित्रण से सजी होती थीं। कहानी की टेकनीक भी विचित्र थी। वर्णनात्मक शैली में अस्वाभाविक रूप-रूपता जिसमें विचित्र मनोरंजक बटनाओं का संकोच-विस्तार और अजीब पेंचीरा गुलियाँ घुलसती बरती थीं पाठकों को बकाशीय कर देती थीं। उनसे बाह्य विषय का संघात कोसों दूर था।

हिन्दी कथा-साहित्य में जब इस प्रकार की विमूढकता और अराजकता-शी फैली थी तथा तत्कालीन उपन्यासकार और कहानी-लेखक बाह्य एवं अस्वाभाविक प्रसाधनों का प्रथम लेकर कल्पित कृत्रिम और कौतूहलपूर्ण ऊटपटाप किस कहानियाँ पढ़ रहे व उस समय प्रेमचन्द ही सबसे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने कहानी और उपन्यास क्षेत्र में पुनः-प्रवर्तक का कार्य किया। मानव-जीवन के सार्वभौमिक चित्र प्रस्तुत करते हुए उन्होंने नित्यप्रति की अनुभूतियाँ उन्हीं के चरित्र के विविध भावपूर्ण पहलू साथ ही मायर्स-अनायर्स बर्न-यजम पाप-पुण्य के अन्तर्द्वन्द्व के बीच सद्-वृत्तियों की विषय विचारकर यथार्थ जीवन के तथ्यों का सत्यान्वयण उनके कृतित्व में मिलता है। प्रेमचन्द की विशेषता है कथानक सामान्य होते हुए भी अपनी वर्णन पदुता और रोचक शैली से उसे समीच बना देता। वे उन्हें से हिन्दी में आए वे अतएव उनकी भाषा में बतकस्तुषी ओष और स्वाभाविकता है। व्यावहारिक और मुहावरवार शैली ने उनकी भाषा में जान फूट दी है। ग्रामीण जीवन के चित्रण में उनकी शक्ति असाधारण रूप से रही है। सपता है ललक ने देहाती जीवन के विविध दृश्यांकन प्राणों के रस से सींचे हैं। 'प्रतिष्ठा' 'बरवान' 'सेवासदन' 'प्रेमाभम' 'रंजमूर्ति' 'कर्मभूमि' 'निर्मला' 'दबन' 'कामाक्ष्य' 'गोरान' 'मगकपूत' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास और 'प्रेमदावती' 'प्रेमपत्नीसी' 'प्रेमप्रसून' 'पंचकूट' 'कणन' 'अष्टसरोव' 'नवमिदि' 'प्रेरणा' 'मानसरोवर' आदि उनके कई कहानी संग्रह हैं।

हिन्दी में प्रेमचन्द जब से कहानी-साहित्य में अग्रणी हुए तभी से कहानी की चारा बरती। पाठकाल्य कहानियों के शुरुवा ही उन्होंने जीवन की यथार्थ परोक्ष अविष्यक्ति को कला में रूपायित किया और चेतना को व्यापक बना उसकी स्थायी भीतरी शक्तियों को पहचाना।

प्रेमचन्द की कहानियाँ महत्त्वपूर्ण जीवन-वित्त्वक चित्र हैं जिनमें समाज के

सूत्रवादी के बीच मध्यमवर्ग निम्नवर्ग की इच्छारमक जीवन-परिस्थितियों के छोटे छोटे कथन दृश्य बंकिट किये गए हैं। बहुत ही मार्मिक ध्वंजन और हृदय को हिंसा देने वाले तरीकों से कथनों के विचार और निर्धन जनता की भाषा-भाषाबाहों के झूठे-उतराते से सजीव सुन्दर दृश्यचित्र हैं जो पाठकों को मुग्ध कर लेते हैं।

प्रेमचन्द के कृति में जो जीवन-सम्पर्क और सहानुभूति है, कल्पना की मनोरमता के साथ-साथ मानव-स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण और वैचित्र्य है उसी के कारण वे उपन्यास-सम्पाद और साहित्यिक हिन्दी कहानी के जन्मदाता कहे जाते हैं।

प्रेमचन्द के परभाव अथवा प्रभाव में अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी कथा-साहित्य को एक नवीन ओज और चेतना प्रदान की है। उनकी कहानियाँ सांस्कृतिक धारनामों से युक्त मार्मिक मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। कभी उनकी प्रतिभा इतिहास की पौरव-परिभा में रम जाती है कभी मसीह की रसीलियाँ उन्हें आकृष्ट करती हैं और कभी जीवन का पम्भीरतम तन्म कथ-कथ हो उनके सामने बिखर जाता है।

कथानक टेकनीक कला-सिद्धि दोनों ही दृष्टियों से उनकी कहानियाँ उत्कृष्ट बम पड़ी हैं। उनमें रंजनकारी कल्पना और अन्तस्स्थापना है जो पाठकों को विस्मित कर देती है। प्रभाव बौद्ध-संस्कृति से प्रभावित है साथ ही उनमें रहस्य-भावना और संश्लेषणात्मक बुद्धि भी है। कहानियों में एक संवेदनशील स्रष्टा और पम्भीर चित्रक के रूप में वे हमारे सामने आये हैं।

प्रेमचन्द और अथवा प्रभाव के साथ विश्वभरनाथ रामों 'कौशिक' और बन्धर मुन्दी के नाम भी ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। गुजरी भी ने केवल तीन कहानियाँ 'सुखमय जीवन' 'उसने कहा पा' और 'बुद्ध का काँटा' लिखी और बमर हो गये। 'उसने कहा पा' कहानी इतनी प्रसिद्ध हुई कि सभी उत्कृष्ट कहानी संग्रहों में सम्मिलित हो गई। उनकी भाषा सरल स्पष्ट और मुहावरदार है। बीच-बीच में पंजाबी और उर्दू शब्दों के सुन्दर सम्मिश्रण और सामंजस्य से वह सुदृढ़ ध्वंसारमक हो गई हैं। उनकी निर्दोष शक्ति कलापूर्ण और कहानी कहने की प्रभावी निपटारी है। उनकी कहानियों में सामान्य जीवन के संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के विषय और कथ-विकास से सम्बन्धित चरित्र की सृष्टि होती है जो हिन्दी की कहानियों में बहुत कम मिलती है।

इसकी सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा पा' में एक छोटी सी सामान्य बच्चा को लेकर जो अन्तर्द्वन्द्व बसता है, कहानी के अन्त में उसका सम्पूर्ण चित्र सामने आ जाता है। उसके भाव-मुग्धों में संवेदना की पहली कबोत मार्मिक संवेदक तन्मों से उभरी सृष्टि-विस्मृति की संवेदनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण साथ ही कल्पना की परिष्कृत एवं अधिष्ठा की पूर्ण समन्वित दृष्टियत होती है। कहानी अन्त को सृष्टि हुई अधिष्ठ रूप से अस्तिष्क पर आ जाती है।

कौथिक जी की कहानियाँ खरिब प्रभाव हैं। उनकी सर्वोत्तम कहानी 'घाई' में घाई के मन का अचानक परिवर्तन दिखाया गया है। इन्हीं के समकालीन कहानी लेखकों में विश्वम्भरनाथ बिज्जा राजा राविकारमण प्रसाद सिंह चतुरसेन घास्नी स्वाकादत्त धर्म, पच्चीप्रसाद 'हृदयेध' श्री मुरसैम मोक्षियबल्लभ पंत राम कृष्ण दास और पद्मनाभ पुन्नाकाश बस्ती ने भी वातावरणप्रधान व्याख्यात्मक कहानियाँ लिखी हैं।

श्री बिज्जा ने अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखीं पर शिथिल परिस्थितियों की चोट से उनकी प्रतिभा बीच में ही मुरझा कर रह गई। राजा राविकारमण प्रसाद सिंह की कहानियों पर बंगला पद्य-सैली का स्पष्ट प्रभाव है। कहानियाँ बर्णनात्मक होठे हुए भी स्वानुभव और जीवन के सत्य से अनुप्राणित हैं। कुछ हास्यमय मिथित प्रानों की पुष्क आकर्षक सरलता और जास गाव-अंदाज किये हैं। चतुरसेन घास्नी ने कहानियाँ अधिक परिमाण में लिखी हैं। विभिन्न मामल-मनोवृत्तियों वृद्धों और समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उन्होंने बीडकाशीन मुष्ककालीन और राजस्थानी जीवन-चिपों को साकार किया है। घाई हरम और रजबाई के प्रकल्प दृश्य उनके कलम के बाहू से बीठे आगने पेश हुए। 'बुलुषा में कासो कर्हो मोरी सजनी' आदि उनकी अनेक कहानियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हुईं। स्वाकादत्त धर्म ने अपनी कहानियों में जीवन के सरल नर्मस्वरीं चिप बाँके हैं। श्री 'हृदयेध' और सुदर्शन की कहा नियाँ स्फूर्तिप्रद और छासगिक खीरवै से पूर्व हैं। मोक्षिय बल्लभ पंत रामकृष्णदास और पद्मनाभ पुन्नाकाश बस्ती ने इस प्रकार की कथानक-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं जिनमें वातावरण का चिप और प्रसंगों की अन्तारणा स्वाभाविक बंध से होती है।

वासुडी और रहस्यपूर्व कहानियों में बोपाधराय गहमटी और बुर्जाप्रसाद कबी हास उचित कहानियाँ और हास्यरस-प्रधान में जी पी श्रीवास्तव की कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। पश्चिम चेतन धर्म 'उद्य ने अधिक्रास प्रकृतवादी कहानियाँ लिखीं जिनमें वेस्वामी गुप्ठों चिपवासी आदि के चिप के कारण सुचिप की रखा नहीं हो पाई। इनकी लिखने की सैली भी विशेष ध्वजक और उद्य है।

इससे लगे के कहानीकारों में बुन्नाबलनाथ बर्मा जैनेन्द्रकुमार, बाबायं टिप पुत्रक लहाब नयचठीप्रसाद बाबपेयी विनोदसंकर व्यास राजेश्वर प्रसाद सिंह बना रंनप्रसाद सा 'द्विज' मोहनलाल महतो 'विद्योनी' बाबपति पाठक बुर्जादास भास्कर इलाचन्द्र बोधी अणभरम धर्म और पृष्ठीनाथ धर्म आदि विशेष प्रसिद्ध हुए।

जैनेन्द्रकुमार ने कथा-शेष में एक नूतन विश्लेषणात्मक पद्धति को लेकर प्रवेश किया जिसमें विपय को गहराई में पैठकर उसके अन्तर्बाह्य को टटोलने की समता थी। उनके सहयोग से कहानी अनेप्राकृत चिपन की प्रोडता और सत्रप पीठरी चेतना की ओर उन्मुख हुई। इस ओर प्रेमचन्द को छोड़ कर समसामयिक कहानीकारों का ध्यान बहुत कम आकृष्ट हुआ था।

जैनेन्द्र में प्रचार बौद्धिकता के साथ-साथ नौतिक दृष्टिकोण और निष्पक्ष

दृष्टि-निरोध की कला है। एक साहसी निर्भीक कहानीकार के रूप में मिथ्या जीव-चारिक घिटाचार से हटकर उम्होंने मानव-जीवन को यथातथ्य परिस्थितियों में डाल कर देखा है और कहानी में व्याख्यात्मक तर्कों को समाविष्ट कर उसका मार्ग प्रशस्त किया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है उध्मान्येपण और गम्भीर विवेचनारमक चिन्तन। जीवन की अटिक गुत्थियों को बहुत सहज ढंग से उम्होंने कहानी में मूबा और मानव-मन की अज्ञात एपनाएँ, उसके अन्त्यन्तर में प्रतिपल उठते हुए विचारों उठ्यों और असामान्य चिन्तनाओं को नवीन मानवीय संदर्भों से परत कर बौद्धिक रूप से दिया।

इसके विपरीत कृत्वावतसाक नर्मा की नवा-धैमी में एक ऐसी सर्वसाहसी मनोरंजकता है जो पाठकों का ध्यान बरबस बाहृष्ट करती हुई उनके भीतर संवेचना और सहानुभूति जगाती है। ठाकुर असमाननाओं को अपनाकर बाहृ परिस्थियों के आलोडन-विशोडन से रूपरी सतह को इतना खेमिभ बना देना जिसे गोथे की गहृई डक चाये जववा अन्धे-बुरे, सत्-वसत् जीवन-उपकरणों को मनोविज्ञान की कसौटी पर कस कर कथा-साहित्य में पर्यवसिठ करता इनका स्वभाव नहीं है बरन् इन्हीं जीवन को सर्वांगीण रूप में अपनाया है उसके सरल सन्धे रूप की व्याख्या की है और बनावटी बम्भीरता से हटकर जीवन के वैविध्य में झाँका है।

इसकी भाषा और भाव सरल हैं। कारण—केवल सहृदी कुंठाओं के 'दावर्षेथ तक ही वे सीमित न रहे अपितु बुन्देससंठ और मध्यप्रदेस के पर्वत-पठार, नदी-नाथे सौस-साकाब मन्दिर-मठ, पेड़-पौथे हरे-भरे बंगल बरगाह और मवान यहाँ तक कि येके-उत्सव माथ-मात और पर्व-स्वोहार तक ने उम्हें छिन्ने की प्रेरना दी। समय के साथ पर्वो-ज्यों उनका दृष्टिकोण विकसित होता गया भारत की सामाजिक संस्कृति को समझने के लिए उम्हें इतिहास की गहृई में उतरना पड़ा। उनका प्रत्येक बर्तन प्रत्येक बुस्याकन हृदय का सहज उपवेग है। पारिवारिक जीवन का विषय विनय धामीन स्त्री-पुरुषो बन्धों-बुडों का स्वभाव खून-साहन भावधीत समी कुछ स्वाभाविक ढंग से इनके उपन्यास और कहानियों में मिलते हैं। इतिहास के मौरवमय बतीठ में झाँक कर देखने के कारण इन्हीं अपने अरम्य आत्म-विरथास और प्रवाहमयी कल्पना से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को कथा-रूप में बाँध दिया है।

भाचार्य धिबपूजन सहाम बिहार के प्रमुस कहानीकारों में हैं जिनमें मौलिक प्रतिभा और असाधारण पूजबूझ है। इन्हीं अपनी कहानियों में जीवन के सरल और परिप्लुत चित्र लीथे हैं। भाषा गम्भीर और संयत होती है। छिन्ने की धैमी मुगठिठ मुप्लु और कलापुर्न है। इन्हीं ने न केवल कथा-साहित्य की सर्वता की बरन् अनेक लेखकों को प्रेरना और प्रोत्साहन भी दिया।

मनवतीप्रसाद बाजपेयी की कहानियों में मार्मिक ध्यंजना के साथ-साथ गम्भीर चिन्तन और भाव-प्रवणता है। जीवन की साधारण घटनाओं को अपनी सहज आत्मना-मुमृति से इन्हीं अधिकारिक व्यावहारिक और रोचक बनाया है। भाषा सरल और

विषय के अनुरूप बदलती जाती है। विनोदचंकर स्थास ने अपनी छोटी-छोटी कथा नियों में जीवन के विविध दृश्यों को कौशल से अंकित किया है। कथाएँ और कथा नियों के बर्णन-विषय अनेक स्रोतों से संकलित किये गए हैं।

राजराजेश्वर प्रसाद सिंह की कहानियों में अमानविक विस्तार होता है जिससे कहानी मीरस और असंतुष्टि हो जाती है। अगार्जनप्रसाद झा 'द्विज' की छोटी-छोटी कहानियाँ भावपूर्ण और सरस हैं। कविताओं में जो तस्वीरता और रस है वही कहानियों में फूट पड़ा है। अनेक कहानियों में इनका आलोचक का दृष्टिकोण है। जीवन के उपकाल से बाद तक जो संस्कार इन्होंने अंकित किये वे कहानियों में रम कर समय-समय पर प्रकट हुए। सामाजिक आचारों-अनाचारों की भर्त्सना भी यत्र-तत्र मिलती है। कवि होने के कारण मोहनलाल महतो 'विभोयी' की कहानियों में भी शीघ्र-वैचित्र्य और रस-विधान का बहुमूल्य धामजस है। भाषा सरल रोचक और प्रोढ़ है। कहानियों के बर्णन-विषय दृश्य और चरित्रों में मानव-जीवन का सरल विश्लेषण मिलता है। सरलता सहृदयता और मानवीयता के साथ-साथ इनकी कहानियों में हल्का आक्रोश उद्बेग और स्वाभिमानी भी है जो विविध अनुकरण किये हैं। वाचस्पति पाठक और बुगियास भास्कर साधारणतः अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। इनमें इलायत चौधरी कहानी-लेख में अपना एक निराला व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुए। मानव-मनोमात्रों में पैठकर बातावरण और परिपास्निक परिस्थितियों के सजीव चित्रण से कहानी को अनुप्राणित करने की कला में वे सिद्धहस्त हैं। अल्पमचरण जैन और पृथ्वीनाथ सर्मा ने सरल व्यावहारिक भाषा में अनेक सम्वर कहानियाँ लिखी हैं।

सन् १९२८ से हिन्दी में कहानियों का कुछ ऐसा जोर बढ़ा कि अनेक कवियों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' तिवारामचरण बुध सुमित्रानन्दन पन्त भयवतीचरण वर्मा आदि लब्धप्रतिष्ठ कवियों ने अनेक भावपूर्ण सरस कहानियाँ लिखीं। कुछ कहानीकार विभिन्न पाश्चात्य 'बाबो' से प्रभावित हो नवीन दृष्टिकोणों को लेकर प्रकट हुए और उन्होंने कथा-साहित्य को स्फूर्ति और नवीन क्रांतिकारी वैतना प्रदान की। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' उपेन्द्रनाथ अस्कर यद्यपक रागेय रामन विष्णु प्रभाकर, आनन्दप्रकाश जैन चन्द्र मुक्त विशालकाद, मोहनसिंह सेगर, नरसिंह बिलोचन चर्मा अनंत गोपाल शोचने राधी 'विषयु' 'निर्गुण' 'रेषु' आदि की कहानियों में एक परिमाणय दृष्ट है जो मानसिक प्रविधाओं के मूत्र आधान-प्रदान द्वारा एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण उपस्थित करता है। कही-कही इनकी अभिव्यक्तियों में कही-कही भीषण विद्रुप बर उठता है। सामाजिक सत्तों की चोट ने उन्हें लौटा बना दिया है जिससे परम्परागत संस्कारों एवं सामाजिक कुरीतियों पर उनके बर्णनों में कही-कही भीषण विद्रुप बर उठता है। ऐतिहासिक कहानियों की रिधा में आनन्दप्रकाश जैन ने विशेष सफलता प्राप्त की है।

एही कहानी-लेखिकाओं में विद्यरानी प्रेमचन्द, सुभद्राकुमारी चौहान सेजलनी पाठक उपारैवी मित्रा होमवती कमला चौबरी कमला विजयी लंकर, चन्द्रावती

प्रथमसेन जैन कंचनलता सम्बरवाल कुँवरानी तारादेवी रामेश्वरी 'बकोरी' हीरा देवी चतुर्वेदी कुन्दा घोवती तारा पाठवार, विमला देवी सत्यवती मलिक तारा पाठेव सुधीका आशु और चन्द्रकिरण सीनरिक्ता के नाम विषय प्रत्येकमीय है। इन सभी कहानी लेखिकाओं ने प्रायः पारिवारिक जीवन और हिन्दू-समाज में नारी की बाह्य स्थिति का विमर्शन कराया है। पुरुष की क्रूरता और स्नेहा भावना में नारी को कुचका और रीबा है। सुमद्राकुमारी चौहान की भाषा में बीज सृष्टि और भावावेग है। उन्होंने जिन-जिन दृश्यों घटनाओं का चित्रण किया उसकी पूरी सौकी माँओं के समक्ष प्रस्तुत कर दी। सीधे साध जिब 'मिहारे मोती' और 'उम्माबिनी' उनके महत्वपूर्ण कहानी संग्रह हैं। सपारवेदी मित्रा कमला बीमरी और तारा पाठेव ने अनेक व्यक्त मर्म स्पर्शी कहानियाँ लिखीं। नारी-सूक्ष्म कथना और वास्तव्य इनकी कहानियों में सर्वत्र मिश्रता है। होमवती भी ने अधिकतर सरल व्यावहारिक प्रयासी अपनाई और सम्पर्क में जाये विर-परिचित व्यक्तियों की कथन कहानी साधारण रोजमर्रा के कार्यक्रम में घटने वाली घटनाएँ और सामान्य प्रसंग ही सिद्धे हैं। नारियों व सचियों बार सुबनाकाया तो जागी पर पुरुषों के प्रति घोर प्रतिक्रिया और आक्रोश के भाव ने उन्हें सर्वथा एकांगी बना दिया। फलतः इनके साहित्य में अन्तर्बाह्य का आलोडन कम पहरी धीम और कटुता का भाव अधिक है। पुरुषों की उद्दाम स्नेहा भावना ने जो उन्हें सदा कुचका और रीबा है उससे व उनके प्रति समुक्त न्याय और निष्पक्षता नहीं बख्य सकी है। अपनी लेखिकाय कहानियों में उन्होंने नारी की विर घटा और समाज में उसकी बाह्य स्थिति का तो विमर्शन कराया पर व जीवन के उस परिमाणय इन्द्र को उस व्यापक दृष्टि से नहीं बाँक सकी जैसा कि विरघ साहित्य की नारियों के कवित्व में देखा जाता है।

पर आज के संचयों में कुछ नई लेखिकाओं—लीला जलस्वी रजनी पन्निकर एतमवी बीजित बलमप्रमा रानी सुझावत घोमा बीरा मन्मंत्रापी ऊपा प्रियंबदा एतकुमारी इन्दुमती प्रेमकटा बीप धीका घर्मा सकुमला घर्मा सकुमला घरन रामे हरी घर्मा आदि को इत ईव से उकसाया है कि वे नई तकनीक को लेकर अग्रसर हो रही हैं। पुरुष से बराबरी का दावा करने वाली बनकर निरचय ही वे उस रफ्तार बेंदपी में निश्वास नहीं कर सकती जो सच्चे मनो में उनकी स्वल्प-याधीनता पर कुठाराघात करे। अतएव किन्तनी ही सामयिक समस्याओं और उद्घापीहो ने उनके मूल तन्त्रों को हिला दिया और वे पारिवारिक परिधि से सामाजिक बेतना की ओर उन्मुख हुईं। बर मोहवास को विच्छिन करके उन्होंने मर्मस्पर्शी व्यक्त चिन्तों की अभिविधि की। इन सभी लेखिकाओं में चन्द्रकिरण सीनरिक्ता में पहरी कथोट और बीजस्वी व्यंजना है। गृहस्थ की अस्तित्वता को सुदम कोमल भावजमत् एक सीमित न रल कर इन्होंने पारिव अस्तित्व की परिधि में बाँध दिया है। आज की कथमग्रघ विषय परिधिपतिमा अटिल समयसाएँ, मेवभाव अनैक्य और कुच-न्येसों के कारण अघांत उद्वेगित और असंतुष्ट मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण इनकी कहानियों की विशेषता है। इन्होंने जीवन के

उस को स्पष्ट किया है। कल्पित 'कैम्बस' पर असह्यमान जीवन और ह्यासोग्म्य समाज के आचार-व्यवहार और अपनी अवस्था के सजीव दृश्य कुशलता से जके हैं।

ज्यों-ज्यों कथाकार की आंतरिक सबेरना उसके वैयक्तिक स्वात्मन्य की घट बढ़ती गई उस परितर्जन के प्रवाह में बहकर उसके कथ्य की निष्ठा नये ढंग से विकसित होती गई। कितने ही अटल प्रवृत्तियों की गहराई में बसकर वह उनका समाधान ढूँढ़ने लगा। यहाँ तक कि निजी प्रवृत्तियों एवं परिवेश से परिचायित उसने नये-नये निष्कर्ष निकाले। परिस्थितियों की विकृतता एवं तनावों ने न सिर्फ उसे बुद्धि नीची एवं बिगोही बनाया बल्कि हिमाकृत और हठधर्मी भी उसमें हुए दर्ज की बढ़ती गई। कोई फ्रायवीम तो कोई अस्तबेचनावादी कोई प्रगतिशील या मध्याग्म्य अतिग्रयता का क्रायक तो कोई प्रयोगों की बहक में निरपल स्वतन्त्रता बरतनेवाला—चाहे जैसे भी हो—नई पीढ़ी के नये कहानीकारों ने मानवीय विकासबोध की नई उपकल्पियों को नई अर्थवत्ता में पहचान किया—यों इस दृष्टमयी कथमकथय में 'इन विविडुस सेल्स' अर्थात् बहुमन्यता ही उसमें अधिक आयी। राजेश्वर यादव कर्तार सिंह दुग्गल परदेशी पहाड़ी मार्कण्डेय जनार्दन मुक्तिरूत कमलेश्वर, हृषनाम सबेरवर बवाल भोकारनाम भीवास्तव निर्मलक जमाँ सत्यन्त्र शरत् अमरकान्त खेचर जोशी रजुबीर सहाय मसमज रामस्वरूप शर्मा उदित साहु, रणधीर सिंहहा मरेख आदि अत्रिनत्र प्रवृत्ति के कतिपय कहानी-लेखक सर्वथा नये निर्माण का बाग्रह सिंघे हैं जबकि प्रगतिवादी कथाकार के अन्तर्गत अमृतदाय अमृतकाल नामर, कृष्णचन्द्र नायर्जुन प्रमाकर माचवे मरोराम नायर हंसराज 'खुर' भीम्य साहूनी भैरव प्रघार मुष्ट केयवप्रघार मिम मेहन्दी रबा आदि ने जनजीवन के व्यापक दृन्-मंभवे को विधित करने के प्रयत्न किये पर उनके मस्याकन व सामाजिक आदर्शों के विघात से बहुत लोभ सहमत न हो सके। फिर भी पारचात्य कथा-साहित्य की विविध शैलियाँ जैसे पत्र कथा सञ्ज कथा आयरी रिपोर्टिब स्केच हास्य-भ्यांग्यात्यक कहानी किस्सों ने उसका पय प्रसस्त किया।

घने घन कहानी काष्ठी विकसित स्थिति में पहुँच गई है। उसकी टकनीक में भी अपेराकृत आकाश-वातास का अन्तर हुआ है। कहानी की क्युन-पद्धति में पहले का-सा ऊनमरा शैविस्म नहीं है बरन् विपय-व्ययन में नूतनता और वैविध्य पाया जाता है। कहानियों में अनेक नूतन प्रयोग किये गए हैं। नई-नई समस्याएँ और नय-नय आर्शा उनमें साकार हो उठे हैं और उनका उत्स्य एकोगी एवं एकदेशीय न होकर बहुमनी हो गया है। मध्याग्म्य जीवन के विन्नय के साव-याग मन के नूतन प्रघन-स्तरोँ मानर परिघ के विभिन्न पहलुओं उनके व्यस्तित्व में कुछ ऐसे ईद, परल्लाप विरगतिवों को उनसे कराठी कुछ और कहलाठी कुछ ह अथामान्य बितताओं, आन्तरिक अहारोहों और अज्ञात अस्तव्यापारों में भी झाँकने का प्रयास किया गया है।

मान की कहानी सबसे रोमांस से हट कर मनोवैज्ञानिक बारीकियों पर आ टिकी है। प्रतिदिन की बेतरतीब उन्नतों हमारी जीवन-यापन की अविशत अस्तित्वा

परेशानी व्यस्तता और हाहाकार तथा मानवीय भावनाओं की मनोविस्तैपचारक व्याख्या कथा-साहित्य की शीघ्रत घक्तियों को अधिकाधिक उद्बुद्ध कर रही है जिससे अब तक की अस्त-मन-स्थिति और परम्परागत संस्कार मानसिक और शैक्षिक अंतर्गत कसक और बेचैनी उत्पन्न और प्रकृत-प्रहमियाँ सच्ची वाचुति के मूख में—एक व्यापक स्तर पर—आगरकता और दृष्टि की पैठ उरसा रहे हैं और संकुचित प्रकृतियाँ दबाकर जीवन के हर कोण और पहल पर नौर करके उसकी निर्माण प्रक्रिया का दायरा विस्तृत कर विश्व-साहित्य से होड़ से सकने वाली सोकोत्तर सूजन की सक्ति जगा रहे हैं ।

नष्टे औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ

हिन्दी उपन्यास इधर पुनस्तानवादी प्रवृत्ति के साथ कई मंडियों से गुज़रा है किन्तु कतिपय ह्रासोन्मुखी चाराएँ जो मवीनतम या अत्याधुनिक कला-टकनीक का रूप धर कर हमारे बीच बोर पकड़ती जा रही हैं उससे कितन ही नये श्रेष्ठियाँ पैदा हुई हैं—एक नई अनोखी ताजगी और ताकत के साथ—अजीबोगरीब ढंग से पैदा किये जा रहे हैं। इनका मूल्य और संबंधिता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है क्योंकि आज के रचना-विस्तार और माबवस्तु के कालान्तिक उपादान जिन आधुनिक प्रक्रियाओं के दुर्निवास की ओर आकर्षित हैं उनके उत्कृष्ट प्रसंगों के बीच में 'परवाशिव' नाम की कोई चीज़ नहीं। छायावादोत्तर काळ के रसकों की महारई की बाहू सेते हुए जो सम्पर्क या बिचार हमारे सामने आए, वे किसी निश्चित जीवन-दर्शन के बापरे में बन्दी नहीं बौं शीकीमत वैशिष्ट्य के अंतर्गत एकदम निजी और वैयक्तिक प्रयोग ही प्रायः मौजूदा उपन्यासों की कसौटी बन गए हैं।

ज्यों-ज्यों परम्परानुमोदित साम्यताएँ एक सटके के साथ बस्तीकापी जा रही हैं एक नये बस्तुतत्त्व एक मवीन जीवन-रक्षण और एक बीचानी सी अतन्त्रित सामाजिकता उपन्यास के रूप और शिल्प भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों पर हमारी होती जा रही है। ऐसी स्थिति में वे पुण्यनी कसौटियाँ जिन पर हमें नाश है कहीं की कहीं पिछड़ कर दूर जा पड़ी हैं।

तो कहें कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कास्पनिक बर्ष-संघर्ष की गुत्थियाँ अथवा वाद-विवादों के बखबर से उपन्यास को आधुनिकता की ऐसी अकड़बन्दी में कड़ा है कि जिससे उपन्यासकार के कल्पना-जगत् में एक से एक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं और इस कारण उसकी कोई एक खास शिवा निरिष्ट नहीं हो पाती।

चौंके समूचा उपन्यास लेखक की कल्पना से ही सिरजा जाता है अतएव विस्तार-विस्तार प्रसंगों बटनार्यों और पात्रों की सट्टि दृशनी यथार्थ और नैतिक होनी चाहिए कि वह पढ़न वाले को विस्मृत सब्बी और विस्मयनीय समने लम। दिस पर वे ऐसे बचन हो जायें कि पीठे-जायते व्यक्तियों की भाँति ही हम उनसे समूक करें। वैसा करिब हो वैसा ही। उससे ताबारम्ह स्थापित हो जायें, उनकी जीवन सम-साएँ हमारी हो और उनकी यथार्थता हमारे जीवन की यथार्थता बन जाय अथवा

नितान्त विरवसर्गीय बनकर हमारे विमोहिमास पर अपनी अमित रेखाएँ अंक जाएँ। संघटनात्मक तत्त्वों के माथ से परिस्थितिगत और परिवर्धयत उत्थान-मार्गों के निर्धारण के साथ-साथ उपन्यास में यदि निम्न बातों का ध्यान रखा जाए, यथा—

- १ किसी पक्ष में अतिरेक की गंजाइय न हो।
- २ नूतन इकाई पर टिक कर बराबरकता और अंतर्विरोध की भ्रान्ति में न पड़ें।
- ३ बीजग कितना बड़ा है, पर देखना है कि उसमें केन्द्रित संघटनात्मक उपकथिनी या संक्षेपन के तत्त्व कहीं तक विकसित हुए ?
- ४ मझे ही सीधे समस्त पक्ष के बरमे विसंगतियों से गुजरकर विरोधी तत्त्वों के समन्वय के लिए विकास का विषम पक्ष अपनाया पड़े किन्तु विद्यास नूतन क्षितिज के अंतर्गत इस प्रतिक्रिया का एक अटूट और सम्पुष्ट क्रम तो बचता रहना ही चाहिए।
- ५ पूर्वजित के पास से मुक्ति का अर्थ है नई जनजाती विद्याओं में किसी विविष्ट विचारना या खोज ना अभिमान अन्यथा भौतिक प्रदेय से रहित के क्या मानी हो सकते हैं ?
- ६ अस्ताह की उन्नतित तरंग से या बीजगत भौतिक संहानुमिति से प्रेरित होकर मध्य एकाम्बय की आर अति हा तो व्यापक मूल्य चेतना के अंतर्गत वैयक्तिक मूल्यों की संस्थिति क्या है, कौन से उपादान या साधन-मूल हैं और कहीं से वे उभरते हैं तथा किस माध्यम से उन्हें ग्रहण किया जाता है। सेवक चूँकि एक स्वमन्मू सत्ता है, अतएव उसकी कति अर्थात् उसके द्वारा रचित उपन्यास कहीं तक पूर्ण इकाई बन सका है और उसकी विभिन्न व्यष्टियाँ सापेक्षिक और क्यों कर एक दूसरे की पूरक बन पड़ी हैं ? सेवक की सबसे बड़ी सात्त्विक विरोधता यह है कि जीवन और जगत् के सत्य को अपने मोहमुक्त स्वानुमूत भौतिक चित्तन द्वारा उपकथ्य करे, क्योंकि अविमान जीवन में कितने ही उधार-बहाव जाते रहते हैं खन-खन पल बल उसका कुछ बदलता रहता है, लेकिन वह एक तट्ट से नित्य-सनातन की ही मनोवैज्ञानिक पुनरावृत्ति है।

तो इस अनुमूत साक्षात्कार को सीधने-समझन की भी एक प्रक्रिया है अर्थात् समझकर हृत्संगम करन की एक ऐसी अपठनेय विज्ञासा जो हर मुझे पर गजर रख कर उसकी तहृतरक पहुँच आम और उसके तीव्रतम कथावातों की महसूस करे। अंत में इस अबाध प्रक्रिया को बरतते-बरतते जब अचानक अंबकार फट जाता है तो आर पार मुक्त प्रकाश में बहुत कुछ मजर जाता है। जीवन-समय के भीतर मझे ही लक्ष्य रूप में उसे किया काम—कोई भी बुद्ध-दर्श समस्या आसंकाएँ वा संघर्ष हो तो वह उसका उचित आकलन करे और सम्पूर्ण सत्य के प्रकाश में देखे। मेरी सम्मति में सेवक का एसा मुरम निरीक्षण और असाधारण मनोवैज्ञानिक अंकन ही कारणर हो सकता है।

सहज का अधिप्राय है कि उपन्यास में जो चीज जिस डम से सामन रखी जाए उसे बैसा ही सहज कर लिया जाय— तब मात्र है क्योंकि किसी उपन्यास की कल्पना आसमान मात्र नहीं बनने एक ऐसा बनाव है जो मरना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यह एक ऐसा सच्चा अनुभव है जो विस्मयनात्मक युक्तियों से और भी गहवाई से समझा जा सकता है। उपन्यास जैसे ही कल्पना हो या किसी व्यक्ति-विषय की सहज प्रवृत्तियों की प्ररमा से लिखा गया कथाकथान कुछ की मञ्जरों में बह मानसिक एम्यामी अबबा विधाय के टपों की काल्पनिक सृष्टि भी हो सकती है मपर उसकी अपनी एक निजकी दुनिया है जो अपन ही कार्य-कारण के पारस्परिक सचनों और नियम-अननियमों से परिचासित होती है। उसके कर्मप्रसार में अनेक वृत्तियों का निवर्तन और तत्सम्बन्धी वस्तुओं का साम्यतर और बाह्य प्रत्यक्ष साकार हो उठता है जिसमें केवल यही अन्तर है कि वास्तविक जीवन में मनुष्य के संकल्प और विकल्प का हान रहता है परन्तु औपन्यासिक संस्कृति की निजी मौलिकता में सृष्टि पात्र ही नाग विधियों से बाधी-कर्म द्वारा मर्त्य रूप जीवन के अधिष्ठाता हैं। इनका जीवन परिवृत्त ही नहीं बल्कि पूर्वनिश्चित और नियमित भी है और उनकी अपनी विवक्षतापूर्ण सीमाएँ भी होती ह।

अनुभूतियों और वृत्तियों की अनुकूपता के कारण उक्त अनुभूतियों से प्राप्त सचों और निष्कर्षों का बाह्य भी हम उसे कह सकते हैं। साहित्य की विविध विधाओं के अनुसार उसके अनेक भेद हैं कितने ही रूप और प्रकार हैं जिनमें जीवन विषयों और नाय-सिद्धियों की प्रतिमत्ता में बैसा उपन्यासकार अपनी निष्ठा और आत्मविश्वास को उद्घासित करता है।

पर उपन्यास का सृष्टिकोण आज कितना बढल गया है। वह पहले की तरह एकदम झुन्डल की झुन्डी बचबा रहस्यमय तिलस्मी अनुबा नहीं है और नहीं भूतन संस्कार एवं प्रभावान्विति की दृष्टि से रंग-रेखाओं क हलक-पुनके 'स्टोरी' या इबद-उपर तुक मिड़ा बेन से ही काम चलता है। इसके विपरीत हर घटना किबा भाव प्रत्यक्ष बर्ण विषय और विभिन्न प्योरों की प्रतिमत्ता के धारक रूप में सामाजिक वापककता के धरातल पर, प्रवृत्ति के मये चरक बिहों का अनुसरण करते हुए कुछ ऐसे बढके हुए अनुभव और माध्यम खोजने पड़ते हैं जो उसके मौलिक भावों और सिद्धांतों के बाह्य बन सकें।

आजकल मित्त-मित्त बर्ण के जीवन-व्यय तये बातावरण और नई परिस्थितियों के साथ संसिद्ध करके बर्णि जा रहे ह। मुकपत प्राबन्धीय और कम्युनिस्ट-इन दोनों का दार्मिक कमवाद अधिपत प्रतीकों और सभ्यताओं में उमर कर सामन जा रहा है। पहले में अपने का स्वयं की परिधि में पून समानबाणा एकाउ और वैयक्तिक विचारों का बर्ण है जबकि दूसरे सभ्य में कामुकता का मबरोप भूतन और कुंठाओं का बाध्य परिमाण भी कहा जा सकता है, जबकि दूसरे में वृत्तित घोषक बर्ण के ऊपरी भूषामे और मोठरी नापकेपन की हाकी मिसती है साथ ही घोषितों की मजबूती के

रोमांचक नजारे भी पेश किये जाते हैं। पहला 'सुपीरियरिटी काम्प्लेक्स' से पीड़ित है और दूसरा 'इन्फीरियरिटी काम्प्लेक्स' से। दोनों का नैतिक पतन बड़प्पे से बर्खासा जाता है—घोषक बर्न का इसलिए कि उनकी उत्कट विलासिता और भोगवृत्ति का पर्याप्त किया जा सके घोषित-प्रकाशितों का इसलिए कि निर्भयता और बेबसी की उन्हें कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।

फ्रायडम विमर्ष में एक बिन्दु है हुए आकर्षण का वैधियम् है पर धर्मत मुसोप-योग के उस बिन्दु तक नहीं जहाँ सुस्पष्ट और चेतना बाह्य और अन्तर्मन सम्कास और बाह्य हास और अभ्य मुष्मिल कर एक हो जाते हैं। इसके विपरीत कामजम्ब आर्सेय के घोड़े से मड़क कर अपने उद्गम प्रसार और उत्तेजना से भी उन्मत्त हैं बहु हैं तैब बहुकते घोष सीने का रव और एक उमडता अमर्षित व्याकुल उबार। जीवन का एक-एक प्रसंग एक-एक पक्ष एक-एक अनुभूति स्वच्छन्द और अनुपासत हीम काम-आर्सेयों का स्फुरण मात्र है जो दमित कुंठाओं से उभरी आत्ममर्त्सना की अतिरिचित संवेदनाएँ जगाता है।

'दमित कुंठा' के अर्थ में आज बहुमुसी विस्तार है जो अधिकाधिक नैतिक पात्रिकता में विकसित होती जा रही है। स्वप्न-अवत् के भावनात्मक बल को उसके स्बुक भौतिक पक्ष से अधिक तृप्त देकर आज के मानव ने अपनी दुष्प्रार्थों से नियंत्रण हटा दिया है, क्योंकि उसकी दृष्टि में आचार-बंधन की सीमाएँ कोई मानी नहीं रहती। वे कुनिम हैं और मीनूषा धर्मता में उनके व्यावहारिक पहल तपस्य है। 'प्रलय' तो परम्परगत है परन्तु उसका मध्यम रूप बौद्धिक मूर्खों की अधिकाधिक प्रतिष्ठा के साथ मनोवस्तु हटा जा रहा है और उसकी प्रमाणित करने के लिए फाय बीन बंधन में उनसे अपेक्ष आचार भी मिथ गया है।

फसत कैलकों का मनोविज्ञानवादी कुच्छावस्तु बर्न मन के सपनों में डूबी एक अजीब सी इच्छा और रहस्यमयता का पर्याप्त करन या ऐकनितिक ऊहापोह के समाधान में लगा है तो सर्वहारा बर्न इसका साथ दोष समाज के मत्पे मड़कर मध्यवर्गीय संस्कारों से विरजी अमनेहित आकांक्षाओं और मन्म कामुकता के दहकते अंगारों की एक बेहद हीची और गहरी पहसत पर किसी छामोय बेबस प्यार के घबनम की बूँदे छिटकाने में मया के रखा है। पहला बर्न नैतिकता को गया मनो वैज्ञानिक आचार देना चाहता है तो दूसरा बर्न इस तपे मनोविज्ञान पर स्वनिर्मित नैतिकता को आरोपित करने में लगा है। इसका परिणाम है कि प्रेम के तीर-तपीहें और इन बहुत कुछ बरस गए हैं। उसकी गहन गम्भीरता बाह्य के अक्षेपण को नहीं दकती बरन् अपनी निषिद्ध जड़ता में मटके हुए उच्छु सल मन को छोपो ही सेती है। अंततः सत्ता का आत्मपापण जो प्रेम में इतना सुस्वित, कीम और एकीभूत हाता है और अपनी निस्सीमता में आधिष्ठ कर पैठा है बहु निम्नतर तत्त्वों से उभरी जास कितिया उद्बेग अथवा अजित इच्छाओं के निर्धर्म और आज की नियंत्रणहीनता में अधिकाधिक प्रयत्न पाकर उस उच्छु आचरण वा घसक के निजी 'अहं अथवा एक

ऐसी बेंची-बेंचोई बड़ बिचारबारा पर आ टिका है जिसे न मन जानता है और न जिसकी बच्चाओं एवं बंमिमाओं के आचार ही समझ पड़ते हैं ।

मोड्या उपन्यासों में बहुमुखी चरित्र-सृष्टि तो है, पर भारतीय आचार के अनु रूप धीक एवं संस्कार नहीं बूझते शब्दों में हम कह सकते हैं कि चरित्रम्य धुंठि नहीं । सम्म बर्बरता की इस नई बछा में कबाकार का सचेत मन कितारे की मिट्टी में बती मिट्टम अनुभूति के गड़े तो जोरता है पर उसमें भीतरी आछोक रचिमया नहीं बिलेगता । बरबसक सद्-असद् एवं असम्पूर्ण इच्छाओं की बिचाररामक प्रतिक्रिया ऐसे अतीग्रिम अनुभवों का समबाम ही तो है—यथा मन में विभिन्न प्रयत्नों का उद्बुध विभिन्न जीवन-समस्याओं की उत्पत्ति तथा कितने ही प्रकार के मनोद्वन्द्व । ये ही व पुस्त्वण हैं जो बहुत गहरी प्रच्छन्न पत्तों के नीचे छुपे पड़े रहते हैं और सबसर पाकर बिकृत रूप में उभर आते हैं । फलस्वरूप उनके द्वारा सृष्ट चरित्र एक ऐसे बराठक पर उठर आते हैं कि बिनका दिल बियापन अस्तमबन विभीषिका और भावात्मक सधयों पर टिका है और यों उनमें मस्यत बूटन और अनुभव तगाव की स्थिति पदा हो जाती है । चरित्रों के माध्यम से उनके स्वयं के वैयक्तिक जीवन के खंडों का तो उद् बाटन होता ही है औरतर प्रतिनियदास्वरप उनकी उसमी और बटिल संबनयाएँ ऐसे ऐसे पेटन उमारते हैं बिनसे स्यता है कि जैसे चरित्रों का हीचा सर्वया बिखर गया है ।

किसी भी चरित्र का मुख्य नीति-अनीति की कसौटी पर निश्चित करना शक्य नहीं किन्तु नित-नई कुंठाओं बर्जनाओं श्मंग बिन्नयों न बड़ती हुई आधुनिकता और मनीकरण के उद्बुध निर्बाध करतना को इतना अधिक उरुसाया है कि वह मानसिक असंतुलन और उलसतों के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पा रही है । नितान्त शौचिक तरबों से कबाकार का अगाव उसे ऐसे-एसे असंतुलित तरबों की धीर टेर रहा है जहाँ नोरे बर्च की सला अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसके बिपरीत प्राचीन आचार मर्यादाएँ एवं कड़ियाँ मात्र धर्म के रूप में उभर कर चरित्र के मरु तरबों को बर बम धर रही है । शोच विषयक औसचित जब अनायास अनुत्पिमूकक हाकर उभरती है तो अमदत बिपरीतय की मण्टि होतो है—अससन बाब के उपन्यासों में कुछ एस नकारात्मक चरित्र उमारे जा रहे हैं जिसमें हमारी मौंजी मौन्धय-रचियों की निव्याक निर्मम पड़ता का प्रसमन होठा है । मोहूबव से अस्मी बहरे को कोई अपने बासों के गम में पाल रहा है तो किमी के जबाबती सपनों में कोई चुनरी उड़ती कजसायी पकरों में बजसी शोकती धीय कटि सचरती डूम ती सज्ज बलाइयों में चुड़ियाँ धनरती मोठों की मिट्यास मुसाबी बपोतों की साक्षिमा मन्मस्र मुस्वान और मारी की समस्त सज्जा समेट कर कोई सुन्दरी बम्बई जंमे महाानगर में—बिद्यपवर बिजली की बतियों की इन्दिम रोशनी में अममल-अलमक इठमाने-अनमठे बाठावरण में धारी-धारी राठ आमती रहती है जब उसक पेट की डुग उसकी आँसों में मर जाती है या उसरी बहो मौंजों के बिमस का बाजार इस भुल के मीच दब जाता है

और उसके रंजीत सपनों में बुझी हुई रात मल दी जाती है। जबकि उसके कुंभारेपन के सधियों पुरान नवय नई धक्के अस्तिवार करते हैं। जीवन का सीधा पटाती उसकी अस्मय—रात की बनता में और भी शुभ्य एव मयावह—सिस्किमी, भर-भर कर रोती है और पाठकों के बिस बहका बेठी है। यों माय के कुछ समानी मनचसे उपन्यासों में स्नीत्य को इतना महिण इतना बर्ग दर्शाया जाता है—जैसे में पाव गारी की सहज गरिमा या शीक-ससकृति के लिए नहीं बसिक फूलों जैसी हस्की-फुस्की महकमपी हवा में रंजीत तितानी के पंखों पर बैठकर उड़ने के लिए तिरब गये हों। माय की 'साधुनिका' के अंग प्रत्यंग किस तरह तराचे जाते हैं उसकी भाँजों में कितनी लम्बी ककीरें मीकी जाती है और कौनसा किबास उस उड़या जाता है। ऐसा किबास नहीं फिसी का शीगा दुपट्टा उड़ रहा होता है और यह शीगा दुपट्टा हवा में उड़ती उसकी जुल्कों के साथ माजुक लुबसूरत जेमकिरों से बामने के बावजूब भी उसके कर्कों से बार-बार घिसक जाता है। कपोलों की काकिमा गपनों की सुमापी का माणक मया काली मोह और उन पर जाया मया सुरमा स्निग्ध सुन्दर स्मिठ फेसाते जोप्टुम और तिस पर उनके उष्म कर हाव मान काय-कसाप और बिलास मयी प्रभृतिमों का कुला चित्रम छाव ही इन सबको छाह बेठी मरमस्त बबानी की परिमछ जसी सुझी न केवल उनकी सौत्यरं-शीप्ति को नग्न रूप में उभाड़ती है, बरन् नीजबागो से लेकर प्रौत्रों एवं बूबो तक की भाँजों में काँच पैदा करती है। इसके बिपरीत अमिकांश पुरय पाव नी पाटियो बरुबों रेस्त्रावियों या शकक के बीरहों पर बुमनेबासे के 'बैप' हों जो बावजूब कासेत्र की दोस्ती और सोड़ी-सी हेममस बड़ बाने पर कृपयाप या रेशमी पर्वों से सबे ड्राइम कम में किसी ककी से मिस जाते हैं जो बाठी ही बाठों में इन कवर तन्मय और सुबबुध धोकर सफलक मीत एक दूसरे की एक दूसरे की मजदूरों में लौकते रहते हैं और जब वह नटकट भाँजों से कुहनी मेज पर टिकये बतमनी और अलसायी भ्रम कीतूहल घोली सरारत बिहू और आक्रोस के घघरते-बड़ते भाषों को लिए उसकी कभी न परम होने वाली बाठों की मुगती रहती है मुगती रहती है। ऐसे सौय न सिद्धं थाय और नास्ते की बपमप व कूह बहों के बीप हर भौतिक हलचस के प्रति हिलचस्पी रहते हैं बरन् नीति-नटनीति और प्रत्यस-परोस की छापेसता बाकि महन बिपया से लेकर फिकेट-फुटबास रेडियो धीलोत व सिनमा जगत् एटीकेट, कम्बर व मीतस पर कोई रिमाक' मयबा किती बुन रिम्बु एवं बिजापनों की कठरनों के साबार पर बाँद-भूरज और तितारों के बरुबाकार पिबों तक पहुँचने की हिमाकूठ रहते हैं। कोई फिलमी पीत या किती रोमांटिक कवि की कविता गुनगगाठे में जीवन के मुगहरे सपने बैराते हैं और 'जीतियस' बनन के नुसख इनके पाठ इतन सस्ते हैं जो परस्पर के संका-समाबाज वा बहस्य ब्यपबान को एक छटके में छोड़ते हैं और जिनका हर लहमा धीमें में बर्द जमाता व बिस को बर्बन बनाप रपता है। वे निहायत ही इकतच्छा ब्यक्तित्व किसे अत्रकालक मनोभृसियों और नुस्खाओं को समेट, हवाई और छिलने प्रतिक्रियावादी

और अंधीबोगरीब छय रखनबासे कितनी ही पसमन्गी-नापसन्धरी बि-कुर्बि पछ-बिपछ और कृत्रिम धाडीबधा व सम्भवा की सोल जाइ हुए जीवन से बेकरार भाव की कुंठाओं के घिकार है। सामक उठकर और युव के मतधारों पर कोई न कोई 'फार्मलैक्स' आरोपित कर इन्ह जिम्न से जिम्न स्तर पर उतरने का भयसर रहता है।

मौजूबा कथाकारों को तीन श्रेणियों में बिभक्त किया जा सकता है—पहले वो से जो प्राचीन परम्पराओं का निर्वाह करते हुए केवल सद् का ही स्वीकारते हैं अर्थात् जीवन का सम्भव स्वत्व और जीवन्त पछ ही बिन्ह पाछ है। दूसरे व जो जीवन के अच्छे-बुरे, स्वीस-अस्वीस सभी म सामन्तक ठा बीजते हैं पर अन्तत सद् को ही महत्व देते हैं। तीसरी श्रेणी में वे जाते हैं जिनकी दृष्टि कबल असद् पर ही टिकती है अर्थात् इस कोटि के कथाकार मानव की पाश्चिक वृत्तियों का भंग और सदाबह प्रदर्शन साम ही अर्थिक दुर्गनों बुबोत्पादक बर्तनाओं और ऐसे गदित ममाविज्ञान का बिस्लेषण प्रस्तुत करते हैं जो हर प्रकार से एकायी अतिवादी और गुमराह करने वाला होता है। उनमें आचार बिबियों का को^० मिमन्वम नहीं होता फलत भाव का अविबाध पाठक बम भी एसा तैमार हो रहा है जिन्हे अस्वीमता और कुत्साओं में ही महान् कला के बर्षन होते हैं।

प्रेम की मूल भावना वा प्रेम के सोल व उरस भी पहले स बहुत कुछ पिन्न है। स्त्री-युवक की एकात्म-स्वापना का जो सद्ब आनुपातिक सम्बन्ध है वह मौजूबा मतो-विज्ञान में सबियों की परिमाणानुसार उनके दरस्तर प्रथम के स्वरूप का निर्धारण सर्वथा नये ढंग से पेश करता है। अक्षन्माय्य कल्पना के आचार पर बहु एन एसी अनहोनी इकाई बन गया है, अक्षतन की अकल प्रक्रियाओं का एक ऐसा तनाव जपवा मानसिक इन्धों का एक ऐसा बिबटन जिसके जोर-जोर का कोई मापदण्ड नहीं और न ही जिसके सर्वांग का कोई बिब बीका जा सकता है। कारण—केवल के मन की अक्षय्य बहुता ही इस तरह के झिझके प्रेम को पवा करती है अतएव आमक बारणाओं और शीरी कल्पनाओं के सहारे बहु बहुभात दण की दृष्टि ही उनकी बिकासमान शिल्प-साधना को भस्म कर रही है। इनके विपरीत यथार्थवादियों में ईजन्जिन जीवन की निर्बिधय संभवयुक्तता से टकराकर इसी अह न बीत्कार उत्पन्न बिबा है। इस अरत युव में पैदाबिक नये भाव की को^० सीमा नहीं है, एरीब बहुत की अँते हर अर्मय बिठ रही है। हर अरमान साचारी बन कर बाप जपसती है और अविधों तृप्तानों और अलबलों का एसा समुन्दर सा उमड़ रहा है कि सक्ता है—मानव-श्रेतना का तो बिस्तार हुआ है। बरन्तु उसके अड़ टन्क अर्थात् धराणा अभी एधों की एधों बिद्यमान है। कहना न होगा कि नई औपम्यासिक भावभूमि पर अँत अक्षेपसत्यक के अर्थ में मनोबैज्ञानिक सत्य बहुत कुछ बड़ हा गया है। परम्परा बाधियों ने उधे बैसा एकात्मिक और आत्यन्तिक रूप में बिबा यथार्थवादियों की कनामी प्रतिबिधा की अकापेत उधसे भी अर्थिक एक ऐसे अनुदार निपत्रय की पदा-काम्य तक पहुँच गई कि अहाँ कुछ भी अचित या अक्षय्य नहीं। स्पष्ट है कि बम

विद्येय के जीवन की यह अवसादपूर्ण भाँति या भूटे समझौतों की अनुभूति एक अवास्तविक प्रत्याभास मात्र है। उसमें सार्वजनिक आसय स्वस्थ रोमांस और बुनीय वायित्व नहीं है बल्कि पेशीया या उत्तरी संवेदनाओं को उकसाने वाली ऐसी मत्तही मनाबुति है जो बेहूणत स्वभाव और सामाजिक व्यवस्थाओं में भारी विपत्तियों के आनाम पर टिकी लेपिक अपरिपक्वताओं में ही किसी क्रमिक प्रक्रिया द्वारा नहीं बल्कि अकस्मात्—क्यानी क्षण में—बुधित कामबन्ध उद्देश्यों का अनपेक्षित प्रवेश कराती है जिसकी झुमकी मुर्दा छायाओं में गहरे अर्थ को लोपे हुए समते हैं, पर अर्थहीन छिछके बेजान चित्र अधिकाधिक उभरते हैं।

तो क्या आज के साहित्य का 'व्यापक धरम' हमारे वै परिस्थितियाँ और निरुद्ध समस्याएँ नहीं बनती या रही हैं जिसन हमारे विचार और भावनाओं को अपन पाप में अकड़ किया है और जिसकी बखू से सुजन-कल्पना वासानी से उस अँधारे को नहीं पहुँच पाती वहाँ मच्छा के प्रतिमानों को कोई मेवाही कलाकार ही यदा-कदा छ पाता है ?

इधर कुछ आँचिक उपन्यास भी सिखन के प्रबल हुए हैं परन्तु वे भी एक संकुचित वातावरण की मध्याह्नता से आगे उभर कर नहीं आ पाए। पमीन कही की भी हो किसी भी प्रदेश में अँधले की उधकी मिट्टी भी चाहे किसी रंग की हो, मगर केवल में स्वानीय विपत्तियों को पहचानने और उन्हें ज्यों का त्यो वास्तविक बना देने की क्षमता तो होनी ही चाहिए। वहाँ की स्वभावगत चेट्टाएँ पारिभिक अन्विति कथ्य और समुची परिकल्पना के पूर्णतर सम्बन्धों को अँकन-उनके वाचरम परिस्थितिमत् इन्द्र कम-संयोजन और परिवेष को सुमियोजित करने उनमें रंग-रूप भरन उनकी विन्धगी के सही कोप सही पहलू सही नाक-नकस भावमुद्राएँ, व्यवहार चेट्टाएँ—यहाँ तक कि उनके पसीन की गन्ध पहचानने की भी बुद्धि होनी चाहिए लेकिन वाचरम स्वानीय रंगों पापों चटनाओं और विविध प्रसंगों के प्रभाव एवम की अमीष्ट सिद्धि के लिए उनकी विन्धगी का रूप उनका इतना अपना हो जिससे हर कही—हर मोड़ पर—सहज वादात्म्य स्थापित हो सके।

हरअसम आज की प्रायोगिक प्रकृति उपन्यास पर भी हावी होती जा रही है। नय प्रतीक नये साम्य और नई टेकनीक बरती गई है लेकिन फिर भी कोई खास विस्मय मीलितता और मनोबैज्ञानिक तिरुपम दृष्टिमत् नहीं होना। उरन्वाच के 'नय पैटर्न' के रूप में उरुस्यमय चमत्कारिक या जाहुई वातावरण का निर्माण किया जा सकता है पर मध्यवर्गीय अनुष्ठितों के महान 'संकेत' की भूल बचवा आत्म प्रतापता की छातक एक स्वजिन पस्ती और वैवाहिक विपर्यय या सर्वहारा भाति के बहाने छिने-छिप के से नये 'कलाइमक्य' विपय परिस्थितियाँ और सबने बड़कर ऐदिक बुमुदा के उत्तमक मस्तिष्क चित्र अर्थात् निचके वर्ग की अमिद्यन्त विन्धगी के विगर्दक वे ही विसे-विट विज्ञान पूर्व चारचाएँ या बोनी नई 'आईडोजोरी' ही

हमारी मुख्य समस्याओं का मूलाकार बनी हुई है।

कबो सोचती हूँ कि क्या हिन्दी के उपन्यासकार इस सब इसानी सड़ाप बर्बात रोमांचक खेकसी और प्रभावशालक दृष्टिकोनों से ऊपर उठकर सर्वथा विश्व स्तर की नई चीज नहीं दे सकते वहाँ गहरी अनुभूतिमयी बारीकियाँ सांगोपांग सोन्दर्य मर्यादा अनुपात के साथ मानवीय संवेदना का ऐसा अंतःप्रवाह जगा दें जो अपनी असीमता में आच्छादित कर देने वाला हो तब पर भी बहुभाष पक्षपात या पूर्वाग्रहों से मुक्त न हो सकने के कारण व अपन सापेक्ष ज्ञान और व्यक्तिगत धारणाओं को ही औपन्यासिक चित्रण का माध्यम बनाना चाहते हैं तो वे मात्र शक्य-निश्चयी परछाइयाँ न ही बरन् हमकी छिछोरे, बेहने वालीज धुंधिल से धुंधिल और अदम्य से अदम्य—जिस तरह की भी जैबि 'बूढ़' या टाइप के व्यक्ति हों—हाइ-मांठ के सन्धे सम्राज्य मान्य होने चाहिए। फिर कसाकारों में—हार्ड डिस्कन्स बँकरी, स्काट, बाल्बार्क पुदिफन हूँ पूर्ण इन्तुमा गोमोल तुर्मनक मोपासी केरुब टाकस्टाय पोकीं जादि किलने ही ऐसे हैं जिनकी कल्पना की निष्ठा इतनी प्रबल और सुदम है कि उनको सुजन-सृष्टि का मिथ्यात्व भी मर्याद बन कर खेतना पर छा जाता है। उनके पात्रों और कथा-चरित्रों की माननाएँ बाठनीठ कार्य कलाप सभी कुछ इतने मनोमोक से बँका गया है जो स्वयं पूर्ण है और जिनके व्यक्तिगत का सम्बोधन मर्याद के जापु से भी बड़कर है। कथा-साहित्य के सभी सम्भव उद्यमों को इन्होंने अपनी जादुई कलम से छुजा वा। तो क्या मला निरवधि काल की बीना इन महान् कलाकारों के प्रभाव को कम करेयी और क्या बनी भी—किसी भी परिस्थिति में—इनका देब अघाहूँ य होमा ?

जैम ईश्वर अपनी सृष्टि में ऐसे प्राणियों को विरजता है जिनकी अपरिमित रहस्यमयी शक्ति नियति की बोर के तहारे नाचती है उसी प्रकार उपन्यासकार हाग सृष्टि पात्रों के भी व्यावहारिक सीधे हे जिन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व की जबाबदेही बरतनी पड़ती है और जिनकी नियति एक बुरर से जुड़ी हुई महत्तर पुर्मत्व की चुनौती स्वीकार करती है। जिस प्रकार ईश्वर प्रत्यसत मानव के प्रति बिराट् अभियान-नाट्य में निजी सत्ता को एक मित्र-जरीन और बसीम आकार प्रदान करता है उसी प्रकार कल्पक का कथात्मक जयन्त् मी (जसै ही कुछ लोग उसे मिथ्या कहें) वास्तविक जयत् है जिसका निबामक या सृष्टिकर्ता यह स्वयं है जिसकी जादवा एवं बनास्था जयके चरित्रों के भाव्य से बँपी है और जो विभिन्न प्राणियों के मूल्यपत मेर को कथा चरित्रों के रहस्यमय आयामों में प्रतिबिम्ब कर देता है। बरन् किसके पास है यह निदिचन् कसीगी ? कौन है जिसकी सुजनशील कल्पना अन्दरकी शक्ति संभव कर समूह दृष्टिब बर ऊप्य परोदि बरकर छा जाती है और वहाँ समाधानहीन अनन्त आश्चर्य अयोग्यदसाकिनी जामुकता बाह्य गतियों पर नहीं बाठरिफ जतना की परतों और सुदम संवेदना पर बिरकती है। उपन्यास कार का उतक अरन सुजन को सार्थकता देने का एक समय जनाय मही प्रदीत होटा

है कि वह जिनकी भी बड़काव को महसूस करे, केवल अपने खातिर या अपने तरी ही न बिये बगिरे कर्तुर्विह्व कृत जीवन में या भी उसके सम्पर्क में जाने उसके अनुभवों को महत्तर चेतना से संक्षिप्त करके भेजे। वैसे कि हमने ऊपर कहा उपन्यासकार हर परिस्थिति और बुझवग्य की परिकल्पना करने बाधा शिल्पी भी है वतएव वैसे ही बुझवगत प्रभाव और वातावरण संगीकृत करके उसे अंतरंग और बहिरंग की बखाम्यता में पूर्ण सार्थक्य भोगना चाहिए, साथ ही उसे उन मूल दिक्कों का संरक्षण भी करना पड़ता है जो समूह सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की प्रकृतियों से एकत्र हो औपन्यासिक दृष्टि का बलुणा स्रोत है।

विभिन्न प्रयोगों की एक सम्बन्धी शृंखला के पश्चात् उपन्यास का पाठ आज बहुत चौड़ा हो गया है, किन्तु पानिक धर्मता की अतिबौद्धिकता के बावजूद न निष्ठापूर्वक आस्था की बिकासमान दृष्टियों को इसमें बिया है। उपन्यास के लिए जिस अतर्दृष्टि, सूक्ष्म कल्पनात्मकता सहजानुभूति और मूर्त चित्रात्मकता की अपेक्षा है—कीर्त है हिन्दी में जो तास ठोक कर बाह्य और आंतरिक पक्ष के विषये प्रोढ़तर कलात्मक संभव पर सर्वनात्मक समता में सबकी एक साथ समेटने का शवा कर सके। जिसकी संवेदनाओं की साम्रता और सचाई—सांयोगीय रूप में—जीवन के वैविध्य और उसके समस्त आयामों से एकता हो घटी है।

प्रभाव्य को जाने दीबिए। पुत्री वास्ता है। मकर जैनेन्द्र अक्षेय व इलाकत जोसी यक्षपाक कृष्णचन्द्र व अरक राहुल सांठरनाथन बुन्दावनलास बर्मा व अनुरसेन धारत्री मयबती वरथ बर्मा व भगवतीप्रसाद बाजपेयी डॉ बर्बवीर भारती व डॉ बेबराज मम्मयनाथ पुष्प व डॉ रागेय राजव अमृतछय व अमृत-साध नागर, फकीस्वरनाथ 'रेवु' व नामार्जुन साथ ही समय-समये प्रयोगों से जीकान की चट्टारत कितनी ही नबोचित प्रतिभाएँ अब अपने लक्ष्य अहं के वृत्त से उतर कर जाने जाने पाई। सेकक के टूटे बिबरे, विमूर्धक स्वप्नों की परिणति आज कुछ प्रतीकों अण्डधियों और छिन्न अनुपमों तक ही सिमन कर क्यों रह गई? कहां है समष्टि को उसका सहज रेय जो समय की बाधन चोट धाकर अरेय बन गया है और जिसकी अदित धरोंचें ही औपन्यासिक शोधपेथ या प्रायोगिक मध्यता की गई मौकिक उद्भावना की कसौटी माप है।

बस्तुतः आज के हिन्दी उपन्यासकार की दृष्टि समस्पष्टी नहीं आरमप्रबंधक है। उसके ध्यासासूत्रीय कोरे समाधान छू छे हे अचरी हे—जो समस्याओं की जड़ों का नहीं छू पाते।

किन्ती भी काव्यदृष्टि के सीप्टन को हम इस कसौटी पर नहीं पाखते कि उसने हमारी भावनाओं को कहीं तक अनुभूत किया है प्रत्युत् उसकी आत्मा में शक्ति कर जीवन के मूलमूत सिद्धान्त एवं धारणत सत्य को हृद्गत करके ही हम उसके महत्त्व को जाँच पाते ह। सत्काव्य का आदर्श सामान्य भावभूमि से सर्वत्र ऊँचा उठा रहना चाहिए। न केवल साहित्य एवं कला के उदात्त तत्त्व कवि की सूक्ष्म राम-भेदना से अनुभावित होकर उसके अनमूत यथार्थ को व्यक्त करते हैं वरन् जीवन और जगत् के सूक्ष्म प्रभाव—जिन्हें कि बहु आत्मसात् करके बाणी द्वारा दूसरों तक पहुँचाता है—मानवीय मनोबोगों को आशोक्षित करते हुए हमारी कल्पना को भी जमकृत और अनुरजित करते हैं।

कसा अमर है और मानवीय मनोबोगों को उरंगित करने वाली यह रहस्य मयी दक्षिण भी अमर है। मृष्टि के जिस दुरममान मूलों की ओर साधारण लोगों की दृष्टि जाकर छोट जाती है वही कवि के कल्पना-जगत् को आत्मप्रकाशोन्मत्त करती हुई अलक्ष्य विमय आत्मस्वानभूति से भर देती है। चूँकि कवि की भेदना चमत्कोशात्मक है उसकी अनुभूतियों की परिधि भी इतनी व्यापक हो जाती है कि वह बुद्ध्यजगत् की अर्धवर्ती छवियों में अपनी राम-विराग की शक्तियों को उद्भूत करके मर विह्वल-सा जीवनमय उन्मत्त राग में कूबता-उठपटा रहता है। अत्यरिध पम पर बिलारे अवगित तारे जो सामान्य दृष्टि को केवल विमगारियों से प्रणीत होते हैं राग बिरव पुन जो असमय में ही सड़कर मुरसा जाते हैं और कातायत पम से उठने बाधी हैं, कवि के अन्तर्द्वेष में न जाने कितनी मदमयी कोमलकान्त भावनाओं का जगाया करती हैं। कवि की यह उन्मादपूर्ण मानसिक स्थिति ही वास्तविक प्राप्यम् अकम्पा है क्योंकि इनी के द्वारा वह बलुमत्त सत्य तक पहुँच पाता है। बाह्य परिवेष्ट का अरने अनुभव का विषय बनाकर वह सीद्दयसिद्धि की विभूति करता है और आत्मा की मगन दक्षित द्वारा गुप्त संकुचित सम्बन्धों से ऊपर उठकर भय की प्रेरकपां दक्षिण को अनुभूत करता है। मनमयीपर से एक स्थल पर लिखा है

जिस प्रकार कवि की कल्पना अनाठ बग्गुओं का रूप निर्धारित करती है

उसी प्रकार उसकी कैसनी बायबी तुच्छ पदार्थों को मूर्त करती हुई उनको संस्कार और स्वाधिता प्रदान करती है।

(As imagination bodies forth,
The form of things unknown, the poets pen,
Turns them to shapes, and gives to airy nothings,
A local habitation and a name.)

कवि की दृष्टि इतनी संवेदनशील और व्यापक होती है कि जीवन के सूक्ष्म तम भावों से उद्बुद्ध होकर अतिमत्त आदर्शों की उपलब्धि करती है और पुनः अपने इन्हीं मूर्त आदर्शों को जो उसकी कल्पना से सजीव हो उठ हैं वह उन्हें अणु अणु में स्पन्दित होते देखा है। विश्व में जो कुछ अन्तर्हित सत्य है उसे वह अपने ज्ञान स्फुटिर्गमों से उद्भासित करता हुआ अपनी निस्सीम भाव-मूर्ति में प्रतिच्छिन्न देखा पाहता है। विच्छिन्न वस्तुओं का निरीक्षण करते हुए जो स्मृतियाँ उसके अन्तर में संचित हो जाती हैं, वे ही रससिन्धु होकर उसकी कैसनी की गोंफ पर बिरकने लवती हैं और एक आत्म विस्मृति के क्षणों में उसे यह समझ नहीं पड़ता कि वह सब कैसे हो जाता है। टैपोर न लिखा है

‘क्या कोई मनुष्य किसी बात को समझान के लिये कविता लिखा करता है? बात यह है कि मनुष्य के हृदय को जो अनुभव होता है वही काव्य-रूप में बाहर ज्ञान का प्रयत्न करता है। यदि किसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता तो उस समय मेरी मति कुण्ठित हो जाती है। पुनः जो सूँघकर यदि कोई कहने लग कि मेरी कुछ समझ में नहीं आता तो उसका मही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझन क्या है नी क्या? यह तो केवल प्रतीति या आभास मात्र है।’

कवि के लिए सौंदर्य विश्व का अन्तरतम संज्ञित है। उसमें उसकी सुरम्य चेतना अन्तर्निहित होती है। विश्व की विचित्र रंजस्वली में जब पारिब वस्तुएँ मिल्य पगती और विपद्यती हैं तो कवि को पारबत सौंदर्य और सत्यता की प्रकृष्टप्राय विगृह्यवत् में लहलहाती दीख पड़ती है। उसकी सौंदर्य की बोध-चेतना इतनी सूक्ष्म है कि वह अपने अभीष्टित को तीव्रता से स्पर्श करती हुई सत्य की समग्रता में जो जाना चाहती है। एक ओर उसकी महती आकांक्षा अन्तर्निष्ठ सौंदर्य की प्रेरणा का उदय है तो दूसरी ओर विद्वान्ता की असीम व्याप्ति उसकी आँसों में आसोक के स्निग्ध कण बन कर बुरकती पड़ती है।

यह सौंदर्य ही काव्य की वह साक्षरत शक्ति है जो ‘सत्यं शिवं’ की चरम परिपति है। कवि की सौंदर्य-भावना सत्य की जिज्ञासा बनकर जब भीतर के अरुण सौंदर्य को यत्र-तत्र छलकाती है तो काव्य की जारा फूट पड़ती है और काव्य का यह निवर्तक ही ‘सत्यं’ और ‘शुद्धं’ बन जाता है। बादशाह विद्वानों के अनुसार यह सौंदर्य का प्रकार

का होता है। (१) भाव सौंदर्य (२) अभिव्यक्ति सौंदर्य। इन्हें ही अपन यहाँ अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष बखबा भाव पक्ष और कला पक्ष कहा गया है। प्रमुख रूप से कविता में कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति रहती है। वह जो कुछ देखता या गुनता है उसे ही आत्मसात् करके कविता द्वारा व्यक्त करता है। किन्तु जैसे घटीर के बिना आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं है उसी प्रकार अभिव्यक्ति के सौंदर्य के बिना केवल भाव का प्रकाशन ही कविता नहीं है। जब तक कवि अपने मनोभावों को व्यक्त करने वाली विधिबद्ध कलाओं से अवगत नहीं होता तब तक कविता की परिपूर्ण और परिपक्व सत्ता सम्भव हुई दुष्टिगत नहीं होती। भारतीय भाषाओं ने भावों के स्वरूप-निरूपण और उनकी अनेक विधाओं की मानिक विवेचना की है किन्तु भावों के अंतस् में प्रवाहित होने वाले रस की निष्पत्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उन्हें अनूठ ढंग से व्यक्त न किया जाय।

पात्रवाच्य रीति से प्रतिपादित काव्य के चार तत्व (१) भावतत्व (रामारमक तत्व) (२) कल्पनातत्व (३) बुद्धितत्व और (४) शैलीतत्व—अनुभूति और अभिव्यक्ति—इन दोनों पक्षों के अन्तर्गत आ जाते हैं। काव्य का प्रमुख गुण रागात्मक तत्व भावनाओं को स्फुरित करता है। कल्पनातत्व सजीव तूलिका से अमूर्त को मूर्त करता हुआ गानाविद्य विद्य हमारे नेत्रों के सम्मुख आकर सड़ा कर देता है। बुद्धितत्व हमारे तरंगित मनोवेगों कल्पना-प्राचुर्य और विषय-प्रतिपादन पद्धति में धामंजस्य स्थापित करता है अर्थात् भावपक्ष और कलापक्ष दोनों को औचित्य की सीमा से आगे बढ़ाने नहीं देता। शैली तत्व हमारे आत्म प्रकाशन का साधन है। वह हमारे आत्मभूत तत्व को बहिर्मुख करता हुआ उसे सुन्दर और सुचारु बना देता है। कुछ कवि अपनी अन्तर्भूत सूक्ष्म भावनाओं को सुन्दर भाषा में प्रस्तुत करता है। वह इस कला में बितना ही पारंगत होता है उतना ही सफ़ल समझा जाता है।

प्रायः प्रत्येक काव्यकृति में दो तत्व शीघ्र पकते हैं—एक 'अर्थ' और दूसरा 'शब्द'। अर्थ और अर्थ काव्य का घटीर है और रस उसकी आत्मा। हमारे भाषायों में अल्प-अल्प पद्धति से शब्द अर्थ और रस की व्याख्या की है। उत्कृष्ट काव्य में सभी तत्वों का समावेश अनिवार्य है। जिस प्रकार जलत काष्ठ से जलप्य में अपने विचारों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति आती है उसी प्रकार उसमें सौंदर्य-भावना मिश्रित होने के कारण अभिव्यक्ति का साधन अपनी भाषा को सजाने-सँभारने की सृज्य शक्ति भी होती है। अलंकार (सम्बलंकार अलंकार उभयालंकार) शब्दों के चुन (मात्र्य अत्र प्रधात) ध्वनि (अभिधा सधना ध्वनता) नाद और स्वर आदि माया-साधनों ने अनेक प्रकार से माया के गुण-दोषों का वर्णन किया है। आत्मा की केन्द्रागामिनी ध्वनि-सजल की भावना से अनुप्राणित होकर—जब सुन्दर और सुचारु रूप में भाषा हाथ प्रस्तुति होती है तो उत्कृष्ट काव्यकृति बन जाती है। काव्य के भेद

प्रमत्त रूप से काव्य के दो भेद किये गये हैं (१) भाव प्रधान और (२) विषय

उसी प्रकार उसकी सेवानी बायबी मुग्ध पदावली का मूर्त करती हुई उनको संस्कार और स्वायिता प्रदान करती है।

(As imagination bodies forth,
The form of things unknown, the poets pen,
Turns them to shapes, and gives to airy nothing,
A local habitation and a name.)

कवि की दृष्टि इतनी संवेदनशील और व्यापक होती है कि जीवन के सूक्ष्म तम भावों से उबुबुझ होकर अभिमत आदर्यों को उपलब्धि करती है और पुनः अपने इन्हीं मूर्त आदर्यों को जो उसकी कल्पना से सजीव हो उठे हैं वह उन्हें अनू बन्धु में स्थानित होते देखता है। विश्व में जो कुछ अस्तित्व मत्त्व है उसे वह अपने ज्ञान स्फुटिगों से उद्भासित करता हुआ अपनी निस्सीम भाव-परिधि में प्रतिष्ठित देखता पाहता है। विधिष्ठ वस्तुओं का निरीक्षण करते हुए जो स्वतियाँ उसके अन्तर में संवित हो जाती हैं, वे ही स्वतियद् होकर उसकी सेवनी की लोक पर विरकने लगी हैं और वह आत्म-विस्मृति के क्षणों में उसे यह समझ नहीं पड़ता कि यह सब कैसे हो जाता है। टैगोर ने लिखा है

जवा कोई मनुष्य किसी बात को समझान के लिये कविता लिखा करता है ? बात यह है कि मनुष्य के हृदय को जो अनमय होता है वही काव्य-रूप में बाहर जात का प्रयत्न करता है। यदि किसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मे तो इसमें कुछ नहीं समझता तो उस समय मेरी मति कुंठित हो जाती है। पुष्प को सूँघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी कुछ समझ में नहीं जाता तो उसका वही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझान बैसा है भी क्या ? यह तो केवल प्रतीति का आभास मात्र है।

कवि के लिए सौंदर्य विश्व का अन्तरतम संगीत है। उसमें उसकी सूक्ष्म चेतना अन्तर्निहित होती है। विश्व की विराट् रसमन्त्री में जब पानिज वस्तुएँ नित्य बमती और विपक्षी हैं तो कवि को आनन्द सौंदर्य और सत्यता की प्रकाशवारा दिग्दिवन्त में लल्लहाती धीक पड़ती है। उसकी सौंदर्य की बोध चेतना छत्री सुदम है कि वह अपने कभीस्थित को तीव्रता से स्पष्ट करती हुई मत्त्व की समझता में जो जाना पाहती है। एक बार उसकी मूठी आकांक्षा अस्तित्व सौंदर्य की प्रेरणा का उत्थ है तो दूसरी बार विश्वारमा की असीम स्वाप्ति उसकी माँसों में आसोक के स्निग्ध रूप बन कर झुकती रहती है।

यह सौंदर्य ही काव्य की वह पारबत शक्ति है जो 'सत्त्वं निबं' की चरम परिधि है। कवि की सौंदर्य भावना सत्य की जिज्ञासा बनकर जब भीतर के अरूप सौंदर्य को यत्न-तत्र छलकाती है तो काव्य की धारा पृष्ठ पड़ती है और काव्य का वह चिन्तन ही 'धर्य' और 'मुन्दर' बन जाता है। पारबत विश्वाओं के अनुसार यह सौंदर्य को प्रकार

का होता है। (१) भाव सौंदर्य (२) अभिव्यक्ति सौंदर्य। इन्हें ही अपन यहाँ अनुमति पत्र और अभिव्यक्ति पत्र जबका भाव पत्र और कला पत्र कहा गया है। प्रमुख रूप से कविता में कवि की अनुमति की अभिव्यक्ति रहती है। वह जो कुछ देखता या गुनता है उसे ही आत्मसात् करके कविता द्वारा व्यक्त करता है। किन्तु जैसे शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं है उसी प्रकार अभिव्यक्ति के सौंदर्य के बिना केवल भाव का प्रकाशन ही कविता नहीं है। जब तक कवि अपने मनोभावों को व्यक्त करने वाली विविध कलाओं से अवगत नहीं होता तब तक कविता की परिपूर्ण और परिपक्व सत्ता सम्पन्न हुई बुद्धिपत्र नहीं होती। भारतीय भाषाओं ने भावों के स्वरूप-निरूपण और उनकी बनक विधाओं की मानिक विवेचना की है किन्तु भावों के अंतर्ग में प्रवाहित होने वाले रस की निष्पत्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उन्हें अनूठे ढंग से व्यक्त न किया जाय।

पाश्चात्य रीति से प्रतिपादित काव्य के चार तत्व (१) भावतत्व (सागात्मक तत्व) (२) कल्पनातत्व (३) बुद्धितत्व और (४) शब्दीतत्व—अनुमति और अभिव्यक्ति—इन दोनों पक्षों के अन्तर्गत जा जाय हैं। काव्य का प्रमुख गुण सागरमक तत्व मानवियों को स्फुरित करता है, कल्पनातत्व सजीव मूर्धिका से व्युत्पन्न को मत्त करता हुआ मानविय चित्त हमारे नेत्रों के सम्मुख लाकर खड़ा कर देता है बुद्धितत्व हमारे उपरिष्ठ मनोवर्गों कल्पना-आशुर्प और विषय-प्रतिपादन पद्धति में धातुबन्ध स्थापित करता है अर्थात् भावपत्र और कलापत्र दोनों को औचित्य की सीमा से बाधे बहन नहीं देता। शैली तत्व हमारे आत्म-प्रकाशन का साधन है। वह हमारे आत्मभूत तत्व को बहिर्मुख करता हुआ उसे सुन्दर और सुचारु बना देता है। कुशल कवि अपनी अन्तर्भूत सूक्ष्म भावनाओं को सुन्दर भाषा में प्रस्तुत करता है। वह रस कला में वितना ही पारंगत होता है उतना ही सकल समझा बाठा है।

प्रायः प्रत्येक काव्यरूपा में दो तत्व दीख पड़ते हैं—एक 'अर्थ' और दूसरा 'शब्द'। शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है और रस उसकी आत्मा। हमारे भाषाओं में निम्न-निम्न पद्धति से शब्द अर्थ और रस की व्याख्या की है। उत्कृष्ट काव्य में सभी तत्वों का समावेश अभिभाव्य है। जिस प्रकार अनन्त काल से मनुष्य में अपने विचारों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति आती है उसी प्रकार उसमें सौंदर्य याचना निहित होने के कारण अभिव्यक्ति का साधन अपनी भाषा का सजाने-सँवारने की सहज वृत्ति भी होती है। अलंकार (अध्यात्मिक, अर्थालंकार उभयात्मिक) शब्दों के गुण (माशुर्प जोर प्रसाह) ध्वनि (जमिया बरतना ध्वजना) माद और स्वर आदि भाषा-शास्त्रियों ने अनेक प्रकार से भाषा के गुण-बोधों का वर्णिकरण किया है। आत्मा की केन्द्रात्मिकी शक्ति-मजब की भावना से अनुप्राणित होकर—जब सुन्दर और सुचारु रूप में शब्दों द्वारा प्रस्तुतित होती है तो उत्कृष्ट काव्यरूप बन जाती है। काव्य के भेद

प्रथम रूप से काव्य के दो भेद किये गये हैं (१) भाव प्रधान और (२) विषय

प्रधान । भाव प्रधान कविता में कवि का आत्मनिर्देशक रूप अर्थात् उठकी अपनी बात की प्रधानता होती है । इसके अन्तर्गत गीतिकाव्य और स्फुट कविताएँ आदि आती हैं । विषय प्रधान कविता में अपने से परे देश और समाज की बातें विरह भर के अल्प मात्राओं के हृदयावेगों का निरंतरतम रूप तथा जीवन की व्यापक संभावक घटितियों एवं आशा-आकांक्षाओं को सफल व्यक्ति होती है । "उसकी रचना उस बड़े मूल की माँति होती है जो देश के भूतल इपी जठर से उत्पन्न होकर उस देश को आत्मरूपी आया देता हुआ खड़ा रहता है । विषय प्रधान काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य बंधकाव्य जीवन-मूल पीछाछिक नामा और ऐतिहासिक आख्यानादि आते हैं । इसमें कवि केवल अपने तक ही सीमित न रहकर दूर तक अपनी दृष्टि फैलाता है । वह किसी समय-विषय या देश-विषय की भावनाओं में न बँध कर विपुल मानव-जीवन को अतीत वर्तमान और भविष्यत् के सम्पर्क में अपने भीतर समेटे रहता है । अतः ही विरह के बड़े-बड़े महाकाव्य अब तक लिखे गये हैं जिनमें कवि का व्यक्तिगत तिरोहित होकर समाज मानवता का रूप मुखर हो उठा है ।

महाकाव्य की व्याख्या

यह दो निम्नलिखित हैं कि महाकाव्य की परिधि अत्यन्त विस्तृत है । उसकी कथा किसी व्यक्ति विषय की नहीं बरन् मानवता का इतिहास मानव जीवन की व्याख्या और मानवीय मनोवैशेषों का स्वच्छन्द प्रवाह उसमें मिलता है । वह अपने रचयिता की कोकोत्तर घटितियों कल्पना-शक्ति का विस्फूर्तन करता विरह भावनाओं को तरंगित करता और उसे विस्मय रस के प्रवाह में प्रवाहित करता है । महाकाव्य का लक्ष्य है—जीवन की अनौमत्त विस्तरतम निगूढ़ अनुभूतियों को अपने महा कथेवर में समेटे रहना और मानवीय सम्भावकों को उद्भाषित करना ।

साहित्यसर्वनकार आचार्य विस्मय के अनुसार जो सगो में बोधा हुआ हो वह महाकाव्य है । उसमें एक नायक होता है, जो देवता या उत्तम मूल का धीरोदात्त गुणों से युक्त व्यक्ति होता है । एक मध के कई राजा भी नायक ही सकते हैं । शृंगार, वीर और घात रस में कोई एक रस बँधी होता है अन्य रस पीन होते हैं । नाटक की सभी संघियाँ रहती हैं । उसकी कथा ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध महापुरुष की होती है । बर्न बर्न काम मोस इस कर्तुर्वर्ग में से उसका एक पक्ष दिखाया जाता है । आरम्भ में संयत्ताकरण वा धम्म विषय का होता है । कहीं-कहीं ज्ञानों की निम्ना और लक्ष्मणों की प्रपञ्चा होती है न से कम आठ सर्ग रखने आवश्यक हैं । प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द हो नमें अन्तिम पद्य मित्त छन्द का होता है यद्यपि कहीं-कहीं अपवाद ता है सर्व के अन्त में अधिम कथा की सूचना भी होनी चाहिए । रात्रि प्रदीप अन्धकार, विरह प्राणकार मध्याह्न मृगया संयोग विषोय स्वयं नक माया संघाम अम्मुदय पठन आदि साधोपाय बर्नद होना चाहिए । उसका नायकरण कवि न क

आधार पर होता चाहिए। प्रायः स्वतन्त्र नाम भी देखे जाते हैं।

पश्चिमी काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य में कोई सखी ऐतिहासिक कथा लोकप्रसिद्ध बृहद् कथा संगीत होती चाहिए। वह कवि की कोठी मनगढ़ंत कल्पना न हो—बसमें विचारों और आदर्शों के अनुसार वह उसे कुछ परिवर्तित बनस्य कर सकता है। महाकाव्य का विषय महुरबन्धक उसके पात्र असाधारण और शौर्यगुण-सम्पन्न तथा नायक कोई महापुरुष होना चाहिए। कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह कथा के मर्म में पैठ कर उसकी इस प्रकार ककारत्मक अभिव्यंजना करे कि उसमें एकसूत्रता और सहता गरिमा हो। बर्चन-सौंदर्य और भाषागत सौंदर्य भी अपूर्व होना चाहिए। उसमें एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए। कथाओं उपकथाओं और रोचक प्रसंगों के अतिरिक्त उसमें देवी-देवताओं और निमित्त की भी प्रमुखता होती है। महाकाव्य की कथा किसी व्यक्ति विशेष की न होकर राष्ट्रीय भावना को प्रतिबिम्बित करने वाली होनी चाहिए।

पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों के कथाओं में—जहाँ तक महाकाव्य की उदात्तता और गरिमा का प्रश्न है—कोई विमेष अन्तर नहीं है। दोनों में ही आधारभूत समागता यह मिलती है कि महाकाव्य में कथित विषय का कथित परिपाक व्यंजना की प्रगल्भता और छम्भता रसप्रवाह होना चाहिए। जिसमें उत्कृष्ट व्यंजना वैल्ल-धम्य और महाकवित्व नहीं—वह आकार में बड़ा होने पर भी महाकाव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। महाकाव्य में जीवन-समष्टि की अभूतपूर्व सौकी पाश्चि कर्तव्यों एवं विष्टाओं का बचसाग सत्य सौंदर्य तथा उदात्त एवं मौलिक कल्पना-स्वात्मन्य का अनुठा सम्मिश्रण और बाह्य एवं अन्तर्भंगत् को परिष्कारित करने वाली संगल-यमी निर्मल मन्दाकिनी निर्गलित होती है, जिसमें अद्भूत सौंदर्य-श्री के चरम अस्तित्व की विभक्त्यताएँ और जीवन की सम्पूर्ण समग्रता व्याप्त रहती है।

महाकाव्य तत्त्वतः सार्वदेशिक है। उसे ही बाह्याधारों से उसकी सृष्टि हुई है। यमका अन्तर्बुलियों से उसकी एक विधिष्ट संस्कृति का विकास हुआ हो फिर भी इस सृष्ट संस्कृति के मूलबन्ध में जो लोक जीवन के ब्यभिच तन्तु छिपते हैं वे ही वस्तुतः उसके प्राणपोषक तत्व हैं। न केवल परिस्थितियों बटगारें, दुस्साकन जीवन के अनविग बिन्न मुख-दुःख हास्य-रदन राग-श्रेय प्रेम-शुभा ईर्ष्या क्रोध तृप्ति प्रतृप्ति अमाद-ईमद हठ-अविचक अज्ञान-ध्यामोह बबसी अतमर्पता बरन् पशानी के जोष का बलबला और प्यार-मुहम्मत की रंगीन घोष मस्ती के भी कितने ही रोचक कथानक जुड़े होते हैं। पात्र कपोपकवन बाद्-मदुता स्वरमेव और वैविध्य साथ ही पात्रानकूक चरित्र-विचय मन्-स्वितिया आधार-विचार, तथ्यान्वेषण और उसके अंतरंग भेद प्रभेद—यों जतका विराट् रूप और व्यापकता उस कथाहू अनुग्र की मात्र है जो अपन अतक में न जाने कितना कुछ समेटे रहता है। व्यक्ति से बुद्धत्व बुद्धत्व से समाज और समाज से राष्ट्र तक की रागात्मक अनुभूतियों को

संशोए महाकाव्य की विशेषता है कि वह अपने पात्रों और चरित्रों की एक नई दुनिया बसाता है। उन्हें बमर कर देता है, एक दुर्कार के रूप में—समय और मुक्त—मानव भाव की सामूहिक एकता का बाह्य और मूल-मुपाय तक उसके महान् अस्तित्व का गवाह है। यही कारण है कि काव्य कविओं कथानक कविओं एवं उपलब्धियों की दृष्टि से पारजात्य-निरस्तय का येद कृत्रिम माना गया है।

महाकाव्य के मूल तत्त्व

महाकाव्य के प्रमुख पात्र तत्त्व हैं—(१) सामुदायिकता (२) वस्तु-बन्धन (३) भाव-व्यंजना (४) देशकाल और (५) संज्ञा। महाकाव्य में कथा प्रवाह पर विशेष ध्यान दिया जाता है। महाकाव्यकार किसी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक गाथा को लेकर अपनी सञ्चित सामूहिक शक्ति द्वारा मानव-बाह्य और विशिष्ट विषयवस्तु की स्थापना करता है। उसकी काव्य-सृष्टि के साधन किसी देश-विशेष अपना काल विशेष से सीमित हो सकते हैं किन्तु उसके साधनों के भीतर वह प्रकाश छिपा रहता है जिससे प्रेरित होकर वह अपने अन्तर्बाह्य को उदात्त भावनाओं से रचित करता हुआ विशद चिन्तन और विचार-बहुमत्ता अपनाता है। वह प्रमुख इतिवृत्त के साथ गौण कथानकों सञ्चया मधीन कास्मिक घटनाओं रसात्मक प्रसंगों और महत्त्वपूर्ण जीवन दशाओं को भी समाविष्ट कर सकता है।

महाकाव्य में मनोमत्त वर्णनों पर भी कवि का ध्यान केन्द्रित होना चाहिए, किन्तु कहीं-कहीं वर्णन-व्यंजना पर उसकी दृष्टि इतनी सुस्त हो जाती है कि वह समुचित प्रतिपादन पद्धति की पर्याप्त न करके विस्मयोद्दीर्घक एवं अमलकारपूर्व प्रसंगों के वर्णन में ही अपनी सारी शक्ति व्यय कर देता है। विद्व-जीवन इतना जटिल और विविधता से पूर्ण है कि काव्यकार को उसके विराट् स्वरूप को हृद्यगम करने के लिये चारों ओर अपनी दृष्टि फैलानी पड़ती है। भाव-व्यंजना के अन्तर्गत समूचे कार्य-व्यापार, कथोपकथन और चरित्र-चित्रण आदि बातें आ जाती हैं। उसके चरित्र का अन्वयन चिन्तना ही मूल्य चिन्तना ही परिस्मितिजम्ब और वैविध्य को स्पष्ट करने वाला होना उतना ही संप्रकृता से वह चरित्र-चित्रण कर सकेगा।

जीवन के चित्रण के रूप में महाकाव्य का महत्त्व मनुष्य की मूल प्रकृतियों के संघर्ष में है। महाकाव्य के पात्र किसी देश-विशेष और समय विशेष के होते हैं, किन्तु उनमें इस प्रकार जीवन-तरणों का संघटन होना चाहिए कि वे किसी एक युग एक समाज और एक देश के न होकर सार्वदेशिक और मनुष्य की समापन एवं बहुविध प्रेरणाओं के प्रतीक बन जायें। युद्धों के संघर्षों के बीच टकराती अविच्छिन्न जीवन-धारा अनुभूत उपकरणों समात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया और अमूल्य सिद्धांतों के अक्षेप पटक सामने कोलकर रख दे तथा जीवन की निर्बन्धितक विपद् व्याख्या के अन्तर्गत तद्द्विषयक तथ्यों के रहस्य का हल भी सरलता से खोजा जा सके। मोट रूप में उसके द्वारा जो भी प्रतिपादित किया जाय वह कोकोतर आत्म की उद्भाषना

और सुमानुरूप रायबीय और मिथ्यागम विस्वास्तों की खोजना करने वाला होना चाहिए ।

महाकाव्य में ज्ञानसं और उत्कृष्ट चरित्रों का चित्रण किया जाना ही अनिवार्य नहीं है । महान् स महान् व्यक्तियों में भी कुछ न कुछ गूढियाँ लक्ष्य होती हैं । चरित्र को सजीव और सद्गुण सुधों से विभूषित करने के लिए उनमें अन्वेषणों द्वारा इनों और जीवन के उन अर्थों पर प्रकाश डालना चाहिए जिससे कि स्वामी रूप से वे हमारी भावना का विषय बन जायें । कथापद्धत पात्रों के अनुरूप और काव्य की उन्वेषणता को प्रकट करने वाला होना चाहिए ।

महाकवि अपने महाकाव्य में जिस कथा-अंश और जीवन के उदात्त अंश को चित्रण करता है उसे उन्वेषण सांसात्मिक राजनीतिक धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण की सापेक्षता में रख कर ही देखता-जाँचता और अपने विषय का प्रतिपादन करता है ; सामाजिककालीन अवस्था किसी भी युग विषय की कथाओं उप-कथाओं को चित्रित करते हुए लेखक को उस समय की परिस्थितियों और वातावरण का ठीक ठीक परिमाण अपेक्षित है । यदि वह इसका ध्यान नहीं रखता तो अपने ध्येय की पूर्ति न कर सकेगा । महाकाव्य को लिखने की यैसी प्रवृत्ति और उदात्त होनी चाहिए ताकि स्वानुभूति और लोकानुभूति के सर्वसामान्य तथ्यों को समन्वित किया जा सके । काव्यकार की महती कृति आत्मकवि की भावना से अनुप्राणित होकर ही संवत्सरी संभवसम्पन्न और चिरपोष्य बन सकती है ।

महाकाव्यों की परम्परा

हमारे देश में वर्तमान काल में ही नहीं परन्तु वैदिक और पौराणिक युग के मध्यवर्ती समय अर्थात् ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व से यौगन्धारीय 'रामायण' और श्री महाभारत द्वारा रचित 'महाभारत' इन दो बृहद् महाकाव्यों का प्रचार है । ये महाकाव्य जितने प्राचीन हैं उतने ही समृद्ध भी हैं । साथ ही इनमें महाकाव्यों के छे विरूपण और ईश्वरपूजा उपकरणों का समतकार भी वीज पड़ता है ।

धीमाशुकीकृत इस रामायण में मयौदा पुरुषोत्तम श्रीराम की कथा विशद रूप से बखिर्ता है । इसमें इतिहास और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण है । क्या सोचें क्या क्या आश्चर्यजनक—दानों और इनकी श्रुता मन्वीरता और सरमता महान् हैं । राम की शास्त्राय जीवक-व्याधियों को सामन्य रखकर जहाँत अपनी कल्पना के उत्कर्ष द्वारा वातावरण बनना के हृदय में उनका आर्य मानव-रूप इतिष्ठित किया । काव्य की उदात्त मन्वीरता एवं वागमिक पुष्टता मोक्षोत्तर और मनस्य की कल्पना से परे है । कथाओं, उपकथाओं और जीवन-श्रुतों द्वारा मानव की विराट् चरित्र का दिग्दर्शन करना गया है ।

महाभारत में श्रीवेदव्यास न कीरतों, पांडवों के महामय की बृहद् कथा बड़ी

बलाघा और दृढ़ता से जुस बिठाकर एक महागाथा के रूप में प्रस्तुत की। आरम्भ की कितनी ही घटनाओं का अन्त में जाकर समाहार होता है और स्फुट कथाओं के अत्यन्त विस्तृत और बनुठ बर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। महाभारत में पाणिब शक्ति की पराकाष्ठा के साथ-साथ असीम तत्वों का समावेश भी है। क्रमा-सृष्टि अटिल परम्परा प्राप्त और मंथर गति से जाग बढ़ती है। इसमें अत्यन्त-कृतव्य और बर्माबर्न का बहुत ही सुष्ठम विवचन है और ईश्वर, जीव सृष्टि ईश्वर प्रम अदत् की निस्तारणा आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

इन दोनों महाकाव्यों में छवियों का इतिहास समाया हुआ है। न केवल इनका प्रभाव अपने देश तक ही सीमित है बल्कि इतर देशों जातियों एवं संस्कृतियों पर भी इनका प्रच्छन्न प्रभाव इष्टव्य है। आधुनिक गृहता व्यापक अनुभूति और सूजन-सामर्थ्य में तो ये महाकाव्य ग्रीस के सुप्रसिद्ध होमर हुए 'इलियड' (Iliad) और 'ओडिसी' (Odyssey) इटली के महाकवि बर्जिस और रोटे के महाकाव्य 'इजियड' (Aeneid) और 'दि डिवाइन कॉमेडी' (The Divine Comedy) और मिस्टन का अंग्रेजी महाकाव्य 'पैराडाइज लॉस्ट' (Paradise Lost) आदि से भी बारी मार के जाते हैं। इनमें हमारे महापियों की साधना और संकल्प साकार हो उठे हैं जो मानव जीवन के विभिन्न आदसों भावनाओं अभाओं पूर्तियों एवं संख्यातीत विविधताओं का विधाकन प्रस्तुत करते हैं। इन महाकाव्यों का विषय है मानव-जीवन सम्बन्धी घासबत एवं शिरस्तन मताभाव किन्तु ज्यों-ज्यों सोचों ने गरीब विचारबारा को प्रभाव दिया और साहित्य आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर मुका त्यों-ज्यों मानव परिबन्ध के व्यापक तरह घटे गये। प्राचीन आदर्श पिछले यों की विरासत के रूप में लपटे रहे किन्तु उनमें अत्युररुष्ट कला का संकल धिबिस और जीवन की समग्रता के पक्ष इनगिन रह गये। संस्कृत में कुछ काळ तक व्यक्तित प्रधान यथा— 'किराता-अनीब' 'विद्युपासम्ब' 'कुमारसंन' आदि महाकाव्यों की परिपाटी लकरी रही लेकिन इनमें 'रामायण' 'महाभारत' की भाँति विरल चैतना का विराट् मर्मस्पर्शी स्पन्दन न मुन पड़ा।

किसी भी राष्ट्र अथवा जाति के इतिहास में महाकाव्यों का उत्कृष्ट एक विस्तृत युग में ही हुआ करता है। अपनी आदिम अवस्था में कवि जीवन को समष्टि रूप में अपनाकर उसमें अपनी भावनाओं का उन्मेष करता है। ऐसे युग में कोकोत्तर सक्ति में विश्वास देवी-देवताओं में आम्था और नियति से बँधे रहने में ही उठे अपना कन्याग सीख पड़ता है। रामायण महाभारत आदि महाकाव्यों में माहृष्टिक कृत्य संश्राम और देवी कुर्बतनाओं का बाहुस्य है। मनुष्य देवताओं और नियति के हाथ का प्रिलीना है सनकी कुर्बस्य शक्ति उससे निम्नवाद करती है। जिसकी तह में वह नहीं घुस पाता उसे ही आरम्भ मानकर जीवन की विवश परिस्थितियों को बह सिर मुकाकर स्वीकार करता है किन्तु ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान विवचित होता जाता है और समाज एवं राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमों में उसकी बद्ध बँधती है, त्यों-त्यों अन्त समस्यार्

उमरकर उसकी संघटित समूह शक्ति और आदिम भावना को मजबूत कर देती है।

हमारे प्राचीन महाकाव्यों में बहुतर भारतीय संस्कृति एक नई विराट शक्ति के रूप में सदा सामने आई। पूर्णत्व की लोभ और आध्यात्मिक आभार पर मानवीय सम्बन्धों के आचारभूत तत्त्व भारतीय जीवन में जो कुछ भी दर्शन मयया कम के रूप में विधिपिष्टा है उनके जीवनत समग्र्य की भावना अर्थात् मित्र और अमम्बद्ध बर्गों को मित्राकर एक करन की चरम अममूर्ति ज्ञान शक्ति और योग की अदृष्ट शक्ति का अन्तरासम्बन्धन मोट रूप म मन्त्र व्याप्त तर्कों को समस्त-बुद्धन की बहुल्य भावना क साथ-साथ सास्त्रीय एवं व्यावहारिक पदों की सापेक्षता में पठन के प्रयास करते रहे। महाकाव्य युग और जीवन के अंतर्बाह्य की शक्ति प्रस्तुत करता हुआ अत्युन्नत चरतर की उन्मुख श्रेणियों का प्रकाश बना रहा। बुनियादी सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात करते हुए भौतिक और बौद्धिक रूप से जो उत्पन्न दिया उसके मूल तत्त्व इस प्रकार है

१ समग्र जीवन की एकताता त्रिसत बहिष्प म समग्र्य और प्रसन्न जीवन सत्य को उद्घोषित किया।

२ जीवन अपने अर्थ को उसकी हर परिस्थिति को निर-नई समस्याओं और गुरिमयों को काव्य के सम्बन्धों में उभागर करता रहा।

३ फिर श्रमता भी उन्नत कितनी उच्चत होती थी। न केवल भाव-समृद्धि सम्पत्ता और मनोयोग बरन् सरसता ओजस्विता और भाव प्रबलता के भी मन्त्र समन होते थे। कल्पना की शक्ति न अतीत वर्तमान और भविष्य की दुर्घट पदों में शक्ति था।

४ बुद्धम्य धारा प्रवाह की शक्ति मार्ग बनाता जीवन-समर्थों की कठोर चट्टानों से टकराता परिस्थितियों के कगारों को चक्रनाचूर करता महाकाव्य मूलगत प्रकृतियों को प्रतिबिम्बित करता रहा। कितने ही बर्णित तत्त्व सामूहिक इन्द्र-समर्प का साक्ष्य प्रस्तुत करते रहे।

५ काव्य की कल्पना अतिमानवी होत हुए भी उसकी भाव-अर्थता मानव की अर्थ परिधि को छूती रही अतएव समग्र मानव-मन के अन्त कालातरों का संघित स्मृतिज्ञान उसके पीछ है। युद्ध-युगान्तर की राजनीति इतिहास समाज धर्म धर्म ज्ञान-विज्ञान मनोविज्ञान ऐति-कवि की पुंजीभूत अममूर्ति और धर्म समग्र अममूर्ति की अमम्बद्धता में कितने ही दुर्ल-दर इन्द्र-समर्प और समस्यार्थे निराश्रित है। इन तीव्रतम कथागाथों के व्यापार शक्ति की उतनी ही अममिन प्रविधायें भी हैं जिससे मूल कथा का वास्तव्य टूट जाय तो उन्नत कल्पना से उन्नत सरिसष्ट किया जा सकता है।

६ अतिमानवी जीवन में जो उन्नत चक्रान या भाषा पुराणार्थे है उनसे परे भी कोई सत्य या नित्य-सनातन जीवन का आस्वासन है। जीवन और जगत् के वास्तविक स्वरूप को उसकी समग्रता में न ब्रह्म सकल के कारण बहु पद-पद पर हम इन्द्रात्मकता

से मयनीत और पारसीकता से पचामन की बात घोषता है। दरअसल यह अत्यन्त गतिमान जीवन ही अपने आप में चरम सत्य है जिसके निर्द्वन्द्व विविक्त्य साक्षात्कार का परिणाम ही ये काव्य हैं।

७. उसकी भाषों में काव्य तो वह है जो छठकता उस नही बल्कि भीतर भीतर प्रोत उस का आस्वाद करायें जो आर्थिक रूप में नहीं आर्थिकता और आर्थिकता रूप में कुछ उपलब्धियों प्रदान करे अर्थात् बाह्य-भीतर की वस्तुस्थिति में पीठकर गहरा उतरे। काव्य में आत्महित और लोकहित—यह दो ही महान् तत्त्व अंतर्भूत हैं अर्थात् जब काव्यकार अपनी निजता में डूबकर निर्बैयक्तिक हो जाता है उसमें तबूक या उत्तम हा जाता है दूसरे शब्दों में काव्य जोकाव्य होकर भी लोकातीत है यद्यपि जीवन-अपगत का भेद उन्हें देखकर और पहचान कर भी उनके अंग्रेज को पा सने में है।

८. काव्य जितना ही उत्कृष्टता और निरपेक्ष है उतना ही अपने प्रस्तुतीकरण में साक्षिक और सत्य का धारक भी। अपने निरस्त की सत्य की शोच में सत्य कर देना ही उसकी शूबी है।

९. तत्कालीन प्रसंगा एवं घटनाओं का विवेक करते हुए भी वह घटनात्मक सामयिकता से बँधा नहीं रह सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में अहङ्कृत चारित्र्यों पर टिका काव्य सजीव अर्थ का ही घोषक होगा।

१०. कवि में जब विचारकल्पना का अग्र होना है तो वह प्रेरणाही उदात्त रूप में या कहें कि उसकी मौलिक परिस्थिति ही काव्य है। अपने मनोवेगों राजों और संस्कारों की उड़कन में वह जितना ही कमाक हासिक करेगा यानी उसका तन्मय भाव जितना ही बनीमठ ह्याया उसमें महाप्राणता का उतना ही पुष्ट बीज अंतर्हित होगा अर्थात् उसकी रसात्मकता उतनी ही अलौकिक भावभूमि पर उसे प्रतिष्ठित करेगी।

११. रहस्य का तात्पर्य है कि काव्य में जीवन की परयात्मक सत्ता का समष्टि रूप जानना चाहिए अर्थात् चेतना के मन्त्रक से उसे इस प्रकार उद्भासित करना चाहिए ताकि आचार और विधि की महत्ता के साथ-साथ उसमें मूर्त सत्यन जायत हो सके। मानव में जो स्वभावतः स्वाधी भाव विद्यमान होते हैं वे सनातन संस्कारों के रूप में उभर कर सौम्य और रमणीयता की प्रजावात्मक व्यञ्जना करते हुए हमारी बाह्य इन्द्रियों को ही तुष्ट करते ही हैं मानस अणु में भी आनन्द उस का संचार करते हैं।

१२. काव्यकार में सत्य और अर्थ में मेल ही हुरफर हो पर इन सनातन संस्कारों का भाव नहीं बदलता। जीवन की सादरत धारा से उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध है और चूँकि वे समय की सीमा में नहीं अपने अतएव उनका अस्तित्व भी अविच्छिन्न एवं अर्थात्नीय है वह विकालबाधित है। यही कारण है कि उसकी आप्त गता के समक्ष सभी गत है।

१३. उन अविच्छिन्न एवं अनिर्वचनीय धारा का उल्लसक एक ऐसे कलात्मक।

सौन्दर्य को प्रस्तुत करता है या सतरंग को इतित कर कलाकार के हृत् को बहुरंग की इकाई में परिणत कर देता है।

१४ वास्तविक काव्य के मूक में गिर्य सत्य हाता है। साधना के चरमात्कर्य पर पहुँच कर ही काव्यकार की चेतना स्पृष्ट होती है और वह रूप और अर्थ की भेदना न कर किसी भी अर्थ कला की शास्त्र पर सबसे वादात्म्य स्थापित करता है।

१५ सामयिकता की परिधि से परे उसकी दृष्टि व्यापक से व्यापकतर— यद्यत् उसके विरुद्ध व्यक्तित्व की विपुलच्छाविनी प्रतिभा के विविध रूपों की ही प्रतिच्छाया है। वर्तमान या विगत मूल्य मयसिद्धियों को सही रूप में वह जीफ सका है कि नहीं। सबसे बड़ी बात—वह अपनी विगलता में क्या कुछ समेट सका है साध ही ज्ञान और ज्ञप के एकत्व की ओर वह कहीं तक प्रभृत हुआ है।

यों पहले के काव्य आध्यात्मिक अनुष्ठान के प्रतीक हुआ करते थे और उसकी पूर्ति के लिए कवि को सच्ची साधना में प्रभृत होना पड़ता था। पर आज परिस्तिथियों ने जो मोड़ किया है उससे जीवन-वैषम्य की अनेककल्प साक्षियाँ उसे दिग्भ्रान्त किये हैं। आज के बड़े से बड़े कवि की दृष्टि का विस्तार मौजूदा जीवन के विस्तार के साथ जुड़ा हुआ है यही कारण है कि उसके अर्थबोध में इतनी प्रतिक्रियाएँ निहित हैं कि पुराने काव्य का ढाँचा चरमरा उठा है।

किसी भी साहित्य से हमें युग की शक्तियों को परलान की प्रेरणा मिलती है। बाह्य आवेष्टन के पहले नित्य बदलते रहते हैं अद्यत्त साहित्य के मानदंड और मनुष्यों के मन भी बदलते रहते हैं। पुरातन आर्य महाकाव्यों के बध्य-विषय और ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के प्राग कालों की भावना घट गयी है। युग की विभिन्न भावों समस्यार्थों और संकामों में उनकी शक्ति इतनी रम गई है कि जीवन के नाताविषय स्थायी पदकों पर उनकी दृष्टि टिक नहीं पाती। तात्कालिक सांत्विक समस्यार्थों में उमड़ते रहने के कारण उनकी क्रियाशीलता और जीवन में आनन्द की अनुभूति जैसे-जैसे कम होती जाती है जैसे-जैसे उत्कृष्ट महाकाव्यों का रूप भी एक प्रकार से समाप्त होता जाता है।

हिन्दी में पहला वास्तविक महाकाव्य चन्द वरबाई का पुष्पीराज रासो कहा जाता है। इससे पूर्व नरपति माहू का 'बीसकदेव रासो एक संकाम्य लिखा गया था किन्तु इसके अतिरिक्त कृत काव्यनिक और अत्रायानिक हैं।

पुष्पीराज रासो १९ श्लोकों में ढाई हजार पृष्ठ का महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। इसकी रचना नमपत 'बीसकदेवी घाटावी में हुई यों रासो में दिय गये श्लोकों सादि का ऐतिहासिक लक्ष्यों से सामंजस्य न हान के कारण इपर विद्वानों में महत्तर उत्पन्न हो गया है।

मुद्देकरांड के महीने के चारुस राजा परमात् (नरमादिदेव जयचन्द्र) के

आधित जगनक नाम के एक भाट ब जिन्होंने बाह्या और अरस बीरों के साहसिक कृत्यों का वर्णन बीर प्रगीतात्मक काव्य-पद्धति पर किया। आजकल जो 'बाह्या' माया जाता है उसका पुराना मूल रूप बहुत कुछ बिहृत हो चुका है और सामग्री भी अप्रामाणिक है। 'बाह्या' की ही तरह 'दोसा' की भी स्थिति है जिस लोकहवी सतावरी के पूर्वार्ध में मासम न लिखा या किन्तु जो कुछ समय बाद जब कवि कृशामय द्वारा लिखित किया गया। 'दोसा' महाकाव्य मध्यभारत और मध्यप्रदेश में बहुत प्रचलित है। सुद्धी काव्य-परम्परा में मसनवी शैली पर लिखे गये मुगावती 'ममु मासती' 'मुगावती' और 'प्रमावती' आदि महाकाव्यों के अतिरिक्त मखिक महम्मद जायसी का गुणसिद्ध 'पघावत' महाकाव्य मिलता है जो ईशवी सन् १५२ (१२७ हिजरी) के लगभग लिखा गया। इसमें अलाउद्दीन और पघावती के ऐतिहासिक आक्षेपों को लेकर शोकपत्र और आश्वासन पद दोनों का सूक्ष्म सम्मिश्रित रूप प्रस्तुत किया गया है। भक्तिकाल में रामभक्ति धारा के अन्तर्गत पोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' समुत्पूर्व बृहत् महाकाव्य है। काव्य के उत्कर्ष और समचित्त विकास के निम्ने अतिरूपकों जीवन-संक्षिप्त चित्रों और कल्पना-बल की अपेक्षा है उतनी साधारण और ज्ञात-अज्ञात भावनाएँ इसमें बिकरी हुई हैं। तुलसीदास जी ने अपनी सबतोमूर्ती प्रतिभा और समन्वय बुद्धि से जीवन की संकुच सचनता में आँसू कर मनुष्य की भीतरी बृत्तियों का वाह्य प्रकृति से सामञ्जस्य घटित करते हुए धार्मिक चिन्तन का कल्याण भावना उन्मूलक उदात्त कल्पना बिलक्षण अनुभूति-गमता अव्युक्त काव्यशिल्प और युग-युग का धारण सत्य प्रकट किया।

भक्तिकाल की अन्य स्फुट रचनाओं में सायबदास का 'हरिचरित' भरहरि का 'दक्षिणभी मंगल' नगलमदास का सुदामा चरित और केसवदास के 'बोरसिंह देव चरित' और 'रामचन्द्रिका' आदि आक्षेप-काव्य भी लिखे गये हैं किन्तु पहले दो काव्य की कोटि में नहीं रने जा सकते हैं। 'रामचन्द्रिका' इसमें जबरन सबसे प्रसिद्ध संघ है। केसवदास में सम्बन्ध-निर्वाह और कथा के गम्भीर और नायिक स्वर्णों का पहचानने की क्षमता न थी। जीवन के अंतरंग पहलू उदात्त कोमल-भावना और प्रकृति की सौन्दर्य-मुपमा के प्रति उनका विशेष आकर्षण न था यही कारण है कि उनमें काव्य का समुन्नत और व्यक्तित्व रूप रक्षण को न मिला।

हिन्दी साहित्य के नवोत्थान में राम और कृष्ण की सरस सीमाओं का लेकर अनेक प्रबन्धकाव्य लिखे गये जिनमें महाराज रघुनाथसिंह कृत 'दक्षिणभी परिचय' (१८५ ई) और 'रामचरित' (१८७७ ई) तथा बाबा रघुनाथदास रामचरोही का 'विधामागर्' (१८५४ ई) उल्लेखनीय हैं। उनमें साहित्यिक सौन्दर्य न होते हुए भी कर्तारमय शक्ति और निर्मापमयी समन्वयकारी प्रतिभा इच्छ्य है।

नव काव्यसंघ उस प्राचीन परम्परा से सबका विच्छिन्न स लगते हैं। नई नई परिकल्पनाओं और विषय परिस्थितियों में कल्पना और सत्य का मेल बहुत कम

नये काव्यप्रवाय

होता है मरता है जैसे समाधानहीन समस्याओं में उलझकर रानी-रानी बाहर और भीतर की साधना मर जाती या खी है। जीवन की उपकल्पितों एक संबंधी ऊब और बोलासाहू में समाहित होती या खी है। अतः मीठया स्थिति में काव्य क स्वतंत्र विचार की बहुत कम गुणा है। जैसे कुतूहलमूमा बड़े विरासतान संभव नहीं होगा और मयाह बरसागर में मटकना पड़ता है उची प्रकार परिस्थितियों के कार्याचक्र में महाकाव्य का अर्थात् सत्य तो मानो खो गया है इसके विपरीत जीवन के व्याकृत मृ खे भावधों में उचकी मात्र छाया पाप है।

प्रियप्रवास

बाभुनिक काव्य में काव्यों का धारम्य पठित अयोध्यासिंह उपाध्याय के प्रिय प्रवास' से समझना चाहिए। राधाकृष्ण-भ्रम की परम्परा का निर्वाह करते हुए उन्होने सबह सर्वों में प्रेम और कल्प रस से सिक्त उचत महाकाव्य की रचना की जिसमें बंध के निमग्न पर दीव्य का मधुरा प्रयास शोकमय ब्रजवासियों की स्वनीय बया मय-यथोदा का विहाय राधा की विरह बया गोप-भोषियों की स्वनीय तथा प्रसन्नबस कितनी ही स्मृतियों पीड़ाएँ कल्प की सीमाओं के समस्त उनके गुल-दुःख की विहरती इच्छाएँ आदि इस काव्यप्रप में बिखरी पड़ी है। राधा और कल्प का बचपन से साथ है दोनों साथ-साथ चले और पड़े हुए हैं। दोनों को एक दूसरे को प्राप्त करन और अपना बना सेन की बाकांशा है किन्तु मधुरा से अलमय में ही बुलाया जाता है और कल्प सदेव के लिय दूर पड़े जाते हैं। राधा कल्प क बियोग से व्यथित हो उठती है। उसका अनुयाग विराग म बुद्ध जाता है और निरास साधना की कठोरता में पोरमेत हो जाती है। वे बियोगिनी स साक्षिका और साक्षिका स सी-सी-बना बन जाती है। धल-रानी व उम सवह तक पहुँच जाती है जहाँ प्रिय बियोगिनी व्याप्य उनके कामल हृदय का प्रतिकल्पित न कर एकारम मात्र स्थापित करती है।

उपाध्याय जी ने राधा का एक दूसरे ही रूप में चित्रित करके अपने काव्य को और भी मर्मस्पर्शी बना दिया है। वे कठना की साधान् मूनि हैं प्रेम की अलग बारा उनके अन्दर में बहती है। किन्तु न केवल व अपने दुःख से दुखी है बल्कि दूसरों की व्याप से भी उनकी आँसू गीली है

इन विविध व्याप्यों मध्य दूरे दिनों में अति-सरल-स्वभावा गुम्हरी एक जाता। निरति-निर निरतो भी व्याप से तितक होके नूह पच बहु बालों कुंज-यंत्रों बनो में।

कल्प प्रेम से प्रेरित होकर राधा में स-मग्न का शानोदय होता है। वे विहाय विह्वल या उन्मादिनी नहीं बल्कि कल्प-भ्रम विह्वल और तपुगत पित है।

उनका यमीर प्रथम अनन्य भावपूर्ण ही घासवट मिमन की भूमि पर उष भरमोर्कार्य पर पहुँच जाता है जहाँ समस्त उद्देश्य आक्रोश उल्लेखन अमृत रस की स्रष्ट सत बारासों में आष्कान्वित संयोग-वियोग से परे प्रेमाकुसुम अमीप्सा में लय हो जाते हैं। कल्प के प्रति उनका सच्चा समर्पण का भाव है मात्र वैहिक मिलन-स्पर्शा नहीं अतएव उनमें बराबर कल्याणम रसाम्बुधि में बुबाकर तल्लीन कर देने की यमता बपती है। विरह-विच्छेद की विभीषिका छेद्यकर भी वे विचलित नहीं होतीं बरन् विरसजय और प्रिय की स्मृति में विमोह आत्मस्थ हो जाती हैं। प्रथम उनके जीवन को उत्प्रेरित करता है, कुण्ठित नहीं करता। वस्तुतः अन्तर में बाह्यी स्थिति को बम्याहृत रसकर ही बाह्य जीवन के विराट् लक्ष की मूर्ष्टि की जा सकती है। वेह प्रायः और मन में एकत्र स्थापित कर और ईश के भीतर अर्पित की उपलब्धि द्वारा ही अनेक कल्पित व्यथाना हटाए जा सकते हैं। शूक्ति इस अन्तराय को हटाकर ही अनन्त के गृह्य विस्तार में अस्तमोह हुआ जा सकता है फलतः पूर्व भाव के सामक अन्तर-बाहर के विभिन्न स्तरों को सर्वतोभावे से सामंजस्य के गृह में बूब बेते ह। वे मूस सत्य को जीवन की पूर्व छिद्रि में परिणत कर अभिनव प्रेरणा का विकास और व्यक्तिगत चैतन्य से ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं। प्रेम और कर्तव्य के ईश में यद्यपि राधा का हृदय प्रेम की ओर अधिक झुका है तथापि कर्तव्य उसे संभाव्य हुए है।

धीनों की भी यज्ञित जननी भी अनामितों की।

भाराम्या भी ब्रह्म-अवनि की प्रेमिका विश्व की भी ॥

राधा कल्प के बिना अपूर्ण है पर राधा तत्त्व के विकास के विभिन्न स्तरों में उनके प्रेम की चरम परिधति सौंदर्य और मार्च्य के सम्पूर्ण प्रस्तुतन में होती है। वे एक दूसरे से अभिन्न हैं और राधा के भीतर कल्प और कृष्ण के भीतर राधा समाहित हैं। चरम स्वरूप के विषय से वे सर्वकाम साधिका और आराधिका राधिरा के महाभाव को प्रतिष्ठित करती हुई अनेक भेद कर्षों में एकत्र का आभास कराती हैं

‘राधा र्जसी सद्य हृदया दिश्व प्रेमानुरक्ता’

हरिजीव भी ने कृष्ण-काम्य परम्परा में लीन भाषा और रीती में ‘प्रिय प्रबाम’ की रचना करके एक युवान्तर उपस्थित किया है। प्रियप्रबास से पूर्व लक्ष्मी बोनी में कोई मौलिक काव्यग्रन्थ न था। जो किन्ने पये व ने ब्रह्मभाषा में व मा लक्ष्मीकाव्य से। ‘प्रियप्रबाम’ में संस्कृत की गूढत शब्द-सहित के अमत्कार के साम भाव नये-नये विचारों की सद्भावना भी मिलती है। पद्य प्रबाह की गति भी बदल की गई है। मासिनी मन्वाकाला बंशतव बसन्तिरुक्ता इत्यभिधित्त साधुसक्तिरी द्रित तथा मिश्रिणी जाहि संस्कृत के सप्त छन्दों में उन्होंने अल्पामुप्रासहीन (अपु कान्त) कविता का प्रयोग किया है। यद्यपि ‘प्रियप्रबास’ में संस्कृत के सप्तम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है और पंक्तिपय भी कीर्ष यमासों से लकी हुई है तथापि सन्धित शब्दावली और एक पंक्ति दूसरी पंक्ति पर उतर कर मापुर्ष शरफा देनी है।

कविता का सम्पूर्ण रूप इस प्रकार विकसित हो जाता है जो कलाकार की प्रतिभा और नई सूक्ष्मता का चोखक है।

अन्य कवियों की अपेक्षा उपाध्याय जी की भक्ति-भावना में एक विशेषता यह है कि उन्होंने कृष्ण को ईश्वर मानते हुए भी मानव रूप दे दिया है उनकी बहुत मुठ कीलामों और लोकसंगीत रूप को नये दृष्टिकोण से देखा-देखा है। आज के औद्योगिक युग में जब कि तिलक का ताड़ बनाया जाता है और काल की धातु मिटाती जाती है उन्होंने कृष्ण भक्तिपरक व्यक्तिकी लीलाओं का विद्वत्सनीय एवं प्राज्ञ बनाने का लिए लोक-हितकारी लौकिक रूप दे दिया है। उनकी योग-योगिनी न केवल कृष्ण के मनोहायी रूप और भाषण पर मुख्य हैं बल्कि उन्होंने अपनी सेनाओं से छात्र-वर्गों और परोपकारी उदात्त मानवों से उनके रूपों और चित्रों को प्राप्त किया है। योगियों के साथ वे कबल के लिए जीका और हास-परिहास में ही नियत नहीं रहने बल्कि घर-घर में घूम-घूम कर प्रत्येक रूप में हास बँटाते और दूसरों की सेवा करते हैं।

‘धारी बुझी विपत आपत में पड़े को।

सेवा करनेक करते निज हस्त से ये ॥

ऐसा मित्र ब्रह्म में न तुमो विद्याता।

कोई कहाँ बुझित हो पर ये न होयें ॥

उक्त क समय अदली योगियों ही नहीं हैं बल्कि योग भी है। योग-योगियों परस्पर मानो-अभोध करते हैं एक दूसरे पर पुण्य-भयों करने हैं बीजा मूल्य भाषादि बजाते हैं और योगियों की प्रतिमा में विभो-से दीख पड़ने हैं। योग-योगियों की टीठियां ज्योत्सना-ज्यात जिहुँकों रमणीक स्थलों और हरी-वरी गुण-ब्रह्म में विकसित करती घूम रही थी कृष्ण भी उनके सम्मिलित न और परस्पर प्रेम और सती-महिमा का बखाल कर लुग हो रहे हैं।

ये धों बनेह कहते लजना-जनी को

स्वामी यिना सब समोप्य है विकला।

कृष्ण-भक्ति माया के अन्तर्गत गुरदास भादि भक्त कवियों ने कृष्ण के परम्परागत भगवद् रूप और उनके अद्भुत लीला-लोक भाषा को अपनाकर उनकी लीलाओं का पुनर्जात किया जो लोकतांत और सर्वमान्य जीवन के लिये आदर्श न बन सकता था। हरिजीम भी ने इसके विपरीत लौकिक और जलौकिक शानों में साधु-व्यस्य प्रतिन किया। यहाँ से मायावित ब्रह्म को कृष्ण ने इस लजराता और बराता न रजा की कि लोय कहने जय मानो उन्होंने योग-जन्म पर्वत को हाथ पर ला जग लिया।

‘सत्य रूपार प्रसार को विरीन्द्र में

ब्रह्म पराविप के प्रिय वृत्र का

सकल लोप लगे कहूँ उसे
रत्न क्षिप्ता जंपली पर श्याम ने ।

प्रबन्ध बाबानस के समय जब भगवान् श्रीकृष्ण का धर्मि पी जाने का सम्भेद धीमभूभागवत में मिलता है तो 'प्रियप्रवास' में योनों और यारोंक साथ ही कर बाहर निकल भापने का तथा कास्मि नाय-दमन के समय वासुदे की टांग से उसे मुग्ध करने की अपेक्षा ना ना उपाय और कीडलों से उसका निपात दर्शाया गया है ।

'सुक्रीडलों से बर जलत्र शस्त्र से ।
उसे निपाता जजसूमि रत्न म ॥

इस प्रकार 'प्रियप्रवास' में परम्परागत घटनाओं पर नूतन प्रकाश डाला गया किन्तु उपाध्याय जो की य महीन उपमावर्णन उन तक ही सिमट कर रह गई । उनका प्रचार-प्रसार न हुआ । राम और कृष्ण के भगवत् स्वरूप और उनके धीम सक्रिय सौंदर्य की जो छात्रवत् स्त्री कवियों के उर में अंकित है उसके संस्कार कभी मिटाया नहीं मिट सकते ।

'प्रियप्रवास' को महाकाव्य की कसौटी पर कसते हैं तो उसमें राधा कृष्ण लोकप्रसिद्ध नायक-नायिका सनह सगं मस्तुत के साथ छन्दों का प्रयोग विप्रसम्भ गृहार और कथन रस अभिसाया चिन्ता स्मृति गुण-कथन उद्यम प्रसार उग्राद, व्याधि जड़ता मरण आदि सभी काम-बधाया का जनभाव एवं संचारियों के माध्यम से उचित परिपाक सयोग-विद्याग संघ्या-राशि अन्वकार-दिबस प्राठ मध्याह्न मय-नदी बन-नरत छत्रों शत्रु पशु-पत्नी वृद्ध-कठार्ये आदि सभी अनिवार्य तत्त्व जुटा दिये गये हैं । प्रेम की अन्तर्दशाओं के साथ-साथ आर्मका प्रेम विह्वलता भक्त हृदयों में का सिंसकता सनह आदि बगित है प्रकृति के रम्य स्वर्णों का अनन्त विवर्ण है किन्तु काव्य की कथावस्तु इतनी स्वल्प है जो प्रबन्धकाव्य के उपनृत नहीं । साथमें धर्म स ही कथा का सूत्र बिच्छिन्न हो जाता है यों राधा गोप-नापी और मन्द-सघोषा का विद्याप-वर्धन सनह राग लठ चकता रहता है ।

निःसन्देह 'प्रियप्रवास' एक महिमामयी और गरिमामयी कृति है । उसमें न केवल गतिशील तत्त्व और विचार-दर्शन की व्यापकता है अपितु प्राचीनता क साथ-साथ नूतनता और आशा के साथ-साथ यथायता भी है । बड़ आधुनिक द्विती काव्यों का अनवरक सिद्ध हुआ है ।

साकेत'

काव्य में ध्वनिक दोली व्यापक सहानुभूति कुमल अभिव्यक्ति और सूक्ष्म निरीक्षण अंकित आदि जो गुण अपेक्षित हैं— व सब साकेत' में सहज रूप में बिद्यमान हैं । उसमें कलावाद वैचिष्य और जीवन की अन्त परिस्थितियों को निठ-नये रूप में रचन की चाह नहीं है अपितु विस्तृत साधूमि पर साधनात्मक प्रकृत पक्ष

कैकेयी राम को उदा भरत से अधिक मानती आई है। छोटे भाई से बड़े भाई का महत्त्व भी उसकी दृष्टि में अधिक है। यदि बछराव ने सब बातें पहले ही बता दी होती तो वे सहज अनुमति दे देती और कोई-संघट-बखेड़ा न होता। लेकिन यहाँ तो संयोग ही कुछ ऐसा बन गया कि ज्यों ही उग्र मंत्रा द्वारा राज-दिव्य का शुभ संवाह मिला त्यों ही उनमें सौतिया-बाहू के बीच जो बिय पड़े। मंत्रा उग्र-उग्र से समझा-मुझाकर, अच्छा-बुरा और जैज-नीज मुझाकर और अनेक कुट्ट सपलियों के दृष्टान्त देकर उनमें प्रसंग द्वय-भावना बजाता है। तिस पर भी उनका सरल मन बहुत देर बाहू परिस्थिति की गम्भीरता में पठ पाता है। यह सुनकर कि भरत राम द्वारा बन्धी बना लिए जायेंगे और वे स्वयं भी ब्रह्म की मन्त्री की भीति निराश्रुत होंगी उनका रोम रोम सिहर उठता है 'उन पसंड करसी जिमि कापी और फिर उनमें जो अन्तर्द्वन्द्व और भावों का आकाङ्क्ष-विखाङ्क्ष होता है वह बड़ा ही स्वामाधिक और 'भरत से सुत पर भी सन्नेह मुझाया खन न उसे जो गेह से अधिक सबल कारण है। 'मानस' की कैकेयी के समझ राम और भरत के मानापमान का प्रश्न नहीं है, उन्हें कुछ है अपने विरुद्ध कौशल्या के पक्ष्य का अपने भारम सम्मान की बाह्य सति का और पति की दृष्टि में उपेक्षिता हो जाने का जो नारी जीवन का सबसे बड़ा अविद्याप है। युग-मुगान्तर से सौतिया बाहू का जो बिय नारी-प्राति क सिर पर चढ़ कर बोला है वही राम-बनबाध का भी कारण है। ऐतिहासिक परम्परा की लीक से हटकर उसमें पुनः की मानरसा जैसा कोई हम्का कारण निहित नहीं है।

'मानस' की कैकेयी के अन्तर्भावों में क्रमशः उदार-बढ़ाव होता है। जो भरत मानस की बात भी मंत्रा के मुझाने से ही उसके विभाग में जाती है जबकि 'साकेत' की कैकेयी पुनः-सन्नेह के आचार पर सब काँड स्वतः ही रच बालती है। 'मानस' की कैकेयी की व्याधा भी अधिक गहरी है। एक हूब तक वह अपने में ही मौन है। बाह्य की प्रतिष्पनियाँ उसे प्रकम्पित नहीं कर पातीं। हठ टान कर वह भीतर ही भीतर बूट रही है। सौतिया बाहू का बिय चढ़ गया है और वह उसके मस-मस में पँठ गया है क्योंकि नारी की क्कान्त दुस्तह स्थिति के साथ-साथ वह ऐसा अमानक बिय है वहाँ से अचम्य से अचम्य कर्म की मूक्त निकल आ सकती है पानी भीतर से इसी अक्षय में से इसी हम्द में से बिरछोट हुआ करता है। परन्तु पुनः की प्रवृत्ति से वास्तविकता का बोध होने पर उसके परचात्ताप में भी एक नारी काटिम्य और अक्षय है जो उसकी अन्तर्बला एवं ननीभूत पीड़ा को अधिकधिक कारण और विषम बनाकर उसके बर्ष को कुछल आत्मना बाहूता है गरई ग्कानि कुटिम बँकई काहि कइ केहि दूयन बेई। 'साकेत' की कर्मों को बातों की राहल है वह चाकपट्टु है और मोला को प्रभावित कर लेती है। इसके विपरीत 'मानस' की कैकेयी की व्याधा गहरी और सबल है जो भीतर-ही भीतर उमड़ घुमड़ कर रह पाती है। प्रायः स्थव्य और गम्द मूक होकर उसे भीतर-ही भीतर कचोटते हैं। वह उग्रनी अक्षयन और अक्षय हो गई है, जो वासपास का वातावरण अक्षय है, अक्षय

होत और यह स्वयं निरी अपदार्थ बनी दृश्यस्व अक्षर में सटती है । पराजय और खोर परचाहाप के कारण यह मृत्यु की कामना करती है—'जवनि जमहि जाचति कैकेई, महि न बीच बिधि भीच न बेई । कहन की भावदयवता नहीं कि गुप्त जी का मनोबैधानिक आचार हुस्का साध ही आधुनिकता के रस में रंगा है यों अपन मारी-पार्श्वों को नए साथ में बासकर उन्हीं उन्ह गतिमय और गुञ्जानरूप विशिष्ट किया है । कैकेयी की यह उक्ति बहुत मर्मस्पर्शी है

‘गुप्त-गुप्त तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुस में भी एक अमागिन रानी ।

परन्तु क्या उसमें टन्त्रता और बचाव की अपेक्षा का भाव नहीं है ? साहसी उस रूप अधिक कहूँगे क्योंकि भीतर का सामना वह भके ही न कर सके पर क्या किसी का सामना होने पर वह बड़ और निस्सन्ध बनी बैठी रहे ? उपेक्षिता उमिला का चित्त भी बिरहविषी मारी का बल्यन्त सजीव रूप है जो उन तक कवियों की लेखनी से अछूता ही रह गया था । बिरह के प्रसंग में मारी-सुखम की समस्त कोमलता और बिल्लकता मूर्तिमान् हो उठी है । कल्याण से अभिमत उमिला प्रापितपतिकामो को निमन्त्रण भेजती है

‘प्रोपित पतिकार्ये हों
मितनी भी सबि जन्हें निमन्त्रण दे या
समगु खिनी मिलें तो
कुण पड़े जा प्रथम पुरस्तर ले या ।

गुप्त जी ने प्रकृति की सहायता से उमिला के बिरह-वर्धन में सकीवता भर दी है । बिरह में एन्द्रिय पक्ष यौन मानसिक पक्ष की प्रमत्तता है । विपन्न खजो में उमिला पुष्पों लताओं पद्म-यसी और अन्याम्य प्राकृतिक उपादानों में एकात्म्य अनुभव करती है । प्रकृत रूपों और व्यापारों के समक्ष जब कभी वह अपनी पूबकृ सत्ता की धारणा से हटकर अपनी बिलबलितियों को उनके भीतर केन्द्रित कर देती है तो उसके व्यक्त प्रेम की फुलहरियाँ फूटकर बनस में एकाकार-भी बीजती ह ।

‘सधि ! गौल नमस्तर से जतरा
यह हस भहा । तरता तरता
मम तारक भौरिक शप नहीं
निकला बिनको खरता खरता ।
अपने हिम बिन्दु बबे तक भी
चलता उनको खरता खरता
पड़ जाएँ न कष्टक मूलक के
कर बाल रहा उरता उरता ।

पाठ्य किन्तु का उपाय विरहिणी के प्राणों को राज-शक्तिवश प्राप्त और वह न जाने स्थित झुहाओहों पीड़ाओं और मानविक दुर्गों में बली बनना के साथ बीरह रूप पूरे करती है। तिल तिल काट रही की दुःख बरसती।

'साकेत' का नाम सम उमिला के विरह पीठों से प्राप्त है। वहीं-वहीं पार इतने गूणाधिक और प्राचीन परिपाटी पर साधारण स्तर के हो पर है। महाकाव्य की नायिका और प्रसंग की उदात्त भावभूमि के अन्तर्गत ही साधारणतः अब पत्रा करते हैं।

'साकेत' का नामकरण आध्यात्मिक महत्त्व किम है। यों भी समस्त रूप 'साकेत' में युग प्राप्त है। काव्य की नायिका उमिला का जीवन तो 'साकेत' में ही हुआ है ही। वह म घटित अनेक घटनाएँ भी 'साकेत' में ही उन्मिलित हुई हैं। सग्रे में समस्त उमिला के प्रेमपूर्ण संलाप से बारहवें सर्ग में उनका परस्पर मिलन की अम्बी कथा का एक ही स्वप्न पर सुन्दर समाहार हुआ है।

बीच में राज-तिलक बंकेयी की बरदान-याचना बन-गमन बधरन की नयनान राम का चित्रकूट में आस भरत का अयोध्या-आगमन राम भरत में पीठा हरन लक्ष्मण-मूर्च्छा राम राजन मूठ की घटनाएँ आदि प्रसंग भी सब बकि

काव्य-रचियता—ऊर्जित परिधिर्मा शोकर—हर स्थिति और हर विषय अपनी जगमूक चेतना का विकास किया करता है। वर्तमान हो या अतीत का हो या विरहगत सत्य ही या काल्पनिक आधुनिक ही या परम्परित किन्तु उदात्त वातावरण से व्यक्ति-जीवनों में परस्पर धार्मिकत्व स्थापित करने के लिए उच्च परम्परा की प्रामाणिकता सिद्ध करनी पड़ती है।

इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकार ने प्राचीन और अर्वाचीन दोनों परम्परा को बलीबी निमाया है। इस आस्तिक कवि द्वारा लिखा उक्त काव्यमय नृत्य युग में और आत्माओं को लेकर मीमंसा बतना स्तर पर किया गया है। अतएव यह सामाजिक और मौखिक परिस्थितियों उसकी भावतमक गहराई का काष्ठी हृद तक प्रभावित करती है। जैसा कि प्रत्यक्ष है—'साकेत' की समूची कहानी उमिला की अर्थात्क पीड़ा और उसके अन्तर्भवितक सम्बन्धों की अटिकता और ईदिव्य से जुड़ी है। वहीं पर उसकी प्रेमानुभूति की गहराई जिस हर एक व्यापक परिवेश और मानवीय संवेदना को छूती है। उसके अपने सूक्ष्म आर्थिक पक्षों किन्तु भी भूमिओं पर उद्घाटित हुए हैं। साथ ही हर मन-स्थिति और अनुभूति का आवेग किस प्रकार साधारणक रूपों पर टिका है—यह सब देयता है।

'साकेत' की उमिला की व्यापक संवेदना हीकर दीर्घस्थितक अधिका ही गई है, वह अपने तर्क ही समझती-बनझती है। उसके प्राण-स्तरन में बीसी अनुभूति नहीं जो व्यापक स्तर पर साधारणक सम्बन्ध स्थापित कर सके। चाहे कभी ही परिस्थिति हो—यह व्यक्ति-जीवन में प्राणों के आरोग्य की बुजबुझाएँ पनीभूत हो जाती है।

तो न बीसी कचोट होती है और न बीसा मर्मस्पर्शी प्रभाव । अनेक स्वार्थों पर उमिका की विकसला मन को घूरी है पर मुझे लगा है कि उसके बिरह के मूर्त बिज कहीं कहीं ऐसे अन्तबिरोधों और झुठका देने वाली हठबायिता का परिचय देते हैं कि वर्ष के बिन्दु पर केन्द्रित उसकी ध्याना मात्र संकीर्ण अनुभूति को प्रथम देती है और मूल भाव की आत्मा को आच्छन्न कर लेती है ।

प्राचीन काव्यग्रन्थों की कथावस्तु दो भागों में विभक्त होती थी—आधिकारिक (मुख्य) एवं प्रासंगिक (गोप) । मुख्य कथा और चरित्रों के विकास के लिए अनेक प्रसंगों का उल्लेख होता था साम ही ऐसे-ऐसे कल्प प्रसंग एवं बटनाएँ भी उनमें जुड़ी होती थी जो मुख्य चरित्र को उदात्त बनाने में सहायक होती थीं । उनमें ऐसे विषयों को गोप बनाकर या काट-छाँट करके रखा जाता था जो मुख्य कथा-प्रवाह की रोपकता और औचित्य के अनुकूल न होते थे या कथा-संगठन की दृष्टि से उससे टाकमेल न बँटा पाते थे । श्रीवाल्मीकि या तुलसीदास ने ऐसे प्रसंगों एवं अन्तकथाओं का समावेश किया है जिनमें व्यापक स्तर पर मानवीय विकास की प्रेरक संकितियाँ एक महागाथा के रूप में प्रस्तुत की गईं । न केवल उनके कथा-साहित्य का आन्तरिक पक्ष ही सुपुङ्गु सघन एवं कसारमय उत्कर्ष में प्रौढ़तर था अपितु चरित्र चित्रण और काव्यारमक अभिव्यक्ति भी उनकी बड़ी ही उत्पत्तीय थी । गुप्तजी ने सांस्कृतिक परम्पराओं की निष्ठापूर्ण आत्मा के बावजूद भी आज की बौद्धिक प्रतिभियाँ को परीक्षित करके प्राचीन कवियों को नया रूप दिया । उमिका का कथानक सेक्टर 'साफ़ेठ' में जो उदात्त सांस्कृतिक बिज खींचा गया है वह उस पर हावी-सा सगता है और चरित्रों की स्वाभाविकता पर भी उसका अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है अर्थात् जहाँ किसी एक व्यक्ति की प्रधानता होती है वहाँ व्यापक मानवीयता और मू-संस्कृति के लिए चेतना का विकास गीम हो जाता है । फिर भी अनेक परिवर्तनों से गुजर कर 'साफ़ेठ' में वा सामाजिक विघटन दर्शाया गया है वे उक्त विघटित तत्त्वों के बीच एक संतुलित भूमि खोजने के लिए बियासीर' है ।

गुप्तजी की भाषा सुसंस्कृत प्रौढ़ और साहित्यिक होते हुए भी बोधगम्य है । प्रसंगानुकूल अलंकारों, छन्दों और रसों का प्रयोग भी हुआ है । आज के युग की नवजायत चेतना में गुप्त जी ने उपेक्षित उमिका को अपनाकर एक बहुत बड़ अभाव की पूर्ति की है ।

श्यामायनी'

प्रवाद की महत्तम इति 'श्यामायनी' में न केवल कवि की स्वतन्त्र-सामर्थ्य और चापल्य चेतना ने दाग होने दे बरन व्यक्त अस्पष्ट मानवीय मुसाधारों की आध्यात्मिक और अतोर्वैज्ञानिक व्याख्या भी मिलती है । देवमूर्ति के जल-प्लावन के दृश्य से इस काव्य का आरम्भ होता है । पल-प्लावन से बच हुए आदि मानव संवस्वत मनु इस विष्वक्कारी दृश्य से मध्य एकाकी धिक्छित और निराप बँटे हुए हैं । अतीत बीमब

और सुबों की माह करके उन्हें अनन्त में विपार रेखाएँ-सी लिखी सीखती हैं। सृष्टि के दुर्भेद प्रसार का अवलोकन करते-करते जब उनका अकिंचन चैतन्य विभ्रंशक-सा हो रहा है, तभी सहसा उन्हें उपा का मंत्र यात्र आकेश फूटता नजर आता है। उनमें भाषा का संचार होता है और वे मानस लोक की उस मधुमती भूमिका में पहुँच जाते हैं जहाँ उन्हें ऐसी विचित्र छेत्कोत्तर अनुभूति होती है कि उस ठो चहुँ ओर छलक रहा है प्राण-यन्त्रि होनी चाहिए। उस विराट की अनन्त सत्ता में रायात्मक वृत्तियों का लय घाब ही प्रकृति की अनिर्बन्धनीय धीरम-सुपमा में सभी कुछ बैठे उन्हें एकाकार सा लगा। मनु की एकांत नीरवता सीर्य के उस मूर्तिमान बिहँसते बातावरण की मनोमुरझकारी मूक में बिलर गई। इस मने रहस्य से अधिमूढ सहसा उनमें कौतूहल और जिज्ञासा बनी। तीव्र विराग से उपजी कर्म की रागमयी अंतर्मरणा का घाकार रूप है भया जो उन्हें अचानक मिथ जाती है और इनमें आस्था और अनुरक्ति जमाती है

‘कर रही कौतामयी मानस
महाचिन्ति सजय ती ध्यस्त
विश्व का जम्मीलन अनिराम
इसी से सब होते अनुरक्त ।

मानस-मन जब निरासा और अवसाद के कुहरे में खो जाता है तो उसे कर्म की ओर प्रवृत्त करने की आवश्यकता होती है। भया के साहचर्य से मनु के शुष्क हृत्प्रेत जीवन में रस की चारा बहने लगती है। कुछ दिन दोनों सुखपूर्वक रहते हैं, फिर मनु उद्विग्न रहने लगते हैं। मनु भया के समस्त सङ्गमाज और प्रेम पर अपना एक-मात्र अधिकार चाहते हैं यहाँ तक कि उन्हें भया के गर्भस्थ सिधु और पाकित पशु पक्षियों से भी बिड़ हो जाती है। एक दिन वे उसे हिमालय की निर्जन कम्बरा में छोड़कर चला देते हैं।

घारस्वत प्रवेश में मनु का इड़ा से घासात्कार होता है। दोनों एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं और इड़ा मनु की घारस्वत प्रवेश का घासक बना देती है। किन्तु वे अपने को स्वतन्त्र नियामक मानकर मनमानी करना चाहते हैं। इड़ा ‘बुद्धि’ का प्रतीक होने के कारण मनु पर नियन्त्रण करती है लेकिन मनु उसी पर बलप्रयोग करना चाहते हैं। इससे प्रजा बिगड़ जाती है और मनु पर आक्रमण कर देती है। मनु मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। इधर भया स्वप्न में सभी बटित बटनाओं का पूर्वाभास पाकर मनु की बीज में बल पड़ती है और ऐन मौके पर बटनास्वक पर पहुँच जाती है। वह अपने क्रोमल कर-स्पर्श से मनु की पीड़ा हर लेती है। मनु अत्यन्त अजिबत होते हैं और पिछले उन सुखी दिनों की याद करके व्याकुल होते हैं जब भया के साहचर्य ने इनमें नवीन स्फूर्ति और सजग कर्म-चेतना उत्पन्न कर दी थी। उनका मन रसानि से भर जाता है और वे रात्रि में चुपचाप उठकर चला देते हैं।

धर्या अपने पुत्र 'कुमार' को इडा को सौंप मनु को डू डूटी हुई उसी पर्वत-उपत्यका में पहुँच जाती है जहाँ मनु ध्यानमग्न चित्तवृत्ति का अन्तर्गत सुत रहे थे और नटराज शिव का नर्तन देख रहे थे। धर्या जाने-आगे उनका हाथ पकड़कर हिमालय पर चढ़ा ले जाती है और अत्यन्त ऊँचे चढ़कर इच्छा कर्म ज्ञान के समन्वित ज्योतिर्मय त्रिपुर के दर्शन कराती है।

सर्वप्रथम 'इच्छा' के माया-राज्य का दर्शन होता है जहाँ पर अठम परगण की पटक छाया में इठकाती और सिहरती क्रोमल ध्वनिमाँ मधुर स्तब्धन-सा मर रही थी। ध्रुव स्वर्ग रूप रस संघ की पारदर्शनी सुबह पुतस्मियाँ रंग-बिरंगी तितलियाँ-सी मिरकती हुई मर्तन कर रही थीं तथा राधात्म्य जया के कन्धुक-सा आलोक पिष्ट अपनी दिव्य आभा बिलोरता हुआ अक्षयिमात्मक संसृति-छाया के साथ झूल रहा था। कहीं बसन्त कहीं पतझड़ कहीं शुभ कहीं दुःख ऐसे विषम दृश्यों की भर मार थी। जहाँ पर रागादक चेतन की उपासना में मत्त कुछ मत्वाले विह्वल से छामामम सुपमा में विचर रहे थे।

इसके पश्चात् बुँबला-जु मत्ता क्यामल कर्मलोक बीछ पड़ा। जहाँ पर किमति की प्रेरणा से कर्मचक्र अनवरत घूम रहा था। कहीं खग मर भी विधाय न था। तुल्यानस्य बासना ममता कोलाहल मानसिक सञ्चाल एष्यार्थे, संघर्ष विफलता और कालसाजों की सोहित ज्वालाएँ पंचभूत के अनु-अपु में समाहित थी। कर्म के मनोमय राज्य में अन्व-अरणा से परिजाचित समस्त प्राणी धार्मिक मोक्ष काष्ठता के लिए मर रहे थे।

किन्तु इसके विपरीत ज्ञान-स्रोत में निरन्तर बुद्धिचक्र घूम रहा था। सुख-दुःख की अनुभूति से परे जहाँ निर्मम स्वाय अनुधासन और अनास्वाधी। स्वाय तपस मोर ऐश्वर्य में पने प्राणी जीवन रस के कल-कल को बटोर लेने के इच्छुक थे। जहाँ ज्ञान की करिमा थी पर तृप्ति नहीं। वे अजर-अमर और मोक्ष के साधनों से सर्वत्र संसृजित रहते थे सन्तुष्ट नहीं। किन्हीं दूरन्त मूख स्वार्थों का चिंतन करते हुए वे इच्छामों को सुठकाते और धार्मिकस्य के बहाने विषमता फँसाते थे।

इसके उपरान्त धर्या इन तीन ज्योतिर्मय त्रिपुरों की स्थिति का बोध कराती है। ज्ञान दूरस्थ है जियार्थे निम्न मत की अभीप्सा पूर्ण नहीं होती—यही जीवन की विडम्बना है।

यह कहते ही धर्या के जोड़ों पर बिखरी मुस्कान से आलोक-रेखा फूटकर तीनों ज्योतिर्विन्दुओं को एक में मिलाकर प्रज्वलित कर देती है और जहाँ जहाँ शून्य और डमक का दिवाय गूँज उठता है। इस दिव्य अनाहत नाद में मनु तम्मम हो जाते हैं।

‘स्वप्न स्वाप जापरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय वे।
दिव्य अनाहत पर दिवाय में
धर्यापुत मनु ब्रत तम्मम वे।

अन्तिम सर्ग में इड़ा और कुमार भी प्रजा के साथ मानस-उठ पर मनु और अज्ञा के पास पहुँच जाते हैं और जानन्व सागर में बाह सी सेठे हुए समरस हो जाते हैं ।

समरस से अड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना या;
चेतनता एक बिलसती
जानन्व अज्ञान बना या ।

'कामायनी' में मनु 'मन' यज्ञा 'रागात्मिका वृत्ति' और इड़ा 'बुद्धि' है । मन की वृत्ति अचल है वह सर्वत्र उद्वेगित होता रहता है । आकाश-गिराघा घन-रूप सुख-दुःख आदि भाव उसमें बसते हैं । विश्वास-सम्बन्धित रागात्मिका वृत्ति से जब तक मन का संयोग नहीं होता तब तक जानन्व-रस की उपलब्धि नहीं होती । बुद्धि मन की अनियन्त्रित वृत्तियों को अनुशासित करती है, किन्तु बिना संवेचना और कोमलता के वह निरी शुष्क और तर्कमयी है ।

इस प्रकार 'कामायनी' में मनु, अज्ञा इड़ा—इन तीन ऐतिहासिक पात्रों की कथा के साथ-साथ तीन मनों की कल्प-रचना भी प्रस्तुत की गई है । मानव इतिहास के आदि पुरुष मनु की अनेक कथाएँ ऋग्वेद छान्दोग्य-उपनिषद् सतपथ-ब्राह्मण पुराण और प्राचीन आर्यग्रन्थों आदि में बिलरी पड़ी हैं । कथा के बिलसे भूषा को जोड़ने के लिए प्रसाव जी ने कुछ ऐतिहासिक कुछ प्राचीन आचार और कुछ परम्परागत जनश्रुतियों का सहारा लेकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा और कल्पना के योम से यह जगत्पूर्व काव्यारमक अनुष्ठान प्रस्तुत किया ।

वदि ने कही-कही बहुत ऊँची उड़ान भरी है और जीवन और जगत् के परोक्ष-अपरोक्ष रहस्यों का उद्घाटन किया है ।

मनु के चरित्र-चित्रण में प्रसाव की भावनाएँ साकार हो उठी हैं । अज्ञा में माटी-जीवन की समस्त कोमलता भावार्थ संवेचना और कवना व्याप्त है । बिना प्रमत्याम और समर्पण के स्त्रीत्व का संमलमल पुर्णकल्प व्यक्त नहीं होता । मानव की कोमल अस्तर्षुतियाँ केवल अद्विबल से नियन्त्रित नहीं की जा सकती । यही कारण है मनु के उद्दिष्ट मन को अज्ञा बधा में कर सकी है इड़ा नहीं । इच्छा कर्म और ज्ञान के सामंभस्य से जानन्व की उपलब्धि होती है, केवल एकानी वृष्टि और तर्क-वितर्क विषमता उत्पन्न करते हैं ।

महाकाव्य में जिस नाम्नीर्ष परिष्कृत अभिव्यक्ति और उदात्त भावनाओं का समावेश होता वह अज्ञा की सहायक रूप में विद्यमान है । प्रसाव की न काव्य की बिलसुत पटभूमि पर जय बिराट् उषी तूमिका में अपने चित्र आँके हैं जिनके रंग न कभी बुँबस हो सकते हैं और न कभी रेखाएँ ही मिट सकती हैं ।

साकेत-सत'

टॉन्टर बसदेवप्रसाव भिय का 'साकेत-सत' काव्यग्रन्थ के रूप में हिन्दी-साहित्य

के एक महीन आबर्तन को लेकर प्रकट हुआ जिसमें प्राचीनता के साथ-साथ आज का प्रजातन्त्रवाद, सामन्त-शासनायतवाद और समाजवाद आदि का भी सुन्दर समन्वय किया गया। जिस प्रकार मीचिरीघरण मुष्ट ने 'साकेत' में समयानुकूल और रामकथा में रूप हुई बटनाबों को किञ्चित् परिवर्तित करके मूलम रूप दिया था उसी प्रकार मिश्र जी म भी मुष्ट जी के पद्यचिन्हों का अनुसरण करते हुए राम और भरत के प्रसंग को अपनाया। काव्य का प्रथम सर्ग भरत-माण्डवी के प्रेमपुष्प संकाप से आरम्भ होता है। कहीं-कहीं वातपीठ के सिद्धिचिह्नों में श्रृंखारिकता का किञ्चित् पुट या बाधा है जो भरत की पत्नीर प्रकृति के अनुरूप नहीं।

द्वितीय सर्ग में भरत माण्डवी सहित अपने मामा युवाजित् के साथ केकय देश की ओर प्रस्थान करते हैं। एक दिन वहाँ प्रकृति के रम्य प्रसार से खिंचे हुए वे युवाजित् के साथ मृगमारुत गए। उनके लक्ष्यभेदी तीर से एक सुन्दर मृग का शय हो गया। भरत भी उस निरौह मोले पशु की वृष्टि में कुछ ऐसी कस्या और नाठरता शक्त रही थी कि भरत का हृदय इतित हो उठा। युवाजित् ने अनसर पाकर उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया।

सर्घर्ष अयत् का अय है
सर्घर्ष अयत् की इति है
सर्घर्ष केन्द्र पर निर्घर
अपनी उन्नति की स्थिति है।

युवाजित् ने बातों ही बातों में भरत को अतसा दिया कि वे ही राजसिंहासन के उत्तराधिकारी हैं और कैकेयी इसी धर्त पर राजा बनरज से ब्याही गई है। उन्होंने मन्थ की ओर भी संकेत किया जिसे उन्होंने इसी प्रयोजन से कैकेयी के पास रख छोड़ा था। भरत साथी बातें सुनकर उद्विग्न हो बाठे हैं और उन्हें पका होती है कि कहीं अबोध्या में कुछ पश्यन तो नहीं रखा था रहा। राजि में सर्वकर कुस्वनों से उनकी चिन्ता और भी बढ़ जाती है और वे निरय 'लौट बने साकेत' बही सोचते रहते हैं। इसी बीच मुनि वसिष्ठ के भज हुए हुए उन्हें सिने के लिए आ पहुँचते हैं और भरत भरतनेग सी बति बाके घोड़े पर सवार होकर साकेत-आम के लिए प्रस्थान करते हैं।

यहाँ यह किरतना अप्रासंगिक न होमा कि पाल या अनजाने में लक्षक हाथ यहाँ कई भुटियाँ रह गई हैं और प्रचलित कथा में भी ब्याबाध हुआ है। यह सर्ग विहित है कि केकय प्रदेश में भरत के साथ माण्डवी नहीं उभुज्य गए व। उभुज्य सर्वत्र भरत के साथ रहते थे और फिर राम-जनबास के समक ती वे अबोध्या में व ही कहीं? प्रस्तुत काव्य के प्रथम दो सर्गों में उभुज्य का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। फिर यदि यह मान भी लें कि भरत के साथ माण्डवी केकय देश गई थी तो यह उनके साथ अबोध्या लौट कैसे आई? भरत तो इसकी सीप्रता और स्वरा से अबोध्या लौटकर

आए थे कि उनके साथ माण्डवी का भाग यों भी सम्भव न था। इसके अतिरिक्त भरत का केकय देश प्रस्थान करते हुए माता-पिता राम-लक्ष्मण स्वजन-सम्बन्धी आदि किसी से भी न मिलना अत्यन्त अस्वाभाविक है। मंगरा दासी भी मुवाबित् द्वारा उत्कास यमोष्मा नदी पहुँचाई गई थी। वह कैकेयी के साथ विवाह में आई थी और भरत की परिचारिका होने के कारण उनके प्रति उसका विशेष ममत्व था।

कवि ने भरत की पहचान का पूर्वमास कराके भी उचित नहीं किया। इससे उनके उपास और निर्मल चरित्र पर नैस आटा है जबकि 'रामचरितमानस' में भरत कहते हैं

'तपि भुवि पपु बाम पपु बसहीं। बंधक विरधि वेप जयु छलहीं।

विन्हु के गति मीहि संकर रेऊ। बननी जो यहु जानों भेऊ।'

तीसरे सर्ग की कथा अतृप्त बलि से चलती है। भरत यमोष्मा आकर माता से मिलते हैं और सब घटित घटनाओं को सुनकर शोक और म्लानि से भर जाते हैं। सीते सग में भरत के अन्तर्द्वन्द्व का भासिक विश्लेषण हुआ है। पाँचवें सर्ग में राज मन्त्रागार में भरत राम के दर्शन की इच्छा प्रकट करते हैं और मुनि प्रजा माताएँ सभी का अनुमोदन प्राप्त करते हैं। इधर कैकेयी अत्यन्त बुझी है उसे स्पर्श ही इतना कर्तक और मानसिक संश्लेष हुआ। छठे सर्ग में वह मुनि बधिष्ठ के यहाँ आकर राजा बधरथ को योपबद्ध से पुनर्जीवित करने की प्रार्थना करते हैं और उसमें असफल होकर राज के साथ सती होने को उद्यत होती है। सातवें सर्ग में बधरथ की अस्पष्टि किया सम्पन्न करने के पश्चात् भरत पुरजन परिवन और सैनिक समूह के साथ बन की ओर प्रस्थान करते हैं। मार्ग में अनेक व्यक्तियों को यह भ्रम हो जाता है कि भरत राम के कोम में राम का बच करने जा रहे हैं। यमोष्मा के कुछ नागरिक भ्रुंयवेरपुर के निवाह और भयङ्कक कामर के उपस्थी भरत के सद्भाव पर सम्बुद्ध करते हैं। उक्त तीनों स्थलों में काम क्रोध और भ्रम रजोगुण समीमुग और सतीमुन तथा क्षत्रिय धूह और ब्राह्मण इन तीन अवित्तों का पृथक-पृथक सामना करना पड़ता है। वे सभी सम-विषम परिस्थितियों को चीरते रौंदते अपने मस्तिष्क की ओर बढ़ते रहते हैं और अन्त में राम के पास पहुँच कर शान्ति-प्राप्त करते हैं।

बन में पहुँच कर भरत राम से सीते वर लौटने का आग्रह न करके प्रेम और कर्तव्य के संपर्यय परिवाम की बात पूछते हैं। राम उन्हें इसी महान शासन व्यवस्था लोकसेवा-यत्न और जीवित बयों की लम्बी भवति को शान्तिपूर्वक स्पष्टीत करने का उपदेश देते हैं।

समा जुबती है और सभी अपना-अपना निर्णय देते हैं। भरत अपने समस्त स्वार्थ-परमार्थ को राम के चरणों में समर्पित करते हुए और उनके यमोष्मा लौट जान के आदेश को शिरोधार्य करते हुए चरण-नादुका की याचना करते हैं।

‘हरण पीठ कदवा निधान के
रहें सदा जीवों के भाये
से समझूंगा प्रभु परंपरकन
ही है विहासन पर जाती ।

हरण-पादुका प्राप्त करते भरत मन्दिग्राम में आकर साधनारत हो जाते हैं । उनका रोम-रोम झबु-झबु राममय है । गिरस्तार राम-राम की ध्वनि उनके अन्तर्बाह्य को झँझट करती रहती है । न केवल पादुका-सूजन और आत्मविस्तार न ही भरत रत रहते हैं बल्कि शासन-व्यवस्था प्रकाश के सुख-सुख और सामूहिक समत्वान में भी भाग लते हैं । मन्दिग्राम के प्रवास में ही उनके द्वारा हनुमान जी को सरबिद्ध करने की कुर्वटना भी बटती है, किन्तु उनसे सीताहरण कथमन-मूर्च्छा आदि समाचार जानकर वे मोघबल द्वारा राम के पास पहुँचने की बात सोचते हैं । उस अवसर पर क्लिष्ट उन्हें विषय वृष्टि प्रदान करके मकार्य स्थिति का बोध कराते हैं । अन्तिम पौरुहर्षे सर्ग में राम के बन से लौट जान पर भरत उन्हें उनकी परोहर घोष देते हैं ।

‘प्रभु-हरणों में भक्ति कर ही
ध्यात्र संहित सारी पाती
आन भरत की परा धाम्नि में
धाम्नि स्वयं विमती जाती ।

प्रस्तुत महाकाव्य में अरुण के जीवन में मोघ-योग का आदि अवसान देखने में आता है । अन्त में आकर उनके मन की उद्विग्नता परासान्ति और समरसता में परिवर्त हो जाती है । कहीं-कहीं किन्हीं स्मरणों पर भरत ऐकान्तिक से सामाजिक और प्रेमिक से ध्यात्रहारिक अधिक हो गए हैं । उनमें तुलसीदास के भरत की-सी विद्वलता और रस्य नहीं है—‘राम राम रजुपति जयत सबत नयन जलजात ।

‘साकेत शन्त’ के हरिण-विषयन अथवा पाव-कल्पना में कोई नवीनता नहीं है । नाटकीय संज्ञाप और उत्तर-मत्स्युत्तर के अमत्कारपुत्र प्रसंगों की अवधारणा भी बहुत कम हुई है । कपानक के सूजन में मिथ्याजी धीर्धैरिणीचरण गुप्त के ‘साकेत’ के बहुत लक्ष्मी हैं । उनकी पद्धति और प्रेरणा पर काव्य भी रचना हुई है । मन्दिग्राम में हनुमान जी के मुख से सीताहरण कथमन-मूर्च्छा आदि का प्रसंग जानकर भरत के बन जाने की तैयारी की दुस्वयोजना जो मैथिलीचरण गुप्त न ‘साकेत’ में की है उसे भी साकेतसतकार में व्योम का रवों से किया है यों यदि पहूटाई और भारीकी से सीता जाय तो इधसे ममवान राम की परत क किए पीरहू बपे की अवधि तक अयोध्या में रहने और शासन-व्यवस्था करने की आज्ञा का उत्संभन साथ ही प्रभु के पीरय में अविद्वान और बलास्था झलकती है ।

कल्पना सदात न होते हुए भी काव्य की साया सहाय और हृदयघातिनी है । महाकाव्य के सर्व-अ-बाहिर सदाओं के निर्वाह के साथ-साथ प्रबन्धगत विषयताओं का समन्वय बहुत सुन्दर और सुकविपूर्ण रूप से हुआ है ।

'रामचरित-निबन्तामणि'

धीबाल्मीकि रामायण के आधार पर पञ्चीस सर्गों में रामकथा को लेकर उक्त महाकाव्य की रचना हुई है। कड़ीबोली के पद्य-विधान पर जो पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का शुभ प्रभाव परिलक्षित था उसी रूप को मुस्विट करने का प्रयास रामचरित उपाध्याय ने अपने काव्य में किया। भाषा की स्वच्छता और प्रसाद गुण पर भी इनका ध्यान केन्द्रित था। उद्य स्वरूप में न बंधकर, जो विरकात् से काव्य का साध्य था इनकी भाषा बोलचाल के चलते रूपों को लेकर बसी है। कथा में निरूद्ध विद्याल भावनाओं और वर्धन-वाटय की जोर ही इसमें विद्यप ध्यान दिया गया। कल्पना की सृजन पर-साक्षर्य भावों की बेगवती व्यंजना और ध्वज-प्रयोग के वैविध्य में समस्त कवि ध्यय नहीं की गई।

प्रथम सर्ग से तेईसवें सर्ग तक रामजन्म अनुपम विवाह, बनबास सीता-हरण युद्ध और रावतिक्रम आदि की छोटी-बड़ी कथाएँ विद्यप रूप से बर्णित हैं। कोई-कोई स्पष्ट बड़े गर्मस्पर्शी बन पड़े हैं और कथा भी सहज निर्राज गति से चलती रहती है। चौबीसवें सर्ग से सीता का परित्याग और लव-कुश की कथा आरम्भ होती है। दोनों कथाओं के मूल कवि ने इस कौशल से जोड़ दिए हैं कि कथा कथित नहीं हो पाती।

राम करते थे अवधपुर में अमरपति से मुझी
एक नर भी स्वप्न में भी था नहीं कोई बुझी।
किन्तु दूतों से स्वयं रघुनाथ न पुछा कभी
मन विषय में जात है, क्या कह रहे हैं जन सभी।

सीता-परित्याग जैसी घाहक घटना के परचात् लव-कुश का जन्म और दोनों बालकों का राम से मिलन आदि का प्रसंग अत्यन्त संक्षेप में बर्णित है। सीता का पुनः राम से सायात्कार नहीं होता और न उनका पुष्पी में समा जाने का ही वर्णन है, किन्तु बीच में विच्छिन्न हाकर भी कथा पूर्ण सी हो गई है।

संबादों में स्वाभाविकता और प्रवाह होते हुए भी कहीं-कहीं वे अनुपमक और असामयिक हो गए हैं। सीता के परित्याग जैसी कारुणिक विषय परिस्थिति में राम के ये वचन

अवमय तुम्हें मेरी शपथ है बस मुल जाये नहीं
जित भक्ति ही कल, गह से सीता निकल जाये कहीं।
वर्धन तपोवन का उसे भी इच्छ है, इल ध्याज से
उसको निकालो मेह से मुझको बचानो राज से।

विद्वान् निर्मम अट्टहास से करते मतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त रामकथा जैसे कैवलेयल से निर्मल्य होती हुई आचारमकता और

व्यापक भावना भी इन्हें तुलसी की भाँति प्राप्त नहीं है। न 'मानस' का-सा हृदय श्रावक राग है, न तल्लीनता न भक्ति-रस की अखण्ड धारा प्रवाहित हो रही है और न कहीं उद्देश्य और कला समान स्तर पर ही दिखाई देती है। बारम्ब से अन्त तक इतिवृत्तारमक बर्णन शैली खपनाई गई है। चरित्र-सृष्टि अमनोवैज्ञानिक और अत्यन्त सामारण है और न काम्य का उदात्त सुष्ठु रूप ही कहीं प्रकट हुआ है।

'बदेही बनवास'

हिन्दी साहित्य में काम्य-परम्परा को जीवित रखते हुए श्री जयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' के पश्चात् 'बदेही बनवास' की रचना की और प्रथम काम्य के आदर्श पर चकते हुए राम कथा में सीता-परित्याग की लक्ष्मणा को लेकर करुणा और वियोग की अन्तर्दशाओं का विधान किया। 'बास्मीकि-रामायण' 'रघु वंस' और अबसूयि कृत उत्तररामचरित' में करुणा और दुःखवार को समझकर कथा को मजबूत बनाया गया। 'बदेही बनवास' में सुब-सुब के समन्वित रूप में एक सुन्दर जीवन-मीमांसा प्रस्तुत की गई और उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' की भाँति ही इसके कथानक में भी पर्याप्त हेरफेर किया। 'बास्मीकि-रामायण' 'रघुवंस' और 'उत्तर-रामचरित' में सीता-निर्वासन की घटना कुछ ऐसी दाय्य बन गई है जो सम्बन्धों के हृदय को सदैव कचोटती रही है। लोक-अपवाद के पक्षरक्षक बग फजननी सीता का परित्याग और वह भी उनसे बिना कुछ कहे-मुझे तपोवन और तपस्विणों के बसंत के मिस सम्मेलन द्वारा अकेले अमल में छोड़ा देना कुछ ऐसी निर्दय क्रिया है जो मर्यादा पुरुषोत्तम भयवान राम के उदात्त यन्त्री चरित्र के अनु रूप नहीं। लोगों ने इस कृत्य को अमान्य ही नहीं निन्द भी ठहराया है। तुलसीदास जी की तो 'रामचरितमानस' में इस प्रसंग का अस्केह तक न रचा। किन्तु 'बदेही बनवास' में यह घटना बहुत ही स्वाभाविक हो गई है। जयोध्या के राजमन्त्रि में प्रातःवास घूमते हुए राम दुर्मुख नामक सेवक द्वारा सीता के सम्बन्ध में फँसी लोक निन्दा की बात सुनते हैं। इस अप्रत्याशित पक्ष से एकबारगी अर्मबुरखर राम भी विचलित हो जाते हैं। उनके अन्तर्मांस में भीषण द्वंद्व मचता है। वे भरत सङ्गम घग्घुन आदि अपने आदर्श से सलाह लेते हैं और यह बधिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके सीता जी को बास्मीकि-आश्रम में छोड़न का निश्चय करते हैं। बधिष्ठ राम से कहते हैं

‘किन्तु आप से यह वियोग अनुरोध है।
तब क्यों कान्ता को बतसा दीजिए ॥
स्वयं कहेँगी यह पतिप्राप्ता आप से ।
लोकसारासन में विलम्ब मत कीजिए ॥

'बदेही-बनवास' में राम ने सीता को पहले ही यह कुछ बतकाकर उनके मान और पीरव को बढ़ाया है, उन्हें निष्ठा आराधन मही दिया और न उन्हें बिलखती

बीर प्रसन्न-भीड़ा में तड़पती हुई अकेले जंगल में ही छोड़ा है। अतः राजकुल की मर्यादा के अनुरूप बहिष्कृत द्वारा एक ऐसी प्रजा का उन्मूलन कराया है जिससे सीता का मनमन बहुत ही स्वाभाविक और बांछनीय-ता प्रतीत होता है।

‘भार्यं ज्ञातिं कौं तु चिरकालिकं यत् प्रया ।
गर्भवती प्रियं बलीं को प्रायः नृपति ॥
कृत्स्नपति पावनं आश्रमं मे ह्यं भोजते ।
हो जितसे सब मंगल प्रियु हो पुत्र मति ॥

इसके अतिरिक्त ‘बंदिही बलबास’ में न केवल रत्नक और पुरवाधियों की विद्या के आभार पर ही सीता का परित्याग किया गया है प्रत्युत् लक्ष्मणापुर के द्वेष और मंत्रियों के प्रसंग को लेकर कुछ राजनीतिक कारणों की भी उद्भावना की गई है। राम बहुत सहज ढंग से सीता को सब बातें समझाकर उन्हें कुछ समय के लिए स्वान्तरिण करने का प्रस्ताव सामने रखते हैं।

‘इच्छा है कुछ काल के लिए तुमको स्वान्तरिण करने ।
इस प्रकार जपजा प्रतीति से प्रजापुत्र की ज्ञानि हुई ।
क्यों वृत्तर पिछे संकट में पड़ जाइ कुछ भोजते रहें ।
क्यों न लीकहित के निमित्त जो सह पाएँ हम स्वयं सहें ॥

अयोध्या से नग के लिए मंगलवाचा का वृत्त भी बड़ा ही शानदार और कारुणिक है। नगर की सोमा और सीता-राम की मञ्जुर छवि मानो सदैव के लिए अस्त-पट पर अंकित हो जाती है, किन्तु आज के बौद्धिक युग के प्रभाव के कारण सीता-राम की विरह-वैरना और विवश भाव बहुत हल्का चित्रित किया गया है। उसमें हृदय को द्रवित कर देने वाली कोमलता और कदना नहीं है। राम तो कर्तव्याभिमुख और मुक्तिवर्धित है ही सीता भी आज की संवत्प्रिय नारी की भाँति सजग और क्रियाशील है। पति देवर, सास और मयिधियों से विद्या लेते हुए वे स्वयं सबको बाइस देती हैं।

‘भत रोगा भूक्त न जाना ।
कुल-मंगल सब भजना ॥
कर पुत साभना अनुचित ।
बसुपा पर गुणा बहाना ॥

नग में सीता से विद्या होते हुए जब स्वयं अत्यन्त विद्वक्त हो उठते हैं तो वे अविचलित रह कर उन्हें कर्तव्य-मग की ओर उत्प्रेरित करती हैं

‘सर्वोत्तम साधन है घर में ।
भव हित पुत भाव का भरना ॥
स्वाभाविक गुण सिन्धुओं की ।
विद्व-प्रेम में बरिष्ठ करना ॥’

प्रकृति-विजय द्वारा भी यज्ञ-सत्र विरह-वेदना की व्यंजना हुई है। किन्तु यह हृदय को झुनेवाला न होकर जीवन की अनेकरूपता में अधिक जो गया है।

स्वाम-घटा को देखकर राम के शरीर की वाग्नि स्मृति रूप में विषाद बन जाती है और सभी मुखप्रभ वस्तुएँ विरुम होकर जनकी आँसों में लटकती हैं।

‘विधि-विध्वता अविध्य बनी अब नहीं दिग्बधू हुईसती थी।

विध्वा-मुखरौ की मुखरता अब न दुगो में बसती थी ॥

कमी बन पटक के घेरे में झलक कलाकर जस्ता था।

कमी अग्निका बदन दिखाती कमी तिमिर पिर जाता था ॥

वाग्निनिकेतन के पुष्पों की छटा जनमें रागारमक भावना बगाती है।

‘वाग्निनिकेतन के मुखर उद्यान में।

जनकनभिनी सुतों सहित थी घूमती ॥

जहाँ दिखाती थी कुसुमावलि की छटा।

बार-बार उनके मुख को थी घूमती ॥

‘शैवी-जनवाल’ में वाग्नीश्वर का भी स्पष्ट प्रभाव है। नयवान् राम वाग्नि और अहिंसा के अवर्तित्य समर्पक हैं। उन्हें वयन-नीति अमीष्ट नहीं है

‘वयन है मुझे क्वापि न इष्ट।

क्योंकि वह है नयमूलक भीति ॥

जड़ है ताम कर्क कर त्याग।

प्रजा की लक्ष्मी प्रीति प्रतीति ॥

राजम को एक ही सिर का बताया गया है ‘एक बदन होते हुए भी जो दश बदन था। वर्तमान सम्प्रदाय की अटिस्तारों ने मनुष्य की विज्ञासा-वृत्ति को तीव्र कर दिया है। प्रस्तुत काव्यप्रणय में राम-सीता विषयक लोकोत्तर कथानक होने हुए भी विज्ञासा वृत्ति की वृष्टि का व्यापक क्षम भिन्न जाता है। अंत बुधमय है ता भी आनन्द में बाधक नहीं होता। सुद-बु-ब से परे आत्मभाव की परिधि इतनी व्यापक हो गई है तथा ‘मे और ‘तुम’ से अतीत प्रणय का भाव इतना महत् और उच्च भावमूर्ति पर स्थित है कि बु-बवाद का भौतिक आचार लुप्त हो जाता है।

‘ज्यों ही पतिप्राया ने पति-वद्व का।

स्पर्श किया निर्बन्ध मूर्ति सी बन गई।

और हुए अतिरेक बिल-उस्तस का।

विध्य-ज्योति में परिचय के पल में हुई ॥

स्वार्थ-त्याग मन की बहु-महत क्रिया है जो आत्मा का विस्तार करती है। सीता के उपास पावन चरित का आलोक आज भी दिग्दिग्ध में उन्मासित है—यही इस काव्य का निष्कर्ष है।

प्रस्तुत काव्य की माया सरल और स्वामाधिक होते हुए भी बनेक स्पर्शों पर सस्फुटमयी है। कवण-रस और विरह-वैरता का प्राबाल्य है किन्तु दाम्पत्य-प्रेम का उल्लसित भाव है। प्रेम की अमन्यता परोपकार और कर्तव्य की बुद्धता सर्वत्र विद्यमान है। अष्टकाव्य होते हुए भी यह प्रथम महाकाव्य की-सी गरिमा और उवाचता सिद्ध है।

‘सिद्धार्थ’

श्री जनपद शर्मा कृत महाकाव्य ‘सिद्धार्थ’ में भगवान् बुद्ध का लोकपालन करिष विषय रूप में बर्णित है। जन्म से लेकर निर्वाण तक का सारा आख्यायन या मया है साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों प्रसंगों और वातावरण का भी सम्यक्-स्नेह विषय हुआ है। कथा इस प्रकार बघटी है :

प्रथम सर्ग में कपिलवस्तु नगरी वहाँ की श्री-समुद्रि और राजा शुद्धोदन का गुणवर्णन है। समस्त सुख-शान्ति और अक्षय वैभव होते हुए भी राजपरिवार में कोई सन्तति नहीं विद्यत राजा प्रजा दोनों चिन्तित हैं। एक दिन रात्रि में राजा-रानी को स्वप्न होता है और गिरि-कन्दराओं से बुद्धावतार की उद्घोषणा होती है।

दूसरे और तीसरे सर्ग में महारानी माया के गर्भस्थ शिशु का प्रयाण भगवान् बुद्ध का जन्म ज्योतिषियों द्वारा नवजात बालक की प्रसंगा बाल-बीजाओं का वर्णन यज्ञोपवीत-उरस्य शिखा-वीर्या और मृगया आदि का वर्णन है। चतुर्थ सर्ग से ही राज कुमार सिद्धार्थ में उद्य वैराग्य-भावना के अंकुर प्रस्फुटित होते देख पड़ते हैं जो उन्हें सुख-सुखात्मक अनुभूति से परे अमण्ड-कस्यान-मार्ग और निर्विघ्नेय मानस-वाम तक पहुँचाकर समरस बना देते हैं। एक दिन प्रमातवेला में सिद्धार्थ अपने साथियों सहित मृगया के लिए वन में प्रस्थान करते हैं किन्तु अपने साथी के बाण से आहत हृदय की दुर्दशा देखकर उन्हें मर्मालोक पीड़ा होती है। सुख-वैभव में पसे राजकुमार ने कभी सुख की छाया भी न देखी थी। बाहुर निकसकर उन्हें अहं और विषाद-ही-विषाद बिलहरा वीच पड़ा। कहीं बुद्ध कृपक बैल को पीटवा हुआ के था रहा ना नहीं पसी अन्य छोटे जीवों का मरण कर रहे थे कहीं स्वप्न था और कहीं सलीकन। इस प्रकार समस्त विषय उन्हें वि-वाप से पीड़ित वीच पड़ा। उत्पन्न अंतर्ज्ञान जाग्रत हुआ मुक्त चेतना अक्षय हो उठी मानस-तिमिर में ज्योति-स्फुल्लिख विक्रीम हो गए और जगदी समाधि लभ गई।

‘शेनों सोचन मध्य बुद्धि अक्षता पद्मनाभस्वा यथा नासा के स्वर-नाम्य से लहज ही आपार है प्राण को अंतर्बल प्रभूत ज्योति विन्दु की साकार हो जा गई घूर्णान्मोषि-निमान बुद्ध जब को सत्यं संशोप है।

पंचम सर्ग में कुमार सिद्धार्थ के विराय को जानकर राजा शुद्धोदन को बिता होती है। वे अंतःतपस्य की तैयारी करते हैं और समस्त सुखी नाभरिक कल्याणों को वार्मनित करके राजकुमार के आमोद प्रमोद की व्यवस्था करते हैं। मधोपरा के

सौन्दर्य पर कुमार आसक्त हो जाते हैं ।

छठे सर्ग में यशोधरा के पिता सुप्रबुद्ध स्वयम्बर में सस्त्र-स्पर्धा का आयोजन करते हैं, जिसमें सिद्धार्थ विजयी होते हैं । सिद्धार्थ और यशोधरा का पवित्र-ग्रहण संस्कार भूमिधाम से सम्पन्न हो जाता है । सातवें और आठवें सर्ग में मन्व-दम्पति की विविध केलि-क्रीड़ा आमोद-प्रमोद नृत्य-संघीत वाद्य और वन-उपवन-वाटिका जैसे मनोरम स्थलों में विहार विचरण आदि वर्णित है । धारण वर्षा भावि ऋतुओं का शैमल और प्रकृति-सौन्दर्य दम्पति के चित्त को कुछ दिन सम्मत्त किये रहता है । किन्तु एक दिन मध्याह्न में अलस भाव से झेटे हुए कुमार सहसा नीक कर उठ बैठते हैं । उनके मुख पर वही दिव्य आभा और अंतर्जनि की रेखाएँ विकीर्ण हुई पीबती हैं जो कुछ समय पूर्व मृगया के लक्ष्य पर पड़ी थी । ललाट में रबी हुई भीषा के मूक तार सहसा झट्ट हो उठते हैं । कुमार को ध्वनित तारों में से दिव्यवाणी सुन पड़ती है जो उनके अंतर्बाह्य को विविध संकृति से भर देती है ।

नवम सर्ग में उपरामठा और वैराग्य-भाव उत्तरोत्तर पुष्ट होता जाता है । यहूतों का अन्तः शैमल और मोघ-विलास कुमार सिद्धार्थ के मन को शीघ्र में अक्षमर्ष है । वे उद्विग्न हो उठते हैं और राजाज्ञा प्राप्त करके छन्दक के साथ ग्राम-वर्धन के लिए चल पड़ते हैं । कुमार के स्वागत में समस्त गृह-द्वार यक्षी-सङ्क बाजार-बीचहे भावि सजाए जाते हैं । स्त्री-पुरुष युवक-युवतियाँ सभी सुसज्जित बेप में आनन्दोत्सव बना रही हैं किन्तु सभी न जान कहीं से एक नितांत अज्ञेय बृद्ध मनुष्य झोंपड़ी से निकल कर राजकुमार के चरणों में गिर पड़ता है और अन्न की माचना करता है । उसे बैसते ही कुमार का चित्त इतित हो उठता है और वे शीघ्र और जगत् के मिथ्यात्व की चिन्ता में विमोह हो जाते हैं । जिस प्रकार प्रकाश में पहुँचने से पूर अंधकार को पार करना पड़ता है वही प्रकार किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने के पहले न जाने कितने अज्ञानोहो विषम परिस्थितियों भादि का सामना करना पड़ता है । सच्चे विचार, विवेक सद्बुद्धि कर्तव्य-पालन सत्य की विमोक्षा पीढ़ियों और बुनियों की सहायता करने की हृदयान्तर्मत अनुभूतियों का जायत करना अत्यन्त कठिन है । मुक्त बुद्ध का अक्षर्य के पहिए क ममान निरन्तर घूमता रहता है अतएव संसार के क्षणभंगुर शैमल पर कभी गर्व न करना चाहिए ।

दशम सर्ग में राजा शुशोम्न को अन्तक उत्स्यमय स्वप्नों द्वारा सिद्धार्थ के भव्ती जीवन का पूर्वाभास हो जाता है । कोई अपरिचित साधु स्वप्न-फल बताता है जिसे जानकर राजा और भी सतर्क हो जात हैं और सिद्धार्थ को मायापाय में अचिरत शीघ्रने की अपिकाधिक चेष्टा करते हैं ।

प्यारहवें सर्ग में पुनः सिद्धार्थ छद्म बेप में छन्दक के साथ नगर प्रमण के लिए निकल पड़ते हैं । वही उन्हें एक और अत्यन्त दुःखकाय बृद्ध मनुष्य मिलता है जो बहुविध व्याधियों से पस्त मृत्यु की प्राप्ति हुआ ही चाहता है । सिद्धार्थ बुतहृद

और लोमवश धम्वर से इसका कारण पूछते हैं और जीवन की अस्थिरता से विचकित हो उठते हैं। कुछ दूर बसकर उन्हें बलता हुआ सब और ध्वन करते नर नारी बीच पड़ते हैं। उनमें जोर निरन्तर बनती है और बारहूँ सर्ग में माता-पिता प्रिय पत्नी परमेश्व बालक राजपार और लसत सांसारिक बन्धन विच्छिन्न करके वे महा पव की ओर जघसर होते ह।

‘विमल कवि हिल बानु पी छठा
जबोल डोला बहुली बसुन्वरा
उठा जमी पीव जकापिनाम का
प्रगण्ड नित्रा सब में समा गई।

तेरहूँ सर्ग में सिद्धार्थ के विधोय में राजा प्रजा और यशोवरा की बीन बसा बनित है। चौबहूँ सर्ग में कुमार का भिक्षु-वैप में उनके स्वर्गों में धमन सेमात्राम के निकट कठोर उपलव्या कठिन उपवास सुचाता से भेंट और जन्त में बोधिवृक्ष की ओर प्रयाण जहाँ उन्हें दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। पन्त्रहूँ सर्ग में मनवान् बुद्ध को आत्मप्रेरणा होती है और वे काशी श्रुतिपत्तन मन्दावन और विभिन्न आश्रमों में भ्रम-भ्रम कर अपने बर्म का प्रचार करते हैं। एक बीन मित्रपिता विषवा का मृत पुत्र भी मनवान् के शरणों पर गिरते ही पुनर्जीवित हो जाता है। राजा विन्वसार के नगर में पहुँच कर लबागत न मद्य में पसुबलि आदि का निषेध करके अहिंसा का भी प्रचार किया। सोरहूँ सर्ग में यशोवरा का कठम विलाप और हंस द्वारा पति को संदेश भजने का वर्णन है। अन्तिम दो सर्गों में मनवान् का कपिलवस्तु में जाममन पिता पत्नी एवं नगर-वासियों से मिलन और उनके दिव्य अन्तर्द्वनि से प्रभावित होकर जन्हीं का अनुयायी हो जाना मनवान् का अन्तिम उपदेश देकर कपिलवस्तु से प्रस्थान पेंटीस बर्ष तक इतस्तत पर्यटन पुनः कुक्षिप्राम में प्रवेश और जन्त में महासम्बोधि की शीघ्र विवेकते हुए महानिर्वाण आदि प्रमुख प्रसंगों के बाद इस महाकाव्य का उपसंहार हो जाता है।

‘कर स्वप्राय निमन्त्रित जीव में
निलय जीव क्रिया निज रूप में
उपधि-वाप्य-समान ज्योल में
प्रभु लवेह तिरोहित हो जले।

सकल महाकाव्य इतिवृत्तात्मक होते हुए भी बड़ी ही रंजनकारी रूपमा और बुद्ध व्यंजना से युक्त है। मनवान् बुद्ध के रूप में मनुष्य की आत्मा का चरम विकास दिखाना मया है जहाँ बाह्य और अन्तर्गत बतना एकाकार हो जाती है और जीवन की अकल्पित आशय परिधि से परे किसी अरूप रूप की सत्ता स्थापित हो जाती है। राजा शुशोबन यशोवरा छम्बक आदि के शरण बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं कहीं-कहीं हृदयोद्गारों की व्यंजना इतनी भव्यस्पर्शी और कबजा का उद्रेक करने वाली है कि पाठक जाचों के प्रवाह में बहने लगता है। नवीनता का समावेश होने पर भा

प्राचीन परम्परा संस्कृति और वातावरण की उपेक्षा नहीं की गई।

संस्कृत कर्नबुक्तों में 'प्रियप्रवास' की पद्धति पर प्रस्तुत महाकाव्य की रचना हुई है, किन्तु भाषा में बह सरसता नहीं है जो 'प्रियप्रवास' की विशेषता है। भाषा कई स्तरों पर बुर्बोम और शार्सनिक गम्भीय से समाच्छन्न है।

'आर्यावर्त'

श्री मोहनबाल महतो 'प्रियोरी' ने विश्वासनादी जयबन्ध द्वारा उसकी अपनी बचम्य प्रतिहिंसा की पूति के लिए मोहम्मद गोरी का साम बैकर पराक्रमी पूष्पीराज को पराधित करना और इस प्रकार धिरकास के लिए आर्यभूमि को परतामता की शृंखला में आबद्ध कर देने वारि की प्रसिद्ध ऐतिहासिक बुर्बटना को 'पूष्पीराज-रासो' के कथानक के आधार पर उक्त महाकाव्य में उल्लिखित किया है। गोरी का आक्रमण और पूष्पीराज की हार न केवल दो राजाओं की जय-नराजय का प्रश्न है, प्रस्तुत दो देशों दो प्रमुख जातियों और दो विभिन्न संस्कृतियों के ध्वंस निर्माण की कदम याचा है। आर्यावर्त और आर्यवीरों के देशप्रेम एवं राष्ट्रीय मान नाओं की ध्वस्त मोच पर उस समय विधर्मियों के राज्य-नैमज का प्रासाद बड़ा किया गया था जिसके फलस्वरूप न जाने कितने कर्जवाजनक बुर्बों को आबुध और बना बुध किया गया था। उल्लासीन लोपों की रागद्वय पूर्व माननाओं का मह दुर्धर्ष विध जो हमारे धामन उपस्थित हो जाता है, एक ओर आर्यवीरों की हीनमानता का घोटक है तो दूसरी ओर उनके धीर्य और उम्मेदक वरिध का परिचायक भी।

प्रथम सर्ग में ही हमें कवि बन्ध और राधा समरसी जैसे दो मोट्टाओं का दर्शन होता है जो रज से हठाघ और सिन्ध महाकाली के जीर्ण मन्दिर में लौटकर विजय का बरदान चाहते हैं। वह रात बड़ी मयाबह और कष्टग्रद है। इसी नि स्तम्भ निर्मम राति में पूष्पीराज और गोरी के माम्य का निपटाघ हुआ था। पूष्पीराज पराधित होकर बन्धी बना किए गए थे और आर्यभूमि का सीमाय सिन्धुर सर्वेय के लिए पुँड बुका था।

प्रथम सर्ग के परचात् अवधिष्ट बाट्ट सयों में कथा कम्पण विकसित होती बसती है। सिन्ध के समान लौह-शृंखलाओं में बह और पूष्पीराज की आँखें फोड़ बी जाती हैं। जब पूष्पीराज के समकालीन सजा और सामन्त महाकवि बन्ध जो इस प्रबन्धकाव्य के नायक है पूष्पीराज को बुँदने के लिए युद्धभूमि का बचकर काटते हैं किन्तु वहीं के भीमलस और हृदयदायक बुर्बों को देखकर उनके भाव-नकाँठ मन में ब्वाला-सी मयक उठती है। वे अपने पुत्र बट्ट को महाकाव्य का रापाँय पूर्व करने का आवेध लेकर स्वर्न महानाघ का सेत लुलकर खेल्ने के लिए तलर हो जाते हैं। महारानी संपोयिता पति की पराजय के समाचार से विचमिध नहीं होती बरम् बह सिन्धी-नी सजय होकर सभी को मुट्ट के लिए लसकारती है। तल्लन बह अपने पिता जयबन्ध को भी पत्र लिखती है और उसके बुष्टत्य के लिए उसे विककारती है।

वैश्वदेवियों को अधिकार है न जीने का
इनके पितापिता है मरण भी इसीलिए
यस तक मृत्तित धरौर यह भाषका
जीवित है, जीवित पितापिता, जोर है ।

कवि जन्म महाराजा की पत्र कैकर जयचन्द के पास जाते हैं वहीं उन्हें
पृथ्वीराज के जीवित रहने और उनकी भाँजें फोड़ दी जाने का समाचार प्राप्त होता
है। हर्ष-शोक का भाव लिए वे हिस्वी लौट जाते हैं मीण मुख के लिए प्रस्थान
करते हैं ।

भयंकर मुद्र होता है। मार्गशीर ऋतुओं की सेवा से डटकर कोहा सेते हैं
और उन्हें परास्त कर देते हैं। परचाताप में गलठा हुआ जयचन्द समर भूमि में
बाध लाकर पराधायी हो जाता है और छटपटावा हुआ प्राण छोड़ देता है। कवि
जन्म मीन निःस्तम्ब से बूमते हुए बटना चक्र को देखते हैं किन्तु पृथ्वीराज के न
मिलने से उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। सनका वसु-अशु पीड़ा से कराहता रहता
है। बर्द्ध राज में शीपक के बुझने प्रकाश में जब कवि जन्म व्याकुल विशय और
हृत्चेत से बैठे वे तो मरुस्मात् उन्हें देखी जन्मिका की प्रेरणा से एक मार्ग सूत्र
पढ़ता है ।

कवि जन्म साह फकीर के नेप में गोरी को अपने घर में कर लेते हैं और
इस प्रकार बन्दी पृथ्वीराज से भीषण कुन्मीषाक कारामार में मिलते हैं। पृथ्वीराज
को सभी भाभी व्यवस्था से अबगत कराके साह फकीर गोरी को पृथ्वीराज से मन
मन भर के साथ छोड़े के तबे एक सरदेही ठौर से छोड़ने की बिद्या सीखने का
आदेश देते हैं। गोरी बड़ा क्रुध होता है और बड़े समारोह के साथ पृथ्वीराज को
दरबार में आमन्त्रित करता है। तबों पर हस्की चोट की गूज के धर से पृथ्वीराज
एक बाण से साठों तबे उदात्त छोड़ देते हैं और जैसे ही मुकताम गोरी के मुँह से
'साह-साह' के शब्द निकलते हैं वे स्वनि का अनुसरण करते हुए दूसरे बाण से उसका
प्राणान्त कर देते हैं। सारे दरबार में एकबकी मच जाती है। लोग जयमीत होकर
इपर उबर जाते हैं और सेना छिन्नभिन्न हो जाती है। कवि जन्म को उरवार
निकास्ते हैं और एक तमबार पृथ्वीराज को दे देते हैं। दोनों परस्पर कट कर भाय
भूमि की रसा और आर्यभीरों के धर्म के पालन में अपन प्राण विद्यार्थित कर देते हैं।
बरहू द्वारा उसी समय जन्मिम पंथित मिली जाती है ।

उपज महाकाव्य में सर्वत्र भीर-रग की प्रभावता है यों अन्य रस भी मृदा
पिक रूप में समाविष्ट हुए हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महाकाव्य का महाकाव्यत्व
और भी वृद्धि पर है। बीरावित त्रियाकवाप और उदात्त चरित्र-चित्रण कवि की
प्रतिभा के परिचायक हैं याच ही सजीव वातावरण माटकीय तस्नों को विकसित
करता चल्ता है। नारी-चरित्र भी इतने उत्कृष्ट बन पड़े हैं जो भारतीय कलनाओं

के अनुस्यू और उन्हें कर्तव्य-यथ निर्दिष्ट करने में एक नवीन प्ररणा प्रदान करते हैं। युद्ध में पुष्पीराज की पराजय और उनकी अनिर्दिष्ट मृत्यु का समाद पाकर महा राजा समीपिता अपने अनुपम साहस और धैर्य का परिचय देती हुई निम्न उद्गार व्यक्त करती है जो आर्य रक्त की महागता के प्रतीक हैं।

‘आज पतिहीना हुई प्रोक नहीं इसका
अभय मुहाप हुआ मेरे आर्य पुत्र तो
मज्जर अमर है, सुयस के शरीर में ।
कायरों की मृत्यु साँत-साँत पर होती है
कायता है मरण पराक्रमी की छाया से ।

कवि चन्द्र राजा समरती महाराज पुष्पीराज पराक्रमी और योद्धा कन्दर्पेय आदि सभी वीरता के प्रतीक और चिर समर-विजयी हैं यहाँ तक कि बेघब्रोही जय चन्द्र का दूषित चरित्र भी पराचात्ताप की आँच में तप कर निखर गया है। अतक स्वर्गों पर उसके हृदयमन्थन का बहुते ही धर्मस्पर्शी विस्फुल्लण हुआ है।

‘आनता हू कल इतिहास लिखा जायया
जब आर्य-भूमि का तो मेरे इस कल्प का
वर्षण रूँया वहाँ और उसे पड़ के
सुम-सुग पाठक पुषा से बिकारोसे ।

‘हस्तीघाटी’

सत्रह सवों का उन्नत महाकाव्य महाराजा प्रताप के धीर्य पराक्रम स्वातन्त्र्य प्रेम और साब ही राजपूत वीरों के धर्म और गौरव भावना से भरा है। हस्तीघाटी की रक्त-रंजित मेदिनी वहाँ अवस्थित भारतीय वीरों के घोषित-कथ भूमिघात है आज भी बर्षों के हृदयान्तराज में नूतन उन्माद जमाती है। हस्तीघाटी का समरा कथ भारतीय स्वतन्त्रता की तीर्थभूमि है और उसकी कवच गाथा वीरों के हृदय में उत्साह और अतीत स्मृति-चिह्नों को जाग्रत करती रही है।

भारत के इतिहास में यह बह समय था जबकि अकबर की धर्म सम्बन्धी कटनीति का एक सारे राजपूत वीरों के सिरों पर बूम चुका था और उसकी जपेट में बड़े-बड़े वीर नतमस्तक हो मुगल सम्राट के चरणों में बिछ चुके थे। केवल महा राजा प्रताप ही एक ऐसा सुबुद्ध सेनानी था जो उनके विरुद्ध मस्तक ऊँचा किए बाड़ा था और जिसका हृदय धर्म और देश प्रेम से उफना पड़ रहा था। अकबर उसके इस धर्म को चूर-चूर कर देना चाहता था। वह उसे बूझ में मिलाकर उसके धर्मोन्नत भास पर पराचात्ताप करना चाहता था। महाराजा के अन्य प्रतिद्वंदी राजा भी उसे पराजित देखना चाहते थे। महाराजा का भाई पततसिंह लुम्ब होकर घबुनों से ज। भिखा था। राजा मानसिंह ब्रिहके साथ महाराजा ने खाने से इन्कार कर दिया था अपनी जज्जा से ठिकभिखा कर उस पर गहरी चोट करना चाहता था। फलस्वरूप

दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं । बिद्याल मुसलम सेना को लेकर मानसिंह ने समनौर से बोड़ी दूर रक्त तलैया के समीप धाहीबाण में पड़ाव डाल दिया । हजर महाराजा प्रताप भी हस्तीघाटी के निकट ही उपर्युक्त में बाईस सहस्र राजपूत भीरों के साथ छिपे हुए युद्ध का मुकामपर डूँढ़ रहे थे । एक दिन पर्वतों और जंगलों के मनोरम दृश्यों को देखते हुए मानसिंह भीलों द्वारा घेर लिया गया और वे उसे मारने को उद्यत हो गए । किन्तु राजा न जान कहीं से आ पहुँच और उन्होंने उसके बन्धन शोरकर भीलों को धिक्कारा

मेवाड़ देश के भीलो
 यह मानव कर्म नहीं है ।
 जननी-सपुत्र रज-कोटिद
 घोषा का कर्म नहीं है ।
 धरि को भी घोसा देना
 धुरों की रीति नहीं है ।
 छस से जगदी बन्न करना
 यह मेरो नीति नहीं है ।

यावन मास में हस्तीघाटी का समाधान युद्ध प्रारम्भ हुआ । राजा मानसिंह हाथी पर और महाराजा अपने प्रिय घोड़े बैतक पर चढ़ कर युद्ध का संभालन कर रहे थे । लकड़ारों की चक्राचीव और भीरों की कायों से घाटी भूमि पटी थी । सुन की नदियाँ बह रही थीं । रामु-सना आन बरसाने वाली तोपों से जग्गि बर्षा कर रही थी किन्तु राजपूत भीरों ने बचकनी प्रचंड जग्गि के मुह में बुलकर तोपों के मुक्तों को विपरीत दिशा में मोड़ दिया । महाराजा ने मानसिंह पर आक्रमण किया किन्तु वह कीसक से बचकर भाग निकला । रामु-सेना ने राजा को चारों ओर से घेर लिया । वे अपने घोड़े पर सवार अपनी सेना के अग्र से बहुत दूर थे । काट्टे-काट्टे राजा के हाथ पक गए वे बैतक छिन्नित हो गया था और मेवाड़ का सूर्य अस्त हुआ ही चाहता था । किन्तु और झालामात्मा बोधा बोडाते हुए वहाँ पहुँच गए और उन्होंने सटपट महाराजा का मुकुट अपने सिर पर रख लिया बिजय पताका बरबच हाथों से छीन ली रामुओं ने उन्हें महाराजा समझकर मार डाला । महाराजा को बैतक से दौड़ा और तब तक पीड़ता रहा जब तक कि उसक शरीर में बैतना का एक भी स्फुल्लिग बचसेप था । फिर शरीर छिन्नित होकर भूमि पर गिर पड़ा और बैतक ने दम तोड़ दिया । महा राजा का देहदोही भाई सप्रसिंह बीरता के इस रोमांचकारी वृत्त को दूर से देख रहा था । वह विचलित हुए भाई के चरणों पर आ गिरा और दोनों पादुकों ने बसे मिल कर अपने अन्तर में पुनबती ब्यथा को शान्त किया । औरहुनें रम्य एक हस्तीघाटी की सडाई का यही कवण वृत्त अंकित है । पन्द्रहवें सर्ग में महाराजा प्रताप का दर दर भटकना राज्यपरिवार की दुखसा और अनेक जापति-विपतियों का वर्णन है ।

कई दिन तक मूछे रह कर महाराजा को उपचार बंगलों की बाक छाननी पड़ती है। राजमहिषी और महाराजा की बबोध क्या दिन पर कभी स्वप्न में भी बुद्ध की छाया न पड़ी की बुद्ध है उठते हैं। कर्णों की पराकाष्ठा हो जाती है, यही तरु कि एक दिन बाकिा के हाथ से एक बंगली दिग्गज बास की रोटी छीन ले जाता है। अपनी प्रिय पुत्री के रदन और अघुर्षों से महाराजा का धर्म विचलित हो जाता है। वे संधि-मग सिद्धने बंध जाते हैं किन्तु महाराजा भाकर हाथ रोक देती है। क्या इतनी उपवासों और कर्णों का यही उपसंहार यही परिणाम बांछनीय होता? यही ऐसा विधाता की मञ्जूर न था।

छोछहें और छत्रहें छर्ष में मामावाह की उहायता और बन-बाम से महा राणा पुन अपनी सेना संघटित करते ह और पहले देखीर, फिर कुंमलपङ्क पर आक्रमण करके विजय प्राप्त करते हैं। देवाह स्वाधीन हो जाता है।

भेवाह ह्येछ, फिर राजा ने
 अय-दबबा किले पर कहराई।
 मां पूछ पोछ कर राजा की
 सामोत्र पूछ-सी मुतछाई ॥

इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य बड़ी ही ओजस्वी और स्फूर्त माया में लिखा हुआ है। राजपूत सैनिकों की बहादुरी और महाराजा का मूर्तिमान धीर्य धार्य रक्त की महानता का चोटक है। बर्हा राष्ट्र की गुरता और कर्त्तव्य-मालन का प्रम है बर्हा वैयक्तिक सुख-मुविषाओं की चाह भोज हा जाती है। महाराजा का ओजस्वी रूप आज भी विचित्र प्रार्थों में लीन बैठना और उल्लाह भर देता है।

काव्य के प्रारम्भ में कवि ने महाराजा का ऐसा बीठा-आमठा चित्र दीखा है जो न कैवल्य मदीत की महामता का चोटक है अपितु यक्षिप्य के लिए भी उद्यमों जीवनमय स्वसम्भ सन्धेय छिपार है। 'हृदीकाटी के केकक व्यामलारापय पांडय ने महाराजा प्रताप की टीस बेरना और निर्भीक आत्मा की पुकार का अनुभव किया है और अनुपम चक्ति से प्रस्तुत महाकाव्य में उजार कर रखाया है। यहाँ बयित ऐतिहासिक कथानक चरित्र-चित्रण संलाप और छोटे-छोटे दृश्य कवि की बागकक चेतना और कवी न बुस सफने वाली अग्नि से पचक रहे हैं जो आज भी मामवीय प्रच्छन्न घण्टियों को उदुमुद करते हैं।

'नूरजहाँ'

नूरजहाँ महाकाव्य का मुख्य आधार जहाँगीर-नूरजहाँ की प्रसिद्ध एतिहासिक प्रमकवा है। एक अत्यन्त छोटी सी प्रणय-घटना न उनके जीवन में जो उद्यम-पुमल और जाति ही मचा ही थी बही उनके जीवन की विकास-दिशा और आकर्षण का प्रमण केन्द्र बन गई थी। प्रेम का न और-दोर कही है, न उसकी निजागा की कहीं लुपि। एक दिन दूर देख से आई उध मोली बाकिता मेहलनिता ने पाहवादा

सलीम के अन्तर को झकझोर दिया था। सही उद्यान में वे दोनों खेले रहे थे। उसके निरीह सौंदर्य और मस्खुरापन में कुछ ऐसी मादकता थी जो मन को मुग्ध करने बिना नहीं रहती थी। सोलते-सोलते साहूबाबा सलीम को पुष्प-कधियाँ तोड़ने की प्रेरणा हुई। तभी वो मये कबूतर उसके हाथ समे थे उन्हें मेहर के कोमल करों में छीपते हुए उसने कहा 'बेसो बरा सँमाको कहीं उड़ न जावे। जैसे ही सलीम उबर मुड़ा कि एक कबूतर संभ्रम में उसके हाथ से छूटकर उड़ गया। इतने में सलीम ने झौटकर

‘एक कबूतर बेज हाथ में पूछा कहीं अपर है ?
उसने कहा अपर कैसा ? वह उड़ गया त-पर है।
उल्लेखित हो पूछा उसने थड़ा ! अरे यह कैसा ?
‘ऊड़’ से थड़ा दूसरा बोली थड़ा बेखिए एते।

बस उस समय की उसकी यही भोली भावभंगी सलीम के अन्तर्पट पर सबैब के लिए अंकित हो गई और वह मन प्राण उस पर थोड़ाबर कर बैठा। किन्तु जमीला की कटिक्त और इयमयी प्रवृत्ति ने इस सुखाण्ट नाटक पर पर्दा डाल दिया। ड्रेप और प्रतिकार भावना से प्ररिठ होकर उसने महर और सलीम को पृथक् करने का पद्यन्त रखा।

जमीला के भडकान से अकबर ने मेहर का विवाह खेर अफगन से कर दिया और दोनों को दूर भज दिया। सलीम को यह बियोग किसी प्रकार भी सह्य न हुआ। सूनी निःसम्ब रात्रि में वह छत्रम बेप में मेहरानिसा के सयनागार में चुस गया और खेर अफगन को मार कर कहीं अय्यन भाग जाने का प्रस्ताव अपनी प्रमिका के सम्मुख रखा। महर की तो इधी बीच जैसे कामपष्ट हो गई थी। कर्त्तव्य-बेदी पर उसने अपने प्रेम को ही नहीं बरन् अपनी समस्त आकांक्षाओं उस्तास और आनन्द को भी म्पीछा कर कर दिया था। वह किचित् भी विचलित नहीं हुई और उसने साहूबाबा सलीम के प्रेम को ही नहीं ठुकराया बल्कि उसकी कड़ी भर्त्सना भी की।

किन्तु सलीम के दिल का घाव कमी न भरा। उसमें छटपटाहट उकपल प्रलय विपासा बनी ही रही। सम्राट् होते ही उसने खेर अफगन का बच कर दिया और मेहर को विस्ती मुला भेजा। चार बपों तक मेहर के मन में इन्द्र मचता रहा। प्रेम और कर्त्तव्य में कसमकस सी रही। किन्तु अन्त में बही हुआ जो होना था जो बिधि का बिधान बन चुका था। जहाँगीर और नूरजहाँ की प्रपय-कथा आज भी इतिहास के पृष्ठों में रंभीन वेम्बिड से अंकित है। इतिहास का बिघापी जैसे ही नूरजहाँ की मुमल-सम्राट् जहाँगीर की अफीरवदी और सुवाधिका के रूप में जानता ही किन्तु उसके मानविक संघात और इन्द्रात्मक जीवन का परिचय बहुत कम लोगों को विरित है। बालिका रूप में जो आकपण उसन अनुभव दिया होगा वह सम्भव है साम्प्रय जीवन में सचन होकर बुजैय हो गया हो। यह भी सचन है कि वह

अपने वैवाहिक जीवन में उन मूल सपनों को पुनः साकार देखना चाहती हो जो निवृत्ति के दूर बचेहों से अद्यतन में ही छिन्नभिन्न हो गये थे । घर अथवा जहाँ दूर और कब पति से प्यार की प्रत्याशा करना जीवन के उन एकाकी इन्द्रात्मक अनुभवों को संजीवन और पति देना रहा होना जो दुर्भाग्य के अथवा इतस्तत् छिद्रों को बिल्वर वय से । एकात्मक भाव—शर्मन्तस्य के अभाव में—अब विभूषण हो जाते हैं जो व्यष्टि को समष्टि में और स्वार्थ को अखिलता में परिणत कर देने की आकांक्षा अनादि है ।

विवाह के पश्चात् सुन्दरी मेहर के भीतर ही कुछ ऐसी ही आन्तरिक समझता व सुखित संतोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । अपने पति के प्रति उसमें वही अत्यन्त और एकात्म्य भाव है जो किसी प्रकार भी अविद्यमान नहीं कहा जा सकता और न मिथ्या आश्वासन ही ।

दूर नगर से नदी-तट पर पर्यटनी हय छाये ।
 चिह्नियों के स्वतन्त्र कसरत में गला झाड़कर पाये ॥
 जो मत्स्यानिल मुक्तिक से जाने पाता महलों भीतर ।
 उसी पवन संग मन-उपवास में म अथ बिह्वंसी तान्त्र ।
 इवित बलात्करन बीच वों म अब नहीं रूँपी बन्ध ॥

विवाह होते ही मनोदम्भ आरम्भ हो जाता है और दाम्पत्य जीवन की अन्वि में तथा उसके समाप्त होने के पश्चात् भी बार बपों तक मेहर के प्रार्थों में उबल-पुलक और हलचल ही होती रहती है । प्रती का दुरात्म्य पुनः उन प्रमुक्त मधुर भावों को अनादा है जो शारदत् से हो गए थे । उसके समय जीवन में प्रम एक और है और कथम्य दूरी भी । मूरजहाँ का मन कभी इतर मुकता है और कभी उपर । एक बार उसके मन में पति से सम्मान-विकसेर करने की बात भी चटती है किन्तु वह अन्वि पुर्बलता है । वह पतिव्रता गायी ही कठोर कथम्य को अन्त तक निवाहती है । पति की मृत्यु के पश्चात् भी उसका संकल्प सिद्धि नहीं होता । वह उसी की स्मृति को लेकर जीवित रहना चाहती है बरन् इस मोड़ पर आकर ता उसका अन्तर्द्वार और भी तीव्र हो जाता है । जिस वह प्रम करती है उसी से उदासीन । वहाँ उसका मन विषता है वहीं ध माया ठोड कर उपेक्षित रहना । कती पोर विदम्बना है ? अन्त में अन्तर्मात् उसका चारना बदलती है, वह भी प्रती के आश्रय से और अब अन्तर्मात् उसका हठीला मन विवाह करत-करते धांत हो जाता है ।

मूरजहाँ के सजीव जीवन-आरक को उतारने में शैत्यक गुणमकसिंह को मान सिद्ध बृत्तियों के शूद्रय विरतपन और विचार प्रजिया के उद्घोषों के अन्तर्गत निव अन्वि करने पड़े हैं । जहाँगीर प्रती है, किन्तु ऐसा प्रती नहीं जो प्रम के नाप पर उल्ल-उल्ला कर मर मिटे । उसे स्कूल व्यापार चाहिए । प्रम उत उद्यम-व्यक्ति और उद्बुद्ध मन-वैरता भी प्रदान करता है । अनारकली के मन प्रसंग में भी वही बात

बैचने को मिल्ती है। वह अपने प्रयत्न में हताश न होकर उसे किसी न किसी प्रकार बूझ बैठा है और मरते दम तक शाब नहीं छोड़ता। मेहर के प्रति जब उसका आकर्षण और मन बिचलता है तो भी वह किसी की पर्बाइ नहीं करता। घेर अफगून से बिबाह होने के पदचाए वह बिना भय और आशंका के मेहर के गहकों में बुध बाठा है और सजाइ होने पर तो अपनी प्रेमिका तक की अपसम्मता पर ब्याग न बैकर उसके पति को कफर करा देता है। मेहर की उबासीनता और उषेक्षा से भी वह हताश नहीं होता। आकिर उसके बिद्रोही मन को परास्त करने में वह सफल हो ही बाठा है।

अमीना इस काव्य में अत्यन्त कुटिल और नीच नारी है। वह बिपमता का बिप बाने में सबक सतक है और मिथ्या प्रेम की भित्ति पर दूसरे के जीवन को बर्बाद कर देने में अत्यन्त निर्भीक। प्रारम्भ में वह अनारकली के प्रेम को रौंकर बिजयी बनती है और बाद में मेहर के प्रणय-स्वप्नों को करता से कुचल देती है। उसका समस्त जीवन छल और प्रयत्नों से मरा है। अनारकली का प्रेम प्रसंग हृदयस्पर्शी है, किन्तु अप्रासंगिक-सा हो गया है। प्रमुख चरित्रों के अतिरिक्त दूर तक चलने वाले सामान्य चरित्र भी सुबर बन पड़े हैं।

पुरुष में प्रकृति मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य बातावरण बन गई है। प्रकृति और मानव जीवन में सहरा तादात्म्य है। मनुष्य दुखी है तो प्रकृति भी उबास और बिपारमयी दीख पड़ती है। उनके मनोभाव परोस-अपरोस रूप में प्रकृति के स्वरुतों में यत्र-तत्र मुपरित हो उठे हैं। कहीं पुष्प होंस रहे हैं वहीं नीरे उन पर मबुर पुजन कर रहे हैं कहीं पधी बूतों पर अठसैलियाँ करते हुए पहक रहे हैं और कहीं सुगंधित भीगी हवा महमस बनाती हुई मन को झकसोर बाती है।

गुरुमन्तसिंह ने भाषा को सुबकता से बाका है पर कहीं-कहीं डारसी-अरबी शब्दों के प्रयोग सटकते हैं।

‘कुरुक्षेत्र’

बी रामबापी सिंह ‘बिनकर का कुरुक्षेत्र’ महाभारत के यधिष्ठिर-भीष्म सबाव को बैकर लिखा हुआ ऐतिहासिक काव्यग्रन्थ है जिसमें मानवता के रक्त रचित इतिहास पर कुटिपाठ करत हुए युद्ध की समस्या का बिबेचन प्रस्तुत किया गया है। कैबक के शब्दों में— युद्ध एक निमित्त और कूर कर्म है, किन्तु इसका बायिर कस पर होना चाहिए ? उस पर जो जनीतियों का बाळ बिठाकर प्रतिकार को कामगज बैठा है ? या उस पर, जो इस बास की टिमभिल कर देने के लिए बातुर है ?” ये ही बी महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रस्न हैं जो प्रत्येक राष्ट्र और मानवता के सन्मुख मूर्त हो सटते हैं। प्राब प्रत्यक युद्ध में गुरु होने के पूर्व परस्पर बिरोधी बृत्तियों में संघर्ष हुआ करता है, नचमकप-सी होती है

‘हर युद्ध के पहले डिपा लड़ती उबलते ओप से
हर युद्ध के पहले मनुज है तोबता, क्या दास ही—

नये काव्यग्रन्थ

उपचार एक मनोघ है,
अन्वय का अर्थ का, विषय का परस्पर जोड़ का।

मनुष्य सङ्गता नहीं चाहता वह मुक्त घान्ति सम्भाव्य और समता का
इच्छुक है, किन्तु उसमें मनोघ्न और राय द्वेष बना ईर्ष्या अभिमान आदि दुष्पु
तिवी बिरोहान्ति और प्रतिघोष की भावना बाधती है।
विद्वन्-मालव के हृदय निर्द्वेष में
मूल ही सकता नहीं द्वेषान्ति का
बाह्यता सङ्गता नहीं समुदाय है,
केंद्री सपट्टे विपत्ती व्यक्तियों की सौत से।

आखिर विषय से साम क्या है ? मनुष्य-मनुष्य को भय बनाकर उसका
उप्य रक्त पीकर किस विर-पिपासा को घान्त करना चाहता है ? किस मानव
के पीठक रस से आत्माहित होकर भी की बलन मिटाना चाहता है ?
कुत्सोत्र के भीषण रक्तपात और हृदय-विदारक दुस्मों को देखकर युधिष्ठिर
के मन में भी यही एक प्रश्न बार-बार गुंजता है

किन्तु, इस विषय के उपरान्त भी
सोच क्या है ? क्या हो तो भाव्य का ?

म्हापोह और संकाकुल मन-स्थिति में युधिष्ठिर भीष्म के पास जाते हैं और
बहिष्का का प्रतिनिधित्व करते हुए यज्ञ के विद्वत् मनोबल और आत्मिक घनत्वों
का पक्ष लेते हैं।

अज्ञता नहीं जो परिचय महाभारत का
तनबल छोड़ म मनोबल से सङ्गता,
तप से सहिष्णुता से त्याग से युवोधन को
भीत नहीं नीच इतिहास की में घटता
और कहीं बन्नु जसता न मेरी सङ्ग से जो
मेरे तप से नहीं युवोधन घुमरता
तो भी हाथ यह रक्तपात नहीं करता मे
माद्यों के तप कहीं नीच मान करता।

'कुत्सोत्र को पकड़े हुए हूँ मैं यह न बिस्मृत कर देना चाहिए कि यह मात्र के
मुष की सृष्टि होते हुए भी महाभारतकालीन युद्ध की धारणामों को लेकर लिखा
पया है। भीष्म के युद्ध-अम्बरकी निबट निष्कय मात्र के यज्ञ की समस्यामों का समा
धान नहीं बल्कि उक्त मुष के हिमात्मक मावनों क अनुभवसिद्ध तप्य हैं। उन दिनों
धार्मात्मिक समता सम्भावना और अन्वय के विद्वत् स्यायोपित व्यवस्था के लिए
यज्ञ हुआ करते थे यों स्वार्थ-मालवता दुष्टिल होहान्ति प्रतिघोष-भावना और भीतर
ही भीतर बुमङ्गता बहुर भी समता कारण होता होगा। उन दिनों युद्ध की अनिर्वायता

बहुत कुछ प्रारम्भ और अज्ञात सत्ता के हाथों में ही थी। विध्वंसक और नैतिक-निराश्रय जानते हुए भी विवश होकर समरंजन में कूटना ही पड़ता था। सामूहिक प्रतिशोध उन दिनों पापपूर्व नहीं समझा जाता था। वह पाप-गुण्य की परिधि से परे था।

भीष्म ने अपने कथन में प्रायः इन्हीं उपर्युक्त मतधारों की पुष्टि की है। उन्होंने युद्ध की तुलना उस तूफान से की है जो प्रकृति के विस्फोटक तत्वों को समेटे कुछ ऐसे प्रबंध बेग से था बमकटा है और प्रकृति की विह्वलियों एवं बराजीर्ण वस्तुओं को अपने साथ उड़ा के जाता है। ऐसे तूफान से उन बूतों को किंचित् भी हानि नहीं होती जो सशक्त और सुस्मर हैं। जैसे तूफान अनिर्वाय और प्राकृतिक है, वही प्रकार युद्ध का उत्तरदायित्व भी किसी एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र पर नहीं बरम्बू वह सामूहिक विस्फोट है। यह किसी के रोके नहीं रुक सकता।

भीष्म के मत से तप त्याग विनम्रता अनुराग वमा समा मानवीय गुण हीते हुए भी सामाजिक जीवन के अनुपयुक्त हैं। जब तक असत् पक्ष का प्राधान्य होया तब तक युद्ध अवरमन्भावी है, वह होना ही। सेनाक ने आधुनिक साम्यवादी दृष्टि कोय भी प्रस्तुत किया है

‘जब तक मनुज-मनुष्य का यह
सुख भाग नहीं सम होया।
अनित न होना कोलाहल
सर्वत्र नहीं कम होया।

सातवें सर्ग में जीवन-दृष्टि को लेकर समता-विधायक ज्ञान और मानव-धर्म की व्याख्या की गई है। मनुष्य सर्वत्र मनुष्य पर अविश्वास ही करता रहा है। जब तक वह कभी द्वेष-द्रोह से मुक्त न हो सके। करोड़ों मनुष्य आयु-पर्यन्त मानव का कस्यागकारी रूप खोजते रहे हैं किन्तु किसी को मनुष्यता के लिए निरास होने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्यता का नव-विकास सर्वत्र होता आया है। हमें निष्क्रिय नहीं सक्रिय होना चाहिए। युद्ध समन का समाधान है—दुष्प्रवृत्तियों का बमन और सद्प्रवृत्तियों का उत्थेक।

‘रज रोकना है तो जगज्ज विवरन्त सेको
बुद्ध व्याघ्र भीति ते मही को नुरत कर दो।

एक दूसरा समाधान भी कवि ने प्रस्तुत किया है

‘अथवा अज्ञ के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र
हस्ती में कराल कालकूट-विष भर दो।

कवि के मत से युद्ध हिंसा और विनाश हेतु है वह मनुष्यता के ह्रास और पतन का सूचक है किन्तु साथ ही वे शांततापी और जन-शोषक भी असम्य हैं जो बूतों की मुख-साधि का अपहरण करते हैं। कवि ने इन्हीं दोनों पक्षों का पोरदार समन किया है। यह आवश्यक है कि समयुगीन होकर भी कवि ने महारमा पापी की

सहिष्णुता बृष्टि और असहयोग की नीति की उपेक्षा क्यों की है। न तो आधुनिक बृष्टि से युद्ध-सम्बन्धी समाधान प्रस्तुत किए गए हैं और न महाभारत के धीमन् युधिष्ठिर-संसार को सुदृढ़ पौराणिक आचार-भूमि ही मिली है। दोनों की मजबूत में सटके हुए की-सी डीबाबोस स्थिति है। इन सब असंभवियों के बावजूद भी यह काव्यग्रन्थ अपनी निजी विशेषताओं के कारण हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका आख्यान प्राचीन और ऐतिहासिक तत्वों से पूर्ण है। अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों और विचारधारा को प्रस्तुत करते हुए इसमें मात्र के मत भावों की भी सुन्दर विवेचना हुई है। युद्ध का विषय नीरस है किन्तु इसी शुष्क और नीरस विषय को अधिक और जीवंत-तत्वों से समन्वित कर दिया गया है। काव्य की भाषा भी अत्यन्त ओजपूर्ण और प्रवाहमयी है। न तो कल्पना की कोरी उड़ानें गयी हैं और न कृत्रिमता का सहारा लेकर पाठकों को वास्तविक तथ्य से ही दूर रखने की चेष्टा की गई है। विषय की महानता निरीक्षण की सूक्ष्मता और वर्णन की स्पष्टता से भी अधिक स्वाभाविकता और सरसता सराहनीय है, जो मानवीय मनोवेदों को उद्बोधित करती हुई पाठकों पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है।

‘मेधावी’

हिन्दी के प्रगतिशील लेखक डॉक्टर रामचंद्र राय का ‘मेधावी’ कुछ नई परम्पराओं को लेकर बना है। लेखक के शब्दों में—‘प्रस्तुत काव्य इतिहास की तरह बड़ा नहीं है। मनुस्मृति और विचार के कारण नहीं-कहीं इतिहास की विधियों का ज्ञान नहीं रखा गया क्योंकि विधियों का महत्त्व भी स्वयं अनुस्मृति में है इस प्रकार का काव्य लिखते समय मात्र एक नायिका-एक नायक के चरित्र में इतना रूप समाना असंभव है। इस काव्य के नायक और नायिका इतिहास और गति हैं, और मेधावी के हाथ के प्रकट हुए हैं।’

उपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि मेधावी ही प्रस्तुत काव्यग्रन्थ का एक मात्र नायक है जिसका चेतन्य ज्ञान अपु-अणु में बिलसता है। युग-युगान्तर से मानव की तुलना समय के स्तर को बदलकर निम्न अदृष्टहास-सा कर रही है। न जाने कितने अरमान बासनाएँ, जम्माव जगम मृत्यु और अपराधित जीवन-सन्धियों युग-युग की निर्बाध गति में समाहित हो गई हैं। इतिहास परिवर्तनशील है और मानव समय की गति के साथ सापेक्ष रूप में बड़ा है। उसके ध्येय का बोर-छार अत्यन्त है। मेधावी उद्बोधित और चिंतित बैठा हुआ अत्यन्त प्रसार को आगे पकड़े दे रहा है। मृग चन्द्र तारे, मलय सभी महान्त्य में संलग्न हैं। निस्सीम नभ में शान-विह्वल कल्पना के पंखों पर उड़कर माह पाने में असमर्थ है। रवि पति और तारे उसकी निस्सीमता में विनुरब्ध हैं। मृ-उपग्रह सभी अविभाज्य पति से जल रहे हैं किन्तु उसका भावि और अन्त अज्ञात ही है। मनुष्य का अहंकार विर-विर में तिकाणित हो रहा है, किन्तु तो भी मनुष्य को पति और वृष्टि नहीं है।

द्वितीय सर्ग में मेघाबी अगणित मत्स्यों और सौर-जल के अविच्छन्न गर्तों को देखकर पकित हो जाता है

साराँ का प्रिय सुन्दर गर्तन
 पति का गर्तन
 नूपुर छन-छन
 कितना बिराट है भूम्य जिला
 जिसमें हम अणु मकरन्द अमल
 परिवर्तन के झोकों से चढ़
 बिसि-बिसि में फले हैं सिल-सिल ।

तीसरे और चौथे सर्ग में मेघाबी को सम्पूर्ण सृष्टि महानृत्य में संलग्न सीख पड़ती है। पृथ्वी और आकाश का अमम्य विस्तार उसके दृष्टिपथ के सम्मुख आकर बिछ जाता है। पाँचवें सर्ग में मेघाबी को तममदस में सौर-जल बतते सीख पड़ते हैं मार्गों महाशुभ्य में ग्रह-उपग्रहों का भीषण दण्ड मचा हुआ है। उसे क्यता है जैसे बिच्छू का अणु-अणु चेतन्य हो उठता है और पृथ्वी सूर्य को देखकर मुस्करा रही हो।

छठे सर्ग में मेघाबी को पृथ्वी पर प्राणबिन्दु स्पन्दित हुए बीसते हैं और अमित शक्ति शत-शत बाराहों में उच्छल हुई खान पड़ती है। यों मानव-सहित सदैव प्रकृति से संघर्ष करती रही है, तो भी मेघाबी विस्मय-विमग्न हो देखता है कि मनुष्य का इतिहास कितना अल्प है, कितना तमस्य है। मानव कितना लघु है—जबहाइ समुद्र में केवल बिन्दुवत् किन्तु तो भी मानव होने के माते उसमें अपने प्रति प्यार पवता है। वह आदिम मानव से सने सने उन्नति की ओर अग्रसर होता है। उसका ज्ञान क्रमशः विकसित होता है। संघर्ष करता हुआ वह धामे बढ़ता जाता है। वह उस राह का पबिक है जहाँ कोई व्यवधान नहीं जहाँ ईश्वर और अमरत्व नहीं। जो कस समय का वह आन भी सत्य है ध्यर्ष के समेके में भूलकर प्रगति को नवदण्ड करना है।

नवें सर्ग में मेघाबी को आकाश में उषा फूटती नजर आती है। उषा उसकी आँसों में सिहरन-सी भर जाती है और वह आनन्द विमोद हो उठता है

ध्याकुल नयनों की कारा में
 यह हरित आन क्यों जाप पठी ?

पृथ्वी के रंगमंच पर उसे रोते और हँसते मानव दृष्टिगत होते हैं। कभी प्राणों की मीरवता प्रकृति में लम होकर जासू बहाती है और कभी अविद्यम दृश्यकर्तों की मादकता में विमोद हो चंचल हो उठती है। हेमन्त विधिर, बसन्त प्रीत्य बर्षा परब सभी महाप्रकृति में समरूप है किन्तु अकस्मात् मेघाबी का यह तपन भंग हो जाता है और वास्तविकता जबकी आँसों में नाच उठती है

'ओ कृतिमान प्रनीतर तु
 अपनी सत्ता का खेल देख
 चल उठा समय के बीच मान
 इतिहास पृष्ठ में उभर चला
 री मेधा का रोही बचाव
 में अपतपन की खोज चला ।'

इतिहास के पृष्ठ उलटते चलते हैं और युव-युव की ऐतिहासिक चत्मार्य एक एक करके उड़की बाँधों के समस्त बिड़ जाती है। आदिम आदिपर्व इतिहास कोम, मंपोछ तथा प्राचीन वापा संस्कृति और कला सभी कुछ कल्पना में समग हो उठते हैं। सोचते-सोचते मेधावी भाँव हो जाता है वह समय में के प्रतिध्वनि उठती है

'ओन हो तुम उन्मत्त विमोर,
 बुझी होकर करते संघर्ष
 युगतिर से वष पर चल किन्तु,
 बड़ ही जाता विमल समय ?
 'अरे मैं हूँ मानव अभिराम
 बला या स्कन्धों का से मार
 किन्तु बच देख रहा हूँ भ्रत
 नहीं मित्ता भुमको सुनकार ।

अंतिम बीरहमें सर्प में मेधावी न्याय और कल्याण के घोर संघर्ष को बेल कर मुस्कन उठता है। मबदूर, मिन्न मन्मथर्म कवि दार्शनिक वैज्ञानिक—सभी अपनी-अपनी भूम में लीन है और अद्विष्टबाह या भ्राग्यबाह प्रवृत्तिबाह तथा मिन्न-मिन्न मत्त-मत्तारों का बोधबाका है। काव्य के अंत में कवि उन्मुक्त और सद्यस्य जीवन की कामना करता है।

'एक घर ली होगी यह भूमि
 और जीविक के कुछ का पूर
 बनायेगे मानव यह संघ
 जहाँ दोषक का रहे ना नाम
 जहाँ का सत्य वास्तविक सत्य
 जहाँ स्वातन्त्र्य साम्य भुज दाँति
 करेवे निधि दिन भुज्य
 और परिवर्तन-वष पर समत
 नाम का पढ़ने हाथ
 चलेगी अममग मुक्त ।

प्रस्तुत काव्यग्रन्थ में खगुठी रूपमा और विषयों की बनेकबपता के साथ साथ उनके विधान का बंध भी निरासा है। कवि प्रयत्नीक है और उसने पुरातन बन्धनों को विच्छिन्न करके नवीन काव्य-प्रकृति अपनाई है। अमिष्यंजना की प्रगल्भता और भावनाओं की ऐसी सुकुमार योजना मिलती है कि पाठक बिस्मय-विमूग्ध हो बर्नन-बैचिष्य में लो जाटा है। दर्शन मूनेक इतिहास काव्य समाजशास्त्र आदि सबका इसमें समाहार हो जाटा है अतएव विषय प्रसार व्यापक है। लेखक ने लिखा है:

‘मेने किसी बन्त को ध्येय या लक्ष्य साबित नहीं किया—जीवन की पति ने अपने आपके निष्कर्ष प्रतिष्पन्नित किये हैं।

‘कुणाल’

प्रस्तुत लक्ष्यकाव्य का उद्देश्य सुप्रसिद्ध बंधोक के पुत्र कुणाल का महत् खरिज बंशित करना है। साम्राज्ञी तिष्यरक्षिता की कलंक-काकिमा कुछ एसी सचन होकर इतिहास के पृष्ठों में समा गई है जिसका उर्धवा लप्ट हो जाटा अक्षमब ही है। प्रथम तीन सर्गों में मन्व की राजधानी पाटलिपुत्र का बँसव कुणाल का बम बालश्रीका और उसके शास्य की काव्यमयी कवि बंशित हैं। राजकुमार अत्यन्त शोभ्य और सुन्दर है। उसका बंग-मस्यंग सुडील और काम्तिमय है किन्तु सबसे शोभन और विमूग्धकारी उसके विशाल नेत्र हैं जो बरबस सबका ध्यान आकर्षित कर लेते हैं।

‘या राजी शोभन मनोरम
किन्तु लोचन पद्म
ये बड़े ही हृदयस्पर्शी
रचन-मुप के सद्म।

बीचे सग में कलिग देव को जीतने के उपस्य में एक बृहद् उत्सव मनावा जा रहा है। प्रसस्त लछाट विद्याल नेत्र आजागु बाहु और हवा में बिरकते उत्तरीय एवं बकाशीष करते बामुपनों और बस्त्रों से सुतन्त्रित साम्राट् बंधोक इस प्रकार सिहासनाहङ्ग हैं भागों मीर्म-बंध का शोभास्य-सुर्म अपन समस्त बँसव और कान्ति को बिसरटा हुआ बिराजमान हो। चहुँ ओर आगत्य और सन्नाध कीस हूर-सी बोड़ी पड़ रही है। सभी जानस्यमन है और नृत्य बायन आदि तरङ्ग-तरङ्ग के अभि नय बिघाए जा रहे हैं। मंत्री समासद प्रजा और समस्त रनबास भी उपस्थित है। सहृदा मुखरज कुणाल माट्य-बंध पर कामदेव का बेष बनाए और हाथों में पुष्पबाण लिधे प्रबिष्ट होता है। उस समय की उसकी मन्त्र भावबंधी पर राजी तिष्यरक्षिता मुग्ध हो जाती है। बबास में से झीकटे हुए उसके बम पचस से सठते हैं। हृदय बिचलित हो जाता है और प्राणों में सिहरन ली भर जाती है। महलों में जोटने पर कुछ देर राजी बर्त-मुच्छिन्न-सी पड़ी रहती है। पाँचवें सर्ग में राजी का अंतमबन बड़ी बामिकटा से पिबित किया गया है। प्रेम का अहारीह बड़ा ही स्वाभाविक है, किन्तु माता का पुत्र के प्रति यँदी बासना का उर्देक कुछ ऐसा मूनिब और बचन्य

अपराध है जिसका मार्जन नहीं किया जा सकता। केलक ने बिठनी ही धरमता और निबिकार भाव से रानी के उठते कुत्सित प्रणय का प्राबल्य रिलखाया है। सतनी ही शीघ्रता से पाठकों के हृदय में बिरोह और पूना का भाव जाग्रत होता है। छोटे सर्ग में प्रणय-निवेदन का प्रसंग है। रानी जब इस्माती मचकली और अपनी कंचन सी काया को नामा आमुष्यों और सुन्दर बस्तों से आभूत करके मुखराज कुशाळ से प्रणय की भीक मांगती है तो स्वयं लज्जा भी जना जाती है। राजकुमार का उत्तर किटना स्वाभाविक है। साथ ही किटना सामयिक और ससिद्ध

‘यमहित से ये सब कुशाळ
 यद्गतत प्रमत्त बने अस्विर।
 ‘आये’। तुम हो जननी मेरी।
 लोभो तो क्या कहती हो फिर ?
 कैसे यह छाहूँ हमा तुम्हें।
 पत्ता ! अब राजमचन आये।
 कस पुजन-यजन करो जिससे
 हलचल में परम धामि पाओ।

यमहित और जोट काई हुई सपिणी-की रानी नीतर ही नीतर बिय धगलती है। अपमान की आँच से सतका अन्तर पचकता है और वह प्रतिघोष के लिए सज्जन और सचेष्ट हो उठती है। ब्रह्माद् अघोर से सप्ताह भर के लिए वह शासन-भार अपने हाथों में ले लेती है। राजा-रानी का मान-मनोबल का दुःख ककेयी-वधरथ प्रसंग से प्रेरित है। उसमें किञ्चित् नई उद्भावना कर दी जाती थी वह धायद अधिक स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी बन पड़ता।

वासनाविभित प्रतिघोष की कपटें चमक अधिक उब हो उठती हैं

‘ये इत एत का बरता लूनी।
 प्रतिहिंसा बनकर पचकूनी।

रानी उद्गम रूप से एक पत्र लिखती है जिसमें उपनिष्ठा सिद्ध अमात्य को कुशाळ की आँखें निकालकर पत्नी सहित निर्वासित करने का आदेश है। नवम सर्ग में चर के मन का अर्थ चिह्नित किया गया है, किन्तु यह समझ में नहीं आता कि वस्तुतः से मुक्ति और बंद पत्र को चर न कैसे खोज कर पड़ा होगा अथवा पद्मयन् की जानकारी प्राप्त करने के बार में वह अमात्य और राजकुमार के समझ मूक क्यों बना रहा। अच्छा होता यदि उसे ऐसे ही अनजान रहने दिया जाता।

दशम सर्ग में कुशाळ और जननी पत्नी कंचन का निर्वासन पढ़कर राम सीता लक्ष्मण का वनव्रत धार जा जाता है। राजकुमार कुशाळ बसते हुए अपनी बीम से कंठे हैं और वन-उपवन पक्ष-श्रेय और बीहड़ स्थानों में पचपीत पाठे हुए आये बढ़ते रहते हैं। छोट-छोट पीठ बीब की निस्वाद्या और समय-परिचरान का

कल्प संवेध से जाते हैं। अन्तिम बार सर्गों में राजकुमार का प्रत्यागमन सम्राट् बघोक से भेंट, परचाताप राजी को बंदागा किन्तु कुपाल के भावह से समाधान और फिर कुपाल के राग्याभियुक्त के परचात् सम्राट् का कापाय बस्त्र धारण करके राजधानी से प्रस्थान आदि का प्रसंग है जिसके साथ ही साथ काव्य का उपसंहार हो जाता है।

कथानक की दृष्टि से बटनाओं का संयोजन सुन्दर हुआ है किन्तु कहीं-कहीं केन्द्रत्व विषयों की गति विशृङ्खल-सी लगती है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से राजी तिप्पयट्टिवा और कुपाल के चरित्र सुन्दर उतरे हैं। रूपवतिता उष्ण बल प्रसाजन की पुञ्जारिणी मत्पुत्र वासनाओं की समष्टि और अपनी सत-सत कुरिखत मनोवृत्तियों से चिरी गारी कितनी बू स्वार और त्रयावह हो जाती है इसका बायीकी से बंफन हुआ है। कुपाल का चरित्र असाधारण बृद्धता भेय और सहनशक्ति का परिचायक है जो चरित्रामय और उबावत होकर उसकी मन्मीर प्रकृति के अनुकूल ही है। किन्तु सम्राट् बघोक जैसे दुर्धर्य मरेण को इतना अकर्मण्य समस्त कार्य-व्यापारों से अनभिज्ञ और स्त्रेण विभित करना ठीक नहीं। दूसरे सर्ग के परचात् कुपाल की अपनी माता का भी कही उल्लेख नहीं है। राजकुमार आर्षे तिकासने पत्नी सहित निर्वासित होने और राजा बप्रवा के बिना किसी विरोध-विग्रह के बन-बन भटकना आदि घटनाएँ कुछ ऐसी एकान्तिक हो गईं हैं जो अस्वामाजिक सी लगती हैं।

श्री सीतलनाथ त्रिबेदी ने प्राचीन सामन्तकाजीन शक्ति संस्कारों और बाता बरस का बचतम्य चित्रण किया है। काव्य की भाषा सरल और प्रवाहमयी है। घाण्ट और कदमरस का सञ्चित पर्यवसान साथ ही इतिहास-अधिष्ठ बटना का काव्य-गत निर्माण कुछ ऐसा अनुठा बन पड़ा है जो कवि की कक्षात्मक शक्ति और पुनर्वाही प्रतिभा का द्योतक है।

‘ककेयी’

सामाजिक धारणामों में चाहे कोई कवि कितना ही अग्रगामी क्यों न हो किन्तु किसी भी कृतिवत् में ऐतिहासिक मर्यादा और क्रमागत कथानक की परम्परा को सर्वथा विच्छिन्न करके जाये नहीं बढ़ा जा सकता। गूढतया के क्षेत्र में कवि ने जिस आचार-भूमि पर ककेयी के चरित्र चित्रण का बह साहस किया है, वह मनोवैज्ञानिक और समस्त बह मर्यादाओं के क्रम को उलट देने वाला है। प्रथम सर्गों में ही ककेयी न जाने कितनी-कितनी कास्पनिक संभवामों और उबलन्त वैचरणात्मक भाव-समूहों से आर्षात हो रही है। उसके संव-प्रत्येग में सिहरन है, मार्गों का अनु-अनु कदन कर रहा है, हृदय के दण्ड बहस्यक में विप्लवकाठी मीन म्यपा म्याप्त है और वह निस्तम्ब राशि में रो रोकर अपनी हाहाकारमयी घुमड़ती भावनाओं का अनुहार कर रही है।

‘संसे उन मार्गों को बापू
सिमत के सुरजित तारों में

बंते तोरू रागिणियों को
 बिह्वल धार्स पुकारों में ।
 आब आँचियों के समूह में
 इच्छार्से कम्पित-गाता
 डकराती हूँ इच्छाओं से
 ज्यों प्रह से प्रह डकराता ।
 ज्वालाओं के कोलाहल में
 बीते लिए रूँ मन को
 बन्ध कर्के बंते पलकों को
 मांसु बिह्वल चंरन को ।

प्रथम तीन सर्गों तक रामी की इस अज्ञात छटपटाहट का कोई कारण ज्ञाति
 बिठ नहीं किया गया । यह भी स्पष्ट नहीं है कि रामी क्या चाहती है और उसमें
 किस बीबी प्ररथा से ये मनोमाह जाग्रत हुए हैं । अतुर्य सप में राम के राग्यामिवेक
 की सीयापी है, अयोध्या में आनन्द उभड़ा पड़ा रहा है नगर का कोना-कोना प्रकाश से
 जगमगा रहा है । सहसा बंकेवी के सुने अन्धकारमय हृदय में भी आधा का दीपक
 टिमटिमा उठता है और वह जैसे भीतर ही भीतर अपने को टटोलती है । उसके
 मन में भीषण द्वंद्व होता है ।

'कसौंय । तुम्हारी बाणी
 बजती है सब भी मन में
 पर एक करणतम ममता
 पय रोक पड़ी जीवन में ।

रामी का बरदान माँगने का द्वंद्व भी निराशा है ।

"राजसिंहक एक आय राम का
 हो आरेण अयोध्या छोड़ें
 राजसिंहक की बैला में है
 सिंहासन का बन्धन तोड़ें ।"

अन्तिम सर्गों में राम का बन-नामन बरखर की मृत्यु और भरत का अयोध्या
 लौटने आदि का प्रकरण बिस्तार एक नय रूप में प्रस्तुत किया गया है जो अत्यन्त
 वास्तविक और विचित्र-सा लयता है । क्या ही अच्छा होता यदि ये इस वास्त-
 निक मृत के माह में न बड़कर अपनी प्रतिमा का राजासन की बंकेवी को ही मनो-
 र्बिज्ञानिक पद्धति से विनित करने में उपयोग किया होता । सोचिया बाह की तीव्र
 ज्वाला बुझन कुत्सित माँह प्रमाण्य गारी की बपबठी काल्हार्से छते जनबार्हे ही
 कितने निम्न स्तर पर ले जाती हैं—रसना मार्मिक विरलेपण अधिक सवीचीन ही

अमरु सेचालित पार युग ये ।
मनोरमा मानन की प्रसन्नता
अवपनीया छवि युक्त सोहती
अनूप सहागत स्वर्ग की प्रभा
प्रतीत प्रत्यंग बिराजती हुई ।”

ऐसा समता या मानो ममताम का प्राकट्य—

“हृदय की प्रतिमूर्ति बहिर्गता
भवन की सुपमा, छवि ईश की
तनय हो अवतीर्ण हुई अहो ।
धुम बिबेह पराविप-वाम में ।”

सबत महाकाव्य के आठवें सर्ग में बालक महावीर ने जन्म लिया । जन्म पत्र के कथानक और प्रसंग में राजा सिद्धार्थ और महापत्नी त्रिशला (मनवान के माता-पिता) को मुख्य नायक-नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे पूर्वार्द्ध के समस्त उत्तरार्द्ध का कथा-भाग गीण-या कथता है । मुख्य प्रसंग के लिए जिस परिपाटी का निर्वाह आज तक महाकाव्यों में किया जाता है उसमें गीण विषय और जास्यानों की इस ढंग से संस्लिष्ट किया जाता है जो प्रतिपाद्य प्रकरण को अधिक उभार कर रखने में सहायक होता है । इससे धर्मों में समूची प्रबन्ध कल्पना का केन्द्रबिन्दु जहाँ कोई मुख्य चरित्र होता है उसी के संघर्ष में बचवा उसी के संस्कारों रचि और जीवन-मति को दिशा देने के लिए अन्य चरित्रों की व्यवस्था की जाती है । किन्तु प्रारम्भिक सर्गों में महाराणी त्रिशला के मातृ रूप की गरिमा को रंग कर उसे प्रथमिनी के रूप में चित्रित करना शृंगारिक रस की विद्यम्बना ही कहा जा सकता है ।

“धरोर की यष्टि लता समान भी
उरोज ये भीरुल से लसे जहाँ
प्रसून से अंग बिलोक भूप भी
मिस्त्रि से मुख बने अहनिघा ।
नितम्ब से स्तूल कृष्ण तुमप्य से
उरोज से उन्नत भार लपता
समापता लोचन युग्म से
सुरांगना ली विद्वता मनोरमा ।”

जहाँ तक जैन धर्म के सर्वोच्च सिद्धान्त तत्त्वज्ञान और आचार-परम्परा का प्रसंग है उस दृष्टि से भी इनके सर्गों तक उस प्रकार की केलि-जीड़ा और विलास विभ्रम सर्वथा अनुपयुक्त है । ऐसे रुमाणी विभ्रम यथार्थ को एक भये सिरे से पकड़ने की कोशिश करते हैं और घुड़ आधुनिक वाच्यता पर आ टिकते हैं । महान् उपलब्धी स्वामी

और संयमी महावीर की अमनी के बगल में ऐसा उगमकृत भाव और सुकल्पन इस लिए भी निषिद्ध है क्योंकि मातृकृति में जहाँ ऐसी विस्मय प्राप्तसत्ता का विकास होता है और जो नौ-दश मास तक अक्षय्य भाव से दिव्य शरीर के संस्कार को प्रभव देती है उतनी एक सीमा और मर्यादा है। मन और पंचभूतों के एकीकरण से ही शरीर का निर्माण होता है। विश्व में स्रष्टि के वितने स्वरूप हैं उन सब में विशिष्ट और रहस्यमयी मातृस्रष्टि है जो बाहर से तथा जीवन रस डालकर उसके अपने शरीर के भीतर जो अंतस्वयुकृत प्राण पकित है उसका नित नया पावन और सज्जिन करती है। अतएव उसमें मोहक और हृदय को आश्लेषित करने वाले अत्रिराम विभों के अस्वम के समान पाठकों को अभिभूत करने वाली रचना न होकर नादीप्त की महिमा को प्रतिष्ठित करन वाला सम्पूर्ण मातृश्रव मत्तर होना चाहिए।

जो भी समयानु महावीर के माता-पिता तैरिसमें तीर्थकर थी पादवनाक की परम्परा के अनुयायी थे। अहिंसा त्याग अपरिग्रह और सांसारिक प्रपञ्च की विद्वन्मार्गों से पर उन्होंने बनास्रष्टि और संयमशीलता का ऐसा वातावरण सृष्ट किया था जहाँ उनकी समूची सांठरिक्त सुधिता के पक्कठ प्रमाण स्वरुप समयानु महावीर का प्राकट्य हुआ।

वास्यभावस्था से ही उनके जीवन का ध्येय सुखोपयोग नहीं बरिक्त ज्ञान की पिपासा ज्ञान की खोज और ज्ञान की चरम साधना थी। अपने उद्यम जीवन काल में भी वे कभी ऐहिक सुखों के म्यामाह में नहीं पड़े और उनकी जगज्जात सांठरिक्त प्रवृत्ति उन्हें अविद्याभिरु अलिप्ताता और बनास्रष्टि की बार से ययी।

अथवा यथा लोकात् सर्वकाले को
प्रभुत कौमार्य्यं हुआ जिनग्र का
परन्तु अग्नी लक्ष मौननामि को
विचार में था अठरत्न था यथा।

प्रकाशिता यद्यपि ज्ञान-रतिमयी
जिनग्र पीपस्य प्रभूत हो गई
वरन्तु कारन्विनी भाव मेघ की
ज्ञान-प्रभा से हृदयाधि में उठी।”

उस समय जबकि सामाजिक और जातिक रूढ़ियाँ अग्नातुतरन के गत में ऊँर भी वैदिक कर्मकाण्डों में हिंसा और अविचार का रूप धारण कर लिया था तब समयानु महावीर ने ही आत्मवितन और जीवममुक्ति काय मायया और ब्रह्म का अहीत सिद्ध किया। अर्वाणु आत्मा नवा है वह यथा है, परलोक नया है, निर्वाण नया है—इसी के समाधान में उन्होंने उस ठाकिक चिंतन को प्रभव दिया जिसम भारता अवरत्न प्राप्त करती है। मनुष्य को बहुद-सी बाजों की जानकायी तो है पर उसका ज्ञान अज्ञान से आच्छादित है। उसका अहंकार कलास्रष्टि के कारण उसे कर्म की

और प्रेरित करता है और इसी चक्रव्यूह में फँसा वह निरन्तर कमजोरित भोगों का शिकार बना रहता है। किन्तु जीवन की तृप्ततापूर्वक आकांक्षाओं से मुक्त जो शास्त्र और विरतन आत्मरस के छत्रकटे प्यास का आकण्ठ पान कर लेता है वह काल-भँवर के परे उस कूल-किनारे पर जा बसता है जहाँ संसार-सागर की उताहल तरंगों टकराकर छछे विचलित नहीं करती। व्याप्यस्वमान ज्योति-समुद्र की आकषमयी जनतया के संघर्ष मंत्र तालमेल के माधुर्य में डूबे उसके चित्तचक्र के टूटने पर कावचक भी बना याघ बम जाता है अर्थात् अंतःकरण में जब सम्पन्न यजन की उपलब्धि होती है तो बनादिकासीन अंतःकरण मिट जाता है और समग्र तत्त्व यथार्थ रूप में उद्भासित होने लगते हैं। ऐहिक सुख और पृथिव्य भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं और निवृत्ति की अविचक आस्था का पप प्रसस्त हो जाता है।

ऐकस्वी उदय राजकुमार अपने असाधारण उपश्रम द्वारा अस्पृहाल में ही तत्त्वज्ञान का निरूपण करते हैं और एक सच्चे साधक की भाँति बाहर-भीतर सर्वत्र एक ही बोधस्थिति में रमण करते हुए कभी भी तत्त्वव्यूह नहीं होते। यहाँ तक कि कलकलनिनादिनी महानदी की पावन बारा उनके मन में कोई भी विकार उत्पन्न नहीं करती अपितु उसकी पारव जैसी बबल फेनराशि नग-बुद्धि-हृदय के अजेय ज्ञान और आत्मनित्तक आनन्द की चरम परिभति को उजागर करती है

अमार प्रायः उसके समीप जा
बिस्कोकते तु य-तरण-मयिका
प्रतीत होती मूय वेव विन्व से
सरोज दोभा बल में प्रफुल्लिता ।

मनुष्य-साधारण-वक् से कहीं
महापिका की सुयमा मुखाब्ज की
तटस्थ-शाकी-लग देख देव को
अशाय ताकी इत तत्त्व के हुये ।

नितान्त एकान्त निबाल संस्पृही
कुमार को भी सति मोद-बायिनी
कभी-कभी मा उसके समीप से
बिचारते जीवन का रहस्य वे ।

कुमार निस्तंभ नदी समीप में
सदा महा चित्तगणीक-भाव से
विरक्त निःबाह समेत देखते
उदरव पुण्यावलि घम-मूर्च्छिता ।”

समूचे दृष्टमें सप में राजकुमार की उत्तरोत्तर बढ़ती बय के समानान्तर उनके मनन चिन्तन निदिध्यासन और निष्काम भाव की संस्थिति का दिव्यसैन करमा गया है—जिसमें स्पष्ट प्रसन्न उठते हैं और उनके समापान का भी स्वतः प्रयत्न किया

मये काव्यस्य

गया है। जीव और ईश्वर का स्वरूप क्या है? जीवार्त्ता किस तरह से बना? क्या ईश्वरत्व से भी उसका कुछ संयोग है? देह और वैही ब्रह्म मत्स्य, कास-कम नियति स्वभाव सोकबाद-आत्मवाद, कर्मवाद-विद्यावाद—इन सबमें मध्यस्व भाव कौन है? कैसे उसका कल्याण हो सकता है? समता बराबरी उपयुक्त निर्वाण दोष शून्यता क्या करना चाहिए। एहिक सुखों के पीछे बौद्धता एक साक्षर स्वभाव है और बनेक महत्वाकांक्षामों झूठे सुखों और बढ़ा बनने की स्वाहिष किये वह किन-किन निम्न्य भावों और कुप्रवृत्तियों की साधना करता है। त्याग और बहिष्ता ही सर्वोपरि है। व्यवहार में अपरिग्रह वा मार्त्त साकार करते हुए जहंकार का दमन और व्यामो का गमा बोटगा ही श्रेयस्कर है। सोलह बर्ष की कोमल ब्रह्मायु में ही—जबकि शास्त्र की प्रथम तरंगे बिल को डबाबोस करती खड़ी है—उन्हींने विरच प्रबंध से परे सम्यक दशन प्राप्त कर लिया वा

“कुमार को योद्धर वर्ग ही गये
 बिलोक्ते सब प्रबंध विरच के,
 मनुष्य के जीवन की प्रतिक्रिया
 हुई तब मानस-मध्य विविता।

ज्यों-ज्यों कुमार को उम्र बढ़ती है उनकी मनोमय अनुभूति और जातिरिक्त संघात का सम्मोहन भी बढ़ता जाता है। बुद्धि आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान चैतन्य स्वरूप है अतएव आत्मा और ज्ञान का अन्योन्यामय सम्बन्ध है। आत्मा ज्ञाता तो है ही अपने ज्ञान गुण से व्यमित होने के कारण ज्ञान रूप भी है साथ ही स्वप्रकाश होने से श्रेय भी है। कठिन संघर्ष और इन्द्रिय-मिग्रह द्वारा कर्म से माच्छादित निम्न्य बरच जब हट जाता है तो ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है और जन्तव आत्मा का सर्वज्ञ रूप प्रकट होता है। जमबान् महावीर ने इन्द्रियजन्म और मनोजन्म सारी कर्म पोरियों को पीतकर आत्म-भन्वन द्वारा मक्ति-साधना का पथ प्रसस्त किया वा। जीवन की सीमामों में ज्ञान प्रतिपन्न उपरिबत होन वाले भावबेग जब मन को शोणयमान करते हैं तब आप्रह की बढ़ता और श्रेयकारी वृत्तिका पटियाय करके जो आत्मोपलम्बि के प्रति सचेष्ट और मुखर बना रहता है वही दरबसल निर्मुक्त और सर्वबर्दी है।

“मनुष्य तू मार्त्त जत विचार के
 अबाध तेरी कल ही समाप्ति है,
 परन्तु पर्यावरणाब सोच तू
 अबाध तेरी छत रूप आयु है।
 बरिबो है बुद्धु और जीव का
 अरोध है जीवन बीच बाल है

तरंग में लखन तुल्य व्यर्थ है
 बहुरवर्षी नर की शिवा समी ।
 स्वकर्म ही किन्तु न मास बय है
 विचार ही किन्तु न स्वास मात्र है,
 विभावना ही न कि मूर्त बेहू है
 मनुष्य का जीवन नापव्य है ।

विचार में जो सब भाँति लीन हो
 निगूढ़ हो सतत स्वानुभूति में
 सर्वत्र जो उत्तम कार्य लय हो,
 प्रास्त बीना उतका यथाय है ।”

मनुष्य के क्षण संशुभ जीवन की मीमांसा में कहा गया है—

“मनुष्य का जीवन एक पुष्प है
 प्रफुल्ल होता यह है प्रजात में
 परन्तु छाया सब साध्यकाळ की
 विकीर्ण होके पिरता विनाश में ।

मनुष्य का जीवन रंगमूमि है,
 जहाँ बिखारते सब पात्र जल है
 जमी हिलाया कर सूत्रधार ने
 हुआ पटश्लेष तुल्य मृत्यु का ।

नित्य ने दिव्य विभूति जीव को
 प्रदान की जीवन को अदीपता
 परन्तु जो जीवन मृत्यु न दिया
 सुधीय है धारकत है समस्त है ।

प्याछुं सँघं से ठेरुं सँघं तक भयवान् मञ्जाकीर द्वारा प्रतिपादित दर्शन
 और तत्त्व-विवेचन उस सतह पर का लड़ा हुआ है जहाँ सैद्धान्तिक चेतना और व्या-
 वहारिक चेतना—दोनों के परे अंतर्विजाया की बहुत ही गहरी उपभूति है। यमक
 संस्कृति की मूळ प्रेरणा और अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह तथा तुष्या
 निवृत्ति साध ही अनेकान्तवार का सिद्धान्त तथा पवित्र द्वायस भावनाओं का उदय—
 यों स्वयम्बित या स्वानुभव-वर्धन में उनकी आत्मा के तार जिस निष्पत्ति से बंध उठते
 हैं उनमें मनुष्य-जीवन का सच्चा मर्याकन नरन की सामग्री मिल जाती है ।

बाब के क्षणों में वैवाहिक प्रसंग किन्तु उसका साम्यात्मिक समाधान यमक
 होकर ऐसे समारोह के साथ यह त्याग मार्गों मोक्ष स्त्री बन्धु के परिचय हेतु उन्हीं
 प्रयाग किया हो

“सञ्जे हुए भूवज और मानिका
 पवित्र पाटाम्बर मुस्त बेहू में

नये काव्यग्रन्थ

प्रतीत से खोबर-से कुमार यों
बले बनी मोक्ष-बन्धु बिबाहने ।”

किर भगवान् की कठोर उप-बर्ण प्रम और बहिष्ता का सन्देश देते हुए हेतु वेदान्तियों का प्रथम यात्रिक हिंसा बहुराज जातिवाद और उस समय फैली धार्मिक बिहम्बनाओं से परिचाय प्राप्त के लिए बिदय की संकल्प मानबता को आत्म-शासन का सम्बल प्रदान करना ध्यान में लीन मौनवृत्ती मन-बचन-बर्म से सावध योगमय आचरण करते हुए, ध्यान की भूमिकाओं और सर्वोच्च स्थिति में पैठ संकल्पयता और अग पिठ दिव्य प्रगियों द्वारा धर्म का व्यापक प्रसार—इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य में भगवान् महावीर की समची जीवन-कथा और साधना-कथा का बड़ा ही सुन्दर बिदाय बचन है। अैन धर्म में बीड धर्म से भी अधिक बहू-धर्म और कठोर धर्मों का परि पासन है। भगवान् महावीर का बीदा लेकर प्रव्रज्याका महान् संकल्प उनकी बिद साधन प्रमा उनकी उच्च मानसिक भूमिका कासनाओं के तुमल इन्द्र में स समाधान कारक निरूपण तथा समस्त पूर्वार्थों से मन्त भीतर-बाहर की बाष्पात्मिक शुद्धि का बड़ा ही रोमांचकारी और क्लामय बिज बीजा गया है।

प्राचीन काव्य-परम्परा का निर्बाह करते हुए 'ब्रह्मान' के कवि भी अनूप गर्मा न यद्यपि बड़ कल्पनामा और बोधिल प्रतीकों का सहारा लिया है तथापि काव्य की उदात्तता तथा उपलक्षियों का बहूँ तक सवाल है जसमें न भिर्ले यन्त्री बौद्धिक मंजन बरन् अनेक कोष और अनरु कोषों के सहर्म में बिबिध रंभों को पकड़ने और उनकी सांकेतिक अन्विति का प्रयास किया गया है। अैन धर्म सम्बन्धी बिभिन्न मठ मतान्तर और बिगम्बर-खेताम्बर बिचारधारा में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करन की भी भरनक चेष्टा की गई है।

काव्य का रसास्वादन करते हुए अनरु बार पाठक उदात्त माह-धारा में मग होने का बहसर पाठा है। बिदापकर बाह के सगों में आत्म-बिस्मिति और महान् मता का सा कामास होने लमटा है। पाठक के मन को पबिध पराठल पर जा टिकाना यही इसकी सूची है जो नि सन्नेह काव्य के यथापचार से बहून ऊपर की बल्लु है।

‘भङ्गराज

उक्त महाकाव्य महाभारत के महावानी कर्म के जीवन प्रसंग को लेकर लिपी गई २५ सर्गों की प्रौढ़ काव्यकृति है। अरनी जातित्रिक बिगपताओं के बारम कथ का ब्यक्तिरत्व-निरूपण स्वयं महाभारत में भी आबपण का केन्द्रबिन्दु रहा है। पर उक्त काव्यग्रन्थ की कथा उसके अंतरंग जीवन का छुटी उसके अनरु प्रसंगों में नय अर्ध भरती और प्रतिपाठ बिषय एवं बिचारों को अधिकारिक प्राबधान बनानी बलती है। कर्म का जन्म प्रसंग ही ऐसा है आ मन को पाड़ा पहुँचाता है और बिदय नारी की करन बचा के एक सर्वाधिक ममन्यापूर्ण पहल की सामने उभार कर रलता है। महाभारत के अनसार कर्म कुंती के धर्म से उसकी अविवाहिताधरबा में ही उत्पन्न

हुए थे। सर्वकर अधियायी रात्रि में जब सबम तमिस्रा ने समस्त धूम्य को एक किया वा
 तब कुटी ने तड़पते दिख से झोक जगजाबज अपने सब-जात विद्यु को गंधा की उताक तरंगों
 में फेंक दिया था। सारबि अचिरव की पत्नी नि-संतान रामा ने बड़े ही काङ्ग-प्यार से
 बच्चे का सामन-यासन क्रिया पर बहू उस कर्मक को न हो सकी जिसने उच्च कुलो-
 त्पन्न राजवंशीय बालक की पर प्रतिष्ठा पर सूत-पुत्र के रूप में—इन मयूष्य परि
 स्थितियों में—सहसा पदापाठ किया था। इसका बुप्परिनाम बाबक के भाषी
 उत्तमान और बीरव के विकास में रोड़े बटकाठा रहा किन्तु फिर भी हर मनुष्य
 प्रतिकूल परिस्थिति में हिमाचक की तरह अडिग कल के हृष्य को बमर औरत्व का
 वर्ष प्रदान किया था। अपनी बमनी की भीरुता के विष को बीर पत्र ने अपनी साह
 धिकाता और जोबस्थिता के अमृत से उज्ज्वल बनाया था। यही कारण है कि महान-
 भाय के संग्राम के पूर्व जब कुटी ने अपनी असहाय मातल्व की कहानी कर्म के
 सम्मुख रखी तो साम्राज्य की लिप्ता और जय-पराजय से परे छाती खोलकर और
 अन्त तक उसने बीरतापूर्ण मृत्यु को वरण करने की ही इच्छा व्यक्त की।

यों ज्ञाय मर्यादा के प्रतीक कर्म की कथा उक्त काम्यप्रश्न में विस्तार से
 वक्षित है यद्यपि अनेक स्थलों पर घटनाओं के कम विषय-विषय और संबाव एवं
 कथोपकथन में मौखिक आख्यानों से बेहूब नैपथ्य और विपर्यय है। अपने आर्योक्षित
 आचरण पीत्य एवं पराक्रम तथा अपनी सत्यवादिता और जोबस्थिता के कारण
 और व सत्यवादी कल सूर्य-पुत्र कहलाए। अतएव 'अङ्ग-राज' की कथा का सूत्रपाठ
 सूर्यलोक की स्वर्णमंडित आलोकपारा की मसीम तेजोमयी मय्य उज्ज्वलता के बेदीय
 मान प्रकाश में होता है।

निरजय मानो बन्धु, सबन है यह सविता का।
 सुख मूर्ति प्रत्यक्ष देवता भीव पिता का ॥
 लोक बग्यु का आलोकित यह दिव्यलोक है।
 तिमिर अन्ताहारी हरि का सत्यलोक है ॥
 प्राचीपति का विमल-विमुषित राज्य यही है।
 महाकाल घासित अनन्त साम्राज्य यही है ॥
 जगद्गन्ध नारायण का यह श्रीज्ञानल है।
 आदिदेव का कर्मसेव यह रविर्बल है।

कर्म की जन्म-कथा से निकर धर्मानु कुमारी कुन्ती द्वारा सुरन्त रंदा हुए बालक
 को पैटिका में रखकर गंधा में जल प्रवाह अचिरप-परा हाय कर्म का पुत्रवन् पालन
 बोधाचार्य के मुदपुत्र में आबमन औरव-वीरव राजकुमारों से टककर, अङ्ग-राज्य की प्राप्ति
 और कर्म-वयोबन-मित्रता उत्पत्त्वात् कर्म का विप्र धिय में महेन्द्र परबत पर परत्पुत्रम से
 कर्मविद्या सीसना कर्म के बाग से अकस्मान् तपस्वी की माय का प्राणान्त मरसक्तन पर
 ३ जो पराशरम का घाय कतिव वय स्वयंवर कर्मन कर्म से विमुपाक और जरा

ब्रह्म व्याधि का घोर संहार कर्म-वरासन्ध का महासुख बुयोवन का राग्याभिव्यक्त
 आश्वासन हाह, शीपरी स्वयंवर, मुनिष्ठिर का इन्द्रसन्ध में राग्य सिंहासनास्य होना
 अचरन्ध-वच राजसुय यज्ञ बुयोवन का अपमान कुए का वृष्य और पांडव-वनवास
 रमा-तट पर कर्म का याचकों को मुक्तहस्त दात विप्र-वेष में ममवान् कृष्ण द्वारा
 कठिन परीक्षा और बाद में सुरराज इन्द्र का कवच-कुडक के जाने का कुचक और
 बदक में एकपत्नी धर्मि देना पांडवों के वनवास की अवधि समाप्त होते ही दोनों
 पक्षों में तनावनी युद्ध का निरन्तर सन्धि हेतु कृष्ण का दूत-वेष में हस्तिनापुर-आगमन
 शार-विवाद, अक्षय्य होकर कृष्ण का सौतना मार्ग में कृष्ण और कर्म की भेंट,
 श्रीकृष्ण में कर्म और पत्नी की विनोद-वार्ता कुन्ती की पुत्र से भेंट और बदके में
 अर्जुन को छोड़कर चार पांडवों का जीवन-दात भीष्म-वर्ध विवाद कुरुसभ में भीष्म
 पितामह के नायकत्व में युद्ध जयद्रथ-वच बटोल्कच-वच द्रोग-वच कर्म के नायकत्व
 में महाभारत का घोर संहार, कर्म-पार्श्व का द्वैत युद्ध कर्म का बोरपति प्राप्त करना
 समरौघ में कर्म-पत्नी का विनाश शस्य के नायकत्व में युद्ध बुयोवन भीष्म का महा-
 युद्ध बुयोवन की मृत्यु अश्वत्थामा का पराभव कर्म के जन्म का रहस्य जानकर
 मुनिष्ठिर का परजाताप और सिंहासनासीन होना कृष्ण का द्वारिका-गमन, अन्त में
 कर्म की मठिक विजय युद्ध के प्रसंग में कर्म को सूर्य का उपवेश महाभारत की सं-
 रचना आत्मविजय का महत्त्व पांडवों का वैद्य-निर्वाचन आदि—इन सभी प्रमुख आख्यातों
 और कथा-प्रसंगों को बढ़े ही भय और कीचल से इस महाकाव्य के कसेवर में समेटा
 गया है। अन्त स्पष्ट बढ़े ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं। अनप्याही माँ का
 करण विच चित्तना सजीव है

“अप्यु मम में कर ये शिशु, अन्तर में उवाता ।
 सेकर निकलो बह करबीरा बह मरपति जाता ॥
 बाल कर्म को अंक में लिये चली द्रुतगादिनी ।
 लीच कलाधर युवत ज्यों जाती प्रात घामिनी ॥
 शक्ति लज्जित व्यथित कुमारी जननी ।
 अश्व मदी तट पर लाई अंचल निधि अपनी ॥
 बहूँ कलिनो के अचल में एक बद्रिका ।
 पड़ी हुई थी लिये एक मम काष्ठ पैटिका ॥
 बार-बार मुझ देखती अन्वित करती भाल को ।
 मंत्रुवा-दायित किया कुम्भी ने निज बाल को ॥”

पद्यों में सर्ग में माँ का एक दूध ही विच देखत को मिलता है। महाभारत
 का यह होन वाला है। प्रतिहिंसा की उवासा भाई-भाई को सर्वनाथ की ओर टक
 रही है। विदुद, बुद्धा कुंती माँ का हृदय बहला उठता है। इस घोर संकट के समय
 वह भयन बिप्लवे तावे बाल का हृदय से सया सेने को उड़प रही है।

‘वी विषया अस्ति से बहु प्ररपुत्र नीरज-सो उत्तकी अविनाम्यः ।
 मृय-समान धिरी बल में बहु वी उत्तकी हृदयस्य बुराता ॥
 संजय वा न परन्तु अकारणपी बहु वी सुत को प्रतिशप्या ।
 इगित वी सबसे अनुमानित निष्कमता भवितव्य निरास्य ॥
 विद्वक्ततामय वेन भरते बहु पुष्टिकरी तट अमर भाई ।
 शम्भुक रासि कहीं सिक्तता पर वसित वी सब ओर बिछाई ॥
 बीचन या सितिपनुक छार समान पड़ो रसपार बिछाई ।
 और वही सुरसिन्धु अनूप सुदुष्म हुमा उसको सुकवायी ॥”

मुझे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य और सोच हुआ है कि ‘अज्ञान’ का कैवल्य
 न सिधे माया और काश्य-शक्ति में एक संकीर्ण भावस्य को लेकर बना है, अपितु
 महाभारत के उद्योग-चरित्रों और कथा-श्रवणों को भी उसमें पड़ी ही बेकसाई और
 दुष्प्राज्ञसिक्तता से एकत्र उलट-पलट दिया है । महाभारत की ऐतिहासिक कथा में
 कौरव-पाण्डवों का प्रारम्भ से ही अज्ञान-मग्न है । समूचा राजकुल एक ही सभी में एक
 एक एक प्राणधार प्रवहमान है पर अज्ञान कि सृष्टि का निजम है सहोदर भाताओं
 तक की सम्यक्ति तक में अनेक मतभेद और स्वभाव-वैपरीत्य होता है । बुद्धिमान प्रारम्भ
 से ही कुटिल और पड़पल्लकारी मनोकृति का है । उसकी हिंसा भावना साम्याधिकार
 की अनधिकार श्रेष्ठा दुर्नीति और अदूरवसिता न पाण्डवों को अनेक कष्ट और यात
 मारें ही जिसका अन्तिम दुष्परिणाम महाभारत का सर्वकार और विनाशक युद्ध था ।
 ऐसे प्राण-सूत्रे इतिहास-व्यसिद्ध युष्माक की सुपात्र इर्षाना और सभी पाण्डवों के कथा-
 चरित्रों में विपर्यय उपस्थित करना निताण्ट हास्यास्पद और मघोभनीय है । लेखक
 का सबसे अधिक आकाश वृद्धिष्ठिर पर है । धर्मशास्त्र के अस्मत्त चरित्र पर कीचड़
 उछाकर लक्षक ने सर्वकार अपराध किया है, यहाँ तक कि पूत-बीड़ा—जो इन दिनों
 राजाओं के आमोद-प्रमोद का एक सहज निर्दोष साधन था और पूर्ण दुष्प्राप्त की
 कुटिल नीति ने जिसका आवोजन कर वृद्धिष्ठिर को पँसाया था—उस सबके लिए
 पाण्डवों के शैतिक चरित्र पर भीषण कुठारापाठ किया गया है । श्रीपती के भीष्मरथ
 की कहानी को इसी धर्मशास्त्र और स्वच्छाभाठी प्रकृति से प्रस्तुत किया गया है कि
 देवकर अथाक यह जाना पड़ता है । आर्यमर्यादा के प्रतीक महावीर, महाशानी कर्ण
 के युद्ध से क्या ये घट्ट छोसा है मन्त्रे हँ

‘मुनकर मृप भारती कर्ण ने कहा—सुनो हे विष ।
 भारी का आवरण बसुत होता शुद्ध चरित्र ॥
 दिव्या भोगिनी बलकर अितने तवाभार को मज्ज ।
 प्रष्ट बहामन्ना होगी और अदिक क्या मज्ज ॥”

किन्ती वी दीन हीन मंत्रयापन्न गारी की आर्त पुकार मुनकर दिव्येकी और
 का बिना छोपे बिचार उसने रदा करता कन्ड हो जाता है । किन्तु दीनपी की

दीन वाचना और असहायावस्था को ठुकराकर जो कर्म के मुख से कठोर और सकल नीच बचन कहाने पमे हूँ वे किसी भी पाठक को कज्जा और संकोच के गर्त में बाँध देते हैं—

‘सम्राज्य तब कहा कब ने—री अनार्थता मूर्ति ।
सूत पुत्र से कभी न होगी तेरी इच्छापूर्ति ॥
होती बखि तू सत्य ही तो बह सूत कुमार ।
तेरा प्रथम सहायक होता सुनकर आस पकार ॥

री पनाबना सती नाम का व्यर्थ न कर उपहास
तब चरित्र में कहीं न निकला है सतीत्व आनास
पच भोगिनो तू बोध्या है, कुल पर्याप्त-प्रप्य
और पुर्बिच्छर भीम पार्थ तब मूढ़ पंड है स्पष्ट ॥”

एसा प्रतीत होता है सेकक बपन कपा-चरित नामक के बिपकी रस को नीचा दिखाने के लिए इतना कटिबद्ध और तत्पर है कि उसने उस्ताह में महाभारत के उदात्त चरित्रों का बेमठकक धीकमंग किया है। हीनत्व भावना से पीड़ित उसके भीतर की पूर्वम्ब उद्बुधता और मक्कर बिप मक से अत तक इस काव्य-प्रपञ्च में ध्याप्त है जिसने इसके काव्य रस को बिपाकत बना दिया है। क्या सचमुच किसी लखक को इस प्रकार के ऐतिहासिक कथाकथानों को बिकृत बसकिर प्रस्तुत करने का अधिकार है? क्या इससे किसी महान् उद्बुध को पूति संभव हो सकती है? किन्हीं भी ऐतिहासिक प्रसंगों पर कलम उठाते हुए सेकक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह युगधर्म के अनुकूल ही साथ ही हमारी सभ्यता और संस्कृति में आस्था रखन वालों को उससे प्रोत्साहन मिले। आसुरी प्रभुसियों के बदन और मनाचार के समूलोच्छेद के लिए उदात्त चरित्र वाले महाभागों की अवतारणा हुआ करती है। ‘बङ्गराज’ के लेखक न हन सभी चरित्रों के प्रति पार आस्था और बिप-बमन करके जो कर्म का बिभ उभाय है उससे हित नहीं बरन् अवर्हस्त बहित हुआ है। यह काव्यप्रपञ्च न सिर्फ पबक-पीड़ियों को पुमपाइ करेया बकि आस्थावान लोगों की कोमल भावनाओं पर भी कुठाराघात करता रहेया।

‘रत्निरथी

भित्त-बिधान और भाव-व्यंजना को दृष्टि से ‘रत्निरथी’ कर्म पर सिम्ने काव्य-प्रपञ्चों में सर्वश्रेष्ठ है। भाव जबकि इतिहास अपने भीतर ही सिमटता था उहा है बिगत को कोई सार्थकता नहीं और आगत जैसे नियमन से दूर—बहुत दूर हटता था उहा है वो ऐतिहासिक पात्र भी भ्रान्तियों के विकार बन हुए ह। जीवन की निर्वर्धक उस्ताकपी की होइ में उनके अस्तित्व को सार्थकता के तत्त्व भीतर ही भीतर खण्डित और निरुपाय से है। ‘दिनकर’ न आत्ति की इस ढीक से हटकर महाभारत का एक ऐसा उदात्त और बोवस्थी ध्यवितर उचार कर सामने रजा है जिसने बिपन परि-

स्वितियों में भी एक महान् नैतिक शक्ति की अवतारणा की एक ऐसी शक्ति जो जीवन में एक नये दर्ब की खोज में सदा निरत है।

शांति वर्ष और कुछ परम्परा की झूठी प्रतिष्ठन का पर्दाफास करके कर्म ने मर्बाब का—जसमी रूप में—सामना किया उस कट्टु यवार्थ का जो उसके अपने जीवन की समस्या का और जिसे इस जानकारों के बावजूद अपने अकेलेपन में बड़ी खारम-सुष्टि के साथ उसन जीना सीधा।

“तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं यौव वतलाके,
पाले हैं जग से प्रगति अपना करतब विललाके।
हीन मूल की ओर देख जग गुलत कहे या ठीक
धीर खीबकर ही रहते हैं इतिहासों में झीक।

मूल जानना बड़ा कठिन है नवियों का, बीरों का
बनुप छोड़कर और पौव क्या होता रजबीरों का।
पाले हैं सम्मान तपोबल से भूतल पर धूर
जाति-जाति का शीर मचाते केवल कामर, कूर।

मानव जीवन की समस्याएँ कुछ एसी हैं जो सर्वकालम्बायी और विरलतन हैं। जूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, देघ काल की परिस्थितियाँ और कुल-मर्पाचार्य उसके लिए विशेष महत्त्व रखती हैं। कुंठी के पर्व से कर्म का जन्म कुमारी बबस्था में हुआ और उसने अपनी कर्मका को इकने के लिए उस घण्टागत बालक को जल में प्रवाहित कर दिया। इस अर्धवत ब्यबस्था से बाह्य बजात कुकवील ब्यभित की अनुमृति और प्रतिक्रिया कँधी झोठी है? उसका मोलविज्ञान क्या है? उसके उन सम्बन्धों का मूक्य कहाँ तक है जो उसके तात्कालिक अस्तित्व के साथ जो प्रकाश में लाटा है? राभेय को (जो बस्तव कौन्तेय है) इस अपमान की विभीषिका में—बास्या-बस्था से ही—उचना पड़ता है। रंजमृति में एक दिन कौरव-पांडवों की परस्पर पास्वात्म प्रतिभोमिता में जब अर्जुन अपना हस्त-कीचक विला रहा या और बनुदिक अनोका सम्रा बैबा या तो उठी समय अपने पीछे और बीरत्व के वर्ष को समेटे कर्म सामने बा खड़ा हुआ। उसने छलकार कर अर्जुन को खबरस्त चुनीठी बैठे हुए कहा—

“तुने जो जो किया उसे मैं भी विजला सकता हूँ
बाहे तो कुछ नई कमार्य भी लिखला सकता हूँ।
भीख जोलकर देस कर्म के हाथों का ब्यापार,
पले सस्ता सुपस प्राप्त कर जल तर को विरकार।

इत प्रकार कह लबा विलाने कर्म कमार्य रज की लबा सतब रह गई गई रह भीख डेपी जन जन की। मग्गमुप सा मीन बनुदिक जन का पास्वात नू ब रही थी लिख कर्म को पन्ना की डंकार।”

किन्तु इस शीर्ष के प्रदर्शन और उपस्थित जनसमूह के अभिलम्बन के बीच जब कर्म ने हृदय-मुद्र के लिए पार्श्व का आङ्गान किया तो किशोर बालक के समस्त जसाह और कोमल भावनाओं को यथोचित बाका भीषण व्यंग-विह्वल का निर्मम प्रहार भी उसे सहना पड़ा बिचने सहसा उसकी यथार्थ स्थिति को मन्द रूप में उभाड़ कर धामने रख दिया ।

कपाचार्य ने कहा—“तुमो हे बीर पबक मनबाल ।

मरत-बछ-मबतछ पांडु को मर्बुन है सतान ।

बन्धिय है, यह राजपुत्र है, यों ही नहीं कड़ेया

बिस-तिससे हाथापाई में कैसे कूर पड़ेया ।

मर्बुन से लड़ना हो तो मत यहो सभा में मौन

नाम-बान कछ कहो बतावो कि तुम जाति हो कौन ।

दुसरे सर्ग में महत्वाकांक्षी और विज्ञानु कर्म को हम परशुराम के शिष्य के रूप में पाते हैं । हरे-मरे विद्यालय बन प्रान्तर मध्य—बड़ी शुभ निर्गट, दूर तक छहलहाते बोट पशु-मन्त्रियों का अपूर्व कोलाहल और मज-भूम की भीनी-भीनी गन्ध से समृधा वातावरण उरोठावा और प्राणों में मादकता उँकेल रहा है, परशुराम की कुटिया का दृश्य बड़ा ही मनोरम और चित्तार्चक है । एक ओर तो कमण्डल लवा और हवन-घामघी रखी है, दुसरी ओर मनुष-बाध-सुनीर, भीषण तीर-बरछे और लकवारे लटक रहे हैं ।

“भाई है बीरता तपोवन में क्या पुष्य कमान को ?

या संन्यास साधना में है रहिक धर्मित बनाने को ?

मन ने तन का सिद्धि-यत्न अबबा घरों में पाया है ?

या कि बीर कोई योपी से युक्ति सीखने माया है ?”

वहीं कर्म की अंधा पर मस्तक रलकर बुझ की छाया लके महामुनि परशुराम सोये पड़े ह । कर्म मुख और तन्मय भाव से मुठ की सेवा में लतर है । विचय परि स्थितियों में अक्षय मय-जीति कमाने और मनुविद्या सीखने की कालसा में उद्यम ब्राह्मण कुमार के रूप में बह जनबल शीर्ष-साधना में मया है । मन में जबर्दस्त महत्वाकांक्षा किन्तु उबर गुब से उल करने की क्कानि और परगाथाप है । इसी बीच एक विवेका बौद्धा कर्म की अंधा के मांस को कुतर-कुतर कर खान लगता है और भीतर बाध बनाकर बुझता जाता है ।

“किन्तु पाप के हिलते ही पुनर की नीर उबट जाती

तहक गई यह सोच कर्म की अस्तिपूर्व विह्वल छाठी ।

सोचा उतने धतः, बीर यह पिये रक्त पीने डूँया

धत की कच्ची नीर तोड़ने का पर पाप बहीं सू या ।

बँठा रहा अबक मातन से कन बहुत मन की मारे

बाह निकाले बिना दिना-सी सद्युनपीसता को धारे ।

किन्तु, कर्ण की यम पार जो सद्गता जान लयी तब में
परमुराम जग पड़े रक्त को देखे हुए विस्मित बन में ।”

परमुराम को यह देखकर भारभर्य हुआ कि क्या कोई ब्राह्मणकुमार सचमुच
एसी बसह्य पीड़ा को सहता हुआ चुपचाप देर तक बैठा रह सकता है। उस महा-
मगीपी के मन में फौगन बाठ कौन मई—हो न हो इसमें कोई रहस्य है ? अभी भव
कस मया। साधना बचुरी रह गई। कर्ण को घापग्रस्त भी होता पड़ा और ब्राह्मण
के परम रोग से बंभित भी। जीवन में यह एक और शरण थोटा थी

परसाराज के चरण की घूलि सेकर, जहें अपने हृदय को भक्ति बकर,
निराशा से बिकल हुआ हुआ सा किसी गिरि भृग से छूटा हुआ सा
जला लोया हुआ सा कर्म मन में
कि जैसे चाँद चलता हो महन में ।”

ठीसरे सर्ग में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ भेंट में कर्ण को अपने जग का
रहस्य ज्ञात होता है। यह दरजसल राक्षस नहीं कौन्त्येय है, राजवंदी और पांडवों
का प्रवेष्ट भाता। यह बात यदि मुक्तिठर को विदित हो जाय तो इस साम्राज्य का
अधिकारी कर्ण ही होगा और दुर्योधन की समुची युद्ध-योजना चलत पसट जायगी।
पर राज्य का यह प्रकोपन उसके अहित मन को विचलित न कर सका और किन्ही
भी परिस्थितियों में जगत संकट के समय मित्र के साथ विश्वासघात करने से इंकार
कर दिया। इतनी दूर—भंडार में आकर—किर बापिस लौटना समसभारों का काम
नहीं है।

‘यह बीच नहीं की जारा है
सूसता न कल किनारा है
के कोल भले यह बार मुझे
लौटना नहीं स्वीकार मुझे ।

संजी की बड़ी लुखर छाया
पीसल हो जाती है कस्य
बिलकार-योप्य होया वह नर
जो पाकर भी ऐता तबकर,

हो अलग जड़ा कटबाता है
लुख मान नहीं कद जाता है ।

बीजे सर्ग में और भी कठिन पटीरा के शत्रु का उपस्थित होते हैं। कसोटी
पर घरा सतरना ही अलसी मनुष्य की पहचान है। जमोज इतवारी और पराक्रमी
कर्ण का चिरकाल से यह प्रण था कि दूर्व-आराधना के समय कोई बाधक उसके
सम्मुख आकर यदि किसी वस्तु की याचना करता वा तो वह तुरन्त मुँह मीगा बर

बाग पाता था। कब की इस बानधीलता की क्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। सरदार इन्द्र ने इसका अनुचित काम उठाया और विप्र-बाधक के छद्म रूप में उसका कल्पवृक्ष कुदल और कबच मान लिया। सुरपति को पहचान कर और उसकी समस्त कपट-नीला को समझ लेने के पश्चात् भी कर्ण क्वचित् नहीं हिलका। बड़े ही उदात्त भाव और वीरचित स्वभिमान के साथ उसने जीवन-संरक्षक कबच और कुदल का भी परित्याग कर दिया।

“म ही था अपवाद आज यह भी बिबर हूँ
कबच छोड़ अपना धरिरे सबके समान करता हूँ।
बकटा किया कि मान्य माने समतल पर लाने आये
हूँ तनुत्र वैवीय मनुज सामान्य बनान आये।

मन न कहेगा जगत् कर्ण को ईश्वरीय भी बल का
जीता वह इच्छति कि उसके पास कबच-कुदल था।
यह कह उठा कपास कप ने स्वभा प्रीत लभ भर में
कबच और कुदल उतार घर दिया इन्द्र के घर में।”

कर्ण का यह अपूर्व बान सरदार को भी विन्मित कर देता है। उसका सरदार मनुबन्ध के सामने पराजय स्वीकार करता है। स्वयं सब पृथ्वी धोखे है; वेबता से मानव नहीं बढ़कर है।

“तेरे बहूनेज के लाले मन्निन हुआ जाता हूँ
कर्ण। साथ ही भाव स्वयं को बड़ा साज पाता हूँ,
आह। काली पी कभी नहीं मुसको यों लघता मेरी
बानी। कहीं दिव्य है मुसते आज छोह भी तेरी।

तू बानी, में कठिल प्रबन्धक तू पवित्र म पावी
तू बकर भी तुझे और में लेकर भी बरितावी।
तू पर्वुबा है कहीं कब खेबरक म का सकता है,
इस महान् घर को कोई मानव ही पा सकता है।”

पाँचवें सर्ग में उक्त विषयों की समुची करपा और अंतस्यबा मन्तर ही आई है जो किसी अंधिवादी राजि की शून्यता में अपनी कलंक-कालिका को इन्धन के लिए अपने हृदय के टुकड़े और प्राणों के अंग नवजात बालक को बरख मजूवा में रख जल-प्रवाह में छोड़ देती है और परबालाप की मन्नि में जन्म भर जलती रहती है। निर्दोष बाणीबिहीन बन्हे गिपु की स्तुति मानुस के रोम-रोम में बँसकर—साय प्रविषाच उठने-बैठने—उत्तरी अंतरात्मा को कपोतकी रूठी है और किसी प्रकार की र्जन नहीं लेने देती। विठनी दारम है ऐसी माँ की बहानी उस अठकन मानुस की उत्पीर जो उक्त पुन्य अंधिवादी राजि से जो अतिक्रमपानक वाली परछाईयाँ उभायी है।

“क्या समाधान होया बुद्धि के कम का ?
उत्तर हुआ क्या निज आन्तरिक विषम का ?
किस तरह कहूँगे पुत्र ! पीर में जा तु,
इस पापाभी बननी का हृदय जुड़ा तू ?”

माता का सम्बन्धनाता प्रेम बाळक के लिए अमृत है, पर जब वह उसी के दुःख से संहारक और बहुर बन जाता है तो ममहित माता के हृदय की वेदना का क्या ठिकाना ? धर्म और संन्यास की प्रतीक नारी तब कितनी दीन-हीन हो जाती है ? उसके मन के विकल्प जब उसकी भीरुता का उपहास करते हैं वास्तव्य भीषण पीकार कर उठता है और अन्तर की फूटी रसभारा स्रष्टी प्रबन्ध कुत्सा की विषभारा में परिणत हो जाती है तब नारी के हृदय की ममतिक टीस और प्राणों की कचोट को कौन समझ सकता है ?

“बेटा ! बरती पर बड़ी शीत है नारी
मजला होती सखमुच घोषिता कुमारी ।
है कठिन बन्ध करण समाज के मुख को
धिर उठा न पा सकती पतिता निज मुख को ।”

किन्तु कर्म बचकरवादी नहीं है । माँ की कर्म काचार चीनता भी उसे कर्तव्य-नय से विचलित नहीं करती । उसका बुद्धिम्य पौरुष सजय और अपरानेय है इतने दिन तक बिस रास्ते पर बका को रास्ता उसने स्वयं—अपने पुत्रपार्थ से—तय किया वहाँ से मुझे मोड़ना असम्भव है । नारी अपने स्वार्थ के लिए, माँ की शीतन का मुखमय बगान के लिए, माँकेस्व्य सुख और दूसरों की मजदूरों में सती-साध्वी कुत्स-बन्ध बनने के लिए उस बबोब दुपमुँहे के साथ अनाचार करती है जो उसके समस्त पापों और बुद्धियों से परे निराला निर्दोष और पवित्र है । क्या कोई अनम्याही माँ इतना साहस बटोरकर कह सकती है ?

“तुम को समाज के प्रमुख धर्म-ध्वज-बारी
सुतबती हो गई मैं अनम्याही नारी ।
जब चाहो तो रहने दो मुझे मजल में
या आतिथ्युत कर मुझे भेज दो बग में ।

पर न न प्राण की इत मजि को छोड़ूँगी
धाम्नुख बग से मुख न कभी मोड़ूँगी ।
यह बड़े विष्य उन्मुक्त प्रेम का फल है,
जसा भी हो बटा माँ का संन्यास है ।”

कर्म जैसे भीरु पुत्र की माँ भीरु क्यों हुई ? क्यों नहीं बीरमाता के रूप में
आगे बढ़कर उसने अपने बरिज को उजागर किया ? कर्म के सघर्ष में

“पर, हम हुआ एसा क्यों बाम बिपाता ?
 मरत बीर पत्र को मिली भोज क्यों माता ?
 जो बमकर पत्पर हुई जाति के भय से
 सम्बन्ध तोड़ भावी बचने हे तनय से ।”

छठ बीर साठव सप्त में महाभारत के बनेक दूरपवित्र सामन से गङ्गते हे ।
 कवि न बड़ी ही परिपक्व मुष्टु चीली में जावन के मनन म्याबहारिक पदमुखी की
 मीमांसा प्रस्तुत की हे । मानव-बिजास की मति कितनी बीभी हे ? रूपता हे जैस सहुली
 बर्य पूरे बारिम मुद्राबासियों की सम्बन्धनी बही ज्यों कास्वी—उसी स्तर पर—जाव
 नी मनुष्य लड़ा हे । बह जाय बड़ने को बाहुल-व्याकल तो हे पर बासनाएँ और
 बुद्धवृत्तियाँ पर-पर पर मबरोब उपस्थित करती हे । हय-रश्म हिसा-प्रतिहिसा
 कलह-बिग्रह और परस्परिक प्रतिप्रतिता व उप-उप में हर मुग हर काम में मुठ
 को उरुवाया हे । मुठ का बिस्पो कब होमा बिनास की रूपकपाठी बिह्वारै कब
 मानवता को नियल आवैपी कुर्वं पापबिकता उतरकर किस समय उसके मानसिक
 मनुष्यन और धर्म भावता को डाँबाडास कर देवी—कहा नहीं जा सफ़ता । धर्म क्या
 हे ? वह कीन से सामन न निहित हे ? हिसा बिग्रह या मुठ—बह धर्म का साम्य
 कहा हो सफ़ता । मुठ तो नल्प से बिचलित कर ठरान भयर्म-भय पर के प्राता हे ।

“हो जिते यम से प्रेम कनी
 बहु कुतिलत कर्म करेगा क्या ?
 बबैर, बराल बँट्टी बन कर
 कारेगा और मरेगा क्या ?”

हय और जीत भय और मरजय—जाबिर यह सब हे क्या ? इसकी परि
 चीना कही तक हे ? इनसे हासिल ही क्या हाता हे ? कवि अन्तत इस निष्पन्न पर
 पहुँचता हे

“नहीं पुढपार्थ केवल जीत में हे
 बिना का सार चील पुनीत में हे ।

बिजय क्या जानिए बसती कही हे ?
 बिना उसकी मजब हसती कही हे ?
 नरी यह जीत के हुकार में हे,
 टिपी भयका कह की बार में हे ?”

‘पावती

सागाव उच्चिदान-पवी निव की जाघा पवित्र थी पावती क करिज-भोग की
 साहिरता के मन्म में जनत व्यापक रगतक का सम्बन्ध और बाधनरत की एक
 निष्ठ धरम परिपति हे । पाबिब भूमिका पर उनकी मन्वी सबाभोग निष्ठा बिया-
 रक का में हरेका एक क्या भय एक क्या महरक प्राप्त करती ग है । गटेरकर

जीवन की आसक्ति के अविहित पावन उदय प्रहर में
 छवि के कमल अमृत सिल उठे तसुधि के सागर म
 जीवन की विमूर्ति बन भी के रूप राग रस बिखरे,
 उनकी आभा म तसुधि के तत्त्व पूत हो लिखरे ।
 भी के तन का तेज रूप बन ब्रिजा विश्व की छवि म
 अंतर का स्वर अमृत छत्र बन जगा विदय के कवि में
 आत्मा का रस बहु पर-रूप से बना अमृत की बारा
 हुआ भंग के सुरभि राग से आमोहित जय सारा ।”

ममसाचरण और अर्चना के परचात प्रथम सग हिमात्म्य की सीरम भी भीर
 वही की बरवाबली की मनोरम छटा दूसरे सर्ग में हिमाचल-कृमारी भी पार्वती भी की
 जगम-कृषा तीसरे सग में मोदीदर भी दिव का अकिरूप और निबिकार रूप चौथे
 सग में स्वर्ग की पुकार अर्चना तारक असुर के बुद्धमनीय बरवाचारों से वस्तु देवताओं
 ममकों किन्नरों का बह्ना का बरदान पाँचव सग में काम-दृष्ट अर्थात् कामदेव का
 छिबजी के तीसरे सग से अस्त क्रिय जाने का प्रसंग छठे सर्ग में तपस्विनी जमा सातमें
 सर्ग में शिव-अर्चना आठवें सर्ग में शिव-पावती का परिणय प्रसंग नौवें सर्ग में परिणय
 समारोह दसव सर्ग में शिव-समाज प्रयाग अर्थात् दिव की विभिन्न बारात का बगन
 प्यारहवें सर्ग में पार्वती-परिणय बारहवें सग में विवाह के बाद कैलास प्रयाग तेरहव
 सर्ग में दोहव-बिहार अर्थात् यहाँ बाद अतादि सम्पत्ति का पुनर्निष्ठम और प्रथम प्रसंग
 चौदहवें सर्ग में पद्मवन कुमार कालिकेय का जन्म पंद्रहवें सर्ग में कुमार-बीदा
 सोलहव सग में देवाशुभोपन सगहवें सर्ग में तारक-वध अर्थात् कालिकेय द्वारा अत्या
 चारी और महाकलसाभी अबध्य तारकासुर को मार कर देवताओं को निर्भय करने
 का प्रसंग अठारहव सर्ग में जयन्त-अभिषेक अर्थात् तारकासुर की मृत्यु के परचात्
 सोलहव पर में इन्द्र एवं सतीपुत्र जयन्त के राजसहिहासनासीन होने का वृत्तान्त
 उन्नीसव सग में विजय-वध बीसवें सग में राजतपुर वर्गन इकतीसवें सर्ग में आपसपुर
 बर्धन बाईसवें सग में कोबतपुर-वधन अर्थात् जल तीनों सर्गों में तारक असुर के तीन
 भीरस पुत्रों का एतदर्थ-वर्धन और निता-वध के प्रतिशोध के लिए उपायी ठौरिसे सर्ग
 में विपुर-उत्तार अर्थात् जनुरों की शक्ति और प्रचण्डता दैव कर जयन्त का ब्रह्माजी
 के आदेश से कैलास की ओर प्रयाग और रासमों की अगीति अथम द्रव अतिचार
 और मध-विमोह को नष्ट करण की दिव-पार्वती से शक्ति एवं प्रेरणा ग्रहण करना
 चौबीसवें सग में विपुर-उत्तार पचसौसवें सर्ग में दिव धर्म बधन छत्तीसवें सर्ग में
 शिव-नीति बर्धन सत्ताइसवें सग में शिव-अंशुति बर्धन—इस प्रकार जल महाप्रणव
 में शिव-पावती का माहात्म्य विनयकर अपनी संततरामा के निवेदन की शैलक से
 कविता और कथा के सगम वर मनीन कथावचन द्वारा व्यक्त किया है । काव्य की
 आत्मा के रूप में यथाप्राप्य रस अर्नकार पीति भीर रण-अ्यंजना और काव्यपात्रीय

निरूपण की बहुलता बुद्धिमत् होती है।

उन्होंने एक प्रकार की विचित्र स्वरमयता है तथापि लघ्वकथन में विचार गत प्रीतिता और मलंकृति में सावनी प सचाई है। बासक कुमार के पत्र कीड़ा-कीटुक की कुछ पंक्तियाँ

“मुक्त कीड़ा से विचरता भुवन में आनन्द
द्विज रोदन-हास-रस में मूकते मनु कन्द-
सरक दुग की इयामता में बिजब का बिजबास
स्वप्न-स्मिति में स्वर्ग के आलोक का उस्तास ।
लगा घुटनों से विचरने कुयी में स्वच्छन्द
मोर भर माता-पिता के हृदय में प्रिय स्कन्द ।
पात माते पुत्र की सुग हर्षमय क्लिष्टकार
उमड़ता उनके हृदय में प्रेम पारावार ।
सहज लोला में अगाकर गया नित्य बिनोर
स्कन्द भरता हृदय में सबके अपूर्व प्रमोर-
बिबिध कीड़ाएँ कुतूहल पूर्व में स्वच्छन्द,
भर रही मन में भवन में, बिभिन में आनन्द ।”

पावटी के समूह विकसित व्यक्तित्व में संख्या-विमल भगवान् शिव की निबिधेयता का सहज समाहार भी है। वस्तुतः दोनों के एकात्म्य अविच्छिन्न संयोग से देवी के क्रियाकलापों का प्रवर्तन और उद्यापन होता है। अगस्त अम्य षाब की बहु ऐंठी अमिन् इकाई है जिसमें निःशेष की प्राप्ति का आनन्दोत्साह और मायवत समन्वय-निबध का अगम्य रहस्य छिपा है। गौरी का अतिमर्दन मयंकर रूप ही कानिष्ठा चष्ठी के नाम से विख्यात हुआ। उन्होंने पूज्योपन पञ्चमुख एकतबीज त्रिशुम्भ-शुम्भ आदि बड़े-बड़े देवों का उद्धार करके धमूचे जयत् का कस्याय किया इसलिये वे आदिशक्ति महामाया भी कहलाई।

“अन शिव के तप-योग-प्रेम से बिबिधतु बुता भवानी
करती सृष्ट स्वर्ग-अवनी के सरलक सेगानी;
प्रलय सिखा-सी कमी तेज से होकर शीत करानी
अतुरों के बिनास हित बनती कास-निघा सी काकी ।
बपवती दुर्गा बन करती पर्वत असुर का रण में
आनवती लक्ष्मी बन गिरती बज्र समूह पाहन में
बिन हाथों में रही सुसोमित जीवन की जयमाला
हुई शीत करवात उन्हीं में बन प्रलयकर बवाला ।
अपित देवताओं के अजित दिव्य तेज की सारी,
एकीकृत समष्टि दक्षित न छवि दुर्गा की घारी

अस्मित देवताओं के दीपित दिव्य तेज से डाली
एक मूर्ति वह बनी मलमिश्रित श्री-सरस्वती-नाली ।”

इस ग्रन्थ में कथारमक उपलब्धि के अतिरिक्त नये नायबोध के उन्मेष के साथ साथ काव्य-विश्व की अनेक विद्याओं और संभावनाओं का भी संकेत मिलता है। हिन्दी में इस विषय पर इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और उज्ज्वल काव्यकृति नहीं है। धाम के आस्थाहीन युग में जबकि वैज्ञानिक और वपानकारी जीवन-दर्शन अधिकारिक विकसित हो रहा है भयवती पार्वती का आदर्श—अपन ऊर्ध्वगामी विकास के मुक्तना-रमक पक्ष से बड़कर—आज वाली पीढ़ियों को आस्था और प्राणवला को संकित न होने देना। समय की रगड़ खाकर यद्यपि धर्म की मर्यादाएँ विभिन्न पड़ गई हैं और विश्वास के बाँध टूट गए हैं पर कवि ने अपन धर्म और अध्वयसाय से इस विश्वास को पुनर्जीवित किया है जिससे इस महाशक्ति कविनी का मगवती का रूप सर्वत्र अनुपम है और उमाठन है।

मीरा

परमेश्वर 'डिरेक्ट' कृत 'मीरा' महाकाव्य की कथा का प्रारम्भ बालिका मीरा के काव्यकाल की कुछ एसी अविस्मरणीय घटनाओं से होता है जिन्होंने कल्प-मण्डित के अमित संस्कार उसके कोमल मन और अन्तर्प्रार्थों में जागृत किये थे। मूल भूसरित माँगम में मीरा अपने छोटे-छोटे पुरों में सुपुर बाँधे और सोने रमणी बस्त्रों को मखिन बनाठी हुई तथा हाथों में बजते कंबलों की मधुर संस्कार के साथ मिट्टी का चर बना रहीं थी

अकितना सुन्दर था वह लघु घर
यह नहीं बर्रा जा सकता पर
सब कुछ मूली उतको पाकर
वह बाला ।

वह भाव भरा से अस्तराल
करती थी प्रतिपक्ष बैस भाल
ऊपर रवि भीतर तिमिर जाल
समुन्धित ।

जानें क्यों फिर उसने पग घर
कर दिया बरदा अपना घर ।
को गई मौन में फिर पोकर
उजो हाला ।”

मीरा की माँ मीरा सहित पड़ोस के विवाह में सम्मिलित होने गईं। मोली बालिका वहाँ की घुमघाम बीड़ा-जौदुद नाच-नाच और समुची बहल-महल को देखकर इतनी अविमन हा गई कि वह अच्यमान अपनी पाद-मुनम त्रिजाता से माँ

से पूछ बठी

“हे कौन कहीं मा । मेरा घर ?
म किसकी बुलहिन बनी अमर ?
यों सुन आया मा का जी घर
रोमांचित ।

इकसौवी बच्ची के इस प्रश्न से माँ सहसा कुछ गम्भीर हो उठी । किन्तु उसे तो कुछ बताना ही था

“जिस नारी के हो एक तुता
केबल बहु क्या रे, सके बता
घर कहीं बिरभान कौन पता ?
भाबुलता ।

किर सहता हँसते हुए, मधुर
रे बिया स्वरों में यह उत्तर
दौरा पति तो नटकर नागर
गौ-नामक ।”

इतना सुनते ही बासिका के मन-पटक पर नटवर-नामक की मूर्ति अमिट बन कर समा गई । यद्यपि मीरा के अंतर्मम हृदय में भक्त्यान्तु इष्ट का प्रेम और आकर्षण बहुत बचपन से ही—न केवल अपनी सीमा के अंतर्मम कोमल आँसुओं और बलि सुकुमार भावनाओं के विस्तृत धरातल को परिवर्तित करता है बल्कि इस अमृतत्व की उपलब्धि अर्थात् ईश्वरी नित्य विद्या की पूर्ति भी करता है । किन्तु प्रेम की एक खास स्थिति और उसकी सबसे सधम एवं विशिष्ट व्यक्ति-केन्द्रित भावना का भी कोई समय या परिधीमा होनी चाहिए । प्रेम के अनुभव की प्रथम प्रशिया में—जिसमें कि अक्समात् किसी कल्पना-चित्र से सुख व मनोमग्न होने की अतिव्यवस्था या घटती है—ऐसक न बासिका के मानसिक संपर्कों में जिन वैदिक निर्णयों की स्थापना की है वह बड़ी ही बेतुही और अस्वाभाविक बन पड़ी है । मीरा की आन्तारिक आन्तरिक इन्द्र-संघर्ष का प्रतिफलन तो हो सकता है, पर उसमें सच्ची निष्ठ आत्मपूर्णता की भावना और उन-मन के एकीकरण की मूर्ती भावना ही निहित है । इसके विपरीत तात्पर्य की अपरिपक्वता में ही प्रेम की नई अनुमति के का में उसका अद्यतन ही अनादि कार प्रवेश अथवा व्यावहारिक व्यवस्था में अक्षिप्त न होना बाकी बुद्धि की सीमा और उसके क दायरे के पर की चीर बड़ी ही शिथिल और कचकानी होकर उमरी है । भाली अस्वहृद बच्ची की मन्त और अपक वास्यावस्था में ही कुछ ऐसा चित्र उभारा गया है या उसके अचेतन की अविश्रुत मन स्थिति में अतिरंजित संवेनाओं का स्वरूप मात्र है

“पर वह आसा तस्मीन हुई
निल गई उसे अनुमति गई

बहु लक्ष्मणार पौराणिक मयी
 चिर चिन्तित ।

बिना मया निशा भो पई बीत
 छोड़े मन में भी प्रलय गीत
 पर उलकी निष्कल प्रणय प्रीत
 परिवर्द्धित ।

सोते चिन्तन जपते चिन्तन
 लक्ष्मणार में उलसा पा मन
 जप से उलसा धर से जग्गन
 मन्तर्तम ।

अस्पष्ट जपरेखा सुगर
 नयनों के अन्ते रह रह कर
 देती थी भावों से भर भर
 अतस्तन ।

कवि को याद— इस बात का ज्ञान नहीं है कि विगुञ्ज प्रेम की अनुभूति और कामादेवों से उमड़े विभाषी स्त्रियूर में निरुता अन्तर होता है तिरु पर भी इतनी छोटी अक्षरपा में अपरिहार्य रूप में अनर्गल इच्छामों और प्यार का मादक एनीनिया उभारना किसी भी प्रकार दोषनीय नहीं है ।

इसमें सम्येह नहीं कि मीरा के ज्ञानोह मरे जीवन के साब अनक अनपत्तियां भी जुड़ी हैं तथापि जितन हो स्वामी पर कवि का नया भाव और नया अक्षरपा मन मीरा के मंदत आचरण को उसकी एकरस भीतरी निष्ठा से एकाकार नहीं कर पाया है । इसके विपरीत जहाँ कहीं उभयतर आचरण और अतिमानवीय क्लिया-व्यापार हैं वह कवि की अतिगम्य रुमाती कल्पना प्रियता का परिणाम है । उगाहरणार्थ—मीरा के माता-पिता के प्रलय में निष्ययोजन ही प्रम की यह उद्गमता दर्पना—

“मज पातों म बह कर क्लिया
 कहकर यों विप्लया बस को ।”

मीरा का प्रम कुछ ऐसा अनन्य और लोकोत्तर है कि उसन भवन प्रलय-वेवता को रिझाने के लिए कुछ उठा न रगा पर फिर भी वह पूरी तरह स्वयं उसके रहस्य को कभी समझ न पाई मन की विषय भावना के शृंगार में वह निरन्तर भिन्न मुहूर्त की बात जोहूती रही पर फिर भी उसकी भावोंपाएँ सतृप्त बनी रहीं । समाज धर्म और आचार-मर्वांगएँ प्रम-मय पर अक्षर होन से उसे रोऊ न सकी फिर भी न जान निरुती ठोकरें उसे गानी पड़ीं । कभी-कभी उलसा तरुं मीरा के मन में उलकी है जिसके जीवन का आचार ही बह छोटे-छोटे धन और अनुभूतियां हों उसकी हर पदी की उपासना से मन की बुद्धि उस गुञ्ज तरु स निरुकर तरुन हो जाती है ।

धीकृष्ण स्वरूप की आस्था-शक्ति के संयोग से बृद्ध सत्य का आविर्भाव होता है और यह तथाकथित अगम्य प्रेम ही गाढ़ होता हुआ उत्कर्ष की ओर बढ़ता हुआ कमल स्वरूप मान प्रणय राग अनुराग के रूप में परिणत होता है। इस अनुराग की परम परिधि ही मीरा की बानी का परम पुरोकार्य है। उसकी बनीभूत अनुभूति के सहज उद्रेकनों और एकमात्र धीकृष्ण-प्रेम की रसभीजी घल-सहस्र आत्मस्वपाराओं के उन्मेष को बर्णने के लिए बड़ी ही दसता और रचना चातुरी की अपेक्षा है। प्रस्तुत पुस्तक को पढ़कर मुझे लगा कि कवि की भाषा में मत्स्यदेव और प्रवाह तो हैं पर उस महामान की जाया तक को भी वह छू नहीं पाया है। श्रृंगार और रूमासी मादकता को छिरजने के पीछे कवि ने यथतन आचार-मर्यादाओं का उल्लंघन किया है।

“अध्वजित सारस से निरंतर नवलतम धनश्याम
घान्त होकर भी मयन में लें न कुछ विद्याम
निकट आ चुपके स्थिरा के स्वप्न करते पात
बौड़ती बिछुत् हूँसे कुच तुंग टील बात।

हस्त-कुच-मर्दन सुकल्पित बृद्ध सी मल घान्त
भू लगे ज्यों स्मर प्रपीड़ित नवल प्रियतम घान्त
हेल प्रिय के पात नू को बोझते हूँसे मोर
ध्वंय में अक्षिरल बिड़ाने प्रजर करते मोर।

मीरा के पति की आबन्धकता से अधिक भोगक्षिण्यु और उम्मासी नेप्टाओं का ध्वंशित बिलकाया गया है। उसके शब्दों में

“अप्या की लाली सा जीवन
चुम्बन सा पीचन है
अलि के मुंजन सी तम्मवता
मूय सूचना सा मन है।

आओ आमी यों न पेंबामी
पोड़े से पीचन को
छोड़ चला जाएगा यों ही
एक बिबल इरा तन को।

प्रकृति-वर्जन प्राप्तकर मरुभूमि के दुस्वाकनों के विष मुग्ध उठते हैं। कवि की आबन्धक कल्पना प्रवण और कोमल अनुभूति ने कहीं-कहीं जीवन की समस्याओं पर भी पुरूपाल किया है। राजस्वानी रीति-रिवाज आचार-मर्यादाएँ और सामाजिक रीति-नियमों का भी विषय है किन्तु उनमें आधुनिक पुट अधिक है। मीरा राजपूत की इच्छाशीली बालिका थी। उसके माता-पिता के ममल पुरी के अगम और पान-बहेज की समस्या उसनी उप / ही हो सकती बितर्नी कि सामान्य स्थिति वाले परिवारों में।

मनोबैज्ञानिक भूमिका पर लेखकों को देवकाल और समयोचित विकरणों का संदेह भ्याग रहना चाहिए। फिर भी उन्हें सचों के इस महाकाव्य में कवि ने अपनी विरोध मुक्त यथार्थवादी धारणाओं को भीरा के क्वालन्त के समयमय सामंजस्य में घुसकर उसे मनुष्य और आकर्षक पद्धति में काव्यमय सीमर्य से मंडित किया है।

तारक-वर्ष

विरिवाहस युक्त 'विरिष' का उक्त महाकाव्य भौतिक जीवतानुभूतियों का ऐसा सुगठित और लम्बकस्थित एकीकरण है जिसमें कथा-प्रवाह की एकलमुद्रता निरुद्धी है। वसुधात समय में क्लिप्तनी ही बड़ी-बड़ी समस्मार्य नियम जस्य से रहीं हैं। काव्य के माध्यम से इन स्थितियों का पयातस्य विषय उपस्थित करते हुए उनमें एक नई संवेदना विकसित की गई है।

काव्य का कथानक पम्पुष कालिकेय के माहारम्य और अस्याभारी तारका मर के हूनन को एक दूसरे ही रूप में सामने रखता है। बसित बटनाओं एवं पात्रों का कथानक भी अकल्पित रूप में होता है—वैशे ब्रह्मा के आत्ममहाराण स उन्पन्न कालिकेय और शारदा चिर युक्त है पर जस पय कालिकेय अपनी युय-यथांतर की सहृदयी प्रिया का स्वयं अपन हृद्यों ही सर्वनाय करत है। जब उन्हें इस बात का एवसास होता है तो उनमें यहूटी अंतर्मया जगती है और अमर लोक से मर्यसोक में जाना बढ़ता है।

कालिकेय और शारदा—दो युय सत्ताएँ होने के बावजूद ऐसी अविभाज्य रचाई है जिसमें पूर्ण एकारम्य और अंतरंग भावनामकता है। उनका स्थायी संयोग और स्वस्वियों की अरम परिपक्व अंततः दृग्भागीय मवितमुमि में बहूँष जाती है जिनका मानव-संस्करण शृंगी अवि और धान्ता का पुनर्मिलन है। दोनों के मन प्रार्थों का एकरव और तारकम्य भाव की निष्ठा समन्वय मन्भाव और मकीरि के मूलमभ का प्रतीक है। शारदा रत्र की महावकिन की अंगीभूता बहूँषा क्वि है जिनमें शारदामूत माघाकवि के समस्त सखदगुण विद्यमान हैं। स्पुल-मूरम हुस प्रवय और म्पन अम्यक साय ही क्वि क संपक को मूल अइन रम्य-नाभना है बहूँषा क्वि और धान्ता के विद्योह और उनके मिलने की आकुलता की दृष्टि क्वतता म परे जो अमम्य प्रम समाधि है उनका भी एक ऐसा आयास म्पन हुआ है जिनमें मानाविध कावविशों के पारस्परिक मभाव को मनुक आभास प्रदान किया है।

अहूँ कहु बौद पद शृंगी अवि मिलन बोर में माने।
अविरक वाहित अमुपार में क्वित सनेह अहूँने।
रहे मन्नाएँ फलाय के अिबर्षे प्रिया न भादी।
अ्यों अ्यों से भावे माने को बहूँषीठे दो पायो।
बन लीला से बहूँ मिला तब अरदा लजनकय उपवन।
'शान्त-शान्त' अम्बोपन दर विपित क्विया जिन तन मन।

प्रतिपुकार म अविभाजिक भी आति प्यास भी तड़पन ।

प्रतिम्बनि में होता वा उत्तर 'शांता-शांता' बन बन ।

समय स्थान और बटना के ऐश्वर्य की इस प्रकार स्रष्टिष्ट किया गया है कि अनक युव एव कस्यान्तों को सम्बन्ध-सुन में बाँधकर तरह-तरह की उच्चावचनार्थ की गई है । समूची प्रकृति को मानवीय व्यापारों की पुष्ठाभार मानकर सानुकूल रहस्या करणों में अविच्छेद आसम्बन्ध रूप में ग्रहण किया गया है । बिरहिणी बननेकी प्रियतम की अन्वयना में प्राणिक संघर्षों में उपकर जीवन-सत्य का उच्चाटन करणी हुई विभिन्न चर्मा बटनाओं तथा परिस्थितियों का सारसम्भ मिताठी बछठी है और कितन ही ऊहापोह संस्लेषण-विस्लेषण भाव प्रतिबाध बहु-वेदन सम्बन्धी बारबाएँ और क्लिष्ट गुणियों की सञ्चोष कथानक में गूँबकर यह कल्पना-भट बना गया है ।

“महाज्वित ब्रह्मिण्यमयी बहु नव-नव चित्र बनती ।

किसी भाव के बध्न होकर फिर उन्हें सुरन्त मिटाती ।

क्यों उजाड़ देती है पीछे जिन्हें प्रेम से पासे ।

जाने कौन रहस्यमयी के भेद धतीव निराले ।”

अनक स्थलों पर बिरह और आक्रुच भावार्थों की बड़ी ही सजीविक रहस्य मभी व्यञ्जना है । दगरव पत्नी और शूगी श्रुति की भार्या घान्ता को तारकामुर अप हृण कर से पाया है और कारागार में बन्धी बनाकर रखता है । विषाद की इस स्थिति में उदात्त प्रेम का पूर्ण परिनाक हुआ है । घान्ता की स्वयम्भू मनोवृत्तियाँ और आक्रुच प्राणों की अन्वयत चेतना के महत्त्व का प्रथम होता है । तब उसकी बिरह वेदना म डूबी कितनी है रहस्यात्मक भावनाओं का उच्चाटन होता है ।

“प्रबल बिल विक्षेप बुष्टि नव लाया ।

बड़ भी चतन रूप सहज हो माया ।”

प्रियतम के अचिन्त्य एषान्न मिलन की चाह दिव्य प्रेम को बाधत करनी है और उसके भीलामाधर्ष की प्रत्यक चेष्टा और भावभगी में विस्तार पाती है । आक्रुच पत्नी गूँब चरु पुष्प-वृक्षाएँ, पसु-नदी यहाँ तक कि भ्रमर जैसे छोटे से जीव तक को सम्बोधित कर बहु ओर प्रणय भावनाएँ निराश्रित हो रही है । घान्ता मन-ही मन बलपती है

“मैं प्रियतम के पास कौन बिधि जाऊँ ।

सम्बेधा ही जाय पश्यता पाऊ ।

मञ्जुकर ! बिरह-विषाद सहज अक्षतादित ।

प्रिय देखेंगे बुरख बन उन्मादित ।

पायेंगे सदैव आप ही मेरा ।

जातगे सब क्लेश भाव ही मेरा ।

कमल व्यथा से व्यथित सहज देखेंगे ।

मुसको भी घों बिकल कास्त केसोंपे ।
घेरतो अब वेध तुम्हें घिर घिर कर ।
बेसोंगे बे भाव बिकल हो प्रियवर ।”

उपर श्रुती श्रुति के प्राथ भी अपनी प्राणाधिक प्रिया के लिए छम्पटा रहे हैं । प्रथम-सबा से सिकल हो भावसिन्धु में तरवे उठल लमपी हू और भाव क तावर्त बन जाते हैं । बरबसल अनुराग की चरम परिणति ही “भाव” है और उसके भावर्त प्रेम-विभावित उमबत को मानों अपन भाव में समेट नहीं पाते हैं । अतएव इस भाव सिन्धु में अगणित हिलोरे-सी उठती है और बड़ बेचम व चराचर के अन्वय प्रसार में उनकी श्वा मंकिष्ट हो रही है । श्रुति की बिरहाकुल बनना और मानबेठर श्रुति में पूर्ण साम्य दर्शाया गया है । बायल मन की मन्त्रभा की लक्ष्म से शिष्य अना हत तिनार फेंक जाता है और बातावरण से मन्त्र प्रेम-रहस्यों को अधिकाधिक उन्ना टिठ करता बसता है । बस्तत उनके प्रेम की परिधि इन सभी वृत्त वस्तुओं को धरना सीमा में आ बंठी है ।

“अब रहो भी सौमि बेल यह बृष्य कवच उर धारक ।
बिकलतामे उसने भी पीड़ित नवन बारिककन तारक ।
अन्वकार मे काला परदा श्रुति शरीर पर डाला ।
रहा अनागा पड़ा वहीं पर परम प्रेम मतबाला ।”

बाबाकुलता और स्वानुभूति के कारण मयार्य की पकड़ इसनी बूढ़ है कि सर्वत्र शैतम्य की अम्बाहृत सत्ता प्रकट होकर प्राणभाव और मन का व्यभिष्ठान करती है । बर्म और सार्य की मूर्तिमान् मस्त्रुति के बिक बिल्टार की अमन्त सीमाएँ हैं । परम सन्ध में बिकल क लिए उम्मत होना हुआ शिबल पयता है तो उसका तब त्रिन् दिवत को आलाकिष्ट करता हुआ सबक छा जाता है । किन्तु बिकल हिंसा का परि नाम वा दानव की परम्परा को सदा अमन्त बनाये गता है उसका महार करन वाली एड-वकिठ बिलोम म्पिठि में अत्यन्त सन्ध और मयाबहू कर धारण कर लेती है । व तब स्वयं बनपाली और सकिठपुंमे है पर रकनता हिंसा गरी अपहरण और पर-पीड़ा के निमित्त उसकी सन्धि का वुरपयोप होता है । बानबता का अड़ मूक स महार करने के लिए रुद्र के महापुत्र मिल बिल्ल उपचारों की योजना करते हू पर उक्त घम में तारकागुर का बप मही बरन् हृदय-विकलन डार उषे अडैत साबना का अर उम्मत बिबा गया है । एन्त अंत में पन्नाताप करना हुआ गाय्या गया है ।

“आर्यों ही के प्राण सत्ताव निद्रिखिन् मने ।
साकों ही को हाय बलाये निद्रिखिन् बने ।
बजन ही को गिराय बड़ाया सिर पर येमे ।
नित्य तुजन भवमान कराया हंसकर मन ।

बिठल यहू अविद्यार हृदय संवन करता था ।
यस यस के तब बलय सहज सत्वर टूटता था ।

अमलकार को बंध आग पानी में सोती ।

तारक नयन करतक आज बरसता मोती ।

मन पूछा जाय तो देवत्व और दानवत्व का सर्व्व केवल आज की ही समस्या नहीं बल्कि चिरपुरातन है । भीतरी क्रुत्सा या अहंभाव सम्पूर्ण चेतना से असंग कटकर जब अपने तर्क सीमाबद्ध अपना हमारे चक्षुओं में उसकी व्यक्तितगत चेतना बंध जाता है तो इसी क्रुत्सा व अहं की पूव्वधारिका चेतना-धरम बिन्दु पर पहुँचकर—उन सीमाओं को भंग करती हुई—एकनेत्र असद चेतना के साथ पन-एकरव स्थापित करती है । उग्र्य में मूलतः सर्व्व इसी एक चेतना को उस असद चेतना से एनाकार कर स्फटि का समष्टि में विसय दर्शाया गया है । भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण है । पर कहीं-कहीं कष्ट कल्पना और विभिन्न प्रकार की मूर्तिमान विविध अभिव्यक्तियों के कारण दुःखता आ गई है । रचना समयानुसृत आशयों को सम्मुख रखकर की गई है पर रक्ष्य पादो व्यंजनाएँ उतनी स्वाभाविक नहीं बल्कि आयासपूर्ण और अतिरिक्त-धी लगती हैं ।

‘दमयन्ती’

ताराचन्द्र हापीठ का ‘दमयन्ती’ महाभारत नल-दमयन्ती की क्विचित् भाषाचार सम्पत्ति की लोकामिव्यक्ति को प्रस्तुत करता है । चौदह सर्गों में अतीत की इस ऐतिहासिक महाकावा को वर्तमान में मूर्तिमान कर सर्व्वथा नये और मौलिक ढंग से प्राग्वन्त बनाया गया है । भाषा में सहज आनर्पण है और कवि की भावना से ओतप्रोत काव्यविश्र उतरते चलते हैं । विदर्भ देस के राजा भीष्मक की राजकन्या दमयन्ती के अप्रतिम रूप और सौन्दर्य्य मौखन और तद्व्यापस्था के साथ-साथ निश्चय नरेस मल के प्रति उसका आकृष्ट होना उधर दिश्य हस द्वारा राजा मल के समक्ष दमयन्ती का बखान और प्रचय-संबेस तत्परचात् दमयन्ती के पास उद्यान बापी में जाकर हंस का मानवी माया में मल का बध-कथन दोनों की परस्पर अनुरक्ति और गहुरा आकषण विवाह योग्य पुत्री को जानकर विदर्भ नरेस द्वारा दमयन्ती की स्वर्णवर योजना समाचार पाकर उग्र बरुच दम बन्धि का बिना नियन्त्रण के ही स्वग से पुष्पी लोक पर प्रवतरण और दिश्य कान्ति व लोकोत्तर मणित सम्पन्न मल को देखकर उग्रे प्रतिज्ञा व आबद्ध कर दम मात क लिए विवस करना कि वे देवदूत बनकर राज महल में जायें और दमयन्ती का देवताओं में से ही पति जनन को वाच्य करें देवताओं से अन्तर्धान विद्या भीषकर राजा मल का परोकटोक महल में प्रवस और दमयन्ती से माताकार, राजा का दमयन्ती से दबताओं को बरस बरन का आयह पर उतनी निप्टा और सहुरे प्रम से प्रभावित हुकर सोटना और देवताओं व सभी टिक-ठीक बाने बताना विवाह-मन पर दन चारों देवताओं का मल के रूप में उपस्थित होकर मलय में दासना किन्तु अतत अपने अट्ट अमुराय बुद्ध निरचय सरय प्रम और धारमवृद्धि द्वारा असमी मल को पहचान देना और पति रूप में बरस बनना आदि पुरांडों के दन कथा प्रमों को बिगारणक सात सर्गों में बन्धित किया गया है ।

उत्तरार्द्ध के साठ शर्गों में उतन ही विस्तार और कौशल से राजा नल की कथा के उस सुप्रसिद्ध अंग की भी नियोजना है जिसमें नल का राजैश्वर्य बम्पति का सुख-भाग किन्तु बाह में कमियुग की प्रस्था से अर्ध में राजपाट और सर्वस्व हारकर बन में दर-दर भटकना और एक दिन सोयी दमयन्ती को छाड़कर राजा नल का बसे जाना बिरह-कातर समयन्ती की बरबस्ता व्याप से मठभेड़ तदनन्तर अनेक प्रकार के कष्ट भोगती और अंमलों को पार करती हैसबाय से पहले वेदिराम्य और पुन अपने पितृगृह पहुँच जाना राजा नल की खोज बाहुक के रूप में साकेतपुरी के राजा अतर्षर्ग के मही राजा नल का छिपकर सेवा-कार्य किन्तु अन्ततोपत्वा दमयन्ती को सब बातों का पता चल जाना और स्वयंवर के यज्ञान उन्हु बुझा भोजन की योजना बनाना फिर अन्त में दोनों के मिलन की बड़ी ही अपूर्व करुणा विपत्तित भाँकी प्रस्तुत की गई है ।

बड़े बड़े बाहुक तभी सामने देखा—
जाती है कपित सिन्धी स्वर्ण की रक्षा ।
वे उठे कि जब तक मेरा सुधा से सीधे—
तब तक छाया भा रकी स्व-तब के नीच ।

नल बदन सती का उठा वृष्टि अंजन सी —
बहु लपीपूत निष्पाप, ताप-भंजन सी—
बाहुक मद्य पर पड़ी कुतूहल आगत
सब कूल उठे थे स्वर्ण भील मम भाषा ।

बाहुक हो धर्ये बिलीन प्रपट अब नल ने
उस सती-वृष्टि से पुने महीपय छल से ।
नृप बदन पुष्पमय हुआ पाद थे सुजमय
करते थे ऊपर दब सती की धप जय ।

बिरहावस्था में प्रेम और भी अधिक पस्त्रकित होता है । प्रेम की एकाग्र विमूर्च्छना में जो भाव जब तक महहोष ब व हृत्संघी के किञ्चित् से स्पर्श से जाग उठने हे और उनकी अनुभू ब विगृदिगम्य में व्याप्त होकर समा जाती है । ध्यात्मिगन पाद में बड़ दो प्रेमी समस्त बन्-दुग्धों से परे अखण्ड ऊर्ध्वगामी स्थिति में पहुँच जाते हैं ।

“करती बिरहानल शान्त अधु जस से ही
हे स्नेह सिन्धु में मन्म मुगल बे स्नेही ।
मिल गए परस्पर हृदय अखण्डता भागी
बहु स्नेह पार बहु बली क्योति सी आमी ।”

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रचना-नीली में एक स्मिरता है । यद्यपि कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक विरलेषय की दृष्टि में कथोपकथनों में अस्वाभाविकता का गई है किन्तु अरिच वा प्रतिपादन यथात्म्य हुआ है । ऐसे बहून में पात्र हे जो दमयन्ती और राजा नल के अरिच को विकसित करन में सहायक होते हैं । प्रहृदि मानव-महृषी और हृष्यत भावों की प्रतिक्रम होने के कारण उद्य क्रियाकलाप वा प्रतिक्रम बरती है जिसक

फलम्बक्य बहान-साहस्य द्वारा प्रस्तुत विषय नेत्रों के समस्त चित्रवत् लिख जाते हैं।
दमयंती उद्यान में हृद के श्रीझाकीतुक को देखकर पृच्छती है

“हे सखी ! यह हृद बेको तो सही
बकती अब तक कि मैं जिसको रक्षी
हूँवनी उस ओर जाती बौड़कर।
और यह इस ओर जाता मोड़कर
बे रहा इस भाँति उसको कष्ट है,
क्या कहूँ कितना करी ! यह कष्ट है।”

सखि के इस उत्तर से प्रेम की बड़ी ही सुन्दर, उन्मुक्त व्यंजना होती है

“प्रेम का यह खेल भास्ति ! न कष्ट है
बकानो ! इस युक्त का मुख स्पष्ट है।
है मुक्त ! नियम यह अभिसार का
मौन है लकेत स्वीकृत प्यार का।

न केवल परम्परागत काव्यशास्त्रीय मूर्खों की सम्यक स्वाग्ना मरितु मौलिक
मत्त-मय्य और नबोगेय की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपादेय है।

‘उर्वशी’

‘उर्वशी’ न केवल दिगम्बर की ऐजोदृष्ट अन्तर्निहित कल्पना-शक्ति एवं काव्य
शिल्प की जीवन्त अभिव्यक्ति है, मरितु कगता है कि कोई ऐसी इतिहास और विदग्ध
आकृष्टता कवि के प्राणों में जाग उठी है जिसके संसर्ग और रमागुन्वृति के बहुमुख योग
से समस्त विकारी आत्मव्यरासि को अन्तर के किसी सूक्ष्म प्रवेश में पृथीमुख कर वह
सार्बभौम मानव-आत्मा के एकत्व और निष्ठन की परम आत्मत्वमयी भूमिका का
स्पर्ध किया जाहूँता है। सास्त्रत मगल का वह परम निष्ठन ही कड़ी श्रुमार और कही
प्रेमयोग की समाधि है। मनुष्य की जिज्ञासा और बेचोटारत दृष्टि ने इन प्रन-रहस्यों में
पैठने हुए अिन मूढम विपर्ययों और विविध सूक्ष्म सामंजस्यों के गूँज पाये हैं उनही सहज
मीमांसा और विरलेयय अन्तर्बैतना के गुह्यतम स्तरों में झाँककर ही उक्त काव्य
ग्रन्थ न हुआ है।

उबरी जैसी नारी का अवरूप कर और विविध तरंग भंग देकर कवि की
कल्पना अगाथास विस्मय-विमुग्ध उग आंतरमत्ता पर जा टिकती है जिससे प्ररित एक
अभिनव आत्मविद्वान् समपन्न का भावोद्यम हुआ है। प्रेमातिव्रता में मन के संघर्षों को
छिन्न करने वाले बहिरंग प्ररनों की व्याख्या और विरस्तन समस्याओं का समाधान
नहीं हाता। प्रेम प्ररविनी की रसपारा की उम्पद सहरियाँ न रदन बाधी होती हैं
उनके सय का विग्यास जाई प्रितना भी कोमल बवों न ही, पर अन्तर की गहराइयों
से टकराती-सहराती है कड़ीकी गोंड थी भीतर धेंग कर भाष-मटलों को उम्पराती हैं।
प्रपय का एसा कथमसावा अघान भी—यदि अन्तरात् के बोध से परे है—ती वह

निष्पाप और निरापराह है। प्रेम बर्म की पराकाष्ठा जबर्जस्त् मानव-चित्त की मिश्रित सिगिति में जब समूचे रस एक कान्त मधुर रस के पारावार में निःशेष हो जाते हैं तब मानवात्मा विवात्सा के साथ लय हाकर बेह प्राप्ति इन्द्रिय भन की भोग सीमा का अतिक्रमण करती हुई अपनी ही भीतरी जहामता से ऊर्जस्व हो आरम बेतना के स्तर पर अमर अनन्त निरुक्त की अनीप्सा से सम्पूर्ण हो उठती है।

राजा पुकरवा और उर्बसी के आकुल उभेय और तयाकार परिणति के रूप में नर-नारी की गिरल-उत्कण्ठा की अनायास अनुभूति और सबिहना का भी निरन्तर योग चल रहा है उसकी किस कोसल से शब्दों में बीजा गया है साथ ही यह काव्य सिन्धु किस कोटि का है उस पर दो कोशों से यहाँ बृष्टिपाठ किया जा सकता है—
ईहिक वा पारिबि आध्यात्मिक वा अलौकिक।

सामान्य भावभूमि पर आन्देय सतपथ ब्राह्मण पुराण आदि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों और उत्पत्त्यात् महाकवि कालिदास श्री अरविन्द और टगोर रचित कथाव्यास से प्रेरित श्री मौलिक उद्भासना कवि को हुई उसी के आचार पर यका ही सीमा-सावा सुश्रिप्त विवरण उक्त ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में पाँच अक्षों में प्रस्तुत किया गया है। स्वर्ग-लोक में एक दिन क्रुबेर के घर से लौटते हुए एक भयंकर दैत्य उबधी पर सपटा और अप्सराओं के बीच से उठ खे गया। उसकी कदम नीलकार सुनकर राजा पुदरवा ने उबधी की रक्षा की किन्तु इस प्रथिया में दोनों में परस्पर प्रेम और आनन्द हो गया। स्वर्ग-लोकों को जात मार कर इस नय मोह से सिन्धी उबधी पृथ्वी पर उठती और एक बर्ष तक दोनों गण्यमानन पर्वत पर विवरण करते रहे। इस दौरान उर्बसी के एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ किन्तु महर्षि भरत के प्रापकता पति और पुत्र के एक साथ सुख से बंभित होने के कारण उर्बसी न अथयन अथि की पत्नी सुकन्या को पाकन पोषक के लिए उसे बुफके से सीप दिया जहाँ सोमइ बय तक राजा से छिपाकर उसे रखा गया। इतने बसे बाद अकस्मात् एक मुकक ने रन में राजा पुत्र का पाकर जब हृयमन्त और प्रकय-विह्वल हो रहा है तभी उर्बसी सहमा भसोक छोड़कर अन्तरित में अन्तर्ध्वनि हो जाती है। राजा पुकरवा भी उनकी वियोग-अध्या न सह सुकन के कारण समूचा राजपाट पुत्र को सीप नगर से बय प्रदेय की ओर चल रता है। राज महिषी भीजीनटी के दरें और परिणाम की हूक और मधुर हीस भी प्रारंभ और अन्त के बर्षों में इत्यव्य है।

राग नख रन में कितनी ही अनजोबी अनजानी अनभूतियों के बागायन कवि ने सोल दिया है और कितने ही छिप तथ्य प्रकाश में आए हैं। रही सीउर्ष का अरुह उस्तास सिप उर्बसी मानव-चित्त के लयमुक्त अन्तिकालीन पलों के अमर्त रूप का आकारवित्र है। जीपन के समय से दूर श्रियतम के एकाकी सान्निध्य में उसकी आत्मा दय तरह छटपटा उठी है जहाँ जड़ता की सीमा को छू आकर ही प्रम वाग्मव में सुरु शोता है और व्याकुल अतुष्ट 'अह' अपन बिगट्ट रूप में लय होने के लिए टकराता और निरन्तर अर्षय करवा रहता है। इस मानन्द संस्वर्ष के उन्मा-नारी

मधु दानों में प्रेम सौंदर्य और समन्वयता की जो विशेषता लहरा रही है उससे रसमिना उनका रोम-रोम अभिसिंचित हो उठा है। पहरवा के शब्दों में

‘भारती की ज्योति को मुख में सदैवे
में लम्हारी और अपकक बेखता एकान्त मन से
रूप के उद्गम अगम का भद्र गुणता हूँ।
साँस में सौरभ, तुम्हारे बर्ष में गायन करा है,
संवित्रा हूँ प्राण को इस राग को मीली लहर से
और अंगों को बिना की बीबियों से एक होकर
में तुम्हारे रंग का समीत सुनता हूँ।’

अन्तर में विस्मय की क्य-भी का अक्षर उत्तर आया तो फिर रह क्या गया ?
उस फिर स्थाहिण ही किस बात की है ?

“कौन कहता है

तुम्हें ये छोड़कर आकाश में विचरण कर्हेगा ?

यह प्रलयमग्न आत्मनिस्पृष्टि की दया लण्ड सीमा परिवर्तन और मिश्रताओं
से परे वास्तविक आत्मसत्ता का साक्षात्कार है। प्राणों के रेशे रेश में अतिप्रौढ उत्कृष्ट
निजी अस्तित्व भी उसी अपार आनन्दराशि में लय हो जाना चाहता है

‘यह अगाध सुधमा मन्मत्ता की प्रसन्न बारा में
अग्न्या है विनयत कहीं हम बहे जैसे जाते हैं।

यन्ममादन पर्यंत की उपत्यकाओं और विद्याल प्राप्त के अंचल में प्रमत्त
के ये मदहोश अभिसार लहराते रहते हैं। अद्वितीय रूपसी उर्वरी की छवि को आँकने
वाणी रस-रेखाएँ बड़ी ही प्रसर ब प्रीड़ है। उसकी मानमविमा मृदाएँ, शरीर की
सर्वांग मुकुमारता छन्दमय और लयकारी विनय इतना सजीव और बाहू का ता
आकर्षण जिये है कि भौतिक स्तर से उठकर कल्पना आकाश में मोड़राने सपती है।

“लाह-लाह के चरण कमल से कुंकुम से जाकर से
तन को रक्षित कालि घट्ट, ज्यों मुली हुई पावक से।
जब नर की मापुरी अदभ्य अचरों में परी हुई ती।
अंगों में बाहरी-रंग निग्रा कुछ भरी हुई ती।
तन प्रकामित मुकुम्भित मन्मत्त रूप्यों की लाली ती
मृत्तता सम्पूण अयत की संवित हरियाली ती।
पा पड़ते ही छूट पड़े विनय प्रवाल मुली से
बही बड़ी हो बही व्याम भर जाय ज्येत फूर्नों से।

उर्वरी साधारण मानवी नहीं अपितु अर्ध-जन्म सहस्रसास्य का राग अगाने
वाली ऐंगी मोहक छवि है या समग्रित मारी-मी का प्रतीक है।

‘बर्षा जितमें प्रकृति बप अपना देखा करती है
 वह सौम्य कला जितका सपना देखा करती है
 नहीं उर्बरी नारी नहीं आना है निजिल मुक्त की
 बप नहीं निष्कल्प कल्पना है सुष्टा के मन की ।

मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेम की बड़ी ही सूझ जमिन् बनावे इसमें मिथती है । मानवी प्रेम क्या है उसमें कितना छिछलापन और उद्विग्नता है पर साथ ही कितनी पहरी कचोद और छटपटाहट । उसकी तुलना में बीबी प्रेम निरद्विग्न है पर उस निरामय एकरस स्थिति में तीव्र संघर्षों की सहायता कहीं है । प्रेयसी नारी पवित्राभा नारी साध्वी नारी और वास्तव्य व अत्यन्त स्नेह की साक्षात् प्रतीक बनती के रूप में नारी के विभिन्न चित्रों की स्पष्टता बड़ी ही अपूर्व है । जिस किसी भी रूप में उससे अन्तर्सम्बन्ध होते ही नई सम्भावनाओं का उद्घाटन हुआ है ।

‘उबधी महाकाव्य कवि के स्व’ की मौखिक और यमासाध्य परिणति है । कहीं-कहीं कथोपकथनों में अतिरंजना तो है पर काव्यबोध की अत्यन्त अतिम सीमा को स्पर्श कर रही है । भाषा के मार्मिक परिवर्तन और विषय ने सैकड़ की संवेदनाओं को प्रतिफलित किया है जगता है एक-एक शब्द जैसे धरातल पर गड़ा गया हो । ऐसी बुभ्यानुभूतियाँ जो अतिथय मार्मिक और उगमल करने वाली हैं उसमें गरिमा और प्रसन्नचित्तता के साथ कवि का अनाहत ‘अहं’ विराट् का जन्म गाहन करता हुआ जैसे मन्मथ रहा है ।

छद्म बोली के उपर्यक्त प्रमुख काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त मीपिनीधरण मुष्ट का ‘महाभारत’ ‘डापर’ ‘अहुय’ और सिद्धराम’ गुरुभक्तविहृ के प्रसिद्ध ‘नूरबही’ के अन्वया विरुद्धावित्य प्रस्तापनाराम्य पुरोहित का ‘नरु नरेम’ सवयसंकर भट्ट का ‘तस्यसिका’ मोहनलाल द्विवेदी का ‘बाधनरता राजेश्वर मारायणविहृ का अम्बगाली’ पोद्दार रामावतार अहम का ‘विदेह’ श्रीलालधर त्रिपाठी ‘प्रभासी का ‘छत्रसाम’ और विद्याधर महाजन का ‘भीगांधी अलिप्त भागस’ तथा आचार्य विनयमोहन चर्मा का अनुदित ‘पीठ गोविन्द’ आदि अन्वकाव्य भी विद्यत अस्नेहनीय हैं । ऐतिहासिक और पौराणिक सवाख्याओं का प्रथम सेकर इनकी रचना की गई है । संत-चरित्र परम्परा में सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का ‘तुलसीदास’ उष्णक्रीटि का काव्य-ग्रंथ है जिसमें इन महाप्राण कलाकार की विराट् चेतना मूर्त हो उठी है ।

ब्रजभाषा के काव्य-ग्रंथों में बाबू जमनालाल रत्नाकर का ‘उदयवतन’ और ‘धनावतरण’ तथा रामचन्द्र दुबल का ‘बुद्धपरित’ उत्कृष्ट काव्य कृतियाँ हैं । जिन दिनों कड़ीबोली में अयोध्याविहृ उवाध्याय का प्रिय प्रवास’ प्रसिद्ध हुआ उन्ही दिनों रत्नाकर की के ‘उदय वतन’ का भी रिल धोलकर स्वागत किया गया । बोली-उदय संघार की क्या भक्तिवादीन कवियों द्वारा पिच्छैपिन होते हुए भी अलौकिक बन पड़ी है । स्वाम के विछड़ने पर मोपियाँ की जो दगा है और उदय के मानोपदेव के

उनमें जो करना और बिह्वलता फूट पड़ी है उसका विखंडन सुन्दर ढंग से हुआ है।
 "सहिहे तिहारे कहे सांसति छबै व बस
 एतौ कहि बेहु कैं कन्हैया मिलि जायगो।

दूक-दूक छ है मन मुकुट हमारो ह्य
 बूकि हू कठोर बैम पाहन बलाबो ना।

एक मन मोहन तो बसिक उजार्यो मोहि
 हिय में अनेक मनमोहन बसाबो ना।"

निम्न पंक्तियों में गोपियों का इन्त्य और पीड़ा कितनी यद्दरी हो उठी है

"उसकि-उसकि पर-कंजनि के पंजनि वं
 पैकि-पैकि पाली छाती छोहनि छबै कनी।

हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा
 हमको लिख्यो है कहा कहल सब कनी।

'उद्भव सतक' में गोपियों के रागात्मक आलोचन और नाव-बिह्वल कोमलता नागाविक भावभावों की ऊर्ध्वस्वी प्राणबंत पारा और भावोत्साह की उम्वर उच्छ्वर कहरियाँ लरंगित हो रही हैं। वह प्रमुत्त भावनाओं को मुखरित करती हुई माया बड़ा पुख्य-श्रद्धति तथा बड़ बेतन के इत का समाहार कर मणित की सुरसरि बह मन मानस को सटाबोर कर देती है।

रत्नाकर जी की व्यंगक शक्ति भी लपुन है। उन्होंने क्पात्मक बस्यन सायबिक प्रयोप नए-नए बलंकार, बमत्कार-अवर्धन वाले छंद अनज्जनकारी भा और हास्य-व्यंग्य का भी बमूठा पुट दिया है। बुद्धों की मरिक्त योजना द्वारा ब्य मूलकर्ती ब्यापारों की मनोमय मष्टि हुई है। 'मगाबतरक' की यह पित्रोपमता फिर सजीव है ?

"जल सो बल बकराह कहे उज्जरत उमंयत ।
 पुनि नीचे पिरि पाबि बलत उत्तन तरंयत ॥
 मनु कायबी कपोत मोत के पोत पड़ाये ।
 सरि अति ऊँचै उत्तडी नीति मुपि बलत लुहाये ॥
 कबहुँ सुबार अपार बैग नीचे को पाब ।
 हरहराति लहराति सहत योजन बलि भाबै ॥
 मन बिबि बनुर किताम पील निज मन को पाबत ।
 पुप्य लत उत्पन्न हीर की रात उसाबत ॥"

राजवाड मुक्क ने 'बुद्ध चरित' प्रबन्धकाम्य की रचना दि लाइट ऑफ़ एशिया' (The Light of Asia) के आभार पर की और अपनी आंतरिक परिमा को बुद्धा बतार के निरपेक्ष सत्य में झालकर धारण बनाया।

'कृष्णायन'

इसमें मन्त्रिपरक काव्य-ग्रन्थों में द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' भाव के युग की एक बृहद् कृति है जिसमें काव्योत्कर्ष और प्रबन्धगत व्यापकता है। जब तक जगदान्धीकृष्ण की किन्हीं विचित्र बौद्ध-कथाओं उप-कथाओं की संकर ही बहुर काव्य लिख गये थे उनमें सम्पूर्ण जीवन-बुद्धि न था पाया था किन्तु 'कृष्णायन' में पहली बार महाभारत के भाषार पर विभिन्न कथा-सूत्रों को प्रविष्ट किया गया और इस प्रकार विषय और कसेबरे की दृष्टि से भी यह बृहत्तर काव्य बन् गया।

'कृष्णायन' की साथ ही बड़ी विधेयता जो ग्रंथ पर दृष्टि पड़ते ही मस्तिष्क में आ झीपती है वह यह कि तुलसीदास की रामायण से प्रभावित उसी भाँसा, उसी पद्धति बरबी भाषा विज्ञान-बुद्धता बस्तुविश्र्वास एवं भाव-स्पर्शता और कवी के अनुरक्त पर दोहे-बौधाय-सौरठा आदि छंदों में लिखा यह महाकाव्य ऐसा बेधता है जिससे बरबस इसे देखे पढ़े, सुनकर उक्त दोनों ग्रंथों का परस्पर तुलनात्मक भाव मन में जाग्रत हो जाता है। पारिचर्य अनुदीकृत बहुगता चरित्र-कल्पना और कथा-सृष्टि की दृष्टि से ठीक होते हुए भी इसमें रामायण जैसा मन्त्रि-प्रवाह सरलता और वस्तुनिष्ठा नहीं है। रामायण की स्मृति जपते ही यह ग्रंथ पीका छगता है और मन के साथ कोई लयाव नहीं हो पाता। यह भी एक प्रमुख कारण है जिससे 'कृष्णायन' का विषय प्रचार न हो सका। अन्य विषय भाषा और पद्धति में लिखा यह महाकाव्य अधिक उपदेश्य और लोकप्रिय हो सकता था। जनक प्रदीर्घक विषय विद्याल कसेबरे, बहुल-स्मक घटनाओं विष्ट-पिठ न जाने-बुझ विषयों और उद्घापोह मने विषयों से भी जो एक बौद्धिक काठिन्य इस काव्य में आ गया है उससे इसे पढ़ना मयथा जासानी से इसके कथा-प्रसंगों से गुजरना बड़ा ही कष्टकर प्रतीत होता है।

प्रबन्ध काव्य में बाह-बचन और रामा-कृष्ण की बाह-बीठा के विविध प्रथम द्वितीय तृतीय काव्य में बंस-बच और अरासंच का कथा-विस्तार, तथीय द्वारिका नाण्ड में धीकृष्ण के विवाह प्रसंग और पीठा का उपदेश चतुर्ष पूजा-काण्ड में राजभूय-वस और श्रीकृष्ण का एरवर्ष-वर्षेठ पंचम जय काण्ड में महाभारत का युद्ध प्रसार सयर-सुनि में बरव-उरव के विविध प्रयोग, छल-प्रबंध और पद्धकीमाल अन्तिम भारोहन काण्ड में भीष्म का घर-सीप्या-शयन और उनके द्वारा दिए गए उपदेश—इस प्रकार इस महाग्रन्थ में राजनीतिक सामाजिक सांस्कृतिक और व्यावहारिक पहलुओं का सम्पक विश्लेषण भारतीय जीवन-चरंचन पीठि-नीति और विविध घटनाओं, परिस्थितियों प्रसंगों का उचित समारुह हुआ है। अलंकार, छंद, रस छन्दों की मोज पक्ति विषय-विमात्रत और विभिन्न काव्य-शैली का भी अपूर्व संगम इसमें देखने की मिलता है पर इस सब के बावजूद भी इसमें हृदय की रमानेवाला वह गुण नहीं है जो तुलसीदास की रामायण में है। अनेक स्थलों पर ऊब सी होती है और धैर्य घट जाता है।

‘कृष्णायन’ की विशेषता है कि इसमें न सिर्फ़ थी कृष्ण चरित्रांकन और भक्ति का सम्मेलन है, अपितु उनके ऐश्वर्य ठीक वजह उनके पारिवारिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन तथा अन्य सभी प्रकार की मनोमुग्धकारी प्रचुर सीमाओं का विशद वर्णन किया गया है। राजा और कृष्ण का प्रेम सनातन है, उनके मन और प्राण एक दूसरे में समाये हैं जन्म-मृत्यु-मरण से वे एक दूसरे के साथी हैं, पर भटके हुए हैं। अचानक इन विच्छिन्न बाल साक्षियों की जब रास्ते में मुठभेड़ होती है तो दोनों के प्रणय-धार क्षणभंगुर उठते हैं। उनके प्रथम निम्न का एक दृश्य

“एक दिवस जेतन ब्रज खोरी
बेली इयाम राधिकान भोरी ।
अनु कछु क्षीर सिनु सुधि जायी
सौचक मोहित जये कह्यो ।
पूछत इयाम— काह तुव नामा ?
को तुव पिता ? कवन तुम प्रभा ?
पहिले कबहुँ न परी लजायो
भाज कहाँ ब्रज जेतन भायी ?”
“अस्तु ब्रजमानु बिरति ब्रज नामा
बरसाना कछु बुरि न घामा
राधा न तुम कहै भल जाना
खोर ! खोर ! कहि जग पहिचाना ।
मुदित इयाम कहु मनु मुसकायी—
“कौन्हेँ काह तुम्हार खोरामी ?”

समूझे बचन न राधिक, लपति हरिहि अविभेद
बुझति उबरति दृष्टि अन, तुवमा सिनु अशेय ।”

बालक कृष्ण के अकृत्रिम सरल व्यवहार पर मोक्षी राधा मुग्ध हो गई। जीवन के इस नये अनुभव न उस में प्रणयार्काशा भर दी और मनमोहन चित्तचोर ने सचमुच ही उसका मन चुप लिया

“बरजति जननी कुंजरि नहि जानी
इयाम मूर्ति हिय जाहि समानी ।
अनुर पठैबी करिक किछोरी,
कभे न इयाम बिकल मति भोरी ।
कबहुँ इत कबहुँ उत डोलति
सैति जसैत कृष्ण मुक बोलति ।

बस्तुतः राधा इन्म में कोई अन्तर नहीं है दोनों के प्रेम की परिणति वैदिक वैश्या से परे अविभक्त और अवोचर है। राधा योगमाया है और हरि सच्चिदानन्द

बन परब्रह्म परमेश्वर । दोनों एक हैं

“राधा माधव मिलन अनूपा
हरि राधा राधा हरि क्या ।”

भगवान् श्रीकृष्ण की समस्त विभूतियों का बड़ा ही व्यापक और कलात्मक समावेश इस ग्रन्थ में मिलता है । भीरु उस और भूपार उस की प्रबलता के साथ-साथ सभी रसों का सुन्दर समन्वय भीरु परिपाक इसमें दृष्टव्य है । श्रीकृष्ण की आरिभिक विशेषताओं और उनकी बहुमुखी प्रकृतियों का इतना सम्यक विवेचन इसमें मिलता है कि कवि के इस बहुद् प्रयास के अन्तर्गत कोई भी पहलू नज़र नहीं रह गया है । भगवान् नटनागर की बात भीसाजों के बाद उनके बिबाह, राजसी व्यथना और विद्यास-बैभव का वर्णन है । किन्तु श्रीकृष्ण केवल प्रेमिक और रसिक ही नहीं हैं बल्कि एक महान् नीतिज्ञ कर्मनिष्ठ योगी और गीता प्रवक्ता भी हैं । मित्र भी श्री मर्ममेदी वृष्टि ने इन सभी मायिक स्वरों पर दृष्टांत किया है जो उनकी अगोचरी सुष्ठों भौतिक सद्भावनाओं अपूर्व कथन और विदग्ध कल्पनाओं का परिणाम है । महाभारत काकीन राजनीति और समस्याओं का निरूपण भी इस में हुआ है । एक स्थल पर मृत्यु के सम्बन्ध में कितनी सहज पर कितनी ठोसी बात बह दी गई है

“निश्चित मृत्यु मुहूर्त जो सकत ताहि को टारि ?
जो नहि निश्चित जानि को कब कहि कह है मारि ?

हुठु बिबि ध्यर्म मृत्यु हित शोचु,
परत भीनि उर मनुबहि पोचु
तेज नीति मुतिपुत नररायी
कासठु सकत सपुनित हरायो ।”

भारमटोप समय और इतिव-निवृह यही यनुष्य को ठेका सटया है और भगवान् की ओर से जाता है । आध्यात्मिक मानन्द नित्य और धारवत है । अंतन्य के अर्ध्व समय की वृति ही विवेक उपजाती है । आर्या को कर्माचरों में अष्टधारित कर किया है । इन कर्म-अचरों के निष्पाकरण को पहचानो और छोड़ दो ।

“नित्य तुप्त मापय इहित जो न कर्मछल सग
करत कबहुं कसु नाहि सो कर्मन बबपि निमग्न ।

बिल संयमन बहि निब बौरहा,
आगा पहच रयागि सब बीन्हा ।
बैहहि तामु कम अनुरावी
होत कबहुं नहि सो मय भागी ।
इगु बिहीन विमत्तर जोई
करत जो तुप्य ताहि मेह होई ।

सिद्धि-असिद्धि दुःख सम आहो
 कृत-कर्महु बधित नहि तारी ।”

मनुष्य की इच्छा-आकांक्षाओं का उद्दान बोग असीम और अनन्त है। वह उनकी पूर्ति की आसना में उनके पीछे दीकड़ा है और शीकड़ा ही रहता है। प्रत्येक मरणकर्म कभी-कभी इतना प्रबल रूप धारण कर बैठा है कि इस भाव-दीकड़े में उनकी अंतःशक्ति बुक जाती है और वह आत्मसंस्कार को पहचानने से बधित रह जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण पार्ष्ण से कहते हैं

“भोगान्मास-वितुद्ध चित्त कृतं जहाँ विधाम
 अस्मा कश्चि आत्मा लक्ष्मि आत्म तोय जहि ठाम

बुद्धिगम्य इन्द्रिय जगहणी ॐ
 लुब्ध अत्यंत निरुद्ध जहें तारी
 भय लो बिर जहें एकहु बार,
 टरत तत्त्व से पुनि नहि टारा ।

संकल्पबद्ध वासना अनेका
 कीजे त्याग रहहि नहि एका ।

मन बस निश्चितेन्द्रिय संपुत्रायी
 सर्व विज्ञान से निज मन साथी
 बुद्धि धम संपुत्रत बुझायी
 कम कम धाम्त होत नित जायी

सम्पत्तानि । निज मानस्यहि, यत्तहि मानस नाहि
 आत्मन द्वेष विचार पुनि सम्य कौट मन नाहि ।”

जो भगवान् में निर्व्यग्रिय लक्ष्मीनटा और विरवास करता है उसकी आत्मा निर्मल निष्कलुप और निश्चिन्त हो जाती है। अहित-तत्त्व की भीमांवा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण पार्ष्ण से कहते हैं

“पार्ष्ण । अष्टतम युक्त योगि नृप हू माहि लो
 जो अटा संपुत्रत भक्त मोहि लक्ष्मीन टै ।

धन आसक्त पारहि यहें कीहे
 तागत योग मनाधय लीम्हे ।

संग्रह हूँन पूर्ण मन ज्ञाना
 कहि ही जेहि बिचि करहुँ बलाना ।

करतुं मात्र विद्यमान अज्ञेया
 ज्ञानि जाहि कहु अथ न ज्ञया ।
 मनुज सहजन महुं एक कोई
 करत प्रपन्न सिद्धि हित कोई ।
 सिद्धहु करत पल जे मह हित
 जालत तत्त्व रूप मोर्गेह कविचित ।”

ज्ञान और भक्ति के इस विभेदन को पढ़कर मुससीकृत ‘भीष्मचरित मानस’ के छतर काण्ड की मात्र आ जाती है । आज के नबि की भावना और विरहास भावना व सिल्प प्रकृति-निर्कृति राय-विराग सस्कार और सौंदर्य-सम्बन्धना की गहरी अनुभूतियों से सिद्धया गया यह महाकाव्य किसी से पीछे नहीं है ।

विश्वेश्वर, मिथ भी ने विद्यमान प्रतिभा और समन्वित बुद्धि से जो यह काव्यात्मक अनुप्यजन प्रस्तुत किया है वह परिपमताम्य मोक्षिक और उनकी अप्सुत सुखम सामर्थ्य का द्योतक है जिससे पाठक को आश्चर्य हुए बर्बर नहीं रहता । ‘कृष्णादय’ इस युग की बेबाद और विस्मयकारी कृति है जिसका कभी एक उतना प्रचार नहीं होसकत बितना अप्थित है ।

‘भीष्मागत चरित’

अन्यानु चीकृष्ण की अविम्व्य नीताओं की कोई बाइ नहीं है । समस्त कविओं वर्जनाओं अज्ञताओं मिथ्यावरणों अतिरोषों से परे मुक्त मानवता के चिर वैतम्य और चिर प्रसतिमान प्रेरणा के अंतर्गत बंधीचर द्याम की नीताओं से उद्गलित होवे रहे है । आज भी वे उसी प्रकार सम्मय और रस-विभोर कर देते हैं । अस्तों ने उन्हें अपन-अपन निपसे बंग से गाया है । भी प्रमुदत अज्ञाचापी निश्चित उक्त काव्य रूप में कोरा पांडित्य-प्रदर्शन नहीं प्रस्तुत् पनोपत भावनाओं की निर्धार्य और अङ्कभिम अङ्कम्भित है । जिस गुण-कीतन से अक्षत का हृदय पवित्र हो जाता है वही उपात्म व इन्द्रैव की आदर्श यथित है । उसके अभावात् से उसकी कमी गृष्टि नहीं होती । किन्हीं साहित्यपत्र विपणताओं अपवा वाग्म्यात्मक सौंदर्य की प्रवट करना ही उक्त रस का अङ्ग नहीं है, बरन् इसके विपरीत सीधीसाठी आश्चर्य और सरस भक्ति-व्यक्ति में स्वच्छन्द भक्ति प्रवाह है जिसमें अलंकरण वा साजसज्जा की सायात कैप्टा नहीं बल्कि वे स्वत ही उतमें सन्निविष्ट हैं । पत्रत इन ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को वाग्म्यरसा के साहज्यर से यथत कहा जा सकता है ।

मुञ्ज अज्ञताया में जादि से अक्षत एक अज्ञान की कथा सरस पद्यों में चलती रहती है । अविच्छतर रोहा और उष्ययों का प्रयोप किया गया है । सात्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण के दृष्टिकोण से इसे लिखा गया गरी कारण है कि इसमें विच्छद घणों आयागत कविओं और सामासिक पद्यों की मीरवता नहीं है । इससे बड़े

प्रत्य में बढ़े ही विस्तार के साथ प्रायः सभी बभित कथामों-उपकथामों में मत्स्यवय और प्रवाह है। कहीं-कहीं राठ-रिग बौद्धशास्त्र की भाषा के प्रयोग से बढ़ी ही स्वाभाविकता और सहज आकर्षण का गया है। भ्रुव की पाँ के ये छन्द

“बोली इक बिल भातु—बहु जब बेद्य माव ।
मेरे पूज पर तोह भोजन करबावै ॥
एकजनु एकजनु करति फिर मन मोद बढ़ावै ।
बहु राग कबि तोहि सखल जीवन हूँ जाव ॥
हैंते बननि ममता लखी मुबित मस्तु मन अति जयो ।
कम्या भनि शिशुमार की सप म्याह् भुज करि जयो ॥”

छारबीम राधोसुख के अन्तर पर हीसख सिन्धु चन्द्र-ज्योत्स्ना स्नात मध्य राशि में तटकापर धी कृष्ण जब सहसा राधा की दृष्टि से बोझक हो जाते हैं तो उध समय मृत्य में बिरल ही मत्स्यवय और प्रियतम के प्रमासख में बेसुख उध मोली बाका के मन में मर्ने का उदय होता है।

“उनके हु मन मान बढ़यो सोखे हूँ सरजल ।
अकिल मुबमपति ध्याव करे अब मेने निज बख ॥
अहाँ मान तहूँ बात करे कैसे निरपारी ।
परबस तब धनदाम कबे तब बोली प्यारी ॥
पर अब नहीं बलि सकी, कितव कहीं ले बात हूँ ?
पय चाँपो घोड़ा यनो, प्यारे । पीह विरल हूँ ॥”

पर भयवान् तो बढ़े किलाड़ी हैं। तरह-तरह के कीड़ा-कीनुक वीर सीला कास्य हाथ प्रेम और भक्ति की अजब अठसिखी बहुते रचते हैं। अचानक अंतर्ध्वनि होकर वे राधा की छकाते हैं। प्रायप्यारी को प्रायवस्तुका का एक छक के लिए भी वीरस्य होगा बसहा है। प्रथम की रगनीजी मगहारों के मध्य

“तब हैंति बोले ध्याव—बड़ी कप्या प प्यारी ।
मुनि मति हावित भई अडन की करी तप्यारी ॥
त्यों ही अंतर्ध्वनि भये हरि से बछठावै ।
इत उत बोर्जाहि फिरहि करहि रोर्जाहि बिललावै ॥

नाप । रमन । प्रियतम वरम । जीवन धन । जगदल दरल ।
केतु दरम अब बुल हरन विशधरम । भव भय हरन ।

हाव कहीं ताकि पय रमन । मुन कमल शिलाओ ।
भयो हय मन बलन बपानिधि भामो भाओ ॥
भनरी भूकी फिरहि कमल । मनु अबर पिशाभी ।
मरत बाजकी प्यास ध्याव धन रत बरसाओ ॥

बड़े काव्यप्रणाल्य

यों प्यारी प्रिय बिरह मूर्छे कुररी सम रोबति फिरति ।
सम्मुख निरखति बर बर, पूछति पति बिलसति गिरति ॥

राधा के व्याकुल प्रेम बिरह से छत्पटा रहे हैं। इन्प के मोहपास में उस महाप्राण राधा को घट-घाट बन्धनों में बन्ध रखा है। उसका सम्पूरा अपमान उसका निरख तो हरि में ही समाया है, अतएव उनके बिना सब कुछ मूना और बीचन है। उनकी अनुपस्थिति में प्रणवोग्यार सा उस पर सवार हो गया। उन बूबने क्या मन बूबने क्या और देखते-देखते उसकी रक्षा बरत गई।

“करि करि सुमिरन सय प्रियम को रोबति राधा ।
बन बन बिहरत बिकल बिरह को बाड़ी व्याधा ॥

बीप्रति बधमी रधा दुखी दरसन बिनु प्यारी ।
व्याकुल बिलसति बिरह मीहि तनु रधा बिसारी ॥

इत प्यारी मूर्छित परी उत आई डूँकेत सबी ।
अति अचत आकुल बबिक राधा जी सबन लखी ॥”

सुपस लोला की घबीरवरी उस महान् तन्प-जर्तक से ठराकार और उनके प्राणों में समानी सुबन माहिनी व्याकुल है। मरहोष बाँदनी से छेदित और पुण्य गण से मुबावित इस गुम बेला में जबकि मितन वा महान् बल रहा है वैहिङ्-प्रापिक मूर्चिना से परे आरमदान की ली अनुपग क अनिबार बग से ऊर्बत होकर आरग्न के प्रकाय से दीप्त हो उठी है तभी सहागा यह बखनात कैसा ? इस दाय्य बोध से राधा सभस नहीं पा रही है और मोपिया अपनी बिरह-बैरमा को मूल राधा की सेवा सुधूया में लगी हुई है

“नोपी बडी परि प्रिया क सब समुझावें ।
घोरो नाहि लिखाई कमल-बल व्यजन दुलावें ॥
कठ बनना भई रतिक को बात बलाई ।
अनु बोली सब बात बुजित छै प्रिया बताई ॥

एक प्राण मन बिलि सरक मान रहित अति बीन सब ।
माधन पुन गोबिन्द के भई प्रियम मूर्छे लीन सब ॥”

मयबान् थी इन्प की क्या के साय-साय उन्नत ग्रन्थ में ली अध्यायों में भी राय बरित वा ली बिरवार से बचन है। इसके अतिरिक्त अनेक पीरपिक कपाक्यात और धार्मिक प्रमंग—अंते कविम बरित ली कपा सुब-बरित बन बरित पुन-राग्या मिनेक परंजन-साय प्रबना बरित मरत बरित, अङ्क मरत बरित अत्रामिन बरित लपीबि प्रमंग बुन बरित, चित्रनेनु बरित मरत बरित प्रह्लाद बरित समु मयन बायन

मन्थार उर्वेजाबतार, मत्स्याबतार, शिवश्रीका मुद्युम्न चरित श्यवन सुकम्पा चरित विद्युत्कु कना-प्रसंग हरिवचन चरित भी मगावतरन—आदि सभी विषयों में उचित मर्यादा का निर्वाह किया गया है। कहीं भी केवलक की भावना व्यक्तिनिष्ठ या भक्तों के वर्ग तक ही सिमट कर नहीं रह गई है, अपितु साहित्यिक कसौटी पर भी यह ग्रन्थ उन समुच्च व्यक्तिमार्गी परम्परा में समबोधित निरुत्तर और उदात्त व्यंजना प्रजापती द्वारा असाधारण गौरव प्रदान करने वाला है।

मगवान की लोकरंजनकारी लीलाओं की कथा उन्हीं की भावनाकल्पिनी सरस प्राञ्जल भाषा में जो कि अपने परिभ्रम और मनोबोग से लिखी गई है। नक्तों के हृदय को उन्मत्त करने वाली और किसी भी क्षण किसी भी स्थिति में उनकी चिरन्तन भावना को उद्यत प्रेरित करने वाली है।

‘दैत्यवंश’

इस भाषा में बतारह सर्गों में दुरदयाकसिंह तिलिह ‘दैत्यवंश’ शैलों के जीवन पर हिन्दी में एक नम्यतम प्रयोग है। बंसी और आतुरी घण्टियों का इन्द्र हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों की विशेषता रही है। जिस प्रकार जीवन के हर क्षण में कर्म और त्याग प्रकृति और निवृत्ति श्रम और ह्येय का समन्वय रहा है, उसी प्रकार बुधानुस्य समस्त अन्तर्बाह्य विषयों में सात्विक और तामसी तत्त्वों ने उभरकर आकर्षण और विकर्षणमय विरोधाभास उत्पन्न किया है। भिन्न शक्ति को का की उक्ति चरितार्थ करते हुए केवलक ने तस्वीर के दूसरे पहलू को चुना। नबंकर और विकरास पानवों और राक्षसों को जिनके बड़े ही दुर्बल और भीमत्स चित्र तामायन आदि में मिलते हैं, उनमें शीघ्र साहस एव अपराधय पीड्य आदि कोकोत्तर मुर्खों का समावेश करके एक दूसरे ही रूप में उन्हें प्रस्तुत किया गया है।

मानव और दानव की परिभाषा से व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार का गहरा सम्बन्ध जुड़ा है। दुपहरी सहायुमुतिहीन और परपीडक प्रकृति जिनमें मयंकर मोल विद्वतियां दुर्वासनाओं कर्षणाधिक अनुष्ठान की प्रति और अनैतिक क्रूरताओं की जन्म देती हैं, दानवों की घेनी के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। ‘उमचण्डि मानव में राक्षसों की बहुत सुन्दर संक्षिप्त व्याख्या की गई है।

“मालहि मद्रु-पिता नहीं देखा, सापुन लग करबाबाहू सेवा।

जिनके यह आचरण बबानी ति आनहुँ निदिबर सब प्राणी ॥

दैत्यवंश के कथानक की समूची पृष्ठभूमि में असुर-नष्टि का विकास और उत्कर्ष दिखाया गया है। कल्प की किति-अकिति दोनों पलिवों से जो सम्पन्न हुई तो सतीशुन प्रदान होने से अकिति की सम्पन्न देव और समोपुण प्रदान होन गे। किति की सम्पन्न ईश्वर कहलाई। प्रारम्भ से ही दोनों में घोर संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धिता हो गई। प्रमत्त रूप से इसमें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु मयन प्रह्लाद राजा बली महाबली बाबामुद, राजा स्कन्द दैत्यवंश के मुद राजाचार्य तथा नाटी पाशों में सिद्धुजा और

ऊप्रा बादि के बरिष बरिषत हे ।

प्रकृति-विकास के अन्तर्गत उक्त महाकाव्य में कितने ही स्थलों पर प्राकृतिक उपादानों की मनोरम छटा के साथ-साथ छत्रों श्रुतुं और बाणुमासा भी बाना गया है । शृंगार, बीर, कवच हास्य रौद्र बीमस्य बादि सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है । समूचे बचनों में प्राचीन परिपाटी का निर्बाह किया गया है और किसी न किसी पुराने कवि की उचित या कवन-शैली का अवयव प्रभाव पड़ा है । यथा निम्न पद्य तुलसीदास रामायण में मृत प्रेत पिशाच-पिशाचिनियों के वर्णन का एकदम भाव्य-सा लयवा है

“जीपित मृत पिशाच पिशाची भाव कष्ट बुनि बोलहि नाची ।

नकळहि नास बरिष बुनि पीबहि भातिब देहि बीर बोक जीबहि ॥

कोऊ हार मरिष के भारत

कोऊ करे को फरि निकारत ।

कोऊ मुखन की भास बनावत

कोऊ लचील बरबी लग लावत ।”

अनक-सभा में स्वयंवर के समय अक्षय-वत्सुपम के संवाह से प्रभावित बस पंक्तियाँ

“शोरि बरी बिय बलिन हल

कही बुज ठीकि सुनेठ हलक ।

सारे सुरारि समूहनि की

भब ही रज भगन न बिचलक ।

बो न करी हतो कपरज तो

तुहि लीटिन अलगन मातु रिबलक ॥”

और रामायण के किष्किन्धा काण्ड की वर्णन-व्यक्ति पर

“बर्षा बियत घरत श्रुत भाई ।

बके पल बहू ओर तुहाई ॥

बहू बिलि लसत पबल छवि कासा ।

पन बिहीन सी बियल अकासा ।

शृंगार और वियोग वर्णन में प्रायः रीतिकालीन कवन-व्यक्ति अपनाई है । प्रिय-वियोग में ऊप्रा छटपटा रही है और उनका हास बेहल है

“परपक प लोटे बिहाल उपा,

मुरसाय गई मामों फूल छरी ।

पनसात उत्तोर को लेप बियों

तिल बुहुम लीसोपरी बिपरी ।

बिजना करते रही, सीसाहि लाई
 गुलाब की नाइ बई सियरी
 बनि घूम उड़यो सोई शूद्रयो हरी
 बिरहानल में इनि बात करी ।”

कुछ स्थलों पर निरान्त मौलिक अस्मिन्बन्धा और दास्यों में सजीव चित्र उभर आए हैं। बालिका स्या की चंचल बासदसा और हठीली भंगिना के वर्तन निम्न पद में होते हैं

‘एक ली सप्त पनामा पढ़े कबो सेसनी की जस्टी मति बोरे,
 मीपुरी सों पटिया पे लिखे करिया तेहि माहि मिलाय के धोरे ।
 मक बुलाये न बोले कबो कबो कौमि केतो मजाबतो सोरे
 मूरति सों गड़ी रहे, पे पुकार सुने ही भये बर जोरे ॥’

‘रावण’

ब्रह्माया में इन्हीं कवि महामुखाब द्वारा दूसरे महाकाव्य ‘रावण’ की सत्रह सवों में रचना की गई। जैसा कि नाम से स्पष्ट है दैत्यकुल घिरोमणि रावण की कथा और जीवन-संघर्ष को इस काव्य का विषय बनाया गया। यों रावण का चरित्र एक बड़ी ही हिमाकृत और हठधर्मी का प्रतीक कहा जा सकता है पर भाव की वास्तवाहीन विरोधी परिस्थितियों में अपने निरपेक्ष संकल्प के अनुसार हर इंसान स्वतन्त्र है। वह अपना मार्ग अपना परम स्वर्ग निश्चित करता है। मानव-मन की असंयत प्रक्रियाओं सूक्ष्मतम कृतियों और ऐसे आत्मपाठक तत्त्वों का भी उद्घाटन करना चाहता है जो किसी भी मनचछे बुद्धिजीवी की जिज्ञासा का विषय हो सकता है। ऐसे चरित्रों का जब समाज के संघर्ष में नियोजन किया जाता है तो केवल को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति-चरित्रों का वह किस सीमा तक मया उत्कर्ष दिखा सका है। सामाजिक और बैचारिक समस्या के रूप में वे हमारे मन में जितनी अगह अब तक घरे हुए वे वे अब तिली और बैयमितक रूप में कितनी प्राणान्वित धक्ति को लेकर ऊपर उठे हैं? उनमें उभारे गए चारित्रिक तत्त्व किसी शिक्षा या आशय का रूप तो धारण नहीं कर गए हैं? प्रायः ऐसी परिस्थिति में केवल संतुष्टन यो बैठता है और अनेक अतिवाकित्तियों का पिकार बनकर औचित्य की परिमीमा का उत्सर्जन कर जाता है।

प्रस्तुत महाकाव्य में केवल दूसरे अपने कथन चरित्र पायक रावण का उत्कर्ष दिखाने के नाम में मरुत प्रवर विभीषण और सुवीर के चरित्रों का अपकर्ष दिखाया गया है। यहाँ तक कि रावण के अमाधार और दुर्नीति में सहायक न बनकर राम के धारण में जाने तक की बटना को बिरहानघात मुचक और बन्धु-विद्रोह बताया गया है। भारतीय जन परिजन बन्धु-बांधव और नाते-रिश्तेदार इन सभी का निर्वाह

करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उनके साथ ही अनैतिह और दुःख का मार्ग अपना लिया जाय जबकि आत्मकर्मकी विचारबाध के भय से अचित्त-अनुचित विधि विधियों का पालन किया जाय। यदि कोई भाई जोर-झाड़ू है अपना प्रतिरूप परिस्थिति में फँसकर झुटाह पर चल पड़ा है तो अच्छे या विचारवान भाई का यह करानि कर्त्तव्य है कि वह उसके चरण-चिन्हों पर चलने को बाध्य हो। समझाने बुझाने या उसकी कृपबुद्धियों को बरस देने के बरसक प्रयत्नों में असफल होने पर तो अन्ततोगत्वा उसका परित्याग करना ही अस्वर और मर्यादा विहित है।

“आके प्रिय न राम बंरेही—

तबिए ताहि कोहि केरी सम अवधि परम सनेही।”

विभीषण के चिन्म में अपने मतभार की एकाग्रता पर स्थिर रहने के लिए अन्त सब अपनाया गया है। महाबली पद्मनभार छोटा की ओर के शौर्य लंका का घाटी बहिष् करके अब भगवान् विभीषण के पास सीट पाते हैं तो दूसरे दिन आठ अज्ञानक विभीषण राक्षस की सभा में समझाने के लिए पहुँच जाता है। आठ पर्वों में बड़ी ही नीरस और अन्तोर्वैज्ञानिक पद्धति अपनाकर—इस कथा-श्रमण की विरूप करके पैत किया गया है।

‘उते राक्षस सभा में प्रातहि विभीषण जाय।

कहुन लाने बंन इयि बसकंय को समुसाय ॥

राम की बरवान तुमने हरी है पड जाय।

बहुत का हय कहै बाकी बहुत अब लीटाय ॥

अब मात्री अवधि छोड़्यो तानु प्रबल विरोय।

करत तोहूँ रहे आरम्भार है अनुरोय ॥

लंका के अन्तर्ग की है कितो यामं हानि।

जान तोहूँ निज हिये नहि करत ऐबक हानि ॥

बुरे हो तुम कहत येतो राख ली बय लाय।

रहो ली बुप के सभा मत अनि विचारतु माय ॥

कहुँ तुब बसकंय ने निज बाय ली यह बात।

करत प्रबल विरोय है नहि नेक हिये सकात ॥”

मर्यादा और प्रवचन मात्री जब मर्यादा व्युत्त हो जात है तो सम्बन्ध लोग दुःखों का साथ छोड़ देते हैं। दुष्ट प्रकृति और महा अभिमानी राक्षस से पावताहित विभीषण जब लंकापुरी छोड़कर अबमान राम की चरण में जाता है तो उसका अचित्त स्थापित और अमपानुरूप मर्यादा के अदलन्त प्रतीक के रूप में रूप उठ जाता है। उक्त समय संसाररहित के परे स्थान प्रेम अम नीति ज्ञान-बैराग्य—सब उक्तमें पून है। विष्णु गुणधर की पद्मवर्द्धन कल्पना द्वारा उसके भावने के प्रथम को बड़े

श्री अपमानजनक और बेइंसे तरीके से इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है

“गुप्तचर हनुमत बिभीषण में मई जो बात ।
 आप रावण सौ बलाई कुटिल बाकी घात ॥
 तुमसे प्रबल प्रसय बधनुज तब रह्यो यहि मौन ।
 जानि के मध्यम आयी लौटि सौ जिब भौन ॥
 कहुँ बान भोटि के तब लक्ष्मण सौ आप ।
 नयि पयो तिति में बिभीषण लंक-सौद बिहाय ॥
 रहे सरमा और तरनीसेन अति घबराय ।
 यबहि आयी हौ इत प्रभु तिनहि धीर बबाय ॥

राम और बिभीषण की भेंट और सरणापति प्रसय को भी अत्यंत विद्वत रूप में प्रस्तुत किया गया है

“उत बिभीषण राति ही में कियो सत्वर पार ।
 बहु लज्जत डरात आयी राम-सेन मंसार ॥
 मिलि पये हनुमान धरौ बनि गयो तब रग ।
 सं गए रघुबीर के द्विज ताहि अपने सग ॥
 जानि रावण बन्धु प्रभु ने बिपी देखि बहु बान ।
 तिलक ई देखि आयु लक्ष्मण कियो जगवान ॥
 मर बंधायी लिम्बु ई इक तैतु राम उदार ।
 कियो सेना सहित या बिधि अम्बनिधि की पार ॥”

इसी प्रकार रावण की कुत्सना और पड़पनकापी बहिन शूर्पणखा के चरित्र को भी बड़ा ही मूल देकर एक सर्भपा दूसरा रूप दे दिया गया है । समस्त जनबासी क्षुधि मुनियों और राम-कर्मज पर यह आरोप लगाया गया है कि वे शूर्पणखा और रावणों से प्रतिशोध लेने के लिए निरन्तर प्रमत्तधीर हर उचित-अनुचित और तरीके को अपमान के लिए तत्पर रहते थे । शूर्पणखा में कोई कुटिल भावना-पूर्ति या चारित्र्य-शोध नहीं था बल्कि सरमज ने जानबूझकर उसके विकृतीकरण की योजना बनाई थी ।

“इहरन बसी सुपनजा भित्त म अंग-रसकन बिहाई ।
 मारण भूलि राम कुटिया लौ मर-मर बलि भाई ॥
 बुरहि तै घूमत लखि बाकी लज्जत कियो पहचानी ।
 और सुचारि कटारि आपनी कहुँ कड़क इति बानी ॥
 ‘अपमा ! लंक बसाइ सहायक फास आययो तैरो ।
 भूलिहि गयो तोहि कुत्सारी ! कियो पयो प्रन भैरो ॥

यों कहि बकि मृपपति ली तहुसा बीगुटा ताहि पछारी ।
बाहि निपगतन हेतु हाप नै सीगहो कोपि कटारी ॥”

किसी भी मौखिक लेखक को विचार-स्वातन्त्र्य और अपने दृष्टिकोण से प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करने का तो अधिकार है पर बिना कारण परम्परा विहित और लोक प्रचलित कुछ पात्रों—(जैसे कि शृणुलला का चरित्र) को अतिरिक्त दर्शना प्रकृत नहीं है। इससे लेखक के किसी मतभेद की पूर्ति भी संभव नहीं है।

जहाँ तक भाव और भाषा का प्रश्न है लेखक ने अनेक स्वरों पर निस्संकोच दूसरे कवियों के भावों और रचना-शैली को अपहृत किया है यह अवश्य है कि उनमें मौखिक ध्वंजना का सा ध्यानन्द जाता है। छत्र बलकार और रस-निर्माण की दृष्टि से ऐतिहासिक पद्धति अपनवाई गई है। अश्लील संख्या प्रभात आदि के भी इसी प्राचीन परिपाटी पर कुछ सुन्दर विवरण हुए हैं। प्रभात पर किसी पंक्तियों में सरसता के साथ-साथ मूतनता और अनुकरण है

“बान्धिका सौ ससि रीतौ भयो
छनबा छन में जब चाहत जाती ।
साप बिहृगम-बुम्ब उड़ल
जहँ बिसि कृति जठि अटकारी ॥
मन्द बहै कापी सोरी समीर
सौँ ब्योम में छाव रही कपू जाती ।
भाल वै प्राची बिता के मनी
परि सिन्धुर बिन्दु बियो अया-जाती ॥”

कवि ने प्रकृति को जित दृष्टिकोण से देखा है उसमें रचना-बानुर्भूत और भाषा काटित्य तो है, पर अश्लील शृंखल और विभिन्न कल्पनात्मक कथन उठने हुए मत्स्यार्थी और स्वाभाविक नहीं बन पड़े हैं। पलायन-मुष्प का वर्णन जरा देखिए

“ताहि द्विप सोहत पलास को प्रसून लाल
बीसत बियोगिनी पञ्च तज करी है ।
अत्र अत्र बिसिज समान ही लज्जान छोई,
कामिनी करेबारि किरण करि डारी है ॥
छायो भरि पैद मात कैत कृत पंगुन को
याही है पलास निज नाम इन करी है ॥
होत है कठोर भाति जानि मन माहि मले
यह पल छण्ड नाहि छाइको बिचारी है ॥”

लेखक के बूझ की परछाईं जग में पड़ रही है। उसके हिसने-डुबने की विधा

बीर लहरों के मध्य बठखेसियां करती डाकियां बीर पल कबि के मन में एक बूझे प्रकार की कल्पना जगाते हैं

जबकि समान बाही सर के निकट लाप्यों
 सेमर बिजय एक परत लखाई है ॥
 बाके बारि भारत के प्रसर प्रबाहुनि में
 तब प्रतिबिम्ब यों परत जल झाई है ॥
 मानो जयनाक महीबर सरनाम्त की
 सायर ने लीमट्टी निज हीतक छिपाई है ।
 बजहूँ सुरापिय के कुमिस प्रहारनि सों
 मानो भय मानि रह्यो पंजनि हिलवाई है ।

उपर्युक्त काव्य बीर काव्य-प्रयोगों के विवेचन से स्पष्ट है कि जो कवि ब्रिजना ही सौंदर्य के शास्त्रत स्वरूप को हृदयगत कर पाता है वह उतनी ही जूबी से अपनी प्रतिमा और अन्तःशक्ति का उपयोग करता है। जो कि मानवजातों का संवरण सबदेसीय है, अतएव काव्य के विषय भी सबदेसीय बीर समान महता बाँटे होते हैं। कवि अपनी मौलिक प्रतिमा एवं अन्तःशक्ति से निर्भीक को भी सजीब बीर साधारण को सभी महाकाव्य जिनका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं सही मानों में महाकाव्य कहधाने क अधिकारी नहीं हैं। रामायण-महाभारत जैसे संमृत महाकाव्यों की उदात्तता जममें नहीं जा पाई है तो भी इस वैज्ञानिक युग के मुक्त मस्तिष्क में जो सरल भावधारा की स्रोतस्त्रिनी बहा सके हैं हिंदी संसार जनका चिर जूबी रहेगा ।

शरच्चन्द्र के नारी पात्र

युधार्थ का उकाबा है कि उपन्यासों में जिन परिस्थितियों और बातावरण का चित्रण हो वह जीवन की सुखी भूप हुआ और मिट्टी से छिरजा गया हो। शरच्चन्द्र अपनी पीढ़ी के अकेले ही ऐसे सिद्धक के जिन्होंने मानव अंतस्चेतना को सबसे मये स्तर पर स्थापित करने का प्रयास किया साथ ही अत्यन्त साधारण रोडमर्तों के जीवन से अपने उपन्यासों के प्लाट से युधार्थ व्यवहार-चेष्टाओं का उद्घाटन किया। आशय को आच्छन्न करने वाले बादल जिस बेग से उमड़ते-धुमड़ते हैं ठीक वैसी ही उद्गम वैमक्ति-मृदा का विस्फोट और हर रहस्य एवं अज्ञेय को जनौटी के रूप में चीरफाड़ कर बेजाने की उमकी जबर्जस्त एवाहिण बी। प्राचीन संस्कार एवं मर्यादाओं के छिछले आवाजों की शक्ति लहरों और बुरदुर्बों की पकड़ में आते-जाते स्वयं फिसल कर गिर पड़ने वालों में से वे नहीं थे अपितु उनकी छिछली की सांवातिक कण्ठ से कितनी ही प्राचीन माय्यताएँ खण्ड-खण्ड हो गई, असमाख्य और अतिरंजित—विद्युत मनुष्य की अतृप्तियों और बासनाओं पर मुलम्मा बड़ा रखा था—बकनापुर हो गया कुतूहल के आशय से छे पड़ गए और 'शिरका' से आत्मा को बकड़न वाले बंधन छार-छार हो गये।

अपने उपन्यासों के नारी-पात्रों में भी उन्होंने 'वास्तव' को ही अपनी कल्पना अपनी इमानियत का प्रस्तर आधार बनाया। समकालीन आलोचकों ने ऐसे परित्र और प्रसंगों की कड़ी मर्त्यता की और उन पर एक मनपट जबरदस्ती का आरोप लगाया पर व्यक्ति और परिस्थितियों को जीवन-सत्य के दो पहलू मानकर वे सदा आगे बढ़े। परिणाम यह हुआ कि सद्-असद्, मज्जा-बुरा, बाबर-बेबाबर, भक्त और बहुद्वेषित तथा भीसत बर्जों के पतितों एवं पापियों को उन्होंने अपनी व्यापक मानवीयता और सहानुभूति से कला की पीछीय में मंत्रो मंत्रो की सतत धेप्टा की। उन्होंने स्वयं लिखा है— 'ना-ना परिस्थितियों के विपर्यय में एक समय ना-ना व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ा था। उसमें कोई शक्ति नहीं हुई है, एसी बात नहीं। मगर उस समय जिन्हें देखा था उन्होंने मेरी सारी शक्ति की पूति कर दी है। वे मेरे मन में इस उपलब्धि को छोड़ गये हैं कि कोई भी त्रुटि विरूपति अपराध अथवा ही मनुष्य का सब कुछ नहीं है। बीच में उनमें जो बस्तु मयाच में मनुष्य है जिसे आया ही

कहा जा सकता है, वह उसके सभी अपराधों से बड़ी है। अपनी साहित्य सेवा में उसका अपमान न करें। कारण—जितना भी बड़ा क्यों न हो मनुष्य के प्रति मनुष्य में बुद्धा उत्पन्न हो मेरी रचना में कभी इस बात को बढ़ावा न मिले। लेकिन बहूतरे लोगों ने इसे मेरा अपराध मान लिया है और जिस अपराध के लिए मुझे सबसे अधिक सज्जित होना पड़ा है वह मेरा यही अपराध है। मेरी तुलिका से पापों का चित्र मनोरम हो उठा है, मेरे विरुद्ध चलका बड़ी सबसे बड़ा अभियोग है।

इस प्रकार अपनी पब्लिक प्रेरणा के साथ उठ खड़ा होने वाला चरन्धर का अर्हकारी व्यक्तिव कुछ लोगों को बड़ा ही मनीषीवर्गीय बना क्योंकि उन्होंने धर्म-नीति आचार-विचार समाज और संस्कृति की नई व्याख्याओं का एक क्रांतिकारी ऋण छठया या पाप ही मबार्थ अनुमति से उपजा होने के कारण उनका इतिव सभी से भिन्न और सर्वथा नई शीक का हामी था। उनके सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'चरिणहीन' की नायिका—सावित्री—एक बाल-विधवा है जो कुसीन बंध की होने पर भी एक 'मिस' में जीकरामी है और मेरे से उदरे हुए सतीस नामक मुबक से सम्भार प्रेम करती है। कितने ही प्रासंगिक व्यवधानों के बीच भी उनका प्रेम बलता रहता है, पर अन्त में शरीरिनी के जाने से त्रिकोण उपस्थित हो जाता है।

इसने विपरीत किरणमयी एक बड़ी ही विचित्र उष्ण बल मारी है। जैसे बरबस अंधकार और प्रकाश का योग हो जाए वैसे ही उनका बैचारिक बलबलन है। पति मृत्युवेदा पर पड़ा है पर उसमें आत्म-मीन की कुरहुरिया उठ रही है। बातचीत के दौरान वह बुध कहती है—“मैंने उनसे सभी प्रेम न किया न उन्होंने कभी मुझे। वे बीमार पड़े तो महीनों पड़े रहे। ऐसे समय में डाक्टर आए मेरा हृदय प्रेम का भुआ था जो भी उसने दिया वह प्रेम नहीं हलाहक था किन्तु मैंने सती का बार्कठ पान किया। मैं हलाहक पीती ही जाती। किन्तु ऐसे समय में ही मुझे अमृत का पता क्या। अमृत से किरणमयी का संकेत उपेन्द्र से हुए प्रेम की ओर है। उत्पन्न वह विचार के साथ बर्ना भाग गई। इस प्रकार विम्वस्त भावनाओं के संयोजन द्वारा एक कामाक्षत मारी के चरिण को अधिकारिक पैना और मर्ममर्धी करके दर्शया गया।

'बेवशास' की पार्वती संध्या और चन्द्रमूली 'अपेरदाबी' की भारती और सुमित्रा 'धोप प्रश्न' की कमल श्रीकान्त की अमया और राबसवमी 'बामुनेर मेरे' (अर्थात् बाइबल की सङ्गी) की संध्या 'गृह्याह' की अचला 'पल्ली समाज' की रमा और 'बड़ी बीबी' की माववी चरन्धर की ऐसी मारी-सृष्टियाँ हैं जो तमाम परम्पराओं अंधविश्वासों और रुढ़ियों के वचनियों की शीक से अलग हटकर स्वयमेव नई राह का निर्माण करती हैं। विनात्मक मुनन के लिए कला को ऐसी निर्बाध कल्पना की आवश्यकता है जो सम्पुक्त हो जिस पर ओर-अर्धरती या विधि-विषय का बलन न हो। चरन्धर के मारी नाम उनके अपने भीषण और उबक-मुबक का चित्र है। कला उनके सम्यक्गीत हृदय की प्रतिपत्ति है।

स्पष्ट धर्मों में—धरन्धर की नारियाँ सीमित मतवालों और संकुचित विद्याओं की अकड़बन्दी में नहीं अपना बाहुली। वे उस परबल पंथी की तरह नहीं हैं जो आकाश में उड़ान भरना चाहकर भी पंख फड़फड़ाकर रह जाता है। इसके विपरीत वे निर्बंध हवा में बिखरना चाहती हैं। 'आह्वान की लड़की' में जब संध्या घर के पीड़ से उठा किसे जाने के कारण बुद्धिहीन बेप में तूफ़ान की तरह अपने प्रेमी अरुण के पास जाती और माणमा करती है—'तुम्हारे अलावा मेरा आज कोई नहीं है बसो। तो अरुण पूछता है 'कहाँ? संध्या कहती है—'वहीं से एक व्यक्ति बनी उठ गया वही बसो। अरुण ने सकुचाते हुए कहा—'किन्तु तुम्हारे साथ तो मैं नहीं जा सकता। संध्या कातर हो उठी—'फिर मैं बड़ी किसके यहाँ होऊँगी बीऊँगी बंसे? पर जब अरुण ने अभिप्रेक्षा व्यक्त की तो नारी का सहज अधिमान मुबार हो उठ।

वह बीबी की तरह बंसे यार्ड की बंसे ही लौट गई। दूसरे दिन जब अरुण गया तो वह दूसरा ही पस्ता अपना चुकी थी। अरुण सबाक रह गया—'संध्या तुम जा रही हो। मैं उस दिन अपना चित्त स्थिर नहीं कर पाया था किन्तु मने निश्चय किया है कि मैं तुम्हारी बात में ही राखी हो जाऊँगा। संध्या बीबी— उस दिन मेरा भी चित्त स्थिर न था अरुण भी किन्तु आज मेरा चित्त स्थिर हो गया है। मैं पिताजी के साथ यही बात धारण कर रही हूँ कि नारी ने किए ठापी करने के अविरक्त कोई काम है भी कि नहीं। मूक बलिदान व्यर्थ नहीं जाता, जब धरन्धर के उपन्यासों में जब-जब ऐसे प्रसंग आए हैं व पाठकों को दगा देते हैं।

सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके द्वारा सूचित नारियाँ व्यक्तिबहीन और निवान्त चेतनाधूम्य नहीं हैं वे वैचारिक अन्ति उत्पन्न करने में सफल हुई हैं। कई कठोर स्वभाव की घासतमिष और हठ की सीमा तक निमाने वाली हैं ता कोई निर्दोह बीनता और आराम प्रबंधना से दूर है। कोई बंवासी भीष्क या कट्टर परम्पराओं की प्रतीक हैं तो कोई ऐसी उच्छ्रंजल नारियाँ भी हैं जो ऐन्द्रिय भूय की तृप्ति के लिए अपने आप को मिटा देने वाली हैं। पर अपने तई मिटा देने वाली इन नारियों में भी एक सगर्ब आसह और अलमना कौतुक है। लपटा है बंसे उनके संवेदनशील अन्तर में मध्यवर्गीय कुंठाग्रस्त संस्कारों की ऐसी कटु अतृप्ति भरी पड़ी है जो अलमन्य बार्दक्षय के बाधकितपूर्न या उकसाव भरे चित्र उपस्थित करती है। बड़ी प्रथमावेधों से आबिल तो कही स्वयं की प्रतीति एवं परितृप्ति के लिए अलमिकार लिप्याओं से उल्लेखित, कही अक्षरगत प्यार के लनाम से छिन्ननिम्न हो कही महम संभव के दायित्व से अवसन्न या एकात्म परिमा की साधना से क्लान्त कही बेबसी से कातर तो कही आन्तरिक आवेधों की तीव्रतम पिपासा से उद्विग्न इसके अतिरिक्त किसी में सहज विलुप्ता अपने बाला अवताद और उब तो किसी में निराप गौरव से उरना विरग और पकायत किसी में प्रम-मर्पावा का हम्न तो किसी में जोनवार और हिल की तदुपन का कयापात—यों धरन्धर की वे कया-नायिकाएँ बड़ी ही बनीबोडरीव और बिचित्र घामघयामियों से भरी हैं बिनके मानसिक उहा

पोहों और 'मूर्खों' का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अनेक बार पाठकों का मन उनकी भावनाओं से एकाकार नहीं हो पाता। कारण—उनकी मस्तिष्क की बति विविधा विरी कल्पनामूलक नहीं। वे विभिन्न परिस्थितियों और अनुभूतियों में बांधी गई हैं। मनोमात्रों का अंकन आर्थिक विकास और कितनी ही भीखरी उन्नतनपूर्ण प्रक्रियाओं का मार्मिक विश्लेषण ऐसे-ऐसे कोण उभारता है जो एक सामान्य मनुष्य की बुद्धि में स्वभावतः बंध नहीं सकते। बुद्धि की अस्वीकृति का अर्थ है मूल प्रवृत्तियों में विपर्यय जो किसी प्रकार ताकमेस नहीं बैठता। पर इसी आचार पर समस्याओं को आगे ठेस कर विभिन्न संघटनों के वास्तविक में उनकी कुष्ठाओं की परिणति विचक बुद्धि पर हावी हो जाती है। अनेक बार मूलमूल कारणों को बति प्राप्त करने के प्रयास में वे मुपराह भी हुए, पर इस प्रकार की अन्तःस्थापनाओं और मूल प्रवृत्तियों में अन्तः उन्होंने तादात्म्य स्थापित किया। धरणीय ने स्वयं स्वीकार किया है—“समाज-संस्कार की कोई भी बुद्धिमत्ता मुझ में नहीं है इस लिये मेरी पुस्तकों में मनुष्य के दुःख-दरों का विवरण है, शायद समस्याएँ भी हैं किन्तु समाधान नहीं है। यह काम तो दूसरों का है। मैं तो केवल गल्प-लेखक हूँ इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।”

एक मोटा-सा सवाल है—सच्ची क्या क्या है, इसके लिए है और कौन उसका आनन्द उठाता है—सूट्टा जोरता या मुक्तभोपी। इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया है—“सुजन करना पकित है वह दिखाई नहीं पड़ती और इस पकित का आधार है अपने प्रति विश्वास आत्मनिर्भरता। यही शायद उनका मूलमन वा ब्रह्मकी साहित्य-सुजन में उन्होंने अभ्यास गति मानी। एक अन्य स्वक पर इसी का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—“मे जानता हूँ कि मेरे चरित्रों का निर्माण कैसे होता है। मर्याद अन्तर्गत की उपेक्षा मैं नहीं करता। मर वपार्थ और अयपार्थ के सम्मिश्रण से ये कितनी पीड़ा कितनी सहायमूर्ति कलेज के कितने बून से ये पीरे-पीरे बड़े होकर फूलते हैं इस और कोई भले ही न जाने में तो जानता हूँ। सुनीति और सुनीति का स्थान इसमें है लेकिन विवाद की गुंजाइश इसमें नहीं है। वह वस्तु इसी बहुत ऊँची है।”

एक अवर्तित प्रकाश के बाद धरणीय के प्रति जब बुद्धिजीवियों की दृष्टि बढने लगी तो उनका औपचारिक वीचक सामयिक विकास के सिद्ध पर पहुँच गया। अपनी रंग-रैगानों और अछूनी अभिव्यक्ति से वे हर वर्ग की मारियों की ऐसी अतन्मयी शक्ति कर सके जो देश काक और परिस्थितियों से ऊपर उठकर चिर चिरन्त तक अमिट लकीर छोड़ गई। कितने ही मतमदों ने बावजूद विश्वकवि टीनोर ने इनकी मृत्यु के पदचान् अभ्यर्चना में लिया था

“आहार अमर स्थान प्रेमेर आसन
शक्ति तार शक्ति अय मृत्यु शानने।

रुचन के नारी पात्र

बेशोर माटिर सेने मिलो बारे हरि
बेशोर हृदय तारे राबियाछे बरि ।”

अर्थात् प्रेम के आसन में जिनका अमर स्थान है मृत्यु के घासन में उन्हें खोना कोई खोना नहीं है। देश की मिट्टी में जिनका अपहरण कर लिया देश के हृदय में उनको बरस कर रख छोड़ा है।

टैगोर के नारी पात्र

दुर्दीननाथ ठाकुर के चरित्र-चित्रण का मुझ स्वर है एक अति जागरूक मानवतावाद जो विमल अर्द्ध शताब्दी के समाज बर्न संघर्ष कुल एवं परिवार, बाह्य बट भाएँ, सामाजिक बातावरण व्यक्ति और उसके बहूँ ओर की परिस्थितियों के संघर्ष में सिरना मया पर अन्ततः जिसकी चरम परिणति नारी पात्रों में जाकर हुई। 'सुन्दर' के उपासक कवि ने 'सरय' और 'सिब' के सम्मिश्रण से नई भाव भूमि पर नये सौन्दर्यबोध एवं कलात्मक उत्कर्ष के साथ एक विशिष्ट बातावरण में कुछ ऐसे अनूतपूर्व चित्र आँके जिन्होंने न केवल एक विशिष्ट भावों का उद्रेक किया बल्कि स्वयंस्वरों को छूकर अपनी कला की व्यापकता और भावनाओं की सचाई को छाप छोड़ गया।

टैगोर के नारी पात्र मझे ही न किसी सुदूर कल्पना लोक की सृष्टि हों एक गहरा माता हम से कामम कर सिते है जिन्हें जीवन में मुक्ताना कभी सम्भव नहीं। उनके रचना काल के प्रथम दौर में जब तारुण्य की मीन है, प्राण-वाचस्य में अतृप्त कामना का असीम आग्रह है तब भी अन्वकार की मसिरेला को प्योति की लीक बनाकर कवि की बाणी जीवन आदरों में युगान्तर जाने में सफल हुई है। सौन्दर्यबोध की व्याख्या करते हुए एक स्पष्ट पर वे लिखते हैं

जिस प्रकार सौन्दर्य हमें सोमनता की ओर तथा धर्म-धर्म संघम की ओर मीच के जाता है संघम भी उसी प्रकार हमारे सौन्दर्य भोध की गम्भीरता एवं गरिमा में अभिवृद्धि करता है। स्वयं भाव से मनोयोग देना न जानने पर हम सौन्दर्य के धर्म में पैठ उससे रस प्राप्त नहीं कर सकते। एक परामय सती स्त्री ही तो प्रेम के मन्तर्न सौन्दर्य की उपलब्धि कर सकती है। दुराचारिणी या पयभ्रष्ट स्त्री धोड़े ही कर सकती है। सतीत्व बही वाचस्य रहित संघम है जिसके द्वारा मन्मीर रूप से प्रेम के निवृद्ध रस को प्राप्त किया जा सकता है।

कवि का यह अरुण्य स्वर ही बसन्तकाल की बहसूल धारनाओं उनकी मन की जड़ता पतानुपठितता की परिधि को तोड़कर नई विचारवादा नये जीवन-वर्तन और विरह बरेष्य आदरों की स्थापना करता रहा। उनके अंत में केवल नर्भों के द्वारा नहीं बरन् उसके पीछे यदि मन की वृष्टि मिली हुई न हो तो सौन्दर्य को मन्गी

तरह देखा-बरखा नहीं जा सकता । यही कारण है कि उनकी बीबन्त कल्पना अदुस्म लोक की कुहेसिका थीर कर ऐसे-ऐसे कल्पनों से मानवी चित्रों को समीप एवं साकार करती गई है जो अधिक पूर्ण और वास्तविक हैं जिसमें प्रायः-ज्वार का ज्वालन है, निर्माँव और मोक्षस्त्री आत्मा की अनुसूँब है और गित नये चरित्र चित्रों के विस्तार रग-जैमव आकर्षणों और बहुविध तत्त्वों में सारी सम्पूर्णता को समेट कर ऐसी महत्प सृष्टि की गई है जिसमें अदम्य शक्ति, चेतना और एक तत्त्वदर्शी विज्ञानु दार्शनिक की सफलतम अभिव्यक्ति हुई है । एक अन्य स्वप्न पर कवि ने लिखा है

“वास्तव में सौन्दर्य जिस स्थान पर पूर्ण विकसित होता है वहीं अपनी प्रथमता को छोड़ देता है । वहीं पर फूल अपनी वर्णमन्त्र की लक्षिकता को फल की गन्धीर मधुरता में परिवर्त कर देता है और उसी परिवर्तन में उसी चरम विकास में सौन्दर्य और मगल का समन्वय हो जाता है ।

इनके प्रारम्भिक उपन्यासों ‘कदवा’ और ‘बहु ठाकुरानी हाट’ में एक प्रकार का युवकचित्त आकर्षण और कल्पनाचंचित काठाकरण अधिक है जिससे इस समय-समय में सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पुस्तिकाओं के विद्वेषण की प्रवृत्ति कम बीबन्त पड़ती है । पर ‘ओखेरबाँसि’ और ‘नौका डूबी’ में कल्पना समुद्र हो जाने के कारण इन्होंने जिन विविध मुद्राओं एवं भांगिमाओं में जाओं को ग्रहण किया उसमें कितने ही नये अरातकों पर नये-नये संकेत व अर्थों का ससार सुल पड़ा कितने ही पारदर्शी एवं रंगीन छाया चित्र उभरे और बीबन्त-बीबा के अगचित्त धार सहसा अक्षुत्त हो उठे ।

इन दोनों मनोविरलेपण पूर्ण उपन्यासों में जिनमें चटनाओं की विविधता ही प्रधान है—ऐसी नारीयों सिरजी गई हैं जो अपने आदर्शवाद पर टिक कर भी अपनी प्रकृति चरित्र और प्रेम के ऐकात्मिक पहलू को बड़े ही स्वस्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं । ‘ओखेरबाँसि’ की विचोकिनी के मानुष और शैक्षिक रक्षण क पक्ष इतने सप्रकृत होकर उभरे हैं कि निरन्तर संपर्क और कसमकस की स्थिति बनी रहती है । विषया होने के बाव इन्तहा सामोयी और निरीह स्वस्थता में लपी मानना उसे अतीत के उस काल में पहुँचा देती है जहाँ उसमें महेश्वर से—जिससे कि उसका पहलै विवाह होने वाला था—बहला सेने की लप्य सवार होती है । नारी के मन का चरुस्व विचित्रता शुन्दता उत्तेजना और आवेश भरे वासनापूर्ण चित्र अगत्त उसी समाधान के विन्दु पर आकर टिकते हैं जहाँ बीबन्त और संवर्ष की कहानी के अधिक सन्तुष्टि परिच्छेस सामने आते हैं । नौका डूबी’ में भयानक लक्षी के कारण नौकाएँ डूबने की कुपटना सब लक्षपरिणीता को किसी अन्य मुकक से भा मिलाठी है और वह उसे धूक से पति मान बैठती है वो उसमें एक आशाओं बुककपू की थी स्वयिक विचित्रता की गरिमा है जो इस काय विहम्बना और प्रतिरक परिस्थितियों में थी उसके सतीत्व की कवच बनी रहती है । पुनः का अन्तर्द्वन्द्व और परिस्थितियों को अविचारिक उसे उसके निकट लाती जा रही है ‘उत्से यर्षादित और शिवोचित व्यवहार के सम्बुद्ध उसे दिना नहीं पाते और इस प्रकार पीन या आचरण मंग का साहम बहु नहीं कर पाता ।

पर ज्यों ही नववधू को यह बात होता है कि युवक उसका असली पति नहीं है तो मारी के चरम सतीत्व की सामना प्रारम्भ हो जाती है। भक्तिक परिचय और छात्निध्य में एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व पर हावी हो जाता है, वरन् कभी-कभी तो अद्वैत भावनाओं को आसोदित करता हुआ एक मनोरम प्रलेप भी रचा जाता है पर पति-पत्नी के प्रेम का तो एक विशिष्ट गतिपथ है। कुछ विशेष परिवेश एवं परिस्थितियों भले ही अनुकूल साबित न हों किन्तु परस्पर मुक्त हृदय और सम्पूर्ण प्रह्वन एवं समर्पण की प्रक्रिया अनेक विपमताओं में से भी समझौते वा मार्ग खोज सती है। यही कारण है कि कितने ही उद्घापोहों और उच्छ्वसनों के परचासु बन विरमिलन होता है तो उसमें किसी तरह के चक-सुबहे नहीं हैं अनास्था या अविश्वास के सौदे नहीं हैं और न ही उनके दिनों में फर्क डालने वाली दरारें हैं। दोनों की प्राणात्माएँ मिलकर ब्रूम-पानी की भाँति एकमेक हो जाती हैं।

इनके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'गौरा' में मारी के बहूपल चित्रित हुए हैं। सुष रिता सन्निता आनन्दमयी वादि प्राचीन और मध्य सारसों की प्रतीक बनकर कितने ही विचार कोशों और चारिषिक पहलुओं को सामने लाती हैं। सुष के बरसते परिशेष में अमूर्ति सदा सापेक्ष होती है, अतएव कपलकार की महानता तभी है जबकि वह निर्बाध जीवन को समझने का अवसर दे और उसके विद्यालय वैविध्य में तात्कालिक परिस्थितियों को एकाकार कर कितनी ही दुर्घोष सूक्ष्म कटिभ्रमों का समाधान प्रस्तुत करे। उक्त उपन्यास में टैमोर ने मारी चरित्र को निजस्वता और नियतकृता प्रदान की है, यही कारण है कि विभिन्न परिस्थितियों में नाना परिवेशों के बीच कितने ही जाने-जाने से चिरी और जीवन के उतार चढ़ावों के संसाधन में हिलफोरे सेना उसके व्यक्तित्व का अद्वैत रूप ऐसे मध्य बिन्दु और बिन्दु-प्रतिबिम्बों को उभारता है जो जीवन और चारिष्य की कसौटी है।

अपने मध्याह्न काल में 'चतुरंग' और 'बरे बाहिरे' में कवि ने मारी के मर्यादित मादसंबाह के साथ उसके नैसर्गिक रसानों का भी विगन्धन करवाया है। 'ठोप' की विषया सामिनी जिसमें तर्कार्थ की जामा जमी भुसी नहीं है वह बीतराम या मयबधुभक्ति में धीन नहीं बल्कि उसके हृदय में कथमसाठा प्रथम का उदयन है जो सारे बंधनों और अचरोषों को तोड़कर जीवन की सरयता का उपभोग करना चाहता है। वह बिभ्रोहिणी हो जाती है और अन्त में अपने प्रथमी से ठुकराये जाने पर दूसरे से विवाह कर लेती है। इसके विपरीत 'बरे बाहिरे' की समस्या है कि वैवाहिक प्रेम शुद्ध है या स्वतः स्फुरित प्रेम। उसके मायक निमित्त का एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण है जिससे उसकी पतिपरायण पत्नी भिमका का मतभेद है। परिस्थिति-अस दोनों के बीच मार्गवय रेखा बिजली जाती है किन्तु समय का व्ययवाह जो एक सम्झी बुरी ठप कर चुका है, बहुत कुछ रहस्योद्घाटन करता है। अंधकार की कुहलिका में प्रेम की अतल पहचानों उजागर होनी हैं और अन्त में दोनों जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह यह कि वैवाहिक प्रेम की सीमाहीनता ही अचीनता है। कारण—सीमाहीनता वस्तुतः कितनी

की सीमा के मिट जाने में अर्थात् उसके एकीकरण में है।

विवाह क्या है—दो अलग कड़ियों को जोड़ने का एक ऐसा सूत्र जिसमें गहरी आत्मीयता और अन्तरम आवात्मनता है। विवाह है—आत्मिक सम्मिलन दो का जिसमें किञ्चिद्गुण वृत्तियों का सामंजस्य हो हृदय दो आत्माओं को निरुपम धम और हो पूष्क जीवन और व्यक्तिगतों की चरम परिणति।

ये इनके समस्यामूलक उपन्यासों में नारी का रूप और भी मध्य और भी परिपक्व होता गया है। पूर्व निर्धारित योजना का स्थान यादृच्छिकता न से लिया है। कवि की निरन्तर पुष्ट और सक्रियमयी कल्पना में अनेक बार इन्द्र और गम्भीर सपाठ उत्पन्न हो जाता है कहीं आकाशवादी की कुत्रिम ऊपर से घोड़ी घई और विह्वल रंग रेखाओं में प्रतिमानी रोमांस उभरता है तो कहीं कल्पना की कोरी उड़ानें अपनी ही सीमा-सीमाओं से टकराने लगती हैं। वहीं उनकी कला वस्तुवाद की ओर उन्मुख है तो वहीं बर्न नीति बर्नन और आचार-नर्दानों के संघर्ष में जीवन का उच्छ्वस प्रसाधन अपना पड़ रहा है।

फिर भी डेगोर के नारी-चरित्र की इस बखतारणा के संघर्ष की दिशा की निर्धारक उनकी कल्पना नहीं बल्कि मानवतावादी दृष्टि है या जीवन-सत्य में बैठने को सबक सचेष्ट रही है। एक बार कवि से किसी ने पूछा

“महात्मना जीवन-संध्या समीप है, क्या इतक अच्छी है, क्या अब भी आपको अपना एकान्त चिन्तन में पारलौकिक अन्देश सुनाई पड़ता है? कवि ने उत्तर दिया

“संध्या का समय है और मैं काल लपाये बैठ हूँ विलम्ब से ही नहीं सागर कोई पुकार से।”

कहना न होगा—कवि देव काल की सीमाओं से परे और महाकाल के नीलाम्बर में मृत वर्तमान और बलीय की विरासत को अपनी सोयी में समेट एक युगशयी चार्सनिज बने। जीवन की विषम से विषम परिस्थितियों में भी—विलगी ही शरम प्रतिबुद्धता से टकराकर भी—उनका पीठपी नसाकार अधिकाधिक सत्राय और सत्रयत कष्टा बनना गया। महिमापदी नारी की परिचा के ये इतने क्रायक से कि उन्होंने सभी पुरण क उन्नत सपाठ की तो सर्व्व आर्त्तता की ही पर उनको वासना की चरमता अब बेहता की परिणति में एकान्त हो गई अथवा अनुमान के साथ धमा का मिली सभी उनके साम्राज्य प्रेम की पटाकाष्ठा चिरमिसन में प्रतिष्ठित हुई। कवि न अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद लिखा था

“तुमि घोर जीवनेर मात
मिछाये छी मृत्युए माधुरी।
बिरे बिदापरे मामा दिया
पगाम्य मिरछै घोर हिया ॥”

अपत्यास में अनेक पात्र एक साथ मिलते हैं, किन्तु सब का स्फुटित रूप पृथक् और अपनी निजी विशेषता बिना दृष्टिगत होता है। उन्होंने अपने यथार्थ चित्रण के बल से उनकी स्फुटिगत्त यथि आदर्श भावना तथा उनके स्वभाव की विशेष प्रकृतियों के उनके बाधपीठ रहन-सहन रंग-रंग आस-बास और उनके शिष्ट कर्मों के चित्रण द्वारा जनका उच्छ्वासिध पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया है। हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वे सभी बचकले-फिरते नर-नारी बालक-बाधिकाएँ, बृद्ध-तकम अथवा अपने ही बंधी ब सहयोगी हैं उनसे हमारा निकट का सम्पर्क है हमारे हृदय को वे आधरवित कर लेते हैं अपनी ओर बरबस खींचते हैं हम उनसे प्रसंयानुसार प्रेम तथा ड्रेप करते हैं उनकी हँसी के साथ हमारा आह्लास फूट पड़ता है, उनके बौधुओं के साथ हमारे मधु की कुकक पड़ते हैं। वे हमारी उप-विषय की वृत्तियों से इतना महत् सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं हमारे जीवन में इतने बुकमिक जाते हैं हम पर अपना इतना म्यापक और स्थायी प्रभाव छोड़ जाते हैं कि हम उन्हें आकर्म नहीं मूक पाते।

प्रेमचन्द जी के कहानी कहने की प्रभासी थी अत्यन्त रोचक और सारयमित है। कथा में कल्पना की जोडा बाधेधिम्य और नए-नए प्रसंयों की सम्भावना थी बड़े ही कौशल और सुन्दर ढंग से हुई है। प्रत्येक घटना और बृत्त की अपनी-अपनी विशेषता है और वे बिम्बुकल होते हुए भी एक ऐसे लुभ में बँधे बरते हैं कि उनमें पुककत्व का आमास ही नहीं होने पाता। कमी-कमी तो पाठक को ऐसा भाव होम रूपता है कि वे सभी उप-कथाएँ महत्त्वपूब जीवन-विस्लेपक चित्र हैं, जिन्हें एक मूत्र में आधरर सेकक ने अपन बुद्धि-बल से एक विचार कनाक के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

प्रेमचन्द जी की मानव-चरित्र का भी अत्यधिक ज्ञान है और जनका विशेषत थी बड़ी सफळता के साथ हुआ है। किमान-अमीरार, मञ्जूर-मितमाकिक शिक्षित अधिधित सम्भरित्र-बुरचरित्र स्त्री-मुक्य सम्भ-प्रापीध बालक-बाधिकाएँ आदि सभी पात्रों का बर्णन इतना आकपक और पूर्ण है कि वे उरम्याओं के रंगमंच पर अधिनय करके अपना स्थायी प्रभाव हमारे हृदय-पटक पर अधिकत कर जाते हैं। मानसिक वृत्तियों के सूबम विफलनम और उनके उत्थान-नतन के चित्र अधिकत करने में ही प्रेमचन्द जी ने कमाक कर दिखामा है।

उदाहरणार्थ—‘प्रमाधम’ में से ज्ञानचंकर, ‘रंगभूमि’ में से सुरवास और विनय सेवासदन’ में से पचरिह और मुमन ‘मोबान’ में से होरी-यनिया मोबर-मुनिया माठावीन-निलिम्या महता-याकती लम्मा-मोबिबी और ‘दहन’ में से रामनाथ और जाकपा के चरित्रों को ले लीजिए। अपने नित्यप्रति के जीवन-मोत्र में हमें जिस प्रकार के मन्म्य मिलते हैं उनकी ठीक प्रतिवृत्ति उन्होंने खीच ली है।

“बुहिया बोहरी देह की काली-ककूटी नाटी कुम्पा बड़े बड़े म्थनों वाली स्त्री थी।” “मोबर लीबका मम्मा एरहरा मुकक का।” “बड़ी लकड़ी छोना लम्मा पीका कुमाटी पी लीबली मुदोल प्रतम और चपक। गाड की लक छाड़ी जिसे

वह कुन्नी से मोड़कर कमर में बाँधे हुए भी उसके हल्के घट्टीर पर कवी हुई थी वी और उसे प्रीकृता की परिचा दे रही थी। छोटी कपा पाँच-छ साठ की सोकरी की मैली छिर पर बाकों का एक बॉसला-सा बना हुआ एक संयोटी-कमर में बाँधे बहुत ही बीठ खीर रोनी।" श्रीमुरीसिंह नाटे, मोटे सस्वाट काठ लम्बी नाक और बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले आदमी थे—विस्तृत विद्वान्क जैसे। इसी प्रकार 'रंघभूमि' में "मुरदास एक बहुत ही क्षीणभाव दुर्बल और सरल व्यक्ति था। उसे देव ने कदाचित् भीख माँगने के लिए ही बनाया था। जनसेवक कुहरे बरन के पोरे-बिट्टे आदमी थे। बुढ़ापे में भी बेहरा साक था। मुख की बाकृति से प्रकर और आत्मविश्वास झलकता था। "मितेज सेवक के बेहरे पर झुरियाँ पड़ गई थी जमसे उसके हृदय की संकीर्णता टपकती थी। प्रेमचन्द जी के इन चित्रों में जो स्वाभाविकता और शाब्दी है—उसका प्रमुख कारण है—मानव-स्वभाव की उनकी खरी परख और जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यनहारों के बीच रख कर उन्होंने जो संवेदना प्राप्त की है—उसी की व्यंजना उनके उपन्यासों में यत्र-यत्र बिछरी पड़ी है। इसके अलावा उन्हें धान्य-जीवन वहाँ के दृश्यों बोलों पुरुष तथा स्त्रियों के स्वभावों का उनसे सामाजिक नैतिक और पारिवारिक जीवन की विशेषताओं का बहुत ही निकट परिचय प्राप्त था। उनके कुछ पात्रों में ऐसी स्वाभाविक मरचना की व्यक्तितगत बिपय ताएँ मिलती हैं कि जिन्हें सामने पाकर हमें यह प्रम होने लगता है कि इनका और हमारा कहीं न कहीं साधारणता हुआ है। निःसन्देह उनके मनोहर और रस झलकाते चित्र विस्तृत सच्चे और खरे उठरे हैं। जममें मार्मिकता और जनुठी व्यंजना है। उनके भीतर से एक सच्चा हृदय हाँक रहा है।

प्रेमचन्द जी आदर्शवादी कलाकार हैं। उनका मत है कि कला जीवन के लिए है न कि केवल कला के लिए। उनके पक्षार्थवाद पर आदर्शवाद का मानो मलम्ला बड़ा रहता है, किन्तु कहीं भी आदर्श के लिए कला की हत्या नहीं की गई। आदर्शवाद एवं कला का बहुत सुन्दर समन्वय उनके उपन्यासों की विशेषता है।

प्रेमचन्दजी की एक दूसरी विशेषता है कि कथानक सामान्य होते हुए भी वे अपने वर्चन-पटुता एवं आकर्षक शैली से उसे समीप बना देते हैं। जीवन का इतना रहस्यमय गूढ़ और रंजनकारी चित्रण बाह्य और अन्तर को समान कौशल से चित्रित करने की उनकी पटुता तथा हृदयगत भावनाओं को बड़ी सुन्दरता से प्रदर्शित करने की उनकी प्रयासी दैव्य कर विस्मय-विमूय हो जाना पड़ता है। समयानुक्रम आकांक्षा प्रम दोष क्रोध चिंता प्रतीक्षा मार्मिकानि पत्रघट्ट, उदासीनता विह्वलता सहृदयता कोमलता उदारता आदि व्यक्तित्व के धर्म-चित्र बहुत ही सुन्दर उतरते हैं। आषा-निराषा के मार्मिक इन्द्र का एक चित्र देगिए

"बनिया घन्नाटे में आ गई। एक ही क्षण में उसके जीवन का मुहु स्वल्प जैसे टूट गया। अब तक वह मन में प्रमन्न थी कि उसका कुल-द्विज सब दूर ही

गया। जब से थोबर घर आया उसके मुख पर हास की एक छटा खिली रहती थी। उसकी भाषी में मूढता और अ्यवहारों में उवारता आ गई। मयबान् ने उस पर दया की है तो उसे धिर झुका कर बलना चाहिए। भीतर की शांति बाहर छीजग्य बन गई थी। ये सब तपते हुए बास की तरह हृदय पर पड़े और बने की भाँति धारें भरमान झुकस मये। उसका छाया समंभ चूर चूर हो गया। इतना सुन कैने के बाब भीजन में क्या रह गया। जिस मौका पर बैठ कर इस बीजन-सागर को पार करना चाहती थी वही दूट गई तो किस मुस के लिए जिने।

ईर्ष्याधि मारी की कोमल भावनाओं को झुकसा कर उसकी मूढता को मुखा कर कितना मीजन रूप धारण कर लेती है इसका एक उदाहरण देखिए

“देखो धिल्लो मुससे साफ-साफ बता दो नहीं तो में तुम्हारे सामने यही अपनी गरदन पर गँडासा मार सूँबी। फिर तुम मरी सँत बनकर राज करना। देखो वह गँडासा सामने पड़ा है। एक म्याम में दो लकपारें नहीं रह सकती।

सबेरना हृदय को इधित करके मौम-सा पिचका देती है। सहृदयता से सहृदयता उत्पन्न होती है। मिन्नकिञ्चित पक्षियों में न जाने कितने दिनों की कितनी मारी प्रलय-ममता उमरी पड़ रही है

जब थोबर उसके चरणों पर झुका तो होटी रोपड़ा मानो फिर उसे पुन के दर्शन न होने। उसकी आत्मा में उल्लास का नर्न या संकल्प था। पुन से अन्दा और स्नेह पाकर वह तेजवान् हो गया है बिघाल हो गया है। कई दिन पहले उस पर जो बरसात-सा छा गया था एक अंबकार-सा जहाँ वह अपना मार्ग मूक जाता था वहाँ अब उल्लाह है और प्रकाश है।

कबचा का कितना मामिक चित्रण हुआ है—देखिए

“पनिया को बीम बीसों से देला दोनों कोपोंसे माँमू की दो बूँदे झुक पड़ीं। बीज स्वर में बोला—मेरा कहा-मुना माफ करना बनिया। अब जाता हूँ। गाय की लासता मन में ही रह गई। रो मठ बनिया अब कब तक जिनायेगी। सब दुर्बता तो हो गई। अब मरन है।

वर्णन-यक्षित भी उनही बड़ी ही प्रबल है। नीच के उदार्यों को पढ़कर बुधय चित्र चित्रकुक नर्नों के समस आ जाता है

“जगता बूँदे कुलेकों पर हँसती थी ताकिया बजाती थी पालिया देती थी म्मकारती थी बाजिया लमाती थी। बाहू! जय इन बूँदे बाबा की देखो। किम जान से जा रहे हैं जैसे धबको मार कर ही लौटेंगे। अच्छा। दूतरै तरफ से भी उगही के बड़े भाई निकले। दोनों जैसे वीतरें बदन रहे हैं। इन हृदियों में अभी बहुत जान है भाई! इन कोपों ने कितना धी जाया है जगता अब हमें पानी धी मयमर नहीं। मौम पहले है मारन पनी हो रहा है। होठा होया। हम तो यही देखते हैं कि इन बुद्धों-जैसे जीवट के जेबाग धी आज मुदिकस नि निकसोंगे। वह उपर जाने बुद्धे

मे इसे दबोच लिया। बेचारा मूट निकलने के लिए कितना जोर डार रहा है। मयर अब नहीं जा सकता बच्चा। एक को तीन छिपट गए।”

“बही स्पष्टही चाँदनी अब भी छाई हुई थी। नदी की लहरें अब भी चाँद की किरणों में नहा रही थीं और सिसुओ बिसिण्ट-जी स्वप्न-छाया की भाँति नदी में बनी जा रही थी।”

ब्रह्मचर्य जी के उपन्यासों में कथोपकथन भी एक मुख्य उपाय है जिसके द्वारा उन्होंने अपने विचारों आशयों और सिद्धांतों को प्रकट किया है। उनके कथोपकथन बहुत ही सजीव पात्रों के अनुकूल सारगर्भित और प्रभावशाली होते हैं। वे गप्पे-मुम्पे बयान बड़े न अधिक छोटे और व्यर्थ के दम्भाङ्गार से विनिर्मल होते हैं।

आपेय-प्रत्यारोप का एक दृश्य बिन्दु देखिये

मिस माऊली ने लंका को तिरस्कार बरी जाँचों से देखा।

“आप लोग इतने कायर हैं यह मे न समझती थी।”

‘वै भी बह न समझता था कि आपको अपने इतने प्यारे हैं और बह भी मुक्त के।

“अब आप लोग मेरा अपमान देख सकते हैं तो अपने घर की स्त्रिया का भी अपमान देख सकते होंगे ?”

“तो आप भी बीते के लिए घर के पुरुषों को होम करन में लंकाच न करेंगी।”

एक औपन्यासिक के लिए जिस प्रकार की भावा बाँधनीय है वही ही प्रेम बन्द जी को प्राप्त है। उनमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा है और वह नृबन्धनक कल्पना है जिसके फलस्वरूप उनकी भावा अत्यन्त मधुर, मोक्षपूर्ण, मुहाबरेदार और एका-कीकाल एवं आश्चर्यक दम्भावली के युक्त है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उसमें नैस विक्र प्रवाह है और वह स्वयमेव कल्पम छ चित्तकली बरकली है। प्रत्येक पात्र की चारि बिन्दु विशेषताओं योग्यता परिस्थिति और अवस्था के अनुकूल कहीं तो भावा अत्यन्त परिभाजित कही सारगर्भित कहीं साहित्यिक और नहीं मंसेहतमय हो गई है :

‘साहित्य कीकल के प्रभाव में कालमा अपनी मुलाबी भावकता क साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधय की मुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप जाता है शय-शय पर बमुके उठने हैं और पूष्पी काँपने लगती है। कालका का मुनहटा आकरन हट जाता है और वास्तविकता अपन बन्द रूप में माधयने जा राड़ी होती है। उसके बाद विभासमय मीप्पा जाती है, पीतल और पान्त जब हम बके हुए पबिकों की भाँति बिग बरकी यावा का बुतान्त बहने और मुगते हैं तटस्य पाब मे मानों हम चिनी जंके गिगर पर जा बीठे हैं जहाँ नीचे का बगरन हम ठक नहीं पहुँचता।”

वही इतनी उर्ध्वमय हो गई है त्रिमका भाषय उर्धुके बगते जानवार ही समस बचने है।

“मे हजरत की तहरीक पर एतयान करने की जुरजत कर सकता हूँ।” कहीं सरल कहीं निष्कण्ट कहीं उर्ध्वमय कहीं संस्कृतपरिमित कहीं परिमाजित तो कहीं ग्रामीण—कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी भाषा को पात्र परिस्मिति और प्रसंयानुकूल मोड़ने-तोड़ने में वे अत्यन्त सिद्धहस्त थे। हिंदी-उर्दू की उन्हें पूर्ण आतङ्करी थी।

कुछ साहित्यिक विद्वानों के मतानुसार प्रेमचन्द जी मारी के चरित्र-चित्रण में असफल हुए हैं किन्तु हमें तो लगता है कि मारी की शक्ति और दुर्बलताओं का उनके सामाजिक नैतिक और प्रकृत स्वभाव एवं विद्योपताओं का उनकी दक्षिण बाधर्ष मायना तथा चार्ित्रिक उत्पान-यतन आदि का जितना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रेमचन्द जी ने किया है उतना अन्य किसी आधुनिक उपन्यासकार ने नहीं। मारी का प्रेम करती है, कब होप करती है, कब उसके हृदय के तार बहसा अनसना उठते हैं, कब वह परचाताप और आत्मम्लानि से भर जाती है, प्रेम में वह कितनी इबीभूत हो उठती है, क्रोध और प्रतिघोष के समय वह किस प्रकार बच्ची का रूप धारण कर लेती है, सज्जा से वह कितनी भर-सी जाती है, और यबोम्मत्त वह कितनी उग्गच्छ और गौरवमयी हो उठती है—इसका जितना ज्ञान प्रेमचन्द जी को था उतना क्या कित् ही अन्य किसी को। सुमन यगिया आसपा निर्मला सजिया सिकिमा योबिरी आदि के चरित्र क्या भूलाय जा सकते हैं ?

कहानी-राज में भी प्रेमचन्द जी ने अद्वितीय कार्य किया है। उनकी कहानियाँ में मार्मिक प्रसंगों और दृश्यों का चुनाच प्रभाव की व्यञ्जना एवं निगूढ मनोवृत्तियों का निदर्शन हुआ है। वस्तुतः यदि मार्मिकता एवं प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय तो उनकी महत्त्व उपन्यासों से कम नहीं है। बरन् जो कहना चाहिए कि उनकी कहानियों में जो जीवन-सम्पर्क और सद्धानुभूति है, कल्पना की मनोरमता के साथ-साथ मानव स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण और वैचिष्य है तथा कहानी कहने के ढंग में जो नैतिक प्रवाह एवं प्रतिभा है—उसी के कारण वे हिंदी-कहानी के जन्मदाता कहे गये हैं और उसी का परिचय है कि हमारा कहानी-साहित्य विश्व-साहित्य में कुछ स्थान पा सका है।

उनकी कई कहानियों के अनुवाद आपानी अंग्रेजी कयी तथा कई भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हो चके हैं। ग्राम्य-जीवन का जो यथाव एवं स्वाभाविक चित्रण वस्तुविश्यास की अङ्कशिमता एवं अनुभूति-प्रबलता को हमें इनके उपन्यासों और कहातियों में मिसती है—वह बजाइ है। निःसंदेह हिंदी-कथा-साहित्य में एक से ही ऐसे अन्तर्दृष्टा कलाकार हुए हैं जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है और जो निर्विवाद रूप से भारतीय उपन्यास तथा कहानी-साहित्य के प्रतिनिधि माने गये हैं।

जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक अतिवाद

आधुनिक प्रायद्वीप वैज्ञानिकों ने अचतन को ही अब मानव की समस्त मूल प्रवृत्तियों का कोप माना है तो विकासवाद के कठिण तर्कों का आधार लेकर नैतिक मूल्यों के निर्धारण के परम्परागत प्रतिमानों में भी आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। अन्तर्विरोधों से परिष्कृत वेद-पैतना सहसा मुकन होकर नई-नई मूर्तियों की छूटी हुई अन्त में उन असंख्य विरोधाभासों के मूल में निहित विविध और विरुद्ध धार्मिकत्व के मूल अोज देने में सतत चट्टापीक है जहाँ एक अजीब-सी घुटन और जड़ मूर्च्छना के विचार अन्तर्भूमी स्वप्नदर्शियों के अनपेक्षित मानसिक उद्देश्यों का उद्घाटन कामसा रहा है। साथ ही मूक बोद्धिकता के ठबड़ साबड़ मैदान में विविध मयी कल्पना की 'सेक्टराइट' बर रही है।

कहना न होना कि नृणात्मक दृष्टि से जैनेन्द्र की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ प्रायः वे ही हैं जिनके बीच मौजूदा बुद्धिवादी युग में कोप गए हैं। भेद मुख्यतः अनुमूल विरुद्ध ताकों और आनुवातिक महत्त्व की भावना में है। जहाँ तक सैद्धांतिक तथ्य-अपन का प्रश्न है एक बुद्धक ताकिक की हैसियत से उनकी दृष्टि में वस्तुस्थिति को ग्रहण करने की सामता है, वस्तुमान परिस्थितियाँ किम मति से आये बड़ रही हैं उनका रूप क्या है और वह किन रूपों में डबगी या रही है—इसकी समझाव भी मौजूद है बल्कि उन्हें कि य परिस्थितियाँ और समसमार्ण उन्हें उद्बुद्ध करती रही हैं किन्तु वे जिनकी के तुच्छ से तुच्छ पहलू की राह अनुमूर्ति पर अपने मतबारी एवं विरुद्धों की छाप समाता चाहते हैं परिणामस्वरूप उनके उपायान जीवन-प्रवाह के इन्द्रिय संबंध बाधाबक बनकर रह गए हैं। एक विचित्र कल्पनात्मक बोद्धिक शक्ति में न किनासदी विद्या समतर्कन आर्ण विरोध प्रम का इन्द्र और बुद्धिम भीषणता आक्रोश और अनुमूर्ति आशय-अंधेण आत्मपरक और अतिवारी विस्तारों के कारण न तो उनमें स्वाभाविकता किम पाती है और न उनकी तन्मीरता के बाव ही उत्पन्न होते हैं कि जिनकी धर्म और अनिश्चयि जीवन-पर्यन्त पूजनी रहे।

इसके विपरीत किम आदर्शों एवं भावतरकों को लेकर उनके उपायानों की रचना हुई है उनके मेरुदण्ड में—

(क) टेकनीक की मूल प्रवृत्ति बनामी मूल क्या राम बह और बापता क

इन्हें कौ—जिसमें विद्याका 'कर्मवास' पर विविध परिस्थितियों से जूझने वाले व्यक्तियों उनके परिवेश और सामाजिक सम्बन्धों की कहानी न हो कर कुष्ठग्रस्त और किसी एक वृत्ति या 'मूड' के बचीभूत आत्मकेन्द्रित लोगों के आन्तरिक उमारे गए हैं, जहाँ परिस्थितियाँ वहीं से स्वयं उपजती हैं और कथा-युग्मों को बाने रहती हैं। शैक्षिक तर्कों और विचार विदकों से कथा का संवर विकास स्वीकृत मतवाहिका बोपने के कारण कथाकार उपमोक्षा से अपने को मुक्त नहीं कर पाता बल्कि उसमें प्रच्छन्न सुराग्रह है कि उसके अनुभवों विचारकोशों और मूर्त्यों को भोग उतता ही बकि बितता कि मूर्त्य उसकी अपनी वृष्टि में उतका है ।

(क) उक्त उपन्यासों की विडम्बना है कि वे इस ऊँच मतवाही रुढ़िवादिता और विचारों के आचर्य में आबद्ध हैं कि कहीं भी उनसे कृषि नहीं । प्रायः सभी में स्वैय पति है जिनके लिए पत्नी का 'सैकिण्डहेरब' प्रेम बर्य भी तिरस्करणीय नहीं मानों ऐसे अपौरवेय नर-कफाक मात्र हैं वे सब जिनमें लीसता लून और प्राणों के स्वयम्भ का सर्वथा समाव है । लेकिन इसके विपरीत पत्नियों में उद्दाम वासना का प्रबहुमान वेप है जो महज पति से तृप्त नहीं होता दूसरे पुरुष की ओर बरजस अनुवाहित होता है । वे ऐसी नहीं हैं जिनमें संज्ञा के सफोरों का उग्मार बगा और धान्त हो गया । हिलोरें उठीं बुल्लुके कसमसाये और किसीन हो गए । इच्छा-वासना के आवेग सफने और बुद्धि एवं विवेक द्वारा उतका उपसमन कर दिया गया । नहीं सनमें ऐसी कोई वास्यता या मजबूती नहीं है । वे बीबन में बलस बड़ता को प्रथय नहीं देती उन्हें भीतर ही भीतर मधुर राम का आभास होता है वे चाहती हैं—उन्हें कोई समझे उनके रूप को परसे उनके शीर्ष की कोई प्रशंसा करे और उसके प्रेमपाप में आबद्ध हो जाए, क्योंकि जेनेत्र के मत से 'पानी कही बहते बहते रक गया है तो उसे लुसना चाहिए, बहिर्मनन मिलना चाहिए, उन्हें भय है कि हूपय सम्पूर्ण वृत्त की भाँति हो तो शून्य हो जाए । उस हूपय को उपेक्षा रहती है कि कोई भिन्न पात्र मिथे जिसमें वह अपने को डेंकेल सके । इस प्रकार वह रिक्त नहीं होता और भरता ही है ।' पत्नियों के प्रेमी पात्र भी किसी व्यावहारिक आचरण के नियन्त्रण में नहीं हैं । भों तो वे सभी इतने महान् स्वर्भिये गए हैं कि उनके अतिथ क्रिया-अक्रिया और अन्तस्वेतता की मह्यपद्यों को सहज मापा नहीं जा सकता चित्तु समस से परे मानवेतर अदस्ता में ऐसी अनुवृत्तिजन्म भाषना और निरीह संस्कारों द्वारा अनुप्राणित हैं वे सब—कि जैसे अघाटीटी हो अनुपमेव अथवा अपर प्रत्यक्ष भूमिका में स्थित जिन्हें कुछ छू न पाता हो और जिनका मन कही ठहर न पाता हो फिर भी आश्चर्य कि सामाजिक संबंधों की यात्रिक पावनी के विरुद्ध किमी भी सीमारोगा को अपने आन्तरिक प्रवेक से मटियामेट कर देने वाली प्राणवत्ता के पनी नैतिक नियमों और आचरण की उपेक्षा करने वाले मन्म आशुन और अनुप्य तत्त्वों से निर्मित धात ही अदगाजन्म ऐकान्तिकता का निराकरण करने के लिए सदा तगर और सान्द्र गहरे और विम्यनवीक होकर भी कामावेगों की विद्युत्तरंग अथवा प्रणयोन्माद के प्रकम्पन से सहसा सनसता उठने

बाँके और सब बिन्हें किसी भी निषेध अथवा व्यवस्था में न बाँपा जा सकता हो । एक निरच्छन्न भोसंपन के साथ-साथ उनमें अबूझ उन्माद भी है । विद्या या उपयुक्तता के साथ-साथ किसी की कपटिला में पतिते की तरह बस मरने की अमित आकांक्षा भी है और नैतिक सहायण के साथ-साथ उन्मू बसठा और स्नेह्याचरण के ऐसे क्रायक कि जिनकी कुठित स्वावम्य भावना को एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक मतिवाद अथवा ऐत्रिम भेदना का आत्यन्तिक विघटन कहा जा सकता है ।

(ग) प्रेम वासना और भावसिक्त का उच्चार उन्हें कभी-कभी इतनी दूर ठेक से जाता है कि कामजन्य नेप्टाओं की अनुसृष्टिता ही प्रमुख और उपन्यास के सहज एतरोध की मुखर भेप्टा यौन पद गई है । प्रेम की जिज्ञा भाषा—एक नये क्मानो एवं वार्थनिक वातंक में—छीत्र भावाभेगों से प्रेरित समझीते के सूच जोखती हुई औपन्यासिक विकास की गई संभावनाओं को सामने छाठी है सही लेकिन समस्त बटिक ताओं विपयताओं और उल्लसनों के बावजूद एक कुत्रिम स्वीनी तर्कों के समझ स्वप्न सा बुनती है और अस्पष्ट आठरिक विस्तता में आधारतो ग्रहण करती है, पर शौद्धिक अथवा के बुपयके में अटक जाती है ।

इस प्रकार पति पत्नी और पत्नी के प्रेमी की दुन्दारयक रोमांचक कहानी अन्त में पूर्णता तक तो पहुँच जाती है किन्तु उसमें उठाई गई सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता । यह सही है कि मनष्य की गहन रहस्यमयी समित अंतर्ग्रंथु सियों का विस्तेपन कर बर्नेन्स ने क्रायक से प्रभावित पश्चिमी औपन्यासिक परम्परा से नाता जोड़ा है मगर उनके कथानकों की प्रमुख कमजोपी यह रही है कि जीवन के किसी अरम सञ्च या अर्थ की निपत्ति उनसे नहीं होती अर्थात् महत्वाकांक्षी परमिष्ठ और प्रेम में हताश व्यक्तियों की विहृत बुर्जुआ नैतिकता से व्यस्त स्त्री-पुरुष के नये यौन-सम्बन्धों की आस्माहीन घरती पर वे धँडराते रहते हैं । विपय और कुट्टिरोध धीबिध है मुख्यतः उन्हें तीन पात्र चाहिए—एसी गारी जिनमें बुनिवार आकांक्षा और 'सिक्क' सम्बन्धी विस्तीर्णक विहृतिवाँ हों कुछ ऐसे अजीबगरीब तदन जो हर वयम पर बिन्वगी की गई मजिक साजते हों उसके साथ फिर एक नई राह और ठर मानो जाने का माप सहसा लुप्त पड़ता हो ऐसा वेग जो व्यवस्था या अवरोध नहीं चाहता अरन् एक अर्धवस्तु निषेधात्मक स्वीकृति में रक्त-मांस मिरा-उपसिटा में अडित हो जाना चाहता हो और जिसके कारण जीवन पचना नहीं समता गहा और कभी हार न मानता हो । बाह्य में समात्र-अडिप्टा को कुट्टि से व्यावहारिक प्रयाजन की पुडि की कामना चाहे किसी ही हो पर अन्तरंग में उनके एता बिच्छर या बिमोहन है कि अत्यधिक कामना एवं काम्य के मंगय से अ सहज आत्मपठिपूसी हो उठी है । मंग सिप्या उनके स्वभाव की प्रधान वृत्ति है और ज्यों ज्यों वह अडुनो जाती है वे व्यक्ति से निवार से अहं से ऊपर उठकर अकल परिमाण में एतान्वाजन की मीर अडनर होती है । कुछ अरन सुमजो है तो किनन ही तर्क उल्लसने हैं मानो जीवन से अत पिय उल्लसने लुप्त एक निस्सीम सुनपन में लो जाड है । महज पति को वे जीवन-मधर

नहीं मान बैठतीं उनकी बातों के भागे सत्य के लक्ष आलोक में जैसे उनकी अपनी धीतरपी ध्यान की मरुभूमि का विस्तृत उजाड़ साकार हो जाता है और तब उन्हें कपटा है कि अपने आप में पुंजीभूत रहकर वे भोस्तुभय या विस्मय जाग्रत नहीं कर सकतीं। वे पति को अपनी वासता को एक मात्र समाधान मानकर निष्क्रिय नहीं होतीं क्योंकि उनमें कुछ ऐसी त्वरा और मनम्यता है कि पति जैसे साधारण जीव पर वे निर्भर नहीं हैं बल्कि एक नहीं हो सकते एक दूसरे के किए बिना का बिना एक नियति के दो पूरक एक इकाई के दो खण्ड जो मिले हैं तो मिले ही रहे और कभी पूरक न हो—इस बात की सतर्कता या सत्य मात्र उनकी दृष्टि में घोषा और बेमानी है। वे पति को अपने प्रेमपाश में बाँधने के लिए मजबूत वाली सुन्दरी के सबसे कुछ समय तक उससे लेकर भावोग्माद बंध पर प्राकर्यक का सद्यः अनुभव करती हैं और इस प्रकार उनमें एक अनवरत कौतुक भीतर ही भीतर छहटा रहता है। सामाजिक बनावटों की वे महसूस नहीं करतीं कारण—उनके जीवन-नापन का एक लचील और निजी डंग है। महारा प्रतिबाह और सुर्य सपर्य है उनके मन में जो उनकी प्रणवा का मूल तत्व है और उनके अन्दर को अनवरत आलोचित करता है। एक मात्र निज को लेकर रिक्तता को नहीं भरा जा सकता नहीं यह प्रेम यह बहिष्क मोह उनके जीवन का लक्ष्य बन सकता है, अतएव अपर मन के साथ संयुक्त हुए बिना उनकी सम्पूर्णता प्रतिफलित नहीं हो पाती। बट्टी मुनीठा प्रणा कम्पावी मुकदा मुन मीहिनी अनिता और उनके परबती उपन्यास 'जयबदंन की बिबा एवी ही मारियाँ हैं जो अनियमित कामवासता और उद्दीपक यौनाकर्षण से आश्रित आचरण की सीमाबद्धता मक्का किसी एक व्यक्ति के बलिष्ठ प्रत्यय में आस्थापीत नहीं हो पाती।

इसके साथ ही पर और बिबिध बात है कि क्यों-क्यों इन पलियों में स्वकीय व्यपता एवं इच्छाओं की स्वयंता तीव्रतम हाठी जाती है इनके पति उनकी प्रवृत्ति की बुद्धि एवं बहुविध बिच्छता के समक्ष उठने ही मत होते जाते हैं बल्कि कई कि उपेक्षा और विपन्न शिक्षा में वे अत्यन्त हीन और हयवीर बन जाते हैं। पलियों के प्रेमी पार्षों को प्रायः आत्मिकारी और बिरोही दर्शाया गया है पर सच्चे आत्मिकारी न होकर वे काम-अनुक्ति और बहुवृत्ति से पीड़ित विस्मयी और बिच्यसन्न आत्मिकारी सिद्ध होते हैं। उनमें वैधनिक का उम्मार कम प्रेम की बाहू अतिक है बल्कि प्रेम करता ही उनका प्रमुग व्यक्तयाव है। उनमें आत्महन स्वर्णत बिस्मयाव और मान-मिक बिट्टियाँ हैं वे अहं की तुल्य के लिए असात्मिक दृष्ट करते हैं और आत्मिक दृष्टि से दूसरों पर आविष्ट हैं। वह आत्मिक मनमया नहीं मान्यताओं में परे इत कर उनर जाती है कि उन अर्थ-अर्थों ने उनके मन को एतना क्षुब्ध पीर बिलित कर दिया है कि उनकी वैचारिक आत्मि मन्तक बन जाती है और मानव-मानव के अन्त वैयक्तिक मन्त्रय मध्यवर्ती साम की छूट में बिपाक हो उठते हैं। किण्क की उत्तमक निष्ठा के पसहरूप नहीं-नहीं तो वे लट्टे और प्रतिद्वन्द्व से प्रतीत होते हैं। अफू

या कुटरे अपनी अंतरण भावनाओं का दमन नहीं करते वे खुलकर जीते हैं और बिना रोकटोक जीवन की सभी कटूताओं या रस का निरवरोध पान करते हैं, पर जनस्य के ये शिष्ट कुटरे अपनी मूल वृत्तियों और कामोद्बुधियों को अनुभूति की बड़ता में लपेटते हैं और कुंठित जीवन-यापन करते हैं जो व्यक्तिगती आत्म-जाबूति और मास्यताओं की दृष्टि से धर्मनाक बीज है। इससे उनकी वैयक्तिकता अराजकतावादी निर्बैयक्तिकता पर हावी हो जाती है।

क्रान्ति के क्षण में रचनात्मक आदर्शवाद की उपयोगिता बसतिम्ब है और मानव-जीवनोत्थान पोषक तत्वों को समाधिष्ट करके ही उसका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। मगर बोधे बजात आदर्शों को छापी से थिपटाए रहकर वे स्वयं बीज हीन एवं सामर्थ्यहीन ठो हो ही जाते हैं साथ ही गत्यबरोध के गढ़े में गिरकर समाज कल्याण के विषामक तत्वों को सोपक भी बना देते हैं।

सबसे आपत्तिजनक और निवादास्पद है उक्त चरित्रों की आत्मनिक आत्म वैयक्तिकता। वैयक्तिक और शास्कारिक होने के बावजूब कोई भी चरित्र सम्भाव्य और विश्वसनीय मनोवैज्ञानिक तथ्यों की कसौटी पर उठा उतरना चाहिए। प्रभाव के मूल में केवल की समता उसकी अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं में व्यक्त न होकर चित्रित पात्रों को स्वतन्त्र चेतना एवं व्यक्तित्व देने में उचारण होनी चाहिए वर्णन के बिल किसी भी समाज या वर्ग के व्यक्ति हैं उनकी सबेरनाओं या विशिष्ट संस्कारों का सन्धा और प्रामाणिक चित्रण होना चाहिए। परन्तु जीनैज़ की वे कौनसी कसौटियाँ और मुद्दय दर्शन हैं जो चरित्र-निर्माण की बार बहसर होले-होले अपने चारों ओर के विगुञ्जल को जीवन का अर्थ देना चाहत हैं और जिनके आर-पार नहीं छाँक जा सकता ? क्या वैयक्तिक अनुभूतियों के माध्यम से मानववाद की व्याख्या सम्भव है ?

जहाँ तक स्त्री पात्रों के चरित्रांकन का प्रश्न है उनमें वैयक्तिक बुझाएँ, अर्थ तुच्छन और अतिवादी संकीर्ण दर्शन की परिणति प्रायबीय मास्यताओं के आचार पर हुई है। इसी प्रतिफलन प्रक्रिया का परिणाम है कि संस्कारगत संक्रमण और अपवाद पूर्व कृत्रिमताओं का आरोपण समर्थ बोधे तर्कज्ञान और वैचारिक कसावाजियों से अपना है। इन तर्कों में सतमी गहराई नहीं चितनी आपातत आन पड़ती है। हर असक कितनी ही उल्लान नयी अटिष्ठताओं में मानवीय मूल-मर्यादा को स्थापित और विकसित करके स्वातन्त्र्यपूर्ण शायित्व की स्त्रीवृत्ति का साहस एक हृद तक ही संचित कहा जा सकता है। सस्ते भावोन्माद के वर्णानुष्ठ हो सामान्य की—कोरे मास्यज्ञान से—सामान्य दर्शना जीवन के मूल संस्कारों क बिदड है। जीनैज़ के उपन्यासों की नायिकाएँ अपने बुराग्रह के कारण जीवन की विविध विरोधी परिस्थितियों में निम्न गामी और अप्रत्याशित स्तर पर उतर जाती हैं साथ ही बुजुआ अर्थ की मानसिकता और कमानी बनाव्ता से उत्पन्न अलार्डिन्ड के प्लम्बरूप उनके सायात्रिक सम्बन्ध विच्छेद और स्थिति विच्छेद को निर्धारित करने बाल व्यक्तित्व र्गटिन ह और उबरन

उक्त वर्ष की व्यापक हीनता की चौहद्दी में उन्हें अधिक वैयक्तिक और अन्तर्गूढ़ दर्शाया गया है। जीवन का प्राज्ञ नैसर्गिक सत्य जब किसी के विशेष संस्कारों की परिधि में नहीं घिमत पाता तो वह विरम्य और बेमानी हो जाता है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण जीवन में सामाजिक भाषाओं की अवहेलना कर जो निजी अस्माक हारिकता एवं मुहूरता में घिमतकर संकीर्ण हो जाते हैं। साथ ही मनोविश्लेषणकारी भाषार पर यौन-प्रक्रियाओं और अवर्तनीय जेष्ठामों की सम्बन्धि में ही रस-ग्रहण करते हैं वे मानव-स्वभाव के प्रकृत रूप से स्वभावतः विच्छिन्न और अतौचित्य की ओर अग्रसर होते हैं।

सूक्ष्म मनोविश्लेषण जेनेग्र की सूची है, लेकिन मानव-मन के सीमान्त और अगणित सूक्ष्म प्रक्रियाओं का मूक खोजते हुए वे प्रायः उन आत्मसंहारक तत्वों के विघटन में बहक जाते हैं जो असाधारण अपवादस्वरूप विच्छिन्न चरित्रों की सृष्टि करते हैं। मारियों को ही लें तो क्या उनमें समायागकारी नैसर्गिक तत्वों का उद्घाटन हुआ है? यह सही है कि आज के फ्रायडीय मनोविश्लेषणकारी श्रेष्ठक सामान्य जीवन में न निर्बाध पड़ने वाले किसी एक विच्छिन्न 'टाइप' या 'मूड' के विच्छिन्न चरित्रों को अपनाकर उनके अन्तर्भेद की इन्द्रधारक स्थितियों का उद्घाटन करते हैं तथापि उनके कार्य-व्यापार, इच्छा-आकांक्षा चिन्तन और अन्तरात्मा की कोटियों के निर्धारण में सहज सामान्य जीवन की मौलिकता के निर्वासक संकेत तो मिचने ही चाहिए, अस्मिता कीचड़ में अडककर और अस्वप्न होकर समाज के सामने वे चरित्र नई समस्या बनकर खड़े हो जाते हैं।

जेनेग्र के चरित्रों की बक रेखाएँ व्यक्तिवारी संस्कृति से घिरती हैं। उनकी मायिकाएँ मध्यवर्गीय मान और मान्यताओं में पड़ी साधारण परेक कम पड़ी किसी मारियाँ हैं घर और गृहस्त्री के दायित्वों तथा पति एवं परिवार की नैतिक आस्था को भी स्वीकार करने वाली हैं। किन्तु न जाने किन कारणों और परिस्थितियों से उनमें इतनी प्रचण्ड औपकाहट, साहसिक आक्रोश शिबिया और असन्तोष भय पड़ा है कि वे अजापात अबाध और उग्रमत्त अन्तःप्रेरणाओं से छटपटाकर रह जाती हैं। उनकी स्वनिष्ठ कल्पना में कौनसा अन्तःकारक सामाजिक मूला करण है और एकान्त में वे क्यों कभी-कभी गहरे अस्वप्न यौनमयी, अनुभूति या किसी अज्ञाने अप्राप्य को पाने की बेगुनी चाह से भर जाती है? अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए मुनिवाचक और बड़े ही महज धर्म से निजी और ठीक-ठीक पर काबू पाने की बुद्धिमत्ता किसे बरीर से अपने असीमित पक्ष पर बल पड़ती है। जोरम उन्हें अग्रे अग्रेता है और मन में न जाने कैसी-कैसी अचिन्त्य चाहनाएँ पैदा करती है। बच्चों का अन्धन पति का लौक और पारिवारिक परिवेग उन्हें अत भी अस्त नहीं करता। जैसे कुम्भ-किमारों के बीच बहते बसे जाने की परिवादी उन्हें माग्य नहीं अतएव जीवन के विषम छोरों पर जो टकराहट या हलचल होती है वे जैसे ही समस्याएँ उत्पन्न करे, पर वे समस्याएँ भी उनमें मधुर-मधुर घिहरन पैदाती है बाहरी सपात उन्हें और भी सामर्थ्यवान और

पवित्रीक बनाते हैं, क्योंकि सामीपन तो जैसे उनकी प्रकृति में ही ही नहीं। वे अपने मनोमुक्त निरपम एवं निर्भय करके कार्य करने वाली महिलाएँ हैं ऐसी सामाजिक सपेक्षता की वे जायल नहीं जो बिबक्षता या निवन्धन बनकर उन पर हावी हो जाए।

निरपम ही उनके दृष्टिकोम की एक अपनी सीमा है। बाहिर जीवन एक बेल ही तो है, एक स्वान—कैसा मना है इसमें कि कोई न कोई नाटक चलता रहे। जीवन का सुनापन और एकान्त की पीड़ा का आशेन जब और से हिकोरे मारता है तो उनके साथ हैसने रोनेबाझा उनके दुःख-दर्द और आसुओं में सहानुभूति की पुन हिकाने बाबा भी तो कोई होमा चाहिए, अपना नहीं कोई पैर, क्योंकि अपने में तो बासीपन की वृ जाती है। विधि-नियमों की बकक के बीच बीना कुपंह है, जीवन के साथ पीके पड़ काठे हैं और प्रकृत मर्यादाओं की भी कति होती है। पति उनके सम्पूर्ण अस्तित्व का 'अम' और 'इति' नहीं हो सकता मानो वह स्वतन्त्र इकाई नहीं पत्नी का शस है, जन्मी की कृपा पर निर्भर और बाधित। जीनेन्द्र के उपन्यास का हर पति अपन आपनो सीमास्यशाबी मानता है कि उसे ऐसी सुवोम्य और सुन्दर पत्नी मिली किन्तु इसके विपरीत पत्नी के इन्द्र का मूल मही है कि जीवन साथी उसके मनोमुक्त नहीं परस्पर उनके कायों और सिद्धान्तों में संयति नहीं आकांक्षाएँ सर्वपा जिनन जीवन-दृष्टि पुषक एक अनावशील गृहस्त्री—यही उनके जीवन की 'ट्रेजेडी' है। विवाह की सीमारेखा पर टिक कर नबर पैताठी हें तो जीवन उन्हें एक विद्यद् सुम्य बेहूब कट्ट, बहुद बर्बनाक और पीड़ा तड़प कुंठा और कुटन से रेंपा हुआ सा प्रतीत होता है पर विवाह निभाता उनके लिए आबायी नहीं है और पति नामक प्यवित के हर गुण-बुर्ख और सुधामब पलम्बकी के साथ ही उनकी इच्छा-आकांक्षाएँ नहीं सिपटी सिपटी हें। इस बीच के बाहर साक पाती हें तो उन्हें लयता है कि उस पार इतना कुछ है कि बिसे न ही एक नउर में देखा जा सकता है और बाह कर भी न एक बार में सहेमा जा सकता है। सुलसा के शबों में—“एन-एन” में अपन पति के प्रेम और आदर को अनामाश भाव से स्वीकार करने लगी मानों वह मेरा माग ही हो। मैं एनी मानिनी बनी मानों यह समाहर और सम्भ्रम मेरा सदा का हूक हो। उनमें से फिर कोई रस नहीं बिलने लगा और ठक अपनी स्थिति में तरह-तरह के अभाव नउर जाने लये।”

एक अन्य स्वस पर सुलसा कहती है—“इस बीच जाने किस एक अनिश्चित पवित्र है वे पति से स्वाधीन होती बली गई। जीवन के रोड के कामों के लिए ही हमारी बृहस्पी संयक थी। एक पर में पाते से एक पर में सीते और रहते य एक बच्चे के माता और पिता से। एक जगह से आने वाली आमदनी में से दोनों बर्ब कटते से। यह पा सेकिन फिर भीतर ही भीतर यह संयुक्तता बँकर लपटवपा हो पायाओं में बहून लपी थी। उस जगह उनमें तैन-तैन नहीं बा। मेरा विचार और जीवन अलय पा। सामाजिक जीवन अलय पा। मुसे पत्रा भी नहीं रहने लपा था।

पता रखने की उस समय चिन्ता भी नहीं रही थी कि पति क्या चाहते हैं क्या सोचते विचारते हैं में क्या चाहती हूँ। क्या सोचती-विचारती हूँ—यही बात मेरे लिए अत्यन्त प्रमुख थी।

यों विरोधी जागनाएँ उनके साम्राज्य जीवन के पारस्परिक संतुलन को डगमगा देती हैं लेकिन जब कभी घटनाओं और क्रियाओं के संयोग से सर्वथा स्थापित होने के कारण उनके अभावों की खाई पटी-पटी सी लगती है तभी कभी से कोई नया या पुराना प्रेमी या टपकता है और अन्त में एक नई 'ट्रेजरी' का जन्म होता है।

पति-पत्नी के चरित्र-विकास के प्रसंग में उनके अधिकार और प्रेम के गुड़ एवं अदृष्ट भाव की व्यंजना की वास्तविकता और प्रामाणिकता का आभास उत्पन्न करने के लिए केसक ने अनेक कौशल का सहारा लिया है पर चूंकि उक्त चरित्रों के जीवन में भी अन्तमन की प्रताड़नाएँ प्रचुर परिमाण में मौजूद हैं अतएव उनके यथोचितरूपण का आचार क्या है ? बात और व्यवहार में ऊपर की तरफ पर यथार्थी निम्नता हुए भी भीतर से वे मिथ्यात कोसने और रोदन क्यों हैं ?

कहने की आवश्यकता नहीं कि चरित्रों में अधिष्ठित आवश्यक है अर्थात् उपन्यास में रूपान्तरण और परिस्थितियों के अनुकूल चित्त बर्ण का व्यक्तित्व हो उसकी विशेषताएँ उसमें परिलक्षित होनी चाहिए। उनके व्यवहार और वाणी में भी अनुभूति अथवा बहुराश्यों विविधताओं और सूक्ष्मताओं का उद्घाटन होना चाहिए। पर क्या जीवन की सामान्य अनुभूति में वे कहीं-कहीं और मानवस्य उपयुक्त कहे जा सकते हैं जो महान् विद्वानों की छिपाव के लिए छुड़ायावारी हठयोग कुहरी नैतिकता और छिपने कायबन्धन का पर्याय बनकर रह गए हैं ? ऐसे चरित्रों के पीछे प्रामाणिक स्वीकारोक्ति है जो आत्मक तर्कों से ऐतिहासिकता या बुद्धि को अन्वय देती है।

अतिशय ही हृदय विभक्त पर पहुँचते हैं कि जीवन के पति-पत्नी में मुख्यतः दो प्रवृत्तियों का द्वन्द्व है—एक तो पत्नी के आगे उनका व्यक्तित्व कुठिल है दूसरे वे अपने निरीह और स्वीकार है कि अपनी अन्वय जीवनी-व्यक्ति की रत्नी की हठीग हस्ती में खो बैठ है। परन्तु व्यक्तित्व मूलतः मानव है वह स्वतन्त्र रहना चाहता है, उसका प्राज्ञ स्वभाव है कि निजी विराट् 'स्व' को बहु परिमित नहीं करना चाहता वह निपट स्वीकृति या विनिमय की इच्छा किए बनैर नहीं भी सकता। जीवन के मूलतः संस्कारों का आचार भी उसके वे कार्य-क्रमाव नहीं हो सकते कि उसके अधिकार छीने जाएँ और मांसे पर विभित् भी शिकन न पड़े। पुरव हो कर जीवन ने पुस्त्य आदि का क्यों उपहास किया है ? पति बेचारे—जिनकी सरलता से उनकी पत्नियाँ तक बल है क्यों इतन अर्थापित और विपन्न हैं ? क्यों अपने अन्वय अस्तित्व से अर्थापित बन गए हैं कि उन्हें अपनी हृदय बुद्धिगुणों विराटत में भी सामान्य की सम्भावनाएँ नजर आती हैं ? उछाह और उमींग ल छकड़ते दिल लिये बहुमार्ग के कोड़े लाकर वे अन्वय भी सहजते या अनुभव नहीं। कोई अन्वयमति बुद्धिगुण अथवा सामान्य

मलामत भी नहीं है उनमें। आखिर उनकी गहरों में उनकी कृबमूरत पली एमी है जो सभी की प्रेमपात्री बनें ! यमा एक होती है पर बेशुमार परबामे उम पर प्रेम पिपासा की परिपूर्ति के लिए न्यौछाबर होते हैं। काय ! प्रेम का बायिल्य या पुरस्वार उन्हे पति के माते भिका है तो क्यों न वे इस सुखदायी सम्मार को खूबी स संभालें और बाबिक सहज एवं स्वीकार्य बन ।

परन्तु यस्तिक का यह बृहत्तम सकल्प उस एकनिष्ठ आत्मस्थिति में संभव है जहाँ विकल्प नहीं होते और पापिक आबरम की तह के भीतर मिदम सुख-रान्ति का अनुभव होता है। बिरले ही ऐसे मनुष्य होते ह जो ईर्ष्या या ब्यामोह की विकल्पना से हटकर अपनी निरीह बृत्ति को बाहर स भीतर की ओर मूक भाव से मोड़ कैते हैं और अपने आप को संयत रखते ह ।

पर प्रवचना की ये लीके कैदी तूळ देकर आंजी गई है ? 'बिबर्त्त' में टीबीके सहज प्रघासनप्रिय ब्रिंस्टर नरेय के मुह से य एव कितने अस्वामाधिक प्रतीत होते हैं—

“बह पहले प्रमी बा लेकिन बार में भी प्रेमी हो बिरस्तर प्रेमी हो तो मुक्त उसमें क्या कहना है ? क्या मेरा आदीबाँद है कि ऐसा हो ? हाँ है आदीबाँद मेरी मोहिनी को सबका प्रेम भिडे । सब ही का प्रेम भिडे क्या उनके भरी होने की घाबकता तमी नहीं है जि अभिम्नता इतनी हो कि मेरा आरोप उस पर न आए ? यही है मोहिनी यही है बैकोपी कि मेरी ओर स तुम पर आरोप बाग की बाबस्पकता कहीं रह गई है । हे ईश्वर ! तू हो तो मुझसे मेरी यही प्राचना है ।”

मोहिनी और नरेय का यह बात्तलाप—

“नरेय मे टोड़ी में हाप क्याकर मोहिनी क बेहरे को ऊपर उठाया बह—
“मुम पर बिबवास नहीं करोगी ? हाँ ऐसे ही” अब कहे क्या बाव है ?”

बह उठे बेहरे स पति को देखती रही और बलते-बैकत एक साप सुबकर उनके अंक में फिर छिप रही ।

“तहीं नहीं ऐसे काम नहीं बलेया मेरी रानी !”, अंक में तिये-रिय कुछ इम बलकर नरेय ने पली को आराम कुर्सी में बैठा दिया और सामन कुर्सी बँटते हुए बहा—“कुछ बाग बकर है सोपकर न बहोपी तो मे क्या समझू या ?”

मोहिनी न उत्तर में अपना मुह हापों में छिरा लिया ।

नरेय कोई एक बिनट उस तख बैठे रह फिर उठकर कमरे में टहने लगे । दो-एक बिनट बुपबाप-से उपर उग भरते रहक बह कुर्सी के सामन कोई को गज दूर छड़े होकर बोले—“मोहिनी मुह छिगान की तम्हारे लिए कोई बाव नहीं । प्यार का हक सबको है । तुम्हारा मेरा उमता सबका” बबछा म बनु ?”

‘भुमरा’ उम्पाम में भुमरा के पति के म सप्य—

“तुम्हारा मुझ से विवाह हुआ है हरण तो नहीं। विवाह में जो किया जाता है वही माता है पराधीनता किसी और नहीं माती। सुनी सुखाया। स्वतन्त्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं जाने-जाने में मेरे छायाक से रोक-टोक मानना मुझ पर आरोप बासना है। मुझ से पूछो तो तुम्हें अपने प्रतिरोध लाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सुखाया एक को जब पति के अभिमत पर आश्चर्य होता है तो उसकी स्व-च्छन्दता को और भी सह देता हुआ वह अपनी बात की पुष्टि में कहता है—

“विवाह क्या चीज है मैं अच्छर सोचता हूँ। क्या वह स्वत्व को बन्धक रख देता है। स्वत्व का अपहरण कर लेता है? समर्पण में तो सार्धकता है लेकिन समर्पण का तो व्यक्ति को पता ही नहीं रहता।

‘अधर्त’ में अनिता और अयन्त का पारस्परिक प्रणय-स्वापार जानते हुए भी अपनी-पत्नी मिस्टर पुरी का अपनी पत्नी को स्नेहछया उसके प्रेमी को सौंप जाना या हर बात में इतनी उदारता बख्शना कुछ अच्छता नहीं।

“दौट दूड बी मोर लौजिकल” न होता जरूरी तो मैं न जाता। लेकिन आपके जयन्त हजरत अभी जयमने हैं। यकीन है तुम पीछे उन्हें मना भी छोपी।”

और सुनीता के पति श्रीकान्त के आग्रह पर पत्र की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ—

“सुनीता मुझे उसकी भीतर की प्रकृति की बात नहीं मालूम। तो भी तुमसे कहता हूँ कि तुम इन दिनों के लिए अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड़ देना। यह समझना कि मैं नहीं हूँ तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है। इस भाँति निपिष्ट कर्म भी कोई नहीं रहेगा। तुम उसकी बँटगी वृत्ति को किसी तरह कर्म कर सको, उसमें कहीं बाँधकर बँटने की चाह जगा सको तो शुभ हो।”

इन्हीं पंक्तियों की प्रेरणा से सुनीता अपने सतीत्य एक को हृत्प्रसन्न को सौंप देने में नहीं हिचकती। लौट जाने पर श्रीकान्त सब कुछ समझ जाता है पर आश्चर्य कि उसे इस पर रोप नहीं बलितु प्रसन्नता होती है और अपनी पत्नी के इस हृत्प पर कृतज्ञता प्रकट करता है—

“भात्र क्या मैं नहीं जानता कि यह घाँठ उसके भीतर छे लीब निकालने में उपसहस्र तुम बनीं? हाँ तुम। मैं इसके लिए तुम्हारा चिरहृत्त हूँ सुनीता। बुनियाज जब यह जानबी वह भी तुम्हारी कृतज्ञ बनेगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारे सम्बन्ध में मेरा पतिरब इस कसाहति में मरी ब्यथा के समझ मान बोबा ही तो नहीं नहीं है। --”

सुनीता ने अपने स्वामी के बरा में मुँह टिका लिया।

“सुनीता अब भी क्या हृत्प्रसन्न में प्रप्ति अर्थात् है? उसे क्या फिर बुझाने का साधन नहीं हो सकेगा?

सुनीता ने कहा “मैं समझे सब कहती हूँ कि मैंने उनसे यही कहा कि वह जाएँ नहीं रहें। सब कहती हूँ मैं अपने को नहीं बचाया। जाने वह कहाँ गए हैं।

मुझे सपता है —”

“देखना होगा कहाँ गया है। बट अवर क्वीन कैन दू नो रींग।”

इसी अभिमत को बार-बार पुहराना उसे बौद्ध की प्रमाण दिव्या बन गई है। इस वर्ष के मीन के बाद उन्होंने ‘सुखरा’ ‘विबर्त’ और ‘अपटीठ’ में वही ‘सुनीता’ की कहानी दोहराई और मन परवर्ती कृति ‘अपबद्धन’ में भी वही चरित्रचर्च है। मानों उन्हें से परे यह विश्वास इतना जमकर बैठ गया है उनके मन में कि इस परिपक्व बम्पटी बय में भी वे रंज मात्र इससे आगे नहीं सरक सके हैं। ‘अपबद्धन’ में लिखा का अपने पति के सम्बन्ध में नि हूस्टन से वार्तालाप देखिए—

“मे अपनी जगह सड़ा हुआ कहा “पति पर तुम्हारा इतना स्वस्व है ?”

“जाने क्यों है ! मैं उसकी पाव तो नहीं हूँ लेकिन ” और लिखा के चेहरे पर जैसे एक तीव्र वेदना की छाया आई और बसी गई।

“तुम्हारे बुद्ध को समझ सकता है लिखा ! मने कहा “पति तुम्हें आश्रय नहीं है कुछ आश्रित है। हम बुद्ध को समझ सकता हूँ लेकिन लिखा इसी से तुम्हारी जिम्मेदारी बढ़ी है जानती तो हो—? लिखा भी उठ आई बोली—“विवाह को निमाऊँ, यही न ? लेकिन फिर क्या करूँ ? मन को न निमाऊँ ? बिसबर ! अधिक काल इस विवाह को ठिकाना मेरे लिए सम्भव न होया।

मन उठकर लिखा को कन्धे पर से पाठ लिया कहा ‘पामल न बनो लिखा ! यदि जानती हो कि अन्धर तुम में उसके लिए आश्रय नहीं है फिर नाथ को एक धन के लिए भी तुम मुझसे में रखती हो तो क्या यह विश्वासपात्र नहीं है ?

है” मेरे साथ पलंग पर बैठती हुई बोली “लेकिन वह स्वयं अपने को छलना चाहते हैं जानते हैं अब जो है वैसी और से किचित् अनुपह है फिर भी सीम सकत हैं, लेकिन मेरे प्रति अपने लोभ को पीठ नहीं सकते। और यह भी बर्ती हूँ बिसबर ! कि मन के भीतर मेरे कुछ भी हो पर विवाहित हूँ तब तक अपनी परिभक्त धारिणी के प्रति मैं उन्हें तनिक भी असम्भोय का अबसर नहीं देती...क्या यह उपस्था नहीं है ? बलिदान नहीं है ? तुम कहोमे कि उसी बलिदान को मैं अन्ध बनाए रगू ? जितना धोर पाप होगा यह सोचो सो’ बाब भी किचित् उन्हें इसना अनुमान हो तो हो सक्ता है यद्यपि भरसक अपने अन्धकार में उसके लिए वही अन्धकार न नहीं देती लेकिन सत्य पर सदम कर तब तक सक्ता है, और क्या यह पनि नामक अन्ध के प्रति अन्याय न होया ?

मन उमे मरने भंके में निरुट लिया और हौसे से बर्ता—“अब भी क्या अन्याय नहीं है ?”

“हो लेकिन जो वह पात्र हैं उनका मूल्य उन्हीं के निरुट उन अन्याय से अधिक है, तब से क्या कर सक्ती हूँ ? अबरस्ती जगती माँघ धान्ना भी क्या अन्याय न होया ?”

मुनबा और मुझे से ही संया। इस अपेक्षा को ही नहीं मैं बोधपायी नहीं गई, हाथों के बर्बन से साने बाके को हटायी और बुसायी नहीं गई ।

और निर्मम विवेक की कसौटी पर जैनेन्द्र ने नारी के उस अंतर्गुह्य अतिसूक्ष्म मगसतार्यों को उद्घाटित कर करायी चोट की है जिसे वह स्वयं अपने सम्मुख खोलने तक में उद्घाटी है—

‘तब से जमी मने उन्हें अबघ नहीं पाया है । अपनी ओर से भेट्टा की है । भूट्टा की है निर्लज्जता की है, पर नहीं कुछ नहीं हुमा है पुछती हूँ यह प्रेम है ?’

वह कहती गई, “बीस साल हो गए, घायब अधिक” भाँचें मेरी उठी हूँ और घामने की भाँचों में मने जाह भीखी है, पर तमी के भाँचें मुर गई हूँ और मु भी रही है। उँगलियों के दोरों में कासरा अहकी पीखी है कि वे अब बड़ोंपी सेकिन नहीं नाम के आप में उन्हें अपनी ही ओर फेर किया गया है। मैं समझ हूँ और सबेरे का तड़क अपेरा है, कोई पास नहीं और कहते हैं, अब मचन हर सबेरे, हर घाम गई कि ‘अब मचन’ दिन में देखती हूँ समय नहीं मिछता पर इस समय न मिछने को देखती तो हूँ ही ‘तब पुर रहते हैं ये दूर रखी हूँ।

यों इसी तरह के माब और बाठाबरन को बार-बार बोधपाया गया है मानो सभी नारियों के हृदय को एक तार से बँधा गया है जो बरा-सी चोट से तनसना उठता है और जिसमें केवल एक ही झकार होती है। क्यों बनाचार और ईशमूसक आत्म हुनन को अनेक पुरावर्तनों के साथ नारी का नारकीय उल्टीकन बठाकर नाटकीय डंग से प्रस्तुत किया गया है ?

जब कास मुसवा के आक्षिपन पास की बकड़ खोख और उसे छोके पर जबरदस्ती बफेस बस देता है तो जैनेन्द्र की परिचित सज्जाबली में नारी का अन्तमपन बरा बेधिए—

‘स्त्री का यह क्या हाल है ? क्या है जो उसको ऐसा अबघ कर जाता है कि वह स्वयं नहीं रह जाती गलकर पानी बन जाती है ! पुरुष उसे खेने उसकी ओर जाता है तब वह उसे इतना समझती है कि समझ को कुछ बाकी नहीं रहता कुछ चुनीती नहीं रहती । पर अब वह नहीं जाता उसमें बस्कि या तो उसे लाँचकर या उससे सीटकर जाता वह कहीं किसी मनबुझ में है बड़ा बड़ा उसे कुछ पकड़न को मिछता ही नहीं तब स्त्री को एक साथ क्या हो जाता है ? जैसे इस जगह अपमान की बराबरी करने को उसका सारा जान एक ही साथ आकर पछड़े में झुक पड़ने को आनुर हो जाता हो ! उस मनबुझ की तरफ बढ़ते हुए पुरुष का पीछा करके एक बार तो उसका मुह अपनी ओर कर देघने की जान पर उसे वह प्राप्तपन में तुझ जाती है ! तब कहीं कुछ जमके लिए नहीं रह जाता । न कहीं बर्बन रहता है न पाप रहता है, न समाब रहता है मानो वह होती है और सामन चुनीती । तब अपने में

किसी भी पात्र की चिह्निष्ट भाव-वृत्ति और जीवन-स्थिति के आधार पर उसके विचार और भावों का स्वरूप होना चाहिए, किन्तु जैन-मन चिन्तन के बनीभूत दार्शनिकों में पात्रों के परोक्ष रूप से अन्तर्गत रूपों पर अत्यन्त और अस्पष्ट या अस्पष्ट रूप से है। विचार की इंग्लिश अर्थ दीर्घत्व हिन्दी विस्तार नहीं समझती फिर कसे वह जितने और अन्तर्गत-विचार के पारस्परिक सम्बन्धों तक कि उनके दार्शनिक दृष्टियों तक के अर्थ में नहीं आसानी से पठ जायी है। 'अपवर्णन' में मि. ह्यूस्टन के मुख से 'विचार-विचार' और 'हृदय-विचार' के अर्थ से ये शब्द कहलाये गए हैं— 'हृदय की सीमा के समान हो सकती है' लेकिन उन्हें अनुमान है उस परिस्थिति का जो पंजाब बनकर किसी समय जय को घोट सकती है? अन्तर्गत-पना और लेकिन क्या वह काशी है ?

यह बहुत ही आम-रुहम बात है कि ईसाई धर्म-ग्रन्थों में मूर्तिपूजा का धारण निषेध है परन्तु मि. ह्यूस्टन और लिखा का पृष्ठ २५५ पर बार्ताकार लिखे—

"पूछा— "मामला क्या है ?"

बोली 'ईर्ष्या निरुद्ध और केवल ईर्ष्या ।

'ईर्ष्या जय से ?

वह बोली— "मेरी बात तक नहीं सकती है कि ईर्ष्या का कारण होता पर जय—उनसे अप्राप्य मला क्या है ?

म हुँसा बोला "अप्राप्य क्यों ?"

बोली "पूछते हैं आप—आप पूछते हैं ?

"अप्राप्य ममत्व भी नहीं है मने कहा— "मक्ति चाहिए ।

"मक्ति परवर की ?

"ममत्वान् परवर के विचार और देख भी है ? वह परवर के ही हो सकते हैं ।"

जैन-मन के उन्मत्त मुख्यत एक ही मूल भाव को बार-बार दोहराते और प्रवर्तन करते हैं ही उनका मानस के कुछ एक अजीबोगरीब मोड़ है जो राग-विराग अथवा उनकी सहज प्रतीति का बोली बते है। निश्चय ही उनका अन्तर्गत चिन्तन में अर्थ की छाया है परन्तु वह हमारे अन्तर्गत को किसी उन्नत या आधुनिक में नहीं भर पाता । कारण उनका चिन्तन प्रयोजन-व्यक्ति का लक्ष्य ही नहीं बढ़ पाई है । उनका अन्तर्गत की प्रमुख विषयता—राम का और कामना का अर्थ—जो शरी में अन्तर्गत का अर्थ और उसकी धार्मिक हस्त-कर्मों का साम्य बनकर प्रकट हुआ है प्रथम में अन्तर्गत प्रतिशक्तों को ताड़कर शरीर आदरों का मोड़ बनाना है परन्तु जो पुरुषार्थी या धर्म म पत्नी को अन्तर्गत और अन्तर्गत कामना का अर्थ और प्रतिशक्त अन्तर्गत प्रथम में अन्तर्गत हो गई है—जो क्या मानव-मूर्तियों को—बौद्धिक विद्वाना

परे—इन संश्रमक तत्वों से ऊपर घटकर नहीं देखा जा सकता या ? बौं लो औपन्यासिक दृष्टि अमक अटिस प्रमाओं तथा मनस्त्वत्त्वों का घात-प्रतिघात है किन्तु ही 'कम्पसेक्तेड' और एहस्यात्मक बर्जनाओं की ध्वस्तारणा उसमें की जा सकती है पर उसके निराकरण का प्रबल विधि बहुतेक और अपन तर्कों की लाचारी का जबाब नहीं होना चाहिए । मानव मूर्त्तों के सर्वभ्यापक सत्य से आत्मसंस्कार करना जबवा उसे मनःप्राण में उतार लेना ही उपन्यासकार की कृती है क्योंकि देशकालातीत इस महत् सत्य क विकासकीस पहलू ही उसकी अनिम्यकित प्रतिफलित किया करते है । किन्तु जबवा ही कि अनेक अपनी मायी कृतियों में अतिरंजित से हट कर अधिक स्पृहनीय प्रकृति का परिचय दे साब ही बल्य प्रतिगामी मान्यताओं का मोह छोड़ अपनी लेखनी को मई समाजोग्मुक्त मर्मादा की अपराधेय ऐजस्किता स अभिपिकत कर उपन्यास के समस्त संभावित विकास को नया मोड़ दे ।

‘अज्ञेय’ के उपन्यासों में आचरण स्वातन्त्र्य के नैतिक मान

‘अज्ञेय’ के कृतित्व में मनोमता का उभेय और परम्पराविच्छिन्न प्रयोगों की भासा हमें प्राप्त हुई है, पर मनोविरसेपन की दृष्टि से चारित्रिक व्यक्तित्वों को जिन नियुक्त पात्रों में विभाजित किया गया है वह रोमानी बीखटे में भले ही ‘फि’ बैठे पर सत्साहित्य की लोकतांत्रिक या व्यावहारिक कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते ।

हरबसक साहित्य को किन्हीं निरिच्छत सीमाओं या शर्तों में नहीं बाँधा जा सकता अतः यदाकदा प्रतिबिधावासी या प्रतिद्वन्द्वी घुट जाने मनमाने चिन्तन की मूस घाटा को नए खूब की ओर हरबस मोड़ दिया करते हैं । सज्जन की प्रकृति चेतना में ऐसा मोड़ अति का सुख है । परन्तु जो प्रतिमान या अर्थ नयेपन की आत्म्य आकाशा से घिरने जाते हैं उनमें चिन्तामूलक संस्कृति के सारमूत तत्व और अंतर्बद्ध के सत्य का धारकत स्पन्दन तो होता ही चाहिए । अन्यथा नित्यप्रति के जीवन से दूर चरित्र-विज्ञान की उन्नत कसौटी सिध्या और उपकी छाबित होती है ।

‘अज्ञेय’ के चरित्र-विज्ञान और मनोविरसेपन में एक मुनिरिच्छत रूप-विधान है जो अभिनव है किन्तु उनका जीवन-बर्धन जिन विनाशक और विदलनकारी उद्भावनाओं पर आधित है वह अनवरत स्वल्पमय संस्थिति की ओर उत्पन्न कर यथार्थ से विमुक्त और बधित करने वाला है । प्रायः प्रटिल बक रेखाओं से उनके चरित्र निर्मित हुए हैं । तांत्रिक मनोरंजन की प्रवृत्ति से जो नारी-गुण के गहिरे सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं वे अस्त-मात्तरिक उत्तेजना और पागलपन के कारण विवेकरहित संरक्षणों भाषा बेशी बाह्य द्विजातिक प्रभावों और ऐश्वर्यात्मिक अन्तर्विरोधों से परिचायित एक अर्मस्कृत असात्मिक मनोवृत्ति में परिणत हो जाते हैं । मन्दी मानना से ज्ञान विप्ले कीटामु जीवन-अस्तित्व के मूल से मूलम लम्पुओं में पठ घालने के अर्थात् सिद्धापूर्व आचरण को दण्ड और पार्श्व बना डालते हैं । अर्थात् प्रतीक भन्ने छाया-विज्ञान जगदी पुराही अर्थात् स्वतः निष्पिपता भावादेश और मूर्च्छना से विदाकृत प्रयवाकांक्षाएँ खरक सबाज की भीखी निराशा पीड़ा अचेतनता और पलायन की बधिरा बनाकर पिणाते रहते हैं जिनसे उनके मज्जन अस्तिपर क्रम मङ्गना जाने है ।

‘अज्ञेय’ के औपन्यासिक पात्र मानवीय भाषा और आकाशाओं के प्रतीक न होकर

असंगत चेतना की परतों और गतियों पर आविष्ट हैं। किसी भी कृतिकार के अनुभूत को जीवन के रागात्मक मूल्याँ अथवा उपलब्ध सत्य से संक्षिप्त कर विकृति या उग्राकार का हेतु बनाया उसका अहित्य उपयोग तो है ही उसकी एकांत अङ्गीकृत चेतना द्वारा मानवत्व के मूल तथ्यों को छिन्न करके उसे संकीर्ण दायरे में बन्धी भी बनाया है।

क्या साहित्य और कला बौद्धिक अतिचार और अनधिकृता के बाधाकरण के रूप के दृष्ट की उच्छृंखल नायिका ही कुछ प्रयोग-श्रेणियों की बीजाणुमिनी बनकर जीवित रह सकती है ? क्या रोमांस की ये रंगीन तस्वीरें विद्वत्सत्ता से काँपते वाष्पीय फ्लेम नहीं हैं जिन पर पूज्यमित्त भुंज की मुर्खनी छायी है अतः तर्क द्वारा निजी अमभूतियों के बीच के व्यवधान को भरने का बोध संस्कृत में सही पर बुद्धता के पेश बौद्धिक और अप्रयोग बनकर उदात्त भाषों का गमा चोटते हैं। उदाहरणार्थ—'दोसर को लूँ—उसके चरित्र द्वारा वह तो व्यक्त होता है जो संस्कृत का आकाशित है, पर साथ ही वा अगम्य और अमानुषिक भी है।

इसमें किञ्चित् भी शक्य नहीं कि 'दोसर— एक बीवनी' का गायक उत्तर एक अत्यन्त सक्षम पात्र है जिसमें आकर्षण और विकर्षण दोनों हैं और जो आत्मगत निश्चिन्नाभावना के घुप में मास की दृष्टि और टेकनीक की दृष्टि से भी सेक्स द्वारा अत्यधिक उभरे और सभरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसके विपरीत उसके जीवन में प्रारम्भ से ही अन्तर्मुंगठा की ओर से जाने वाली एक अद्भुत अमंथत तटस्थता है जिसने उसकी चेतना को विकसित ही नहीं किया बलितु बहिष्म के प्रति उच्चपरिष्कृत प्रसरणशील अनुरक्ति के कारण प्रतर और दुराग्रही भी बना दिया है। वास्यावस्था से ही उसमें बिद्रोह का अगवस्त उद्बोध और नसमसाता मचकता आकुल उपादान है जो परिस्मिनियों के अपरिचरनीय तर्क बितर्कें पटना बिपटना और अनेक प्रकार के प्रश्न दुबिधाभा व दुश्चिन्ताओं के मध्य भीतर ही भीतर छमकता-धुमकता रहता है।

उत्तर का स्वभाव औरों की भाँति साधारण नहीं है। इसके विपरीत उसमें एक गहरा आत्मविश्वास और बोध है जो भीतर की प्राणवत्ता के साथ तपाकार हुआ या लयता है। जीवन के अनमित्त मूल उल्ला-उल्ला कर उसके सामने आते हैं और भीतर और बाहर के संयोजन में अन्तरंग अभिन्नता खोजता हुआ अपनी अपूर्णियों बुद्धियों अमाओं और उल्लसनों के प्रति वह अत्यन्त धर्म्य है। व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, बलि कहना चाहिए कि समुची मानवता के लिए उनमें एक अनातकत निर्ममता बिण्वाय का भाव बरतू कहें कि ओर बौद्धिक प्रतिक्रिया है जिससे वह निर-र्ण परिनिष्ठियों के साथ सामंजस्य नहीं कर पाता है। दोसर स्वयं स्वीकार करता है— 'मेरे भीतर जामत ही कोई दक्षिण थी—या दक्षिण का अङ्कुर था जो मुझे अथ वृद्ध गति में द्यर ही प्रकृत कर रहा था। भागे वह कहता है 'मुझे बिन्धाम है कि विशाई बनन नहीं उगलन होत है। बिद्रोह बुद्धि परिस्मिनियों से सपय की सामर्थ्य जीवन की विद्याना से परिस्मिनियों के घान प्रतिपात से नहीं निर्मित होती। वह आत्मा का दृढिम परिबेष्टन नहीं है उसका अभिन्नतम अंग है।

तो खेपर अमृत बिदोही है, प्रतिक्रियावादी। माता पिता भाई-बहिन भिन्न सत्ता—सनी के प्रति उसमें अविश्वास है दूरी है लक्ष्यता है। एक दिन जब वह बहुत छोटा या बाह्य अभिमान लिये घर से निकल पड़ता है। परन्तु जब मुत्तजाहट कम होती है और विचारशीलता जगती है तब वह पुनः घर लौट आता है। रुटिन आत्मध्यानों-अनित भाषणार्थ, जो पुनिकार अंत-शक्ति से उस पर हावी हो जाती है उससे वह कभी मुक्त नहीं हो पाता।

एक और बटना। कुछ दिन बाद वह अपने पिता के साथ सारनाम जाता है। पुनःवास बिना किसी से कहे-सुने वह अजायबपर देखने चल पड़ता है। उस समय उसके बन्द होने का समय या घर खेपर को वहाँ का एकान्त छाया आनावरण कभी भी मनम्यस्त नीरवता अभिमूढ कर केती है। वह एक गम्भारी प्रणिमा के सौन्दर्य में डूबा हुआ जैसे ही बस्य रह पाता है और बाहर का द्वार बन्द हो जाता है। आकाशमयी विह्वल आत्मविस्मय स्वीकृति में वह निश्चिन्त है सारी हलचलों और कोराहल से परे पर सहसा उसके साम की पुकार और पिता की उपस्थिति उस पथार्थ में पसीट ले जाती है।

इस प्रकार खेपर आत्मसम्मोहन की स्थिति में अछूते मानवादी अमंभव स्वप्नों में सदा रमता रहा है। उसकी उक्त अवस्था जब पहरी मानसिकता में स्थिर हो पाती है तो जाप चलकर अदिकाधिक आत्मरति की प्रवृत्ति उसमें भर कर जाती है। पय पय पर वह अपनी परिस्थितियों से असहजगीक हो उठता है और आत्मरत स्थिति की अति पलायन दृढ़ता रहता है। यहाँ तक कि आसानी से मुञ्चन वाली समस्याओं को भी वह अपने अनुकूल नहीं बना पाता बल्कि उसकी प्रत्येक मातांशा की पुठभूमि में स्वगता की भावना ही तीव्रतम होकर पीया पहुँचाती है।

ऐसे व्यक्ति का अज्ञात मन ही उसकी समूची बाह्य एवं आन्तरिक स्थितियों का प्रदर्शक होता है। वह अन्तर्द्वेष में भीतरी प्रक्रियाओं प्रच्छन्न गौरव रहस्यों और बरोल-अपरोल दृष्टा-आकांक्षाओं को पारिचासित करता है साथ ही उनका अन्तमन का यह सचर्च इतना तीव्र हो जाता है कि बाहर तो उगवा प्रस्तम्भ नहीं होता किन्तु भीतर ही भीतर बसोबस में उसको ये अम्यार दृष्टाएँ उद्भूत रूप में भीषण दृष्ट मचाया करती हैं। ऐसी स्थिति में वैयक्तिक प्रवृत्तियों न पुनः आत्म स्थापन (self-assessment) ही उसकी मूल प्रवृत्ति बन पाती है। उसके आन्तरिक मन की कल्पना अनुभव और निरीक्षण उसके बाह्य मन या बहूँ किमान मन के बाप से भिन्न होती है। सामान्य तक नहीं बल्कि उसका अन्तर्जनि घोर संवेग हो उसके अविशिष्ट और निरवयव चेतना-स्तरों को निरखित करने हैं कल्पना उनका नियम कम या मनोभावार एक मन मिश्रित या दर्शन का प्रतिपादन कल्प है जिसके कारण उसका स्वभाव दुग और रक्षित हुएरे हन की हीष्यन जाती है।

ऐसे व्यक्ति का वैयक्तिक चेतन मन अधिक विरहित नहीं होता बल्कि उसके

ज्ञानबोध से दूर अज्ञात भाव-कहरियाँ अबोधतन मन में हिलकोरे केटी पट्टी ह।
 कमी-कमी तीव्र कटाबात में परे संभैम अस्विय, कार्य-कारण रहित तथा अनियमित
 हो जाते हैं जिससे बिसंपत्ति वा बेवम्य उत्पन्न होता है। प्रकृत इच्छाओं के निरंतर
 बदन से वे उसके अज्ञात मन की कुंठाएँ बन जाती हैं और उसमें अबदंत अहंकार
 या हीमत्व की भावना भर कर जाती है। बहु संकोपी और आत्मभीरु तो होता ही
 है, साथ ही सामाजिक दृष्टि से अबांछनीय प्रवृत्तियों को प्रमय देने से बचवा प्रकृत
 वासनाओं के अवरोध से उसमें कामजनित रुझान या विरोधताएँ भी अनुपात में
 पयिक उभरती हैं। बाहरी तीर पर उसके व्यक्तित्व का संतुलन संय न हो वह
 बनने साथ हुयेघा पोर-अबदंस्ती और लींघदान सा करता है। कृि उसके बात
 और अज्ञात मन में सामंभस्य या त्र पता स्थापित नहीं हो पाती इसलिए यदाकदा
 ऐसे व्यक्ति असाधारण आचरण भी कर बैठते हैं। ऐसे आचरण के किए, वास्तव में
 नका अज्ञात मन ही उत्तरदायी होता है।

खेसरके अपने अस्तित्व की इच्छा अदमनीय होने के कारण कोई भी अनिवाये
 बाह्य परिस्थिति अबबा उस परिस्थिति से अंगीगि रूप से जुड़ी बटनाओं से वह किसी
 भी समय सच्चा मुक्त निर्गुण विषम अबबा आंतरिक सन्तोष नहीं पा सका है। उस
 की आरमात प्रवृत्ति अब बहुत बढ़कर उसके व्यक्तित्व का संय बन जाती है तो
 अपने आप पर और आंतरिक परिस्थितियों पर काबू पाना भी उसकी शक्ति से परे
 हो जाता है।

आन्तरिक व्यक्ति स्व-संभोगी नहीं होता अपितु निम्नलिखी अबबा सहभोगी में
 उसके बिल की अबस्थिति हो जाती है। उसकी दुर्बल प्रवृत्तियाँ सिद्धांत की निधि की
 बाड़ में प्रच्छन्न रूप से काय करती रहती हैं। उसे अपनी स्वसत्ता पर निष्ठा अहंकार है
 तो यह निश्चित है कि इच्छाओं के अज्ञापोह अबबा आलोड़न को वह भीतर ही आरमासात्
 कर लेता है, अपन तर्क सीमित रहता है लुसता नहीं बिलरता नहीं। वह प्राय अपनी
 इन्द्रियों की दुष्ट करने वाली वस्तुओं का चिन्तन करता है। तब उनके अति निकट
 जाने अबबा उन्हें प्राप्त करने की कामना उत्पन्न होती है परन्तु उनकी प्राप्ति में
 बाबा उपस्थित करने वाली बटनाएँ उसके मानस को बिलित्त बना देती हैं। कलत
 वह अनपलित बैबभ्य अबांछनीय धुम्बता एवं असाामाजिक भावनाओं को प्रयव देता
 है। कृि अज्ञेय पायडीय मनोविज्ञान से प्रभावित है, अतएव उन्होंने अबोधतन मन
 और अन्तर्प्रदेग में बिचरने वाली छायामयी प्रवृत्तियों अन्तर्गु और भीतरी संघर्षों
 से उत्पन्न अनेक अस्पष्ट चिन्तनाओं को आकार देने का प्रयत्न किया है। उसमें
 स्पेयक की निजी कुंठाएँ निहित हैं इस कारण वह अधिक मानिक बन पड़ा है।

खेसर वा विषु-मातस भी यौन तथा अन्य मनोबिचतियों से ग्रस्त है। स्वयं
 सीमांसा से प्रलित अज्ञात अन्तर्जनि में यह प्रक्रिया स्वयंचालित है—एतनी अबुस पर
 इन्द्रियसंपघ नि उसके अबोधतन पर अनिवायत छापी रहती है। क्रमय उसके अन्त

ईश्वर की विरक्त परिणति रूपरूप अबका यौन-वर्जना की अस्तित्व विगुणक काव्यात्मक अधिभक्ति में विरक्त जाती है जिस तरह का कामा पढ़ाकर प्रतीक-व्यवस्था के सहारे उभाया गया है। सैद्धांतिक कहता है— "एसी-एसी स्मृतियाँ या अर्थ-स्मृतियाँ तो कामक हैं किन्तु यह एक विचित्र बात है कि उसके जीवन की जो सबसे पढ़ती हो-एक घटनाएँ उसे ठीक तौर पर अपनी अनुभूति से याद है वे उन तीनों महती प्रेरणाओं का विनय करती हैं जो प्रत्येक मानव-जीवन का अनुपादन करती हैं।

अहस्ता भय और रोस

क्यों ? इन तीन धर्मियों में उनका विद्यमान होना यह बताता है कि वे कितनी महत्त्वपूर्ण हैं, कि मानव उन्हें अपनी मानवता के साथ ही पाता है बार की परिस्थिति या व्यवहार से नहीं।

शेखर की उक्त प्रस्ताव का स्रोत प्रायः से विस्मृत है। इन्हीं यौन-वर्जनाओं और अनुत्पन्न काम-बाधनाओं के कलस्वल्प उसे सुटपन से ही अज्ञात प्रेम की तरलता या घेरती है। उन्माद विषमता अनियमित आवेग और अनिच्छित पापकर्म को कितनी ही प्रतिधियाएँ उसके बिल-विभाग पर सदैव छापी रहती है कि शेखर को प्रतीत होता है मार्गों उसके भीतर उसके सिद्धांतों और मान्यताओं के विरक्त जीवन संघर्ष छिड़ा है। परिश्रमता की अनसुख लड़कियों को मपकर अगणित अनुभूतियाँ उमड़ती है—विगुणक और अस्तित्व—फिर कियोरवस्था से ही अनेक समकर्मक लड़कियों का आदर्शक उसे आकाशोल करता रहता है। शारदा एहि एहि मणिका सपी उसे पीचती है पर एहि को छोड़कर कोई भी उसके संकोचनीय विचित्र स्वभाव के कारण उसकी धर्मियों और आचरणों से सार्वजन्य नहीं कर पाती। एहि का स्वभाव भी बहुत कुछ बीना या ही है। वेदर विचित्र 'अह' से आकाश है तो एहि अपने संकुचित संस्कारों से बस्त है। शरद के प्रति उसका अज्ञात अन्तरांग भीतर ही भीतर पुन्ड होता रहता है। उनका अनुभूत मन्दिप्य इन शब्द व्यया और प्रकृत आदर्शक को भुताने क लिए कोई आचार चाहता है—ऐसा आचार जिस में वह स्वयं को डूबा है—अपने आपको विस्मृत कर दे। मग वेदर जब जल में है तब विवाह की विषमता को भी वह चुपचाप स्वीकार कर लती है। एहि से उसे प्रेम नहीं। सदैह में एहि जब उसे ज्ञात मारकर पर से निजाल देता है तब वेदर क आध्य में उनका सत्य भाव अन्तरंग अधिभक्ता में और गर्भ गर्भ प्रेम की तन्मयता में परिभन हो जाता है। एहि रम्य है पर दोनों का परस्पर आदर्शक एन लोका तीव्र स्वल्पमय अघटीरी स्तुतकृत स्तुतता में जयग्य प्यार की जगमता जमाता है। दोनों की जगमता और मग्युन विगुणकता के मूल में अनुत्पन्न ऐशिक कामना है किन्तु शेष की आकाशी क कारण एक शब्दक कोमलता उन्हें संयत रखती है। शारीरिक साम्यता का तो अबसर नहीं मिलना पर प्रणय की निर्विक गरिया में स्थायिक प्रवचन और जीवन संपात है। आवेग उमड़ता है तो शौचिक उसे जना अपना मनोवैज्ञानिक अतिरिक्तताओं में उल्लासक उसके वैय एव तीव्रता को कम कर देता है। फिर भी

बीमारी की मरघट पहुँचीय स्थिति क बाबबूद खेकर अपनी बासना और प्रेम भेटाओ की परिपूर्ति का मोका नहीं चुकता । एक उदाहरण—“फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ भाठी है और वह उन उठ हुए अर्धमुकुम्भित ओठों की ओर झुकता है—मुकते मुकते उसकी आत्मबनकारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है । एक बासल कोमलता उसमें सामती है कि बसे क अशक्तले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निरुद्ध पहुँचते-पहुँचते वह प्रीति कुछ मोड़कर अपना कमफूक सधि के ओठों से छजा देता है । थोठ तप्य है—ज्वर ने उन रोमिक स्पर्श से एव सिहरन भी उसके माचे में बौड़ जाती है तब बेसना की एक नई लहर छ बाधित वह फिर झुकता है और सधि के स्निग्ध स्तम्भ किन्तु बसिसक ओठ चुम लता है—निर्दग्ध बरब दीर्घ चुम्बन” ।

यों शायर-सधि के बाह्याचरण और आंतरिक विनोदकन में बिसंगति बघाने के लिए उपन्यासकार ने स्वयं-मर्यादा का सहारा छिया है और उसके माध्यम म आयत्त तीव्रता और गहराई से उसक मन के भिन्न अपने मन के प्रच्छन्न स्वरों को कोमल का प्रयास किया है । वह स्वयं स्वीकार करता है— मे खेकर की कहानी छिप रहा हूँ क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने है किन्तु एक सीमा ऐसी भाठी है जिससे भाये म अपनी और खेकर की दूरी बनाए नहीं रख सकता—उस दिन का मोयने बासल और आज का बूताकार दोनों एक हो जाते है क्योंकि अन्ततः उसक जीवन का अर्थ मरे ही जीवन का तो अर्थ है ।”

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य निजी आकांक्षाओं को दंडित होते देखता है तो वह मानसिक विभ्रम की स्थिति में उन आकांक्षाओं की बलपूर्वक परिपूर्ति खोजता है । आज के सामाजिक गठन में व्यक्ति का स्वातन्त्र्य एक बहुत बड़ी समस्या बन गया है इठी कारण शायर की मनोदंष्टिओं और अममूर्तिवा बेबल विवृति के रूप में ही व्यक्त होकर उमरी है । उसकी दृष्टि और विवेक का इन्द्र समस्त नुर्बापों एवं परम्पराओं का पयबलान कर अन्तहीन अज्ञापीहों और अन्तर्नून स्वाप नामों में लोया रूता है । संश्लेष्ट मन-स्थिति म वह न ता नये उमरतौ जीवन-सत्यों को पकड़ सका है और न सामाजिक बाह्याचरणों के प्रति सुककर बिद्रोह ही कर पाया है ।

जहाँ तक उपन्यास के कथानक का प्रश्न है वह उपन्यासकार की आंतरिक मानसिक अस्वस्थता के कारण घुटकर रू पया है । कहा जा सकता है कि उसन जीवन के कतिपय बिरोधी पक्षा का सजय दृष्टिकोण और गहरी संवेदनशीलता स उपाया है किन्तु पात्र और घटनाएँ सजय की बचक दृष्टि से इस प्रकार निय है — उनकी किसी प्रकार निष्कृति नहीं है । समूची कति म एसे अन्तक भावगमक है । भिन्नपक्ष बुबोचता के कारण पूर्णरूपेण निरदृष्टिय नहीं हो पाए ।

शेखर मध्यकालीय समाज क एक बिसिष्ट बन का प्रतिनिधित्व करता है

और उसी के अनुसार आचरण भी करता है। पर प्रश्न है कि क्या यद्यवर्ग में इस तरह के व्यक्ति होते हैं? संसार के व्यक्तित्व की दार्शनिक गति का विरलेयन करने पर वह एक असाधारण 'टाइप' प्रतीत होता है जो परिस्थितियों के पाठ-प्रतिपाठ से नये-नये सत्यज्ञान की प्राप्ति करता है तथा जिसमें नई-नई व्यवस्थाया से नई-नई विचारधारा और आधेनिक दृष्टिकोणों की उत्पत्ति होती है। अनेक स्थलों पर संसार का अन्तर्निहित इन्द्र ज्ञानि के रूप में उठ खड़ा हुआ है पर उसके इस मनोद्वन्द्व और आत्मन्तरिक आसोइन में जो विघ्नमिता देने वाली भीतरी कचोट है उसे केन्द्र से कुछ एवं मुनिविषय संकल्पशीलता से व्यक्त किया है। व्यक्ति चरित्र के मुख्य से मुख्य पहलुओं को इस एकस्पर्शिणी दृष्टि से जाँचा गया है कि अनेक स्वोन्मत्त या अविद्यत स्थापनाओं का मार्मिक उद्घाटन हुआ है।

किर भी ऐसा प्रतीत होता है कि केन्द्र कविम कल्पना के सहारे संसार के चरित्र को सबसे बुझाया गया है और परिस्थितियों की अदृश परिभाषा उसके अन्त विकारों के सम्बन्ध को यथ-रूप बखड़ा-सी लेती है।

इस कठोरी पर कोई भी जीवन कृत बौद्धिक विमृशयता अथवा बहुप्रकारवासी आस्था को एक सत्य की भाँति अपनाकर दूर तक नहीं चल सकता। इच्छादिता की चौदुद्री में लेखक की दृष्टि जैसे ही अन्वयी हो पर हममें सहजता नहीं आ पाती न जीवन हर स्तर पर और हर रूप में उसके कठिण में स्वीकृति ही पा सकता है। कारण—एक समय सत्य के संरिसेष्ट जीवनानुभव व्यक्तिगत कामद्वानि है ऊपर है। औपन्यासिक कला का चिह्न अिरा वैयक्तिक सत्य नहीं है। जीवन की समग्रता में न पठ केवल पतनीता लिपना आंतरिक उद्वेग और अन्तःकरण द्वारा अपरिहार्य रूप में अन्वया की दुःसहता पैदा करना जिया प्रतिभिया के परस्पर-विरोधी असम्पूर्ण छोगों से लकराते रहना तथा आधनात्मक प्रतीक विषों एवं अद्वैतुति की अज्ञानात्मक काफनाओं तक ही विमद कर रह जाना क्या जिरी एकाविता अथवा संस्कारशीलता नहीं है?

अन्त उपायार्थ में जगए पए प्रदत्त और उनका समामान जाँचना कठिन है। अज्ञान इनका पराठल दूनरा है। एक मौलिक अन्तर यह भी है कि पटनाओं और संयोजन की अनेका विपटन और विस्तारव मयिक है। सब कुछ नामो भेह उच्चि द्वारा तकें पर लोग कर मानव की सहृदयता को चुनौती भी गई है। संसार का जीवन अतिरेकों के बीच शूल रहा है। प्रमाणिक पटनाएँ उसके जीवन के लक्ष्य को आगे या पीछे अडकती भर दे के किसी निरिच्छि दिशा में अन्वयरोध उत्पन्न करती हैं अथएव चरित्र विराम की दृष्टि से भी हम इन्ने अनेकत गति ही कहें हैं—अनोप्या के अदि में तपी भावनाओं अकट अनेकतियों एवं विदुत्तों का हममें अन्तर परिणाक हुआ है।

'नदी के होए' में व्यक्तिवाद के चरम अज्ञान ने योग्य की पृथी आस्था

और बौद्धिक चेतना को अपेक्षाकृत नम घटातक पर प्रतिष्ठित किया है। खेचर में तर्कसूहीत सूत्रों की अमंगल स्थापना है तो इस उपन्यास में चेतन मन क ऊपरी तल से उतरकर अवचेतन के विरोधाभासपूर्ण बहसपूर्ण विचार प्रवाह में उसके अनुभूत की आंतरिकता ही अधिक व्याप्त हुई सीख पड़ती है। सामाजिक आचार की सीमाएँ प्राणियों के मनोव्यापारों को कहीं तक छूती हैं मन क्या है और वह किस प्रकार क्रियाशील होता है स्नायविक विकारों से हृदय एवं मस्तिष्क के सामान्य सूक्ष्म स्पन्दनों में कैसे तीव्रता आ जाती है—यही उद्घापोह और इह उपन्यासकार के कथन और कथ्य की नवीनता के आकषण का हेतु बन गया है।

पहले उपन्यास की भाँति इसमें भी आरम्भिकस्वेषक पद्धति पर प्रज्ञामूर्धों में परम्परागत प्रय-व्यवियों को खोला गया है। प्रायः वे ही ह्लासशील प्रायकीय बेशमा कुंठा विपाद उडैकन और विकृतियाँ इसमें मौजूद हैं जिनके फलस्वरूप भोवेच्छा की मत्तुप्त कामसा से सिहरती प्रजयाकाक्षाओं के अजबात दिल्ोकियाण पर छा जाते हैं और एकताहिनी रगों में खोक्ते जून की सरदिश बढ़ा देते हैं।

अतएव असेब' के नदी के द्वीप' की कहानी का इति-अथ भी जिन्दगी की मस्त रवानियों से मुजरता प्यार और मुहम्बत के ज्यारिकाम में कुलावे मरता है। मुबन और रेखा का औपचारिक सिष्टाचार छनै छने प्रेम की लाचारी बनकर उनकी समाप्त शक्तियों को उद्दीपित करता हुआ कामांतर में संशोब वियोग की न जाने कितनी सुख-दुःख भरी मैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। आकर्षण की प्रारम्भिक प्रश्रिया मन का मन से छल्लाभ एक दूसरे में समाहित होने की बलवती आकांक्षा अपने-पराये का अमेद अर्थात् तन-मन की बहु समोप्य स्थिति को खटैर मर से परे ऐक्य का एहसास कराती है, बेताब जगानी की मस्ती और अवहित अनासगत मनु हापे और प्रतीसातुर एजठ-केनों की भीवमूख का कथमसाता ऊफान जिसमें परस्पर सम्भोहन का अ-भापन उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है—यों छनकी मदमरी छाती की पड़कनों के भीतर से छनकी प्रेम की मजदूरियों और हृदयों के स्पन्दन फूट पड़ रहे हैं।

कहना न होया कि निर्बाच प्रेम और मुनत मोग की स्फुरित चेतना ही के बमित कुंठारें ह जो कल्पना के छप अक्षर में सृष्टि काम कराती है। फलत इसमें लेखक ने विधि-निषेध तब को अपने डंग से बाँक कर नया आकार प्रकाश दिया है वरिष्ठितियों से मोर्चा केते हुए अविनय जीवन-कला को उजागर किया है अथवा इन अन्तश्चेतनावाहियों के मठ से साहित्य की नई प्रतिबिम्बि कैसे मिले एक अजीब संस्कृति कैस पैदा हो और नये आदर्शों-प्रत्यावर्तनों अथवा नये मन्त्र्यों एवं विचारों को ठककर क्योंकर आम बढ़ाया जाय।

उक्त उपन्यास के कथानक की टेकनीक दिग्ग सीन्दर्व संवेचना दर्शन की पुस्ती और माया के निवार का यहाँ तक प्रयत्न है हम लेखक की सज्जन कल्पना के

कायस हूँ, मानो किसी कल्पनाप्रधान रैखांकनकार द्वारा बरबस काँपते रसों को सजीव आकार मिला हो और तर्कित भाव-राजमम की बूँदें इन आकारों में जैसे स्वयमेव डल गई हों। बनेक स्पर्शों पर कहानी अन्तर को झुंकर टिलमिला देती है कारण—लेखक में इसे कैसा अपना बलना स नहीं पड़ा बल्कि वह उसके अपने जीवन की अनुभूत कहानी है। अतः परिप्रेक्ष्य की मधीनता के साथ-साथ उक्त कहानी में उस भाव-योग का भी उर्कसंयत योग है जो उसके जीवन-उप्यों से सिपटा-बिपटा स्वात-स्वान पर उभर-उभर कर शक्तक विद्याता है।

कपटा है कहानी में निहित सत्य को लेखक ने अपने अन्तर में काटी असे तक पकाया है। वह उसकी महज कल्पना द्वारा सम्भव न था अतितु अपने विदवालों और मठवालों की पहली छाप उस पर पड़ी। लेखक चिन्दयी का एक निरपेक्ष इष्टा मान नहीं अनुभवोगी है मही कारण है संयोग-विभोग प्रेम-विवाह कितनी ही अविमो-खामियों और भाव-अन्वय के उपल-गुणन भरे मंचप के स्वर और प्रदोत्तर भी कहानी में सद्यक्त हो उठे हैं। अपने बाधों के दिलोदियाग की तहों में उतर कर उनके विचार-वितर्कों क्रिया-कलापों का ऐसा मामिन विचन किया गया है कि लेखक ने उनकी हूर छाँसों और बड़कनों को मानो महसूस किया है बल्कि उसका स्वयं का व्यक्तिगत जन्से कितना दूर और मकन है—इसमें सन्देह होने लपता है।

एही विधि में लेखक की एक जीवन-दृष्टि है और उसके सामाजिक चिंतन की अपनी सीमाएँ हैं। उसने जो वर्तन व्यक्त किया है वह पाव-अमत् के संघात को मये मन्दनों के साथ विकसित करता है। व्यक्ति का मन कँसी विविध समस्या है जो केन्द्र से छिटक कर कनी-कनी किसी परिधि में गटक जाता करता है। परिधि छाटी होती है विस्तीर्ण होती है उसकी विस्तीर्णता की सीमा नहीं है और वह सीमा भी पदा कथा बनत और अनाप्य बन जाती है। परिधि को केन्द्र मानन पर अमस्य परिधियाँ उत्पन्न होती हैं और अपने घोरराज्ये में जीवन को उलझाकर सहा निदपाव बना देती हैं। जीवन की विहम्बना पर आध्यात्मि ऐनी ‘अंटेसी’ में न जाने कितन विच उपपत् करते हैं। पहला विच—

“देगा नहीं बोली।”

“मुझसे ने फिर पूछा “देगा क्या बात है?”

“तुम—हो तुम मन्मन् हो। नू नार रीअन।” देगा का स्वर हलना पीया पा कि टीक तुप भी नहीं पड़ता था।

मुझसे न कहा—बाद एम बीटी रीअन देगा। पर टहरो बहने तुम्हें नम्बन उड़ा हूँ।

एक हाप में देगा के दोनों हाप बगड़ बहु उठा। दूसरे हाप से उमन कम्बल लीच कर देगा की पीठ भी डक दी। स्वयं पर समेट कर बीटा हो गया कुछ देगा की ओर को डम्बल।

रेखा सहसा हाथ छड़ाकर उससे लिपट बयी। बाँधें उसने बन्ध कर भी भुवन के माथे पर अपना माथा टेक दिया। उसके जोठ न जाने क्या कह रहे न आवाज उनसे नहीं निकल रही थी।

भुवन कहता क्या "क्या बात है रेखा रेखा रेखा क्या बात है— उसका स्वर कमजोर सीमा और आविष्ट होता जा रहा था।

रेखा के जोठ उसके कान के कुछ और निकट सरक जाये। पर स्वर उनमें से अब भी नहीं निकला।

पर सहसा भुवन जान गया कि वे शब्दहीन-स्वरहीन जोठ क्या कह रहे हैं।
मे तुम्हारी हूँ भुवन मुझ से।

एक दूसरा चित्र—

रेखा बीच-बीच में उमकी ओर देख लेती थी। धामती थी कि वह कुछ सोच रहा है। पर उसने पूछा नहीं। सहसा भुवन के विषय में एक नये संकोच ने एक झीझा ने उसे अकड़ लिया था। अग मर के लिए उसका मन औचुकिया की उस बटना की ओर गया जब भुवन उसकी गोद में रोया था—कैसे वह कह सकी थी वो भी उसने कहा था ? वह पछतायी नहीं है उसने जा कहा था उन्मुक्त मात्र से कहा था पर— साज से सिहर कर वह सिमट गयी पस्का बीच कर उसन मानों अपने को और स्पेट लिया।

भुवन ने पूछा "ठंड लगती है ?"

"नहीं नहीं।" उसकी वाणी के अतिरिक्त आवेश को मजबूत कर भुवन ने उसकी आर रेखा दोनों की बाँधें मिली। भुवन की बाँधों में स्तहपुर्न कौतुक था रेखा की बाँधों में एक अन्तर्मुख मज्जा पर सहसा उसका मन हुआ वहीं बाँह फँका कर भुवन को बीच से इस पुरुष को इस शिष्य को इस—"धुमायंसा जूमती है मास तेरा"।

वो जीवन के कितने ही पण्ड है कितने ही चित्र हैं जिनसे परिस्फितिमां निरय टवहर लेती है। इन अण्डों में ही तो जीवन के मर्मस्यधी चित्र उमरा करत हैं और अतमित झलकें दिला कर तिरोहित हो जाते हैं किन्तु दिवन्तस्पय चित्रपाला में इन बलते-मिटते लगाकारों का क्या अर्थ होता है बला ? अधिधान्त जीवन प्रवाह के कतिपय अंचल क्षण जो एक-एक अंबर के समान हैं और कहाँ टिपर, किस कितनी दूर तक ठक से आया करते हैं ? व्यास की पश्चि को आप कैने वाले क्या है वे मला ? किस बिन्दु का चरम उत्कर्ष जिनमें अतीत भी जुड़ा हो वर्तमान और भविष्य भी ? एक स्वप्न पर रेखा कहती है—"मे तो समझती हूँ हम अचिर से अधिच इस प्रवाह में छोटे छोटे द्वीप है उन प्रवाह से भिरे हुए भी उससे बट हुए भी भूमि से बंधे और स्थिर भी पर प्रवाह में नरबंदा अठहाय भी—म जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी बहर आकर मिटा वे बहा से आय।" एक अन्य स्वप्न पर रेखा कहती है प्रत्येक क्षण एक द्वीप है आसकर स्थिति और स्थिति क सम्पर्क का काटेव का प्रत्येक क्षण और

परिषद के महासागर में एक छोटा किन्तु दृढ़ता मूल्यवान् द्वीप ।

और उन्हें अपना काम करता है । ये द्वीप ही बाबूनी ध्वज आकाशा बनकर मस्तिष्क में उभाड़ और भीषण हलचल अगाधे हैं । एक अज्ञान उपद्रव मनप्राणों में समाकर दिग्भ्रात बनाता है और मनसकल्य घटना-बहिष्म के ह्वाले मर-रह कर एक स्वप्न उभारते हैं जो टूट-फूट जाता है । इस प्रकार जीवन का निर्णय हाथों से फिसलता चमत्ता है ।

उक्त भ्रमित मानसिक सम्मोहन की स्थिति में अनिर्दिष्ट पथ की ओर अग्रसर होना मर्यादाभंग्य का है ही दुर्निवार आकाशाओं की अगम्य कारा की निःसम्पत्ता में अन्तमन द्वारा सम्मुक्त स्वीरपमन भी है । उस शुद्ध परिधि के भीतर सब कुछ कर पड़ना एक पुर्णतर जीवन-रक्षण की प्रतिष्ठा को उचसा बनाता है । किसी इन्द्रप्रस्त विषम या दुर्धिम नियंत्रण के अधीन मानव-जीवन में इतनी अधिक अतिक्रमता या बहिष्म और इस कारण उनही प्रकृति एवं कार्य-व्यापारों में भी बहुत बेपरीत्य अथवा अप्रत्याशित अत्यान-यतन दर्शना सर्वदेदीय और सर्वोन्मुख मनस्तस्थों की विरतिविकास मान जीवनमूलक सरा में अद्यक्यता जाना है । ऐस 'इंस्टिक्ट' या कहें कि ऐन्द्रिक चेतना की तारकालिक प्रतिबिम्बा के रूप में जो सब कुछ आपस मानकर विहित किया जाता है वह सत्त्वो इन्द्रानियत का नियम करती अस्मिता को सत्ती परिस्थिति की गुप्तार्थी को स्वीकार करती प्रम जैसे पवित्र और पाक पाद की आड़ में लप्या और कामना का लसा प्रदर्शन है जहाँ कामनाएँ जाग कर उठती हैं पलठी भूष और हृषिस की लपटें लपलपाती हैं और शीतल के कहकहों का लया नाच होता है । यथा—

भुवन न उठकर उठे बग्ये पदड़े— टंड पसे बटें । बलान् उसे मिटा दिया कम्बल उड़ा दिए । नीरे-नीरे जगके चेहरे पर हाथ फरल लया चेहरा भी बिम्बुस ठंडा बा । उठने गाट के पास घुटने टक कर नीचे बैठ हूँ रेखा के माथे पर अपना गर्म पाल रगा उसका हाथ नीरे-नीरे रेखा के गन्ध सहलाने लया । भवन मे कम्बल शीक कर बग्ये हक दिए । कम्बल के भीतर उठना हाथ रेखा का बस सहलाने लया—

सर्गा बहु शीका । शोन रेखा के भीतर रेखा के कुचाप एन थे जैसे छो-छोट हिमनिद और अब तक उड़ रेखा के सहमा रान बजन लग प ।

“पयली-गर्ली ।

मुन न एनइम गढ़े हो कर एक हाथ रेखा के गन्ध के नीक हाथा एक घण्टों के लग कम्बल समग्र गाट से उगदा और ध्वज बिछोने पर जा लिया । अपने कम्बल भी उमे उड़ाने और उमक पास लट कर उम उचड़ निधा ।

सर्गा रेखा ने बाह बड़ा कर उमे नीक कर छाती म लगा दिया उमके रानों का बचना बगर हा गया । क्योंकि रान उमन नीक लिए प मुन का उमन इतनी बार मे भीक लिया कि उन छाटे-छोटे हिमनिदों की दीनन्ता मुन की छाती में मुन लगी

फिर स्निग्ध गरमाई बायीं। मुबन न धीरे-धीरे उसकी बाहुलता की बकफ
 हीनी करके उसे ठीक से तकिये पर लिटा दिया और हाथ से उसकी छाठी सहकान
 लमा। बाँवनी कुछ नीर ऊपर उठ बायीं की रेखा की बन्द पलकें नए ताँबे-सी बमक
 रखी थीं।

बिस बाईं स्टेवर इन लाइक टु ए पाम ट्री एण्ड बाईं वेस्ट्स टु क्वास्टर्स
 आफ प्रप्ल।

“आइ सेड आइ बिस यो अप टु द पाम ट्री आइ बिक टेक होल्ड जाफ द
 बाउज बेयटाफ नाउ जास्तो वाइ मोड लाइक एफक।

सहसा मुबन ने कम्बल हटाया मूडु किन्तु निष्क्रम्य हाथों से रेखा के पंखे के
 बटम बोल और बाँवनी में उभर आए उसके कुन्नों के बीच की छापामरी जगह को
 चूम लिया। फिर अबस भाव से उसकी घीसा को कुन्नों को कपफूल को पसकों को
 मोठों को कुन्नों को और फिर उसे अपने निकट खींच कर इक सिया

शाशोमन का पील उस बिरे बाताबरन में घुबठा रहा।

‘आई स्वीप बट माई हार्ट बेकेस’ इट इज द बायस जाफ माई बिलवेड रीट
 ताकेय सेरेंप बासन दुनी माई विस्टर, माइ लव, माइ डव माइ बलविफाइट
 फ्यर माई हूड इज विस्व बिब इयू, एण्ड लाक्स बिब द डायस जाफ द माइट

मुबन ने अपना माथा रेखा के उरोजों के बीच में छिपा लिया उनकी गरमाई
 उसके कानों में चुनचुमाने लगी फिर उसके मोठ बढ़ कर रेखा के मोठों तक पहुँचे
 उन्हें चूमा और प्रतिबुम्बित हुए।

“माई बिलवेड इज माइल एण्ड आइ एम हिज ही एरीवेज एमंग द किनीज”
 कबों मुबन के मोठ सम्बहीन हो गए हे स्वरहीन हो गए हैं नवा बह पीत के
 ही बोल स्वरहीन हिक्ले मोठों से कह रहा है वा कुछ और बह रहा है ?

“आइ रोज अपटु, अप टु माई बिलवेड एण्ड माई हूड्स जाफ बिब माई एण्ड
 क्लियर्स”

“बाँवनी बहुत है सब पी न सजोगी...एते में तुम्ही बाँवनी हो जाओगी।
 और तुम मुबन तुम ? तुम भी लेकिन बम कर नहीं इवित होकर।”

बिबन के कताब और जापब द्वारा ‘कम्प्लेक्स’ जीवन के ये पटक से बिब
 उगरे रक्ज नया निष्ठा और बिबबाम फायदीय बलविबान की अबनेलनीय मूबम
 तानों के सरपम में संतररु करता बैसे कीसल और नूउन रचना-नग्न के सहारे
 मानों उंगली पकड़कर इतके कप्य और माबबोप को जाने बढ़ाता चलता है, जहाँ
 बनिम परिव्या के पूबक मानईद डारा जालबबम्य भोगबार की बरम परिलति बर्पायी

गई है। कामोपमोग सहजात मनोवृत्ति है। वह पशु और मनुष्य में समान रूप से विद्यमान है। पशु-सामान्य बराबर से ऊपर की शीश्र जो संयम और विवेक है वही बरबसक मनुष्यता है। मनुष्य विकसित प्राणी है और उसके समग्र और मुक्त सभी विराट् प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत संस्कार होते हैं। किन्तु उक्त संस्कारजन्य प्रयोजन की सीमा का अधिकतम कर नैसर्गिक सत्य के ब्याप से जब आचरण की उच्छ्रु शक्यता का पोषण किया जाता है अथवा यहित रसास्वादन की प्रक्रिया में परस्पर असम्बद्ध और विच्छिन्न से लगने वाले रसप्रेरणा के ओठों में मन की उद्दाम बाधना एवं बुद्धि चित्तों के निरंकुश स्वस्मनों को निर्बाध प्रथम दिया जाता है तो मानव-अस्तित्व के बुनियादी प्रतिमान प्रस्तुति के रूप में सामने आ सकते होते हैं। आखिर के प्रतिमान क्या हैं—जो सत् असत् का विवेक देते ह और वे तत्त्व भी क्या हैं जो कुछ ऐसे गुणों से पूरक स्वीकृत नैतिक मूल्यों की स्थापना द्वारा जीवन के गहनतम स्तरों से उद्भूत उन ज्वलन्त सर्यों की कसीटी बन कर प्रकट होते हैं।

किन्ती भी उपन्यास में बटनाओं का परस्पर अटिठ होना प्राप्त मानी रहता है। परन्तु मानवीय बराबर के व्यक्ति-मय से हटकर स्वेच्छाचारिता अथवा पात्रक वृत्तियों की परिदृष्ट करना ही बाह्य और अन्तस्थ जीवन का सांगोपाय विषय प्रस्तुत नहीं कर सकता। रचनाकार की मानसिक दृष्टि किन्हीं छान मसबानों या बसंतत तकों का आचार सेकर दायधीन आपनों अपना अतिरिक्त 'मर्जों' की बस तारना में फिट नहीं की जा सकती। आश्चर्य तो यह है कि 'अज्ञय' जैसे सूदमार्थी कलाकार ने इन रोमानी प्रथमरम्य बाधनी रातों की उन समझावुत पापगत मानवा-वृत्तियों को उखाटने में अपनी कल्पना-बेचक के करिबने दिखाए हैं—वहाँ बाधना के मयंकर संज्ञाबाध से हहराकर गुनाह अरे जो सीने परस्पर टकराते हैं, इनकी अदृश्य मडकने जोड़ों का रसा बनकर विवेकी भाग जयला करती है और बाहें साँप बनकर बुनियाद बालियन-यात में बकड़ जामा करती है। बुभुन पर बड़ी हुई बजार जैसे एक ही क्षण में जाम का बककर लगाकर बड़बानक बना देती है उसी प्रकार भीतर पल रही बेठाव जामोय हाइमोय की यह मूख हिस्टीरिया के पीरे सी उस गहन बुधेय समग्र में बँधी तड़प-तड़प उठती है।

कनी रेखा बागी। उस बाधनी पायक दोनों के सट हुए बैहरों को लाँपकर ऊपर उठती हुई फिर सो गयी थी रात का एक टंका स्पर्श उन सुनी अग्रह से अन्दर जाठा हुआ दोनों के तपे माय और बाकों को सहला रहा था रैला न एक लम्बी साँस धीब कर उसे पी लिया उसके अिस हाय पर मवन सोया था उसकी उपमियाँ उसके माय के उमस बाकों से बड़े कोमल स्पर्श से लोके लगीं कि वह जान नहीं फिर वह दुबारा सो गयी।

कनी भुवन बाया। उसकी बतना पहले बेन्द्रित हुई अब हाय में जो रेखा के बस पर पड़ा उसकी साँस के साथ उठता-गिरता। उठ। किन्तुने कोमल आलोइन से अियेये भुवन को लगता था कि उसकी समूची देह ही मानों पीरे-पीरे आधोदित हो

रही है मानो बहरी मास में बहु सोया हो... मजस हाथ जिन्हें वह हिंसा भी नहीं सकता जबत बेह लेकिन एक स्मिन्ध परमाई की गोब में जबत बाँदनी बहु बाभिक भी गया- बाँदनी मरमाठी उम्माबिनी।" और उस मीठी बाबयता को समर्पित बहु भी फिर हो गया-

फिर मुबन जागा इस बार सहसा सजय कुहनी पर जरा उठ कर उसन मक कर बीरे से उसके बाठ बम लिए, देखा बापी नहीं उसके मोठ ऐसे हिंसे मानो स्वप्न में कुछ कह रही है। फिर सालोमन का गीत यूँ ब गया

'एष्य द बफ माफ बाइ माउय द बीस्ट फार द बिलवेड ईट योएय बाउन स्वीटकी काबिम द सिन्ध बाफ बोज ईट एस्सीप दु स्पीक'

और उसने बड़े बोरे से रैता के मोठ चूम लिए, वह बापी और उसकी और उमड़ आई

'बैट अस येट अप जर्नी दु द बिनयाईस कट अस सी इफ द बाइन फलरिहा क्लर टेम्बर प्रेप्स एपीयर एष्य द योमयेनेट्स बड फोर्ष देयर बिल बाइ पिब बी माफ माइ लम्ब।

और वह उमड़ना फिर एक बापकबनकाठी छहूर हो गया।

कैसी है यह मय जंगम की रीति बनोऊस प्राजियों की रसम जिसकी अंतरंग परतों में पेटकर लकड़ म बपम बर्सन की बड़ता की काली परछाईयो उमारी है क्योंकि केलक क मठ से मयाजं है ही छोटा और पीका और छाया कितनी बड़ी है बितनी रंयिन कितनी रसीली।

बाबिर किस महान उद्दय और मनोबुरबारमक मीग की पूति करते हैं ऐसे उपन्यास ? कठोर सत्य को बरूप तथ्य को बरसीकता गन्धी और हीन विषयों को बिस्लेषणात्मक तर्कों अथवा बिकम्पात्यक कमिष्पकितयों द्वारा बिधिष्टता प्रदान करना अथवा निरे बस्वना-बिन्नों के सहारे उक्त बनिष्पकित की अनुमूत सबेदना क सूदम स मूदमतर रोमाची का बाहक बना देना बंधता का बिभ्रम है जो मानसिक घरातस के अरयन्त निम्न स्तर पर के जाता है और प्रागत्य के माब मिस्कर ऐग्रिय बिहित उत्पन करता है। मायसी से मामूसी ध्यवित के जीवन में भी उक्त मीयज्य मानस्य की बरम अनुमूति के काम बाँठे हैं। निम्बेहू ऐसे मीकों पर भावों की साह्र उपकून का अनुभव हाता है। किन्तु भोग बतना जैसा न्यून कृत्य करणता की बाँध म विपस कर मरा कचन मही बन सकता।

अगत-बनमाबावियों का मिद्यास है कि मनुष्य की मूस एवं बाबिम प्रकृतियों पर काँ राह न लगाँ जाय। क्यारि मोदूबा संविबता की प्रकृति भीतर से निताम रागली और निस्वप्य है। अंतर्मम की अजीबामरीब घारणार्त ध्वनि प्रतिध्वानया यादगारें बमबावियाँ मरादयपूर्ब बिभ्रम उत्तमने गनाहू और कृतिष्ठ केज्जतें मीनरी बपय्य और अगतबिराबों में उजनी है जो बाह्य इंद्रात्मक घटिकावियों क राय

पम और एकीकरण खोजती हैं। यदि मनोभावों को पूर्णतया व्यक्त होने दिया जाय तो स्वप्न एवं अवचेतन व्यापारों के एते कितन ही अदृश्य पहलू प्रकाश में उभर कर आएँगे जो अन्तर में हिंसरे मारने वाले स्रोतों को बहिर्मुख होने को विवश किया करते हैं।

किन्तु किसी भी कथ्य के व्यञ्जनात्मक प्रभाव एवं सामाजिकता की भी एक अनिवाय भवति होती है। अपने मनोमय और अन्तर्मधी प्रतीकारत्मक उद्गारों को अन्तश्चेतना के संस्कारों का यथासं सम्मेलन दत्ताकर मन के घोर निर्जन एकाकीपन में जो एक सामाजिक और असामान्य विच्छेद की अनुभूति पैदा होती है उससे महत्तर समय और उष्ण संस्कारिता की सम्पीरण ली जाती है। मानसिक तनाव की प्रक्रिया में उसकी आंतरिक विद्युत्तियाँ स्वप्न कल्पनाएँ और दुर्बल प्रयत्नों की असफलता के बीच एक महान् अन्वयकारमय यथावना ध्रुव्य वर्तमान रहता है। उस परिस्थिति से ऊब कर और उससे भाग पाने की चेष्टा में उसकी अन्तश्चेतना ही बहु भीषण मूर्ख बन जाती है, वही घोर तपस है और अति वैयक्तिक एवं पलायनवादी तरह उभरकर पक्ष बातावरण से ऊब महसूस करने लगते हैं। उसकी आत्मा में कमसं एक लुप्तगनी हृदयमय पैदा होता है और बहु जीवन के प्रति एक दृग् आकषण की सतत लीनता का अनुभव करता है।

सतएव सतत चेष्टाओं के विरूपण में सर्वसंहार को आरम्भबन्धक एक अर्थात्मिक प्रसन्न से सावधान रहना चाहिए, अथवा वे मनसङ्गत रोमांचक अपने यथार्थ को अतिरिक्तनीय बनाकर घस लेते हैं। समाज में जो सर्वनाएँ अथवा परिहृत या अनैतिक काम-कुंठाएँ हैं उनका प्रयोग पाठक को आरम्भजनक और आकर्षक लग सकता है, कुछ सीमा तक उत्तेजक भी हो सकता है किन्तु इस प्रकार की अपरिमात्रित और हेय अभिव्यक्ति—भले ही नये शब्द नये रूप और नये भावसंघात के सहस्रसं विधान और विधाय उपर्ये हों—अराजक और असत् कथाकथान की ही सृष्टि करते हैं।

उत्तेजित प्रेरणा से तिरस्की गई किसी महत् कथा-चरित्र की ये विचित्र छाया कठिमाँ क्या किसी उष्ण निर्माणात्मक लक्ष्य अथवा सैद्धांतिक मान्यताओं की संक्षिप्त इच्छाई बन सकती है ? क्या कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व अथवा जीवन स्तरों की सफल सृष्टि हो सकता है ? अति कल्पनाशील अस्पष्ट छायाभागों में आनुपातिक संतुलन और रसों की ताजगी फिर भला कहाँ से मिलेगी ?

इस द्वितीय संघर्ष में ‘अज्ञेय’ के चरित्र तथा अर्थात्मिक विद्या की और अग्रसर हुए हैं। अथवा घटनाओं एवं बातावरण में वे यथासं से जिन अस्वाभाविक चरित्र बनकर रह जाते हैं। देवा को ही लें तो भुवन पर सब कुछ लगे देन वाली एक लक्ष्मी के रूप में उसने अस्वाभाविक जीवन प्रारम्भ किया था पर मन्त्र में जो मार्ग प्रसन्न इत्यं किया वह कितना लक्ष्मीजनक और अतिरंजनायुक्त है और फिर इसी लक्ष्मी को एक असावधान लक्ष्मीजनक विरोधाभास के रूप में बहानी का आध्यात्मिक पुरस्

बनाता चरित्र चित्रण का विवाकियापन है ।

सफल कथाकार को जीवन की विविध सम्भावनाओं में धार्मिक महत्त्व की भवना होनी चाहिए । किसी चरित्र के प्रतिनिधि पदार्थों का चित्रण करते हुए उसकी असूटी मनभूतियाँ और बुद्धिभ्रमों के मूक्य और महत्त्व को स्थिर करना बिलगना उसका कर्तव्य होता है उस से भी अधिक उसकी मूक्ययुक्त मर्यादा का नैसर्गिक विकास और मूक्योक्त भी मानवता के नये विकास की पृष्ठभूमि में ही होना चाहिए ।

अध्वेगत की नृत्तियाँ खोसने से जयवा कामकर्म के बाधायनों को उन्मत्त कर देने से कोई भी अपने संबंधों की संतुष्टिकापी जयवा सर्वथापन नहीं बना सकता क्योंकि अन्तरंग विकृता की ओर में इस प्रकार मानवीयता कहीं निज पाती है । ऐसा के जीवन के हृत्त में सेत्रक घोर बेवधितक और स्वार्थपूर्ण खंडितुष्टि का बोधक बनकर सामन जाया है । बहु इस मठ का पुनर्मात्र हामी है कि स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बंध किसी भी रथा में पंडित अथवा जयम्य नहीं है अथिनु मुक्त और प्यास की मतिि नामेच्छा भी जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है । उस पर किसी प्रकार की पाबन्दी या हस्तलेप अनुचित है । व्यक्ति की अथवा निरपेक्ष सत्ता है जो किसी मर्यादा मूक्य और नैतिकता की गिरपत में नहीं सर्वथा स्वच्छन और मुक्त—समय की अमाप पयंडितियों पर जिसकी स्वयंवासित मति है । क्योंकि अतक से इस अभिमत को बार-बार बोहराया है—“जब समाजत है छाट छोटे बोधिसव सम्पुक्त शान” नवी के द्वीप “जो काल-परम्परा नहीं मानता । बहु भारतत में कार्य कारण-परम्परा नहीं मानता । तभी बहु परिणामों के प्रति इतनी अपेक्षा रख सकता है—एक तरह से अनंतरवासी है” पर इससे क्या । उत्तर मांगने वाला कोई है ही कौन ? मैं ही तो मुझ उत्तर मांग सकता हूँ ? और उतर म अपन सामन अनुतरवासी हूँ तो उसका फल मे भोपूषा—वाणी अपन अनुतरवाचित्त का उत्तरवासी मे हूँ । एक अग्र्य स्वच्छ पर—“हम जीवन की नवी के अलग-अलग द्वीप हैं एमे द्वीप स्थिर नहीं हाते नवी में निरन्तर घुळते और पुन बनते रहते हैं—नया नाल नये अनुजो वा विमल नवी उल्लसट, एक स्वान मे मिट कर कुठरे स्वान पर जमने हुए नये द्वीप” यों जीवन की यह तीखी ऐश्रिय मूल और प्यास मिम्या आचरण की गुरुता का नकाब ओढ़े फितत ही मुक्त चिन्तन-मण्डों से टकराकर विविध तराँ द्वारा वेतन मन के निरीक्ष के पूजीमूल रूप में रूपापोद्गात्मक नालत अविवाकों म जमारी गई है । जम्ही के अनवरत में लयक मे अनेक अबाधित विचार व्यक्त क्रिय है और परम्परा जुड़े होने के कारण इतनी एक समी गूंथला बन गई है । मनोबैज्ञानिकों के से गर्द और बौद्धिकों की ती दातनिक पंडति का अवनकार उसके फलस्वरूप कलिपय निष्कर्ष निकाले गए ह—उदाहरणार्थ—बातला को उकसाने और पुग्वाप के प्रस्फुरण के लिए स्वरीया की अनेका पन्कीया-अम अदिक कारणर हाता है । उपम्याम के एक पात्र अग्रमाधव के प्रनय में—

"कमी जब बहु टाई खीसकर उसे काकर से निकामने के लिए उसके ऊपर झुकती तो उसकी कमीज के ससे क भीतर से उसके उरोखों का जो थोड़ा सा हिस्सा उसे बीच जाता उसे बहु स्थिर दृष्टि से देखता रहता कमी-कमी उस दृष्टि को लक्ष्य कर के बहु लजा जाती कौतूहल से वह सोचता कि अगर वह मौकरानी होती या कोई और स्त्री होती तो वह उसे छोड़छाड़ करना चाहता और घामद कमीज का ससा पकड़ कर अपनी ओर खींच लेता पर बहु तो उसकी स्त्री थी जो उसके खींचने पर झुक जायगी हाथ बड़ाने पर सह सेपी खींचेगी नहीं विरोध नहीं करेगी निविद्य के रोमांचकारी रस से समझे-सिमटगी नहीं" बहु बैसा ही स्थिर देखता रह जाता पर उसकी आँखों का केन्द्रित भाव बिबर जाता फिर बहु एक करवट हो जाता परनी बची जाती तो उठ कर कपड़े बदल लेता ।

आश्चर्य तो इस बात का है कि मनुष्य की इस पतनकारी अपन्य बुद्धि को बहुत ही सहज बृत्ति के साथ स्वीकार किया गया है । यहाँ तक कि गीरा—मुबन की सती और लिप्पा—जा अपेक्षाकृत आस्वाभाव और सुर्मस्वत है—अपने संवेदनों विचार और चेष्टाओं में समान आचरण-स्वातन्त्र्य की कामक है । तभी तो रेखा और मुबन के प्रथम-व्यापार को बहु बुरा नहीं समझती न तो अपने प्यार के एकाधिकार को सपासद बता पाती है और न उसका प्रभावसेग जैसा कि स्वभावतः होता है, हिंस्रत्मक या आक्रामक ही होता है । रेखा या मुबन से उसे कोई विकारित नहीं उठत उनकी इच्छाओं को यह देखे हुए उसे सन्तोष मिळा है । मुबन की यह सफाई—“स्नेहविधु तुम्हें छोड़कर नहीं भाया भागा जकर पर सच कहूँ कि जब भाया ठा कुछ अगर साथ लिया तो तुम्हारी प्रतिच्छवि—और मेरे विद्यत मन के कर्मके विराग को एकदम कटू हो जाने से बचाया तो उसी न पीरा में आशोच नहीं बदाता न पलझना । अपन नकारात्मक त्याग एव औरस्यं हाए बहु नारी लिप्पा और उसकी एकाकी घासीनता पर बुठाराधात करती है, जिसने अपने प्रथमी का न पुनस्व जाना न मांगा न उसकी विकारित ही की । बहु सदन भाव से सब कुछ माना स्वीकार कर लेती है सब कुछ 'जहाँ कही पृष्ठभूमि में रेखा भी है । रेखा की ध्या भी और विद्यालता भी अकिचनता भी और दानधीलता भी—सपीर का दान कितना सपासद है— कितना बुध्य । एक स्थल पर —“कैठी बिटम्बना है यह स्त्री-सहित की कि उसका खेप्ट दान है स्वयं अपना तय अपना बिनाय ।” किन्तु अज्ञय के औपन्यासिक पात्र जाहे बहु पीरा के से अविमन के ही क्यों न हो एसे दान से भी किबिद् बिचलित नहीं होते । (सना करे—मैं तो यह आघारभूमि ही गरुत और अमार्तीय मानती हूँ जहाँ बुग्भाव और प्रथमीभाव की एक करके दर्शाया जाता है) ।

'अज्ञय' का हर पात्र इती अमर्यादित बनाचार और इन्द्रिय-लिप्सा का विचार है ।

समोचितरूपण की दृष्टि से भी 'अज्ञय' के चरित्र बिहूत नाम प्रवृत्ति के प्रतीक

है। ऐसे व्यक्ति आत्मसम्मोही और स्वयंकेन्द्रिक होते हैं। उन्हें सबेस यह भ्रम रहता है कि पर बर्ष (Opposite sex) उनके प्रति आकर्षित है। इस प्रकार उनके अंतर्मुख मन में अपराधी भावनाएँ पनपती रहती हैं और व्यावहारिक कसौटी पर उनका आचरण अनपेक्षित एवं अवांछनीय सिद्ध होता है। अहं या उन्मादार्द्रा के कारण बाहरी तीर जय प्रकृत इच्छाओं का समन किया जाता है तो भीतर ही भीतर बेहिजाब पुल्पिया या उलझने बढ़ती हैं जिनकी प्रतिक्रिया सबेस मन की विग्नकसता बचवा मनोहास में होती है। उक्त क्रियाशील विस्फेपक बुद्धि बह संवेगों से असम्बद्ध हो जाती है तो इस मनोरथा का प्रभाव पाबना पेशियों पर पड़ता है जिससे अहं और मूक प्रकृत इच्छाओं में जोर कमजोर होती है और चरित्र के विकास में विपरीत कसम उभर आते हैं।

ऐसे चरित्र या व्यक्तिजब सीमाओं का अधिकमन कर जाते हैं। उनके जीवन में कोई कम तरतीब बचका बर्षावित आचार-व्यवहार नहीं रह जाता। उनका भीतरी आकर्षण या मोहासक्ति एक से दूसरे पर नित्य बदकती रहती है।

हास्यकास मोहन व शौहाबस्ता—किसी भी अवस्था में—इनकी अनु मूर्तियाँ या प्रकृतल केटाएँ कामबलित में केमिष्ठ हो जाती हैं। फलतः विभिन्न चारिषिक पहलू निम्नगामी और कुणित स्तर पर बमित इच्छाओं से आक्रान्त बने रहते हैं।

ये इच्छाएँ क्या हैं? किस सीमा तक ये मोबुदा मनोबिज्ञान का जम बन सकती हैं, साथ ही उवात कला क्रिया सरवाहित्य के सुजन की दृष्टि से उनका मूख और महत्व कहाँ तक है? मारी-मुस्य की बर्षावित ह्य काम-केटाओं का प्रदर्शन ही क्या उनका मापदण्ड है?

यदि विस्फेपन किया जाय तो ऐसे व्यक्ति या चरित्रों में बड़ी जीबतान एवं क्हागेह होते हैं। उनके जीवन के व्यावहारिक पहलुओं वीर पेशिय बासना-तुष्टि में यदि किसी प्रकार समझीता होता भी है तो बह ही दिखलक हंग से। पर ज्ञाय-विरोधी सिद्धांतों से सजावित होने के कारण भीषण बात-वस्थाबात होता रहता है जो परीत वा प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हाय कला का माध्यम बन जाता है। भीतर मूकता को बुसाएँ नप्य या प्रबंजक रूप में सभिय होती हैं वे ही साहित्य या कला में परिष्कृत और परिमार्जित रूप में उमारी जाती हैं पर बस्तुतः कामवृत्ति का उमदन बचका नई-नई पेशियाताओं हाय मानसिक कुमुसा की तुष्टि सचची बजा की कसौटी नहीं हो सकती। इसके विपरीत अंतर्बाह्य कार्य-कारण पद्धतियाँ बमया अपराधी वृत्तियों में विकसित होकर समाज विरोधी व्यक्तिजब या चरित्र उमारी ह। 'बसव' के औपन्यासिक चरित्रों को ह्य ऐसे ही आत्मसम्मोही अपराधियों की श्रेणी के अंतर्गत का करके है।

उक्त एकगी कसौटी को लेकर चलने से बनेक आन्तरिक विरोधाबात

परलभ होते हैं और स्थापित मूल-मर्यादाओं के मूल को खसल करने की चेष्टा करते हैं। एक तीव्र संहारकारी अनास्था मानव-संस्कृति की धारों में प्रबहुमान स्वल्प रक्त को विपात बना देती है और साधनात्मक प्रेम की उन्मादक अभिव्यक्ति विद्यप्रतिष्ठित आदर्शों को अफसोर कर घुमराहूँ ला बनाती ही है, साथ ही इस निम्ननीय अर्थप नरप द्वारा नैतिक और वैचारिक सिद्धांतों की भी अक्षेपना करती है।

निर्ठात मकागतमक और अनंयत कारणों का उद्बुद्ध करने से जो विश्व शात-वडात रूप में मन के विभिन्न स्तरों और अन्तःप्रणय में उतरते चरते हैं उनसे अनुभवों बापों भी चौधिया जाती है फिर नई अनुभवहीन अपरिपक्व अलिं तो इन प्रारंभ भाष देताओं और चिंतों के जादू में अपने आप को दरबस विस्मृत कर बैठे तो क्या आश्चर्य !

वैचारिक साहित्य का उद्देश्य तत्काल विद्येयात्मक और उदात्त आदर्शों की अम्प्राहृत सिद्धि है तब मन की एकाकी आवाज द्वारा में कराहती हुई चारित्रिक पठन की यह सज्जाजनक, विपन्न पीड़ा और उस पीड़ा की घुटन में रोपती हुई अबाधित इच्छा-आकांक्षाओं का निरपेक्ष अंकन या कहें कि जोरी बोद्धिकता के बज पर प्रच्छन्न कुंठाओं को उमारने का पलायनकारी दम्भ सामयिक उद्बुद्धों और अन्तर्गता की वे दुर्बल्य दृष्टते हैं त्रिभक्त विप्लवमायो ईप्सा एवं बचना की जाबुक पाकर सर्वतोमयी जीवन-विकास की सम्भावनाएँ उभरती हैं और स्थितप्रज्ञ व्यक्तियों तक वे विचार और सिद्धान्त बाधित हो उठते हैं।

निरक्षय ही युवकों और कमजिन स्थितियों में इन प्रयोगवादी वृत्तियों के प्रति असीम उन्माह और दिलचस्पी है, क्योंकि इनमें किसी प्रकार की रोकटोक या प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु अन्तः प्रसक्त परिणाम क्या होता है कि साहित्य और कला की वैदना के विचार का घेष्ठम घोराण है चिन्तन-व्यक्ति के महान् मूर्खों की उजेदा कर हास्यमय और हीनतर संस्कारों को प्रथम देता है। वह सही है कि बिधीपीटी नैतिक लीके किमी महान् बुद्धि के सज्जन का दावा नहीं कर सचतों विप्लु नैतिक मूर्ख यानी विचार और घोव्य के मध्य कठिनाय में अन्तःआत्मक मुक्ति तो पगाते ही हैं चौधिय और उपयुक्तता के साथ-साथ जीवन-मीमांसा के भाग की भी अक्षेपना करते हैं।

पौरुषा युग में नवीन चारों और पनों का जो बुद्धिप्र प्रभाव हमारे साहित्य और कला को विफल कर रहा है वह उन अर्थों में ‘रैस्ट्रिक सेंस’ जपाता है जो कदापि जीवन में अन्तर्बद्ध और परे ‘आम्ब’ को गुटलाकर आराम्य अम्पना में प्रसन्न मन्त्रा’ की ओर प्रसित करता है। नम्पशर कनी दानव जब मृत्मे हुए तामोय शिमाओं को पर बबोचता है तो जाय-बाधता की मपवती तत्-तत् उन्पारों मह्य करतों के बज से तद्गुकर राप्र-रग्न में पेंतती हुई अन्तर बलनां चिंतों और स्वप्नों की आकार नहीं देती प्रायन् अर्वाधित इच्छाएँ उन्पारती मून से बुनी रवाबोचक

तिलमिलाहट जगती और भीतर के बाह्य पशुत्व से पिछली वह तपन उभारती है जो साहित्य और सृजन की अंतःशक्ति को हथ कर उसे राज का डेर बना देती है। इस बुद्धि अराजकता में क्या निर्माणात्मक अथवा क्रियारमक विचार उत्पन्न हो सकते हैं ? आत्मा की ऐसी सजाँच भरी अन्धरी गहराइयों में तो ध्वंसात्मक और अपराधी इच्छाएँ ही पनपती हैं। अतएव साहित्य के ये हथ पलायनवादी तरह अमानुषिक या कहे कि बेबुनियादी हैं जो प्रेरणा या ईश्वर के स्वर नहीं जगाते बल्कि श्रुत्या के मलबे के नीचे बची पड़ी असह्य आरमपीड़ा और श्रुता के स्वर उभार कर साहित्य के सुम्बर और मूख्यमान यथार्थ और अनुसिद्ध उदात्त और भीकोत्तर के महाम् अनुष्ठान की आरणा को सर्वथा निर्मूल सिद्ध करते हैं।

कथाकार देवेशदास

गुरु औपन्यासिक के रूप में देवेशदास का नाम बंबला कथा-साहित्य में प्रसिद्ध है किन्तु नवीन भाषाईयों की प्रतिष्ठा पुरातन व नवीन भाषाचार के समन्वय और प्राप्य एवं पारचात्य संस्कृति के सेतु-निर्माण में हिन्दी के लिए भी इनका खयाल कम सम्भेक्ष्य नहीं। आज जब कि मायाका संपर्क है अपनी मातृभाषा के प्रति असीम अनुपम होठे हुए भी इनकी सर्वश्रेष्ठ दृष्टि राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम-भावना को बाँटा नहीं कर सकी। इस और काल की सीमा का अतिक्रमण कर इनकी कल्पनाप्रधान मूलनवीन प्रेरणा युवसन्धि के कृतव्य-मय पर मतवाद-विशिष्ट और सत्कार-मकत हो विरचमानवत्व की अतन्त भाषाचार के साथ पर्यवसित हुई है।

'यूरोपा

युवदृष्टि के अनुरूप इनकी चिंतनचारा का यहूत अर्थ है सभी मन्व्यों की सापेक्षता। यही कारण है कि इनकी प्रथम कृति 'यूरोपा' में इनकी प्रतिभा कल्पना और की स्वप्न-भूरेतिका से विरचमानव के सदा जायत कमलज में लवतीन हुई है। 'यूरोपा' उपन्यास नहीं है पर सत्य को कला वा आचार बनाकर उसे जीवन की आलोचना के रूप में प्रहण किया गया है। अतिरिक्त सदा सदा की मूल प्रकृति में कोई अंतर नहीं आता अतः मानवतावादी विकासमूलक धरातल पर मुख्य आधुनिक आधुनिक भाषों को बड़ी विहायता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। न केवल इन यूरोपीय देशों के यहूत विरचमानव सर-सरिता-उपवन पत्र-पुत्र विमुदित सामन्ती पादकता पुत्र और बापलों की बीडा नवी-नियतों वा उन्मत्त अलोच्छ्वाभ विह्वल कौनक मुमन-सौरम बहक हिमराशि छायातर अयोक्ता-विरण आदि वा हृदय स्पर्शी वर्णन है अपितु वहाँ की अत्रुविष सदा प्ररपाएँ उन्मत्त-अधियान आधुनिक संशय की सीमाएँ, सामाजिक मनोवस्था मय प्रेर के भिन्न-वर्ण की जीवन परिमति नमसाजिक जीवन की अतिक्र सापेक्षता और नव स्वच्छन्दतावादी धारा में अनापन आधुनिकवादी और अन्वयत मठा से परे आधुनिक अतना से उद्भव अविन मानव वा सम्पूर्ण निरन्तर तथा विरचमानवता के प्रति आस्था व साथ मनुष्य से मनुष्यों के परस्पर वास्तविक सम्बन्धों पर दृष्टान्त है। भारतीय और योरोपीय जीवन-शैली-की समता करने पर विभिन्न आधुनिकवादी के विन्म आगों में उरने लगे हैं। विविधपूर्ण

जीवन-क्षम में कितनी ही सीमाएँ निर्धारित की गई हैं। उदाहरणार्थ—मृत्यु का भय भारतीयों के जीवन की मस्ती को भस्म ही घसस पर प्रायः यूरोपीय लोग बड़ साहसिक होते हैं। मृत्यु का भय उन्हें निस्पृष्ट या आसंकि नहीं बनाता। जीवन की आकांक्षा ही उन्हें मृत्यु से बचाने की प्रेरणा देती है। उनके मठ में जीवन की यह आकांक्षा ही नित्य और सत्य है सच तो तस्कर है और असत्य। कलक के सभों में— 'उस समय समझ सका कि जड़वाद, बन्दुवाद आदि में डूबा युरोप किस प्रकार निर्विषाद रूप से धरा को भीठ एवं मृत्यु की उपेक्षा कर बीभित है। इनके पास हमारे समान आध्यात्मिक सम्पत्ति नहीं उपेक्षा से हमसे कितना अधिक आनन्द प्राप्त क' पाते हैं। सबके जीवन की सच परिस्थिति मृत्यु में है, कितने दिन बीभित रहना है, फिर प्राण प्राप्ति क्यों म रहे ? जिसने कमी भोग ही नहीं किया उसे स्वाय के दुःख-आम करने का सीमाय कहीं ? मस्तिष्क पुष्करिणी के दीवाल दस को हटाकर केवल भीषे के बलविन्दु ग्रहण करने की चेष्टा के अनुसार जिसने ससार को असम्पूर्ण मात्र से ग्रहण किया उस संसारी के सम्पास में महिमा कहीं ? जिन आत्मनिर्भरता साइस और स्वाय में हम दुःख-विगद का लुण्ठ समझ पाते हैं वे हमारे हैं ही नहीं। है केवल दुर्गम स्वतः। इहीलिए हम जीवन को असहाय दृष्टि से देखते हैं।'

यों यूरोप का जीवन चिरमतिशील है और बटनाओं के घात प्रत्याघात से अपसर होने की प्रेरणा उन्हें अनवरत मिलती रहती है। जीवन-उदर पर वे नितने निर्भरत बिचरते हैं। केवल का कंधार मन बड़ी के लोको की निर्भरता और नित्य ही आये बड़न की बाह को बेल कर मुग्ध हो उठता है—अच्छा लगता है—यूरोप का यह आनन्दमय उस्कासपुस्त मुक्त जीवन को वैदल बलकर और दुर्गों को बुर कर मृत्यु की उपेक्षा करता है—यह जीवन मुझे अच्छा लगता है।'

इस प्रकार उक्त पुस्तक में केवल की मानसिक प्रतिबिम्बों अपने मूल उद्देशों और उन प्रायस्क सभों की अविस्मरणीय स्मृति के साथ उतरती ह सर्वात् वह जिस क्षण को अनुमति प्राप्त करता है कुछा पूर्वाग्रह अथवा रीति-नीति से परिचालित हुए बर्र उम सध के उस साहय के प्रति ईमानदार रह कर उसका निर्वाह करता है यही उसरी जीवन-दृष्टि और आत्मा को सुधि प्रदान करत ह।

क्रिती विभिन्न सज्जा एवं प्रीगता के साथ या तो कोई पुस्तक पथ में विभी सुबती के साथ बलपा अथवा दो मिला या एक ही आधि के लोम साथ-साथ बल्ले। पथ पर चलते चलते सभों क हाम बातचीत एवं दार्शनिक साहचर्य में वा कुछ भी मुग है उसे कर्म के आनन्दनीर्य के से मात्री अक्हेलित नहीं करना चाहते। जीवन में संभव है इनमें से अनेक के अदृष्ट में विवाह नहीं अन्तः प्रथम जीवन में किन्तु फिर भी कर्मसोत से य नर-नारी पाठ-पास रह बहते चले जाते हैं। पुण्य नारी की 'नरकस्य द्वार बहकर अक्हेलना नहीं करना। नारी पुण्य को भय की सामग्री समझ कर पीठ नहीं हटती और सवात इनके बीच केवल आय और पी के सम्बन्ध का निर्देश नहीं करता। स्त्री-नरक क सान्निध्य के परिचामस्वरूप रूप स्वात्स्य और

सामाजिक गुणों की जर्हा इनमें मन के अयोधर रूप में बड़ जाती है। इसके फल स्वरूप मारी की दृष्टि में जनता के बीच मनप्य बनने क लिंग पुन्य की निपदिन घोषणा रूठी है नारी की भी वही सामना है। इसीलिए पश्चिम में मनप्य पाति की सर्वविधि उल्लिखि है। हम लोगों के समान धीनजीवी एवं मन्दर होम की अग्ना यूरोप में दिखसायी नहीं पड़ती।”

मंदन की जनता की कमठ सचेष्टता का उत्केस करते हुए देवेदास लिखते हैं—

“उस विपद् जनता में पति-श्राव्य है, प्राक्स्य नहीं सबको शीघ्रता है किन्तु सुदृंग कोई नहीं करता सब श्रुवका मानकर चलते हैं कारण—श्रुवता उमठ पय की सृष्टरी है परों की श्रुवका नहीं पति का अन्धन नहीं।”

अस्वाभाव और सम्पूर्ण निजत्व की जीवनी-यथित को विकसित कर आयु निरुता के प्रति अधिक सभग होने के माते सेलक बाज के व्यक्ति मानव से मर्यादित आचरण की माय करता है। उसकी उपसन्धि उसका नियोजन और उसका निरिबत इष्ट, जो आत्यविश्वास के आयाकों में जीवन की अनुमृति की गहनता से मन्तनिषिष्ट है, सर्वनीय तत्त्वों के साथ जीवन का साध्य चाहता है।

‘यूरोप’ के बयला संस्करण को पढ़कर भी रबीन्नाय ठाकुर म लेखक को संबोधन करते लिखा था—“तुमने यूरोप के माहात्म्य एवं सौर्य को सर्वन्तिकरण से स्वीकार किया है। दृष्टि को प्रसन्न न रखने पर कमी भी मठन दैच को सत्य रूप में वही देखा जा सकता। तुमने आनन्दित मन से यूरोप को देखा है और बड़ी मानन्द पाठकों को वितरित किया है।”

अतएव यूरोप में सेलक की संविरनात्मक प्रतिक्रियाएँ मानव-आन्वयों से मानव-आन्वय विरोध परिस्थितियों से और विरोध परिस्थितियों सामाजिक मन्दनों से एक अविच्छिन्न सम्पन्-श्रुवता में बँधी हुई है। किन्हीं बायों या मन्त्यों की अनिश्चित का रूप वही नहीं अपितु भाव की लोकातिरयता और उत्पन्न विचार और कलना की उन्नत भूमियों के बसंन होते हैं। भीतर की प्राणसक्ति या निमग पात अतिरयता के कारण प्रवाह की लम्ब वेतना का परिहार हो जाता है। पढ़ाव क विराम बिगू लठ हो जाते हैं बुद्धि के मन्-अविचार की अनायास निवृत्ति हो जाती है। देवेदास ने यूरोप का प्रमथ करते समय बस्तु का अन्तरंग देखा है उसके गहार्न से मन का साधारण स्थापित किया है और मनीठ की अनिश्चयता का बलमान के बाक तरंग में समाहित कर एक आत्य परमन्त का साधारण कण्ठ है। पर मन्त और रीति में अर है। परमन्त का सम्बन्ध काल में है यति का दग म। पर परमन्त और रीति से पने जब कथारार आलोचक बन जाता है तो जीवन की संविष्यपूर्ण आइपना स प्रमापित अतिमानव्य प्रयोगों, विरपरिबन पटनाओं पात्रों परिस्थितियों और समस्याओं को उना दृमा वह बड़ बीरठ से जाने बड़ता है। वही

कहीं कबाकार की हृदयवत् से ठसक का उपभोगता—उच्छिन्न मिरपेसता का अतिक्रमण कर—सामने उभर आता है और कहीं-कहीं आलोचक की बौद्धिकता उसके उपभोगता को सामान्य स्तर पर उतरने से रोक रखती है। फिर भी बैचारिकता के ऊपर सर्वत्र सार्वभौमिकता ही शीघ्र पड़ती है। सौन्दर्य के मौलिक महत्त्व का प्रश्न है जिसे जनेक चित्रशिल्पियों के लक्ष्य-बैचारिक्य का लक्ष्य कर परखा गया है।

“रूप का आदर्श क्या है ? हम सब के ही मन के महान् अलक्ष्य में स्वयंभूमिनी अथवा निश्चित मानस रंगिनी का एक आदर्श रहता है जिसे भाषा में प्रकाशित करने पर वह अन्तर्धान हो जाता है और जो चिरकाल ही हमारे सम्पूर्ण प्रश्न और प्राप्ति के अतीत पट पर रहता है। फिर भी हम एक आदर्श रखते ही हैं—वह चाहे वैदिक सौन्दर्य का हो प्रकाशश्रेणी का हो अथवा प्राणमयता का। उसकी कवि बर्णित करता है और चित्नी व्यञ्जित। अपनी स्वयंभूमि और कल्पना को सिधे हम चिरकाल से उसके निकट जाते हैं। इसीलिए हम चित्त के इतिहास में अत्यन्त सौन्दर्य की मोबा-याजा देनते हैं।”

कला की लम्बी परम्परा में विभिन्न चिन्तनधाराओं को मानवी रूप पर लागू कर केवल उपयोगी एवं सर्वसंबन्धित तत्वों को समो लेना चाहता है—

‘प्रस्तर वय में गारी विद्ययत्त बंस की बननी थी—जिस बंस को बर्षों के युग में यूरोप के कठिन धीव से जीवन रखा करनी पड़ी थी। जत प्रस्तर मुम की गारी थी स्पृसांवी बीरांगना केवल गजगायिनी नहीं साक्षात् पद्मरात्री। युद्ध-मानव युद्ध मात्र में ‘वैसन’ विकार प्राप्ति के लिए उसका चित्र अंकित करते थे। इससे ही उन्होंने चित्त को किस रूप में ग्रहण किया था—समस में आ जायगा। युव-युग में पुत्रों ने संविनी की जिस रूप में आकाशा की उठे उसी रूप में अंकित किया और गारी भी पुत्र के समस उसी रूप में आबिर्भूत हुई। सौष्ठव एवं सामंजस्यमय निरवध बदन बंगिमा का सौन्दर्य ग्रीक का आदर्श था। भयवान् ने अपनी आकृति से मानव का निर्माण किया पर्य की इस चित्त को पीक शिल्पियों ने देवी के सौन्दर्य को मानवीय आकार बकर अक्षरता प्रकाशित कर दिया। उनकी ‘बीनस’ स्वर्गीय अथवा स्वर्ग सुपमाय गारी की अष्टतम अभिव्यक्ति है। उनके निकट तिलोत्तमा गुन्वरी नायारक प्राइनी अष्ट देव-सुन्दरी के मानव रूप की प्रतीक थी एवं इस कल्पना से उन्होंने देव के सम्पूर्ण चित्तरगियों का समबन्ध पाया था। आट के स्वर्गमूम में इटली के पर्वतीय प्रदेश की सुन्दरिया (मंडोला) देवमाता के पांडल रूप में अवतीर्ण हुई। उन्होंने ही प्राचीन सर्व-कहानियों के शैलियों के चित्र और मूर्ति को रूप दिया। शियो-वासों की मोबाजिजा भी ही बात नहीं कहता। अग्य सभी शिल्पियों ने मानवीय मूर्ति में देवी को उपलब्ध किया। करेगिजको सब प्राचीन देव-कहानियों के चित्रों में अष्ट सुन्दरियों को ‘बीनस’ के रूप में सजाने से। पत्नीमिध चित्नी भी यही करते थे किन्तु उनके देव के सौन्दर्य का मानव-रूप सब के लिए आकषक न था इसीलिए कल्प और रेमब्रांट की हृदयमय गृहणियाँ कभी सौन्दर्य-अप्य में अंबकता नहीं ला पायीं। चित्र

धिस्य की एक और सतायी में धिस्यी मारी का बिज्र भाँकते समय देवी को झूठ ही गये । अठारहवीं सतायी ने फाँसीझी पम्पादुर चुबारी भावि ने राजप्रेमियों की बना सज्जा में मनोनिवेश किया और अंगरेजी धिस्यी अभिजातों के पित्ररूप लेकर स्वस्त रहे । शोकोक्त बिज्र इस समय अमेरिकन सत्तापतियों के आदर की घामधी है—भारत में मार्किन पानी के पूर्वे पुरप के परिषय का श्रेष्ठ विज्ञापन और उपकरण है ।

फिर भी तो वह माननी है । किन्तु बिज्र-राज्य में और भी अनेक देवी भयवा मारी की प्रतिकृति हैं जिनका सामथीय आकृति में गलन हुआ है या नहीं—इसमें सन्देह है । रसेटी के पग की छारस कप्टी देखवती भावि की आकृति अथवा वर्तमान युव के नयुविस्ट भावि के मारी-बरिष के अनुकरण में यदि माननी को देखा जाय तो मूर्तिकला के यन्त्रों को प्रस्तर के स्मान पर रक्त-मांस की रैह पर चलाना होमा । रवि का वैचिष्य इसी को कहते हैं । फिर भी मुय-मुय से विभिन्न रवि और धिस्य भाग का प्लावन प्रविहत कर पीस की सौन्दर्य सृष्टि अपनी महिमा का श्रेष्ठ सम्मान पाती खेयी ।

यूरोप में भ्रमण करते हुए विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के बीच बात प्रतिघात द्वारा सेसक का अंतर्मन अधिक स्पन्दनील और विभेयन की दृष्टि से अधिक अधबाही हो उठा है । भावकता के क्षणों में उसका अन्तर्बोध उसके परिवेष के बचतलों का मिश्रण-विन्दु है और आत्मस्पर्श की अनुमृति की शक्तिमयी शैलता उसमें अन्तर्निहित अभिराम मर्ष के विश्राम अन्तर्भाव की शक्ति कर कमनीय मूर्त रूप प्रदान करती है । भाषा-शोष्य काव्य-वर्ण्य और अर्धवैचिष्य की उद्भावनता के साथ-साथ उसके प्राञ्जल भावों की कविता में आत्मा का मुभासमय परिपक्वण है वहाँ आनन्द की कल्पनमयी हिलोर समूचे अन्तस्तल को उडलित करती है ।

'यदि प्रकृति स्वयं प्राञ्जलमयी है और जाम्बि में कल्पना है ता सौन्दर्य कभी भागित चलान नहीं करता । पार्श्वत्य प्रदेय होने के कारण सिबट्टरलेखक इना मच्छा समता है । एक-एक शृंग नामों मानपात्मा की पाथी का प्रकाश है । समतल की माटी का मोह स्वच्छ रूप और अर्गमीर है । उसने ऊपर से घाकनन बिषर पड़ता है । कहीं न कहीं है और न इकट्ठा होता है किन्तु अममतल के पत्पर का प्रम चौटी चौटी पर आकर्षण का किरीट धारण क्रिय तरंग ब्रंय के सल के समान तरपम की ध्वनि के समान गहरें गेठ जाती है और समतल से उच्छता मन को ऊपर की ओर उल-दिय अकिराम तीबती ख्की है । पकिर के सिष्ट, केरे सिष्ट पट्ट बर्द की चौटी अतन्त्र निग से अनाहत बिचरनाक से जायत है ।

और केवल कृप ! समस्त जीवन ही पग के समान विकसित किया जा सकता है । चारों ओर हैंसते हुए युग स्वारय सबस देह और उत्समित मन देन रहा है । चरों में अवरण बति अविना चरों में स्वप्न और माये वर सोने के ऐश्वर्य के लिए कितन लीनों को पाते देया है । इन पूर्व उपकृष्ट के तन्त्रुओं के चर में एक भी एम

कहीं कपाकार की हृदयित से लेखक का उपभोगता—उपिष्मन्न निरपेक्षता का अतिक्रमण कर—शामने उमर आता है और कहीं-कहीं आलोचक की बौद्धिकता उसके उपभोगता को धामाय स्तर पर उतरने से रोके रखती है। फिर भी नैतिकता के ऊपर सर्वत्र सार्वभौमिकता ही शीघ्र पड़ती है। सीधे के मौखिक महत्त्व का प्रश्न है जिसे अनेक विचित्रिष्मियों के दृष्टि-वचिष्म का लक्ष्य कर परखा गया है।

“रूप का आदर्श क्या है ? हम सब के ही मन के महान् अन्त में स्वप्नसंकीर्ण अथवा निश्चित मानस रंगिनी का एक आदर्श रहता है जिसे भाषा में प्रकाशित करने पर वह अन्वर्तन हो जाता है और जो फिरकाज ही हमारे सम्पूर्ण प्रश्न और प्रार्थि के अतीव पट पर रहता है। फिर भी हम एक आदर्श रखते ही हैं—वह चाहे देह शीघ्र का हो प्रकाशमयी का हो अथवा प्राणमयता का। उसको कवि बधित करता है और धिन्धी व्यथित। अपनी स्वप्नमूर्ति और कल्पना को लिये हम फिरकाज से उसके निकट आते हैं। इसीलिए हम सिल्स के इतिहास में अन्त्य सौंदर्य की सोचा याता देखते हैं।

कला की लम्बी परम्परा में विभिन्न चिन्तनधाराओं को माननी रूप पर लागू कर लेखक उपभोगी एवं तकमगत शक्तों को समो लेना चाहता है—

“प्रस्तर युग में गायी विद्येयत बंध की बानगी थी—मिस बंध को बर्त के युग में युरोप के कठिन शीत से जीवन-रक्षा करनी पड़ी थी। अतः प्रस्तर युग की गायी थी स्वसंकीर्ण शीतमान के बंध सजयामिनी नहीं साक्षात् नयेग्राणी। मुहा-मानय मुहा यात्र में अंतम धिन्धी प्रार्थि के लिए उसका चित्र अंकित करते हैं। इधरे ही उन्होंने शिल्स को किस रूप में इहूक किया था—उमर में आ जायया। युव-युव में पुरुषों ने मंकिनी की विद्येय रूप में आजाया की उस उषी रूप में अंकित किया और गायी भी युव के समस्त उषी रूप में आबिर्भूत हुई। शीघ्र एवं सार्वभौमिक निरवद्य पठन-मंकिना का शीघ्र एवं शीघ्र का आदर्श था। अथवा न अपनी आकृति से मानव का निर्वाच किया यम की इस धिन्धी की शीघ्र चिन्तियों ने देवी के शीघ्र को मानवीय आकार देकर अउरध प्रकाशित कर दिया। उनही ‘जीनन’ स्वर्गीय अथवा स्वतः सुपमानय गायी की अउरध अधिष्मिति है। उनक निकट तिष्ठोत्तमा मुन्दरी नामरिध प्राइनी श्रेष्ठ स्व-मुन्दरी के मानव रूप की प्रतीक थी एवं इस कल्पना से उन्होंने देव के सम्पूर्ण शिल्परमियों का समर्जन गामा था। आत के स्वतः में इन्ही के पश्चात् प्रदेय की सुन्दरियाँ (महोमा) देवमाता के पौटल रूप में अथनीमें हुई। उन्होंने ही प्राचीन सर्व-अहानियों के दृष्टियों क विद्येय और मूर्ति को रूप दिया। शिल्पो-नानों की मोनासिमा की ही बात नहीं कहता। अन्य सभी शिल्परियों ने मानवीय मूर्ति में देवी को उपलक्षण किया। अरेजिजनों सब प्राचीन देव-अहानियों क चित्रों में अंश अन्तरियों को ‘जीनन’ के रूप में गजाने से। कसीमिध धिन्धी भी मही करने से किन्तु उनके देव के शीघ्र का मानवध सब के लिए आकर्षक न था इसीलिए कल्प और देवद्वोट की हंसमय मुदधिनी कसी शीघ्र-अन्य में अंशलता नहीं ला पायी। विद्येय

धिस्य की एक और सताब्दी में धिस्यी नारी का चित्र भाँकते समय रैनी को मूक ही गये। अत्यरहर्षी सताब्दी के फ्रांसीसी पम्पादुर चुबाटी आदि ने राजप्रमियों की कला सग्धा में मनोनिवेश किया और अद्वैतीय धिस्यी अभिजातों के चित्ररूप सैकर व्यस्त रहे। खेपोस्त चित्र इस समय अमेरिकन लक्ष्यपतियों के आदर की सामग्री है—कारण ये माकिन पत्नी के पूब पुरख के परिचय का खेष्ठ विज्ञापन और उपकरण है।

फिर भी तो यह माननी है। किन्तु चित्र-राज्य में और भी अनेक देवी भवना नारी की प्रतिष्ठति है जिनका मानवीय भाङ्कति में पठन हुआ है या नहीं—इसमें सन्देह है। रसेटी के मुग की सारस कण्ठी वेङ्कटी आवि की भाङ्कति भवना वर्तमान युग के न्युविस्त आवि के नारी चरित्र के अनुकरण में यदि माननी को देखा जाय तो मूर्तिकला के यन्त्रों को प्रस्तर के स्माल पर रक्त-मांस की रैह पर चकाना होमा। शक्ति का वैचिभ्य इसी को कहते हैं। फिर भी मुप-युग से विभिन्न शक्ति और धिस्य बाण का प्सावन प्रतिष्ठ कर ग्रीस की सौन्दर्य वृष्टि अपनी महिमा का खेष्ठ सम्मान पाती खेयी।”

यूरोप में भ्रमण करते हुए विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न प्रकृति के स्थितियों के बीच बात-प्रतिबात द्वारा डेलरु का अंतर्मन अधिक स्पन्दनशील और विस्फेपण की वृष्टि से अधिक अथवाही हो उठा है। मायुकता के सभों में उसका अन्तर्बोध उसके परिवेश के पराठकों का मिळन-विशु है और आत्मस्पर्श की अपुभृति की शक्तिमती शैतना उसमें अन्तर्निहित अभिराम अथ के विक्रमण अन्तर्भाव को उनीच कर कमतीय मूर्त रूप प्रदान करती है। भावा-सौष्ट्य वाग्दीर्घ्य और अर्धवैचिभ्य की उद्भावना के साथ-साथ उसके प्राञ्जल भावों की कविता में आत्मा का सुवासमय परिस्वम्न है वही आत्म की कम्यनमयी हिलोर समूचे अन्तस्तक को उदमित करती है।

“यदि प्रकृति स्वयं प्राणमयी है और शक्ति में कल्पना है तो सौन्दर्य कभी शक्ति उत्पन्न नहीं करता। पार्वत्य प्रवेश होने के कारण सिद्धरहर्ष्य इतना अथछा सगता है। एक-एक शृंग मानों मानवात्मा की बापी का प्रकाश है। समतल की माटी का मोह स्वच्छ रूप और अर्धमीर है। उसके ऊपर से माकयच बिलर पड़ता है। कहीं न बट्टा है और न इन्टूठा होवा है किन्तु असमतल के पत्पर का प्रम बोटी-बोटी पर आकर्षण का किरीट धारण किये तरंग रंग के बरु के समान तरंगम की ध्वनि के समान सहुरें रोस जाती हैं और समतल से उन्नता मन को ऊपर की ओर उख-दिन अदिराम कीचटी खड़ी है। पक्षि के छिप, मरे छिप वह बर्झ की बोटी अलग निरा से अनाहूत चिरकाक से आगत है।

और “केवल कूल [समस्त जीवन ही फल के समान विकसित किया जा सकता है। चारों ओर झूठे हुए मूल स्वस्थ सबक देह और उन्वसित मन देय रहा है। पैंरी में अपरूप गति-अंगिमा नभों में स्वप्न और मावे पर सौन के ऐस्वर्ष क छिप कियन कोनों को बावे देखा है। इस पूर्व उपकृ के तन्मूर्त्तों के शहर में एक भी एष्ट

बलवती भाकाशा की वहाँ प्रचंडा है वहाँ आत्मोपभोग के आकषण और सुरा-सुन्दरी के प्रकोपन पर महारा ठिरस्कार और निरा का मास भी उसमें है।

‘उनमें मौख उड़ाने की प्रकृति बहुत वी घाय ही अपने मन की बाछता की रंगीन बनाकर वह उसे इन्द्रयन्त्र की तरह आकाश में फेंका सकते थे। न मासूम कम क्या ही आय फिर रहे या न रहे इसीलिए सुखभोग के सम्बन्ध में उनकी नीति इस प्रकार रहती थी—

‘बड़े बड़े सेत कमस्य आबिर वेंहे सींग दिवाय।

सम्पत्तीन सामन्ती व्यवस्था के प्रच्छहर पर संघर्षों ने वेदी रियासतों का डींठा काड़ा दिया था। इस बीसों साल में एक प्राभूर्त्त झासोम्ब परम्परा का जसें तक निर्वाह होता रहा किन्तु परम्परावादी कश्चियों में बकड़े राजस्थान की नव युग ने मुक्त किया और एक नई सजीव परम्परा में सीधित किया। आकाश भारत की प्रजातांत्रिक सरा द्वारा सामन्ती समाज-विधान के समय के घाय उन्त परम्परा का ह्रास अवस्थानावी हो गया। देवेदशास सिक्तते हे मनुष्य समाज में बैठकर ही ये इन बातों पर बिचार कर रहा हूँ और सो भी पुराने राजबाड़े के बगल में जो राजस्थान उत्पन्न हो रहा है उसी क बातावरण में यह आलोचना कम रही है।

‘मास्को से मारवाड़’ और अन्य कहानियाँ

अपनी तृतीय कृति मास्को से मारवाड़’ में भी केवल एक छिन्न आत्मनिष्ठ कलाकार की भाँति नए मूक्तों की नई मर्यादों का स्थापित करने में उठना ही जिज्ञासु और जानक है। एक सामाज्य की हीमिमत से दूसरे देवों के जीवन समाज संस्कृति और आचार-विचारों के प्रति उसकी एक स्वतन्त्र दृष्टि है और बरिचों की बहुसंपी गाथाएँ कहानियों के रूप में उभर कर संघर्षों से परे मानव मूर्त्तियों का मूर्त्त्यार्जन करती है जो किली की पारंदस्ती सत्य करके माहीं बस्तिक उसकी अपनी मास्का पर उपजी और बरिताय हुई है। बाह्य जीवन-बुरा अपवा तलाम्बयी संस्मरणायक तर्कों को किन्नर धरय और कस्तना का उचित समन्वय उनकी कथा निर्मों की विमपता रही है, पर उनका उल्लेख वही न कही उनके विचारों एक अनुभवों में अन्वितरिण रहता है।

उनकी कहानी-रकमोक की सबसे बड़ी कमीटी है—बलनायक उद्दानकृति।

इसी महानुकृति के कारण मलहरकों के सम्बन्ध में प्रवेश कर हैमल में के संघर्ष होते हैं और अन्य के समस प्रतिमान रूप में प्रस्तुत करने में सफल। अतः सतही परिचय की सीमा से बड़ कर उदाकार परिवर्तित की स्थिति में बड़ी उनके बन्धर की महाराई ने स्पर्ण सार बन जाता है। ‘उपने के संसार’ कहानी में एक साधारण जिप्सी के उद्गारों एवं अनुभूति-अभिप्यवित्तियों के मर्म का भी यथावत् रूप से हृदयंगम करने की क्षेप्य की पर्य है।

“मने उइके नेर्ने में बिपार की छाया रेबी । उइकी बिपार देह बड़ी असहाय और मरम हो परी बी । मुझे उइ पर बया भाई में उसे कवाई बोला मही देना चाहता था । मुझे ऐसा लगा कि उइके कम बाह्य छपीर के भीतर कही असन्त असहाय कोनक मन्तर है ।

कही बिपती भाबुक किन्तु स्पष्टबायी व्यक्ति है । उसके मुह से उइकी अपनी परम्परा संस्कार और अनुभव से प्राप्त अनेक प्रेम और बिबाह सम्बन्धी बहुमुत सत्यताओं का उद्घाटन कइया गया है । यही इम्सान की बारमा बिना किसी बाह्य काबरेष के छावन उअर माठी है । बरअउक भागव व्यक्तिअ के कितने ही अछूटे पहल है जो किन्ही खास परिस्तिथियों और मोर्दों पर, बीबन के कम-बिनारों से कहरों की भांति बार-बार टकटाकर, नए-नए बिड्ड बना पाउते हैं और इस प्रकार अनुभूति के स्तरों और प्रेरक परिधामों में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है ।

‘निष्ठा-स्वप्न’ में बूड इटाकियन बूनो के भाबुकता भरे भाबुक उद्गार एक मही अनुभूति बिचन और दर्शन से अभिभूत मनोमार्थों का दिग्दर्शन कराते हैं ।

‘बीबन रंगीले स्वप्नों का समय है, परन्तु काल कियों को भी मौबन-मोत के छट पर बैठकर प्रवीला मही करने दता । बूनो भी उइके प्रबाह में बह गया और अब उअमें कोई आकर्षण मही उछा ।

यह स्वाभाविक थी है । बै कबर जो बोसकम से मीमे उअ-काठ में पुणबस सपुस में सूर्बताप कपने से पूब ही मुच्छा गए ।

काल किसी के लिए भी नहीं बमता । प्रेम के लिए भी नहीं । ‘आज’ सत्य है एक नाम सत्य । आणामी कल को बह हो जायगा बतीव और मिथ्या । कबियों ने अनन्त प्रेम की महिमा का गान किया है किन्तु अनुप्य चाहता है आज के प्रेम की माधुरी । अनन्त की तुलना में वर्तमान बिन्दुमात्र की कम सख मही है ।

अन्त में एक प्रश्नबिन्तु कबा कर बूनो के उअयु सख ऐम्यास व्यक्तिअ का नकब उठार फेंका है और सिड्ड किया है कि मानव-बदिष इस बीयिक बातावरण में विकसित और उअल होता हुआ भी बुदुहल बिस्मय आन्ति और बिभ्रम की बस्तु बना हुआ है । इस उअर के व्यक्तिओं का अयया एक खास लबडा होता है । ये बाबाय बुमकड जय धानवार होते हैं और अपन प्रम के उस्ताव । उनकी भाँसों में कृषिम रीब होता है और अबासों में उकर टपकता है जो मामस को अभिभूत कर केता है ।

‘दोप किसी का नहीं । दोप बदि किसी का है ता इस देण के नीले आकाश का है बिबने यही की लछिया के नेर्ने से रंग छीन लिया है । दोप इस बेनिम की अकराणि का है, जो बहुसु-अहणु कहरों में नाबता प्रयक लपटी के घर के नीचे से घारे दिन और घारी उधि गान बरछा हुआ अनन्त में लीन हो पाता है । भारतीय

मरपेट भोजन नहीं निकला है उस लड़की का मुँह बसबस ही में क्लान्त नहीं होया तो और क्या होगा। और कबि व रसिक कोय क्लान्त हुकी दृष्टि को बन-हुरिनी की भीव दृष्टि ही समझये। पाला पकटी हुई ठंडी रात को जो लड़की केवल पोली-पाउन पहन कर बाहर घूमने निकल पकटी है उसका मतलब पैसा कमाने का ही नहीं होता है। उसका मुँह देख कर ही समझ में आ जाता है कि न उसके छूटने की कोई अपहृ है, न उसके पेट में एक टुकड़ा बीर का पका है।

आज के बलमान युग में आर्थिक विपमता की बोर कलमरुघ है। कितने ही प्रसन्नचित्तों ने मन में ऐसी प्रथियाँ डाल दी है जिनके कारण प्रीती और बरती की बिबन्धनाओं को छुकर न तो मनुष्य की बिधिष्टता के प्रति आस्थावान हुया जा सकता है और न उसमें आत्मबिश्वास ही बिकसित हो सकता है।

सोहो और अपरा' में मुक्ति एवं आजादा के ब्यक्तित्व में केवलक ने एक और तत्व का बिकास बिलाया है और वह है प्रेमतत्व। जिनका प्रेम समर्पण है, प्रतिबाल है वह बिलपाव या बुरी नहीं बाहता।

भक्ति इतन रिनों से बौन्हा जाता पहिजाता और मन का देन-सेम किया उसे देने के लिए क्या कुछ रह जाता है ?

इसके बिपरीत आजता का प्रम-व्यापार और मानसिक संतुलन बड़ा ही बिबिन्न है। उसकी सम्मति में बिबाह प्राचीनों का आदर्श मसे ही रहा है पर उस समय के आदर्श आज बल्ल चुके हैं। बँधी परिस्थितियाँ और बातावरण न होने से आरनाएँ भी परिस्थितियों के अनुसार बबलती रहती हैं। आजेता के शब्दों में— 'भविष्य है क्या बिबाह ? मगर उसके लिए इतना कष्ट उठाकर पढ़ने-लिखने की क्या आवश्यकता की ? दरिद्रता और अस्तित्वहीनता के साथ बिबाह ? मीरस पुगानी सदी-गली बातों के पीछे पौबन की समस्त वाधा-आकांक्षाओं और अपने मिटा दिए जाएँ ? नहीं कार्य नये इंस का रास्ता पन्ज कर चलना होमा।

फलत आजेता का प्यार अनुशासन के रास्ते आड़े आमा न कमी अनुशासन ही इतनी एकांगी हुबा कि वह परिस्थिति बिसेप की आवश्यकताओं पर हाकी हो उठता।

सोबिध मन के नैपयमूलक आवष्टन एवं परिवेस के परिचामस्वरूप मस्तिष्क की प्रपति में जहाँ हुरम बहुत पीछे छूट जाता है और ब्यक्तिक कुष्ठर्यों से फिर कर आदर्श और आचरण में बिचार और मनन में यहाँ तक कि पहले सबकी बाती हुई परम्पराओं से सबका मिसल नये बिकासकी मार उम्मुग होता है ता बिन्दनी की मायताओं में प्रयस और अप्रत्यापिन रूप से परिवर्तन हुमा करता है। बांटा और अपेसा के दो कूत-क्रिया के मीधे य मायताएँ टकराती हैं।

मुक्ति के प्रम के प्रतिबान में क्या देना बाहनी है यह आजता ? बातिर क्या ? उसकी बयनीय बिपन्नता की कुरना बयबा अपनी रिबतता की सहामुक्ति ?

कुछ समय में नहीं आता ।

रक्तराग'

देवेशवास की अत्यन्त प्रौढ़ कृति 'रक्तराग' इनकी प्रयोग-वेधना का सफल प्रतिनिधित्व करती है। उपन्यास का प्रारम्भ सैनिक बाठावरण में होता है। सैनिकों की जिन्दाबिस्ती और हँसी-मजाक की प्रकृति में जीवन की ना-ना रोमांचकारी घटनाओं का ऊहापोह तब आकर्षण की उद्दामता और आह्लाद में डूबा रहता है। सैनिक जीवन के कितने ही अनुभवों और यथातथ्य घटनाओं का समावेश उक्त समस्या में हुआ है जिसमें लेखक सिद्धहस्त है।

कथा-नायक देवल सिन्हा मिठा नाम की सड़की से प्रेम करता है। पर चूँकि वह मुखर नहीं है उसका गभीर प्रेम गई निष्ठा की बन्म देता है। सच्चा प्रेम ऐसा बट्टू अविच्छिन्न तार है जिसे तोड़ कर दो टुक नहीं किया जा सकता। मिठा से दूर रह कर देवल में और भी अधिक विश्वासअस्य स्थिरता आ जाती है और मर्यादाक कसक भिय वह सैनिक जीवन में भी छके-छिने मूक भाव से प्रेम की लौ बगाए रहता है।

मुखर प्रेमियों को जिन्हें बनायास मनचाहा मिल जाता है हृदय पर सभी टेष का अनुमान नहीं होता। प्रेम और प्रेम के रंगीन फन्दे उनके लिए बिलबत्स ग्रँद साबित होते हैं, पर उनकी रातें निद्राहीन नहीं होतीं उन्हें ठोकर नहीं मगती और उनकी भावनाओं से लहू नहीं टपकता।

मिठा या देवल में प्रेम का उबछापन नहीं है। गहराई में उतर कर भावना रमक बाबेधों में उनका मन उफनता भी है तो भीतर ही भीतर। बाहर उसका एहसास नहीं होता। केवल उसकी कसाई में बँधी बड़ी की भीमी टिक-टिक उसके अन्तरंग प्रेम की छापी है और बड़ी के डकन के भीतर रखी प्रिया की प्रतिच्छवि में उसके मन को बाँध रखने का साधन है मानो वह उसे बिछाहाण न होने की अहनिश प्रेरणा देती रहती है—

"देवल ने बाम कसाई पर बँधी बड़ी को अपने से बिपटा किया। उस बड़ी के पीछ डकने के भीतर एक छोटी सी छवि थी। यदि कोई कर्मक मया तो यह छवि उसे सान्त्वना देनी और सहायता करेगी। वह अकेला नहीं है।

आतुरता तुप्पा कल्पना अनुमृति—देवल के प्रेम-सठ की बड़ के तनाम सूखम ठलु मिठा में लिपट गए हैं। बड़ी के रणधों में छाँटों की मम के साथ एक मोहक आकाशा जयती है जिसमें देवल को मिठा की आबाड डोळती सी छयती है—'यह बड़ी टिक-टिक करती समय बतान के साथ ही मदी बातें भी तुम्हें बठाती रहेगी। तुम्हारे साथ यह मेरा बिब रहेगा। यह बड़ी तुम्हारे मन में और कोई बात जानें न देनी। मैं आज संध्या को तुम्हें छोड़ कर जा रही हूँ किन्तु तुम यही समझना कि मैं सर्वदा तुम्हारे साथ हूँ।'

विदा के समय बड़े हुए मिता के ये उद्बोधन वाक्य मानो बेवस के अन्तर का पीठ बन गये और प्रथम-गीत की निष्ठ छठी प्रतिभ्वनि उसकी भीतरी पुकार की गुंथ बन गई ।

मन की यह माननात्मक प्रतिक्रिया उसे एक हब तक चिन्तनशील बना देती है और उसके समस्त बाहरी जिया-कलापों को प्रभावित करती है । फिर भी साधु कमानक नायक के केंद्रीय व्यक्तित्व के चतुर्दिक् बुना गया है । मिता की याद और उसको प्रति पस-पस महसूस होता आकर्षण उसकी जीवनाभित प्रभुति है, जो उसके विचार-प्रवाह को प्रभावित करती रहती है ।

इसमें किंचित् भी शक्येह नहीं कि प्रबल प्रयोज्यवाह के मकामसे देवक के सौम्य जीवन में विद्रूप एकरसता भी अथवा समंकर उपस-गुणक । उपासीनता और सूनेपन के मारी बोझ के बावजूद इस एकरसता अथवा उबकपुनक में भी उसके भीतर एक निष्कलन दाह थी जो बौद्धिक अनासक्ति जगाती थी या बाहू की ज्वाला को मजुर स्मृतियों की स्निग्धता से मोसजोत कर देती थी ।

मौन आचरण की तह के भीतर एक गुप्त विज्ञान आकांक्षा छिपे हुए भी देवक में साहस की कमी नहीं है । बौद्धिक स्तर पर वह बेहूब ईमानदार है । उसमें कोई पूर्वा-ग्रह नहीं कोई संकीर्णता नहीं नियम का आग्रह और बाहूकार भी नहीं है । दृष्टि की पीठ गहरी है और उसमें काम करने की स्फूर्ति और सामर्थ्य है । मुझ की अथक और रोमांचकारी परिस्थितियाँ भी उसे विचलित नहीं करतीं । ऐसे अवसरो और बोझिल दार्श्यों में व्यक्त किये गए उसके विचार और उठाने गए ऋतम उसकी क्रियामक गति पीकता और हर क्षण में गई राह हूँ इने की प्रेरणा के परिचायक हैं ।

कासास्तर में देवक आई एन ए का उच्चाधिकारी हो जाती है । मिता भी निष्क्रिय होकर नहीं बैठती । असंगत घटनाओं और परिस्थितियों से समझौता करने के अविद्यमान प्रयत्न और सपनों के बीचन में वह अंधेरी सेना की 'आकाई कमांडर' हो जाती है । राजनीतिक विचारधारानों में इतनी घोर विषमता होने पर भी जब देवक और मिता की अकस्मात् भेंट होती है तो द्वारे-जके अन्तमन में गुलु कर लेक रही महस्वाकांगार्ण पर्वतरांग से गिरते प्रबल बेवमान प्रवाह के समान अभी भी उठी बेव से मन के तटों से टकरा रही है । दोनों के मन में संघर्ष हो रहा है और आधिर मिता ने देवक पर विरवाह करके बचा ही तो बिया कि क्या बात है और कहाँ उसका मन रमा हुआ है । देवक की निराशा अवरम हुई थी किन्तु आश्रोज नहीं । पूजा भी नहीं । मिता के प्रति गहरी इच्छता का मान तब भी बना ही रहा । मिता न उससे कहा था— 'प्यार—परी मयार्थ तरब है । प्रतिदान न मिस्तन से कोई दति नहीं ।'

देवक का प्यार तो और भी गहरा है । घरीर की स्पूक कामता से परे । बिना मूरम टम्बुओं से जीवन की आकांक्षा बुनी जाती है । ये मद्यपि छिन्नमिन्न हो गए थे बचापि मिता का आश्वासन और सहजुमूति उन विरिष्ठन टम्बुओं को धीमे से पाम

रहने का आग्रह करते हैं।

'अंधान् तुम्हारा भला करे, देवता ! मंगल करे ! मेरी बात याद रखना । जाओ अब जाओ !' मिता न अपने हाथों से देवता को अंधकार में डेर दिया । अंधकार ऐसा था कि हाथ को हाथ दिखाई नहीं देता था । नर्तों का कुछ भी नहीं देखा जा सकता था । वह अंधकार समस्त जीवन में छाया हुआ था । सारे मन को डके हुए था । उसी अंधकार में मिता पीछ सड़ी रह गई ।

बीर रह गए उसके नेत्रों में भाँसु मन का स्वतः ।

बीर इसी निबिड़ अंधकार में देवता की उत्तमा नाम की रमणी से मेंट होती है । दोनों का देर तक साथ रहता है बीर उत्तमा देवता की बीर भाकपित हो जाती है पर उनके पुनः कंधों जीवन म देवता ने जिसे प्रथम प्यार दिया उसे मन से नहीं निकाल सका । कोई आग्रह नहीं चला । मिता का आग्रह भी नहीं बीर उत्तमा की अनुमति भरी कर्म युक्ति की देवता प्यमा भी नहीं । देवता ने बुद्ध निरक्षय कर किया—'मिता को जो बचने मन दिया है वह मिता ने नहीं लिया है । किन्तु उसे देवता पर भी उसके मन के अन्तर उसका सब अधिकार समाप्त हो गया है । संसार में अब बीर किसी के लिए उसका मन बिल्कुल बाकी नहीं रह गया है ।

कीटव्यास के परचातु देवता में विद्या की देखा जाई और देवता ने बहिष्कृत रह कर सभी से विद्या ले ली । मिता की प्रयत्न निवेदन भरी निष्कम्प भाँसों से विद्या उत्तमा के मीन कोयल आग्रहों से विद्या बीर उसके अपने सीने में खोर-खोर से बोकलु होकर धड़कनवासी प्रथमाकोशाओं से विद्या । सभी विद्यापती बँस पाइय बनने लया । देवता को लया "मानो विद्याय में विद्याई का स्वर बन रहा हो ! मुषय नर में जमी निवेन निस्तय संख्या समा जायगी ।"

इस तरह की रिक्त संख्या देवता से क्या लेकर जाएगी ? देवता ने निमित्त मर सोचा । केवल निमित्त मर । उसके बाद उसने अपने को स्वामाविक रूप से मंत्रवृत्त किया । वह बीर है मोखा है वह हार सकता है, पर हार नहीं मान सकता । जीवन के साथ भाग्य के साथ लड़ने की शक्ति होता ही उसका सबसे बड़ा ताकत है । यही सबसे बड़ा संयम है । नहीं उसकी संख्या रिक्त नहीं है, वह रस्तारय से भरी है ।

इस उपन्यास में नायक बीर नायिका के चरित्र के अतिरिक्त बीर भी बहुत से आनुपंपिक पात्र चित्रित किये गए हैं जो कथानक के विकास में अनिवार्यता सहायक होते हैं और जिनकी बगहू से उपन्यास में अनेक प्रभावोत्पादक स्थल मन को मोह लेते हैं । पात्रों को ऐसे स्तर से उठाने का प्रयत्न किया गया है वही वे केवल व्यक्ति नहीं बल्कि सैय्य जीवन के अक्षय-भरण 'आइय' हैं । उसकी निरन्तर सीसत में पड़ी विधायी के उत्तर-बढ़ाव मुक्त-मुक्त और संबिधायक प्रतिनिधियों की कहानी—एक प्रकार से उनकी संतापिक एवं जीवन सम्बन्धी मान्यताओं की समझान का अक्षय प्रदान करती है और वह भी केवल एक बुद्धिजीवी का कोयल रख नहीं है, अपितु

उसमें तो मेरुध के अपम अनुभवों की सचाई बोझती है। देवेचदास 'इच्छियन सिबिस सबिस' के एक उष्ण पत्राधिकारी हैं अतएव उन्हें सैनिकों के चरित्र उनकी छोटी-मोटी मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों को पास से अध्ययन करने का मौका मिला है। अनेक प्रयोगों के हूब उन्होंने स्वयं दूढ़े हैं और मानसिक किंवा बौद्धिक से अधिक समझ और विविधतापूर्ण साध ही मनोवृत्तियों के उतार-चढ़ाव से मुक्त तथा बाह्य मापदण्डों से उद्वेगित होने से बचना बिलय रह कर नीरव अन्तर में सम्भर तथा मौलिक अन्तःप्रेरणा द्वारा उनकी जीवन-स्थिति और पति का निर्धारण भी किया है। यह पूछ जान पर कि उनके चित्रण के प्रयोग-स्रोत क्या हैं देवेचदास ने बताया था—

मे उन स्रोतों से मिलने की प्रयोग प्रवृत्त गहरी करवा जो आम तौर से लेखकों के प्रेरणा-स्रोत हुआ करते हैं। इसका मुख्य कारण है कि महज मिलने की वजह से मैं नहीं मिलता अपितु निरीक्ष्य वस्तुओं को मन में संजोता चमत्ता हूँ और उष्ण नित परिस्थितियों इच्छानी सुविधा या बदकिस्मती पर कैसा प्रभाव डालती है इस पर ध्यान करता रहता हूँ। उक्त प्रभाव समिट रूप से अस्तित्व पर अंकित हो जाते हैं और जब मिलान सगठा हूँ तो मैं ही प्रतीक उभर कर व्यक्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'रत्नराज' में सैन्य जीवन का चित्रण करत हुए कोई साध प्रेरणा मेरे समक्ष नहीं थी बल्कि उन सौम्य सुदृढवृत्तियों के बुल-बुल इच्छा-आकांक्षाएँ और स्वप्नों का सीसा-सञ्चा व्यावहारिक अनुभव मुक्त हुआ था जो सारे भारत में मेरे अधीन थे और जिनसे सैन्य जीवन के बारे में मिलने की मुझे प्रेरणा मिली। मैंने उन्हीं से जाना कि दूसरे सिपाहियों का मारत हुए, घबु द्वारा आक्रमण किए जाते हुए, बन्धन के लिए भागत हुए अपवा बन्दी बना किये जाने पर उन्हें कैसी अनुमति होती है। मैंने उन्हीं के मुह से सुना कि अपने परिवार के सम्बन्ध में वे क्या-क्या सोचते हैं जबकि समझे परिवार वालों पर ही उनका प्राप्त सबको एक समाचारों की कैसी प्रतिबिम्बा होती है और जब अपने प्रिय जन के अस्तित्व और माथी मुरदा के सम्बन्ध में कैसी-कैसी आकांक्षाएँ उठती हैं और क्याकर उनका समाधान होता है। बिगत महामुद्ध के समय जब जब मुझे मिलिटी में म जान का मौका मिला था हर जाति और धर्म के सैनिकों के साथ कंधे से बन्धा भिड़ा कर नाम करना पटना था साथ ही सैन्य दृष्टियों की कुरायव आदि सैन्य प्रविधियों का निरीक्षण करना पड़ता था तब-तब उनके अविष्ट अर्थ में आकर मैं सीध उनके आसन विचार, दृष्टिकोण और अनुभवों का समझने-बुझने को चला करता था। 'रत्नराज' में मैं स्वयं और अनुभवों से अंकित है वे मेरी नहीं उनकी हैं। यही तक कि मुझ और पारस्परिक संघर्षों का बर्णन मेरी अपनी कल्पना से नहीं बल्कि उनके द्वारा रोग तथा यत्राय संघर्षों के आधार पर हुआ है। भाग कवाचित् दस सगठ की अतःप्रेरणा बचना पागा न करे, पर मैं एक उष्ण अनुभवों की बागती है जिनसे मुझे सैन्य जीवन का और यत्न जिनसे मुझे संशय अनुभवों की घटनाओं और वातावरण के विषय करने की

जट-प्रेरणा मिळी है। जसे कि मने 'रक्तराग' की भावभूमि का उपसंहार करते हुए लिखा है—'इसमें बर्णित जटनाएँ एक मुझ सब कुछ उत्पन्न है। केवल इतिहास को साहित्य का मोहन दे दिया गया है।'

इस प्रकार सन्धी घटनाओं के समावेश में उपन्यास की महत्ता को कई गुना बढ़ा दिया है। सपना औपन्यासिक के माने सिद्ध की कल्पना की परिष्कृति और मौखिक उद्देश्यों की संवेदनारमक प्रतिक्रियाएँ जीवन के मूल्य समान मानाक्षपी और जीते-जागते चित्रों के रूप में उसकी समर्थ केवनी से उमरे हैं जिनमें प्राण-संचार है और विभिन्न मनोदशाओं की प्रचुरता का समाधान। घटनाबहिष्कृत अधिक नहीं है पर बर्णित घटनाएँ यथार्थ के समीप हैं और सैनिक जीवन में ऐसी घटनाएँ प्रायः घटती रहती हैं। सबसे बड़ी कृषी तो यह है कि उन्होंने इस सीमा में भी सैनिकों के जीवन को अनेक दृष्टियों से देखा-परखा है और अब-अब उक्त चरित्रों में अपनी कल्पना और सहानुभूति का रंग भर रखा है तो वे जसकी रूप में ही उनके सामने आते हैं। एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में देवेशवास ने कहा था — मुझे विश्वास है कि इस बौद्धिक युग में हमें भी बौद्धिक होना चाहिए और उपन्यास सिद्धते समय तो जीवन के प्रति बिल्कुल सच्चा और ईमानदार। बौद्धिक संवेदनाओं और भावार्थक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप मने ही मिथी संज्ञानाओं में गया रंग भर जा सके पर अपनी वास्तविक वास्तुस्थिति से उन्हें कंठे बिरुद्ध किया जा सकता है। मरी सम्मति में कथात्मक से वह व्यथत नहीं होता जो उपन्यास से बाहिर होता है। मैं यह भी सोचता हूँ कि पलायनकारी साहित्य आज के युग के लिए मजेपट नहीं है इसी प्रकार न ही अभिव्यक्ति साहित्य की अपत है क्योंकि जसम मनोविज्ञान के युग में वह अधिक कारगर नहीं हो सकता। जिस तरह के उपन्यास आजकल लिखे जा रहे हैं वे महत्त्व अभिव्यक्ति साहित्य के अस्तमंत आते हैं। पाठक को उनसे कोई निर्देहन नहीं मिलता। उसे अपना पय स्वयं खोजना पड़ता है कारण—आज का आख्यायक साहित्य इस नैराश्य युग में कोई प्राणघातक संचरित नहीं करता। यगास की ही मिसाल सामने रखें तो यहाँ अनेक ऐसे लोग हैं जो भारत-वाकिस्तान विभाजन से उत्पन्न सजटों मुझपूर्व अकास के कष्टों और बंगास में स्वतंत्रता आन्दोलन की समस्त परिस्थितियों के बारे में लिख रहे हैं। इसमें कोई संशेह नहीं कि मामनीय दुःखान्तों की सफल छाँकी अनेक बार उनके द्वारा प्रस्तुत की गई है। पर कोई घटा अभिष्ट चित्रांकन मुञ्जित नहीं कर सका। अभिव्यक्ति के कतिपय सफल-दुर्बल पक्षकों के अलावा विरलतन मुञ्जनीरूप-निमोजन का अभाव है। कथमन तीस आसीस काय व्यक्ति बंगास के अरास को मेट हुए, किन्तु एक भी अमर चरित्र की मूर्ति नहीं की जा सकी जो बर्ष से मिर उठाकर वह सके 'नहीं मैं मरना नहीं चाहता। बंगास में प्रायः ऐसा होता है कि बाज के दिनों में नदी का किनारा बहु आता है, वहाँ बसत पास कौन तब नदी के दूसरे किनारे पर अपनी कुटिया बना सेते हैं। जब दूसरा किनारा भी दूर आता है तो वे नदी की छाती पर आवास स्थल बनाने का साहस रखते हैं।

किन्तु हमारे सिद्धकों ने कोई ऐसा चरित्र नहीं आँका जो सिर उठा कर कह सके 'बाइ में बूढ़ने की अपेक्षा हम सुष्ठान में बहते पट्टों पर मया बर बनाना चाहते हैं' अर्थात् इस माने में हमारे आदर्शक के लेखक वर्चस्ववासी होने का दावा करते हुए भी जीवन के विवर्तन में स्वादिता साने में अटकल रहे हैं। तमाम साहित्य में दायप्रस्त रोमियों की छी करपोत्पादक सकार भरी पड़ी है मगर किसी भी लेखक ने ऐसा चरित्र सजित नहीं किया जो परिश्रम और उपचार की कठिन परीक्षा में स चाहस और त्रिन्दाविली से सूजर नाम और अन्ततः रोप का निदान हो सके।

अतएव लेखकों की समस्या मुठ कम में यह है कि वे क्यों नहीं अबन्ध विरवाध के साथ बहु सजित बहु विराद् जीवनपोषक प्ररणा उत्पन्न कर पाते जिसके बिना साहित्यिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अपनी लिखने की सचाई को वे विस्तेषयात्मक बुद्धि से अनुभव करें, मूहरे पीठ भीतर आत्मसात् करें, सही ढंग से जीवन क विकासोत्पन्न सत्तों को झूठी आत्मसत्ता से नहीं बरगुं सक्रिय सूत्रनात्मक सक्तियों से उद्बुद्ध करें ताकि साहित्य और कला की पूर्ति हो साथ ही उन्हें मौलिक और मूख्यवान् उपसम्बि से अनुप्राणित करने वाले सत्तों से भी सुसम्पन्न किया जा सके।

सचमुच हम कुछेक प्ररनों का हक ही आज के साहित्य की समस्या बना हुआ है जो मध्यवर्गीय उच्चतनों यकानों कुंठाओं और वर्जनाओं के मध्य से ह्यासोन्मुख नि सत्त साहित्य के खोजने पर 'दिकेरेट' अर्थ-सत्तों के धिक्कार दाय मानस के संकीर्ण बेरे में बन्धी है। निष्प्राय आदर्शों को छाती से थिपकाए रह कर हमारे आज के साहित्यकार जिस सत्यबरोध के यदे में बूब-उठरा रहे हैं उससे उनके बौद्धिक विस्वास खीन होते जा रहे हैं और उनकी सहुत्र प्रकृति प्रतिक्रियावासी कस्तित धारणाओं के मल-सबर्जन में वास्तविक सत्त को विह्वल कर रही है।

देवैसदास ने प्रतिपाद्य विपद के साथ-साथ साहित्य की उद्देस्यमूलकता की चर्चा की है। किन्तु उद्देस्यमूलकता का अर्थ है सूजन बेतना की स्फूर्ति और आत्मा का उन्मेष। केबक किताबी गुर जानना ही आवश्यक नहीं है, क्योंकि इससे साहित्य का प्रयाजन सिद्ध नहीं होता न ही प्रस्थापित एवं प्रस्थापित मङ्गलीसि नाओं से विन्तन प्रमासी का पुर्ण सामंजस्य ही पाता है। साहित्य सत्ती बारेबाजी नहीं है, उसके सूजन के लिए मन्मीर अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। जो अनुभूत विषयताओं की सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्तों में समोकर और बुद्धि द्वारा विस्तेषित कर अपनी मन्मीर पकड़ और विन्तन की मौलिकता को साहित्य में प्राणाश्वित कर जाते हैं वे ही मनपक आग्नेवी हैं और उन्ही के सूजन की पार्श्वकता है।

राजसी

देवैसदास की दृष्टि सामाजिक है शैवस्तिक नहीं। वे विकासशील परंपरा के हामी हैं और यही सत्य उनकी कृत्तियों के सामाजिक धारका निर्धारक है। राजसी में देवैसदास जिन निघणों पर पहुँचते हैं वे हमारे सवात्मक स्तर को छूते हैं।

उक्त कलाकृति में स्वयं इतनी मूर्तता और प्रेयणीयता विद्यमान है कि वह सेसक की कल्पना के सम्मोहन से जीवित हो उठी है। उसकी सेसनी बनेक स्वर्णों पर मानों बाहुई छड़ी बन कर स्वर्ण से मुर्णो-मुर्णनी अरीत की घटनाएँ सजीव करती चरती है। बहुविध प्रसंगों के विवरण प्रस्तुत करते हुए मन जब खंड-वर्धन में उतरने लगता है तो पुनःकरण के प्रयास में एक विज्ञासा के पीछे चलने लगता है। किन्तु वीरसुख एवं विज्ञासा में विक्रमने का भी उसे अधिक मौका नहीं मिलता। भावना में तस्मीन और रसानुभव करने वाली उसकी धीवरी चकितियाँ बनेक स्वरों का उच्चाटन करती हैं और तब कितने ही संस्मरण पुरानी पिछली बातें और स्मृतियाँ जीवन-मय की अमित रेखाएँ बनकर सामने दिख जाती हैं—“भेने मरूमि में भूमते-भूमते पापानों में कान छपाकर उनके अरीत का रेंपा रोवन मुगा है। सुनी है बिरकार के रजवाड़े की राजसी कहानी। उसे आजकल की पटमूमिका में केबल थोड़ा-सा नया कर दिया है। एक हजार वर्षों के बाद वैध स्वाधीन हुआ है। नये जगत् में नये पथ पर उसकी वाता प्रारम्भ हो गई है। आज बकरत इस बात की है कि चकित और प्रताप की तरह कड़ाई न करके एक जगत् पर भाई भाई होकर रहें। आज कितनी बकरत है सवाई जयसिंह की तरह बाहर पृथ्वी से समस्त नई बिद्या को अपने देश में ले जाने की पृथ्वी के समान देश में विपत्ति पड़ने पर पुनः के साथ लड़े होकर सलाह देने की। एक दिन देश राजाओं का चिरबरे वा। आज उस पर हम सब लोगों का समान दायित्व है। त्याग और साधना में सभी को जुट जाना है। जो मुन और बीरता हम केवल राजराजियों में देखते हैं उसे सब में पहुँचा देना होगा। जन साधारण ही इस युग के राजापानी है।

राजस्वान के रंगमहलों की कहानी पाठकों के लिए नहीं है पर सेसक का बहुत अनुभव पर्यवेक्षण-शमता और संरक्ष्य अतिथि में अनुभूतिमयी अभिव्यंजना की साप्यमरी अंतिमा है जिसमें भव्य भाव को महिमा के वर्धन होते हैं।

“अकेसे काधिराश ही नहीं हमारे दर-दर में कलान्त अकवियों का एक मेघों को देख कर अनमना-सा हो उठता है और प्रयसी के निकट पहुँचने के लिए ब्या कुल हो उठता है। और यदि वे दूर बहुत दूर हुए तब ? इस दुस्तर मय क उस बार ? उसके भी और धागे—बहुत दूर।

प्रेयसी यदि दूर दुर्गम पर्वत की चढ़ा पर है तब ? किले के शरोसे के पास बैठ कर बिरहिनी बनेरी रात में दिया जलाये बैठी रहेगी। थोड़े पर वायुसे से जयका प्रियतम ब्याकुल होकर जाता होगा। उसकी प्रतीक्षा में वातायन के पास बीपछिवा के अतिरिक्त दो मन भी उसे कहीं लोज रहे होंगे। किन्तु यदि मिलन न हुआ ? बिरह-सागर की सहरें उन दोनों को अलग ही किय रहीं तब ?”

सेसक ने ऐसी घटनाओं और सजीव दृश्यों को कबामुन में घूँसकर रखा है जो रजवाड़े के रूप-विकास और परिवर्तन का समुचित मूल्यांकन करते हैं। आज बहुत कुछ बदल गया है, किन्तु यह नई दृष्टि बड़ी ही जलज और मौलिक है।

मीनूदा वस्तुस्थिति और व्यक्तियों को अनिवार्य मानकर केवल परिवर्तन के तथ्यों को ही स्वीकार नहीं किया गया अथिउ राजस्थान के अतीत जीवन के बहुत और विराट रूप का निर्देशन और सारी प्रगति के लिए वास्था का स्वर भी है। नयावस्तु की सामग्री राजस्थानी परम्पराओं और वहाँ की भाषा-मर्यादाओं पर आधारित है। शासक-शासित कीम-हीन और अनिवार्य आर्थिक एवं सामाजिक विपन्नता साम्राज्यवाद और सामग्री घोषण की शक्ती ही सिद्ध इसमें नहीं है बल्कि इनकी अन्तरचेतना परिस्थितियों से ऊपर उठकर जिन आवश्यों का निर्माण करती है उसके प्रति यह अविचल याव ही इनके इतिहास का प्रकाश-स्रोत रहा है। छोटी-छोटी चीजों में इनकी घट्टि रमी है यहाँ तक कि राजस्थानी बालू और रेत के टीलों तक को ये नहीं भूके हैं— 'चोड़ी-चोड़ी दूर पर बालू है बड़े-बड़े दूहों की चोटियाँ भर दिखाई देती हैं। वे भी कद बालू भरी हवा के साथ फिर उड़कर चले जाएँगे और गया बूह बना लेंगे इसका ठीक नहीं। सरकार ने यहाँ कुछ ककड़ पत्तर बिछाकर एक रास्ता बनाया तो है, किन्तु मरुभूमि उसके ऊपर हँसते-हँसते बालू के डेर के डेर जमा कर देनी है।'

इस प्रकार राजबाह की शक्ती इन्होंने सबाँकीन मराठक पर प्रतिष्ठित की है। अपने खेदान में इन्होंने सिद्ध उलने ही पैमानों का प्रयोग किया है जिनकी सबाई का अपने विस्तृत अध्ययन के क्षणों में इन्होंने सासात्कार किया है। फिर प्रसंगों का चुनाव और संधान भी इनकी उदात्त रुचि का द्योतक है।

'अध्यासि'

अध्यासि देवेरावास का व्यंग्यमय उपन्यास है। आज का व्यंग्य कुछ अविन श्लेष मकोकवी एवं प्रतिश्रियात्मक भावनाओं का मकोक हो गया है पर इनके व्यंग्य में ईपन् उर्पसा विरोध एवं रोमांस का ऐसा सूदम संतुलन रहता है कि कोई एक हृत्का शकता भी रसमंग की स्थिति उत्पन्न नहीं करता। इतस्तत् व्यंग्य की कुलशक्तियों मन को आहूत नहीं करती प्रयुक्त मयत उपहास पागला श मन का मुग्ध कर लेती है। इसमें स्पष्ट-रूपक पर व्यंग्य हास्य की बड़ी सौम्य सुदृशियाँ है जिनमें उक्ति-नोदस के साथ-साथ जीवन की छामियों पर पैनी और बयन दुष्टि वाली रू है— "मीड़ उँ गई। चारों तरफ पुष्पों की साँतें कगालों की तरह रिचियों में उँ दू डूरी फिरती थी।

"और रिचारी हस पड़ी और उगक सामने राड़े ठपों के हृदय में एक महर थी शी- रू।

आधुनिक सभ्यता मध्यकाल के विभिन्न शक्तियों की ममत्रोरियाँ जीवन की घट्टि गृहियों के बीच उत्पन्न विनामी सामाजिक संघर्षोंक किन्तु हाम्यात्मक परिस्थितियाँ जनता समाज और राज के प्रति जागरूकता के अभाव में पतनोन्मत्त पदना अद्विष्ट सामाजिकता विनाशकारीता और विगमना के पर्विले मुपार की विद्या में फेला नारायणपा भाविरहार्थ और इन्द्रात्मक बनमङ्गल उन्नीहित विनी-

विवाह की अङ्गभङ्गों के अन्तर्गत अथवा से उद्भूत अज्ञानोह और अज्ञानों को—आद्यावरण का शीघ्र ही खोखलापन यत्र-यत्र सम्मता का पर्याकाश करता है। औरतो के स्वभाव शत्रु ज्ञान मनोवृत्ति कुण्ठित मोह-सम्भवा मान-अपमान और मान भजन के रोचक प्रसंगों पर विवाहवरी रोचक छीटाकरी है जो मन को मोह लेती है। विवाह पर यह बचक व्यंग्य—“हे मेरी अम्निचितसे ब्याह-ब्याह सब बपला है इसमें अपरिपक्व मन की ब आठी है। उसकी मर्बाबा भी बहुत पहले ही गप्ट हो चुकी है। तबी-माने सयोग के कारण ब्याह की लूच जाती और बहुकर्मियों की भी धूब जाती। फिर अमान मानस-कर्मियों का आमया। पर वह युग भी बख मया अब इन करमी का युग है।

अत्यधिक प्यारपरस्त आधुनिक स्त्रियों पर निम्न कटवित का प्रयोग किया गया है—

“आरकक की आधुनिक स्त्रियों से जो पेरिल से लेकर न्ययार्क तक पैमान का अध्ययन करती रहती है किसी ने कालिदास का काव्य पढ़ कर यह मही कहा कि तुम ऐसा करा। फिर भी उन लोगों ने समझ लिया है कि जब बस्त्रक से अकृत्यता छत्र सकती भी तो बराब कटी हुई और चीन तक की चौधक भी मंसहाहता के लिए मुम्बर हो सकती है।

एक अन्य उद्धरण में—“स्त्रियों को अब कुछ माँगना हाता है ता के पले की आबाब बीमी कर लेती है। पर जो ही उन्हें मालूम होता है कि बार सामी गया त्यो ही उनका स्वर पंचप पर पहुँच जाता है।

एक पात्र कहता है—

“अर्मपत्नी का अर्थ है, सर्वाधिकार सुरक्षित नयनी-सटकन से सुचोमित या यों भी वह सपने हो नय-नय घोमित पू बट वाली जिसे सोच बहू कहे हैं। विवाह के बाद लोग इसे नहीं पाते क्योंकि वह घर की माककिम और सास की पुत्रवधू है। यदि उसकी बात याद आय तो रोना ही आता है।

नीहार न अपने साबियों को देता फिर बोला—अर्मपत्नी को यों समझो कि वह एक अतिशील बोक है। यने में हँसुनी नहीं हार ओठ पान के कारण छाल निरु की मीसी छाड़ी पहने हुए, बरों में बिष्टुर्जा की मुनमुन और महाकर का रंग। घर में वह राज करती है, पर के सारे कामकाज सीमाकती है उसने छाड़ी तो हो सकती है पर प्रेम नहीं।

पर जरे मई बाइक वह तो हम लोगों की लाइफ है। वह पाम गह कर भी दूर और निजट रहने भी दुप्याप्य होती है। वह वाजेट और मंगक पहनती है। वह सवरे से शाम तक लम्बे बड़ाकर बसाती रहती। प्राय-जाल क घोषिम से लेकर विनेमा तक वह विन्बगी की बहार मूटती है और बचाय पति मटता रहता है। यत्र से जान से बहक हैक जीविए कि नहीं फुटवाल मंच या कोई एसी बात है

दूरत मोहमयी अर्थात् मूढम प्रक्रियाओं द्वारा उद्विग्न होता रहा है। कवि ने लिखा है, 'पर्वत-प्रवेश के निर्मल अंपक सीदयं ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सीदयं का आस बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बर्फ की ठंडी चमकीली थोड़ियाँ रहस्यमय शिखरों की तरह उठने लगी थीं जिन पर लड़ा हुआ नीला आकाश रेगमी अरबों की तरह बर्गों के सामने फहराया गया था। कितने ही इन्द्रबन्धु मयी कल्पना के पत्र पर रंजीत रेखाएँ खींच चुके थे विचित्रियाँ बचपन की आँसों को बचाओ कर चुकी थीं ऐनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा के जाते और सर्वोपरि हिमाचल का आकाशचुम्बी सीदयं मेरे हृदय पर एक महान सन्देश की तरह एक स्वयंस्मयी आरध की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द सौन्दर्य तथा तप-पूज पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।

कवि के समस्त प्रकृति हर मोड़ पर गम-अये रूपों में आ जाती हुई है। प्रारम्भ में उसके अन्तर्गत का उन्माद और उन्माद प्रकृति की सीदयं-सी से मुझरित होकर वाक्यभारा में प्रसरित होता है। उसका उन्माद रसावग हर दृश्य वस्तु, हर आकर्षक और 'मुन्दर' में रमना चाहता है। फलतः उसके उन्माद और हृदयक मेरे मायावैय कविताओं की ओर-ओर में भीने है। उसके काव्य-मूजन के मूल तत्व 'सत्य-धर्म-मुन्दर' जो उसके प्राणों में अस्तित्व अवाते है उस समय 'मुन्दर' से अधिक प्रभावित है। स्नेह और अन्तराग मेरे मीठ अपने हृदय की मधुर सिहरन और किसी अज्ञात रूपकी का बिलगा रूप उसकी उन्माद केतना को विभूषित करता रहा है। वाता यन-यव से उठने वाली भीतर स्निग्ध सौरभरक सरीर की हल्की-हल्की अपकियाँ अगुदिक विजयि वृत्त्यावली अर्वाज-अम्बर की अर्वाह मपमा और जीवनमय उन्माद राग कवि की अरूप वृत्तियों से तद्रूप होकर उसके अन्तर्गत को एक विचित्र संकति से भर देती है और वह तन्मय होकर या उठता है

येकलाकार बजत अपार,
अपने सहस्र रूप-मुमन काइ
अबमोक रहा है बार-बार,
नीचे जल में निज बहादार
त्रिलोके परबों में पला ताल
वर्षम सा पैला है बिराल।"

कुछ समय तक कवि का चित्त इस हृद तक प्रकृति में उदात्त हो गया है कि वह उसकी मूढम से मूढम बढ़कर सुना करता है। प्राकृतिक मुपमा में अत्यन्त उसका हृदय सहारा है और उसका सुग-बुत अवाज-सौरभ विचार-आवनाएँ, यही तक कि अपने अस्तित्व तक को वह उसमें विलय कर देना चाहता है। न जाने कब के कहीं के अमूर्त अस्तित्व उलझ हुई मूत्र उसके अचचेतन मन में अनीमृत होकर प्रकृति की आवाज में बिलत जात है कि वह हठान् दूरत्व या पार्वय की नुहैतिका भीर कर

उसके सीमाहीन सौन्दर्य में ली जाता है। प्रमातृ का बूझर आलोक और बाह्य-रश्मि की रश्मियों से रंजित प्रकृति का अत्युन्नत प्रसार तथा पक्षियों की मधुर ध्वनि अन्तः प्रेरणा के क्षणों में उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर लेती है जिसमें बिभोर अन्तर्भूत आनन्द की पूर्णता में उसका मूक स्वर उद्बुद्ध हो उठता है।

‘स्वर्ग सुख की सौरभ में मोर,
विषय की देती है जब बोर,
बिह्व-कल की कल-कंठ हिलोर,
मिला देती मू-भ्रम के छोर
न जाने अलत पलक बल कौन
पोक देती तब मेरे मौन।’

समीरण का प्रत्यक्ष हृदयन जब अगाध अन्ध को लुब्ध करता हुआ बुद्धुलों को बिभोर-देता है तो किसी अपरिचीन अगवध स्वरपथि की स्मृतियों को शक होरती हुई सहर्ष पुनःचाप कवि को अगाध संकेत करके बुकाती है

‘सुख्य अल-निपारों को जब बात
सिन्धु में मग कर केनाकार
बुद्धुलों का ध्याकृत संतार
बना बिचरा देती अज्ञात
पठा तब सहर्षों से कर कौन
न जाने मुझे बुलता मौन ?

यहाँ तक कि पंथ की सूक्ष्म सौन्दर्यप्राप्ति कृति छाया बीधी अक्षय वस्तु में भी रमती है

‘किस रहस्यमय अमितय की तुम
सजनि ? मबनिका हो सुकमार,
इस अक्षय पट के भीतर है,
किस बिबिधता का संसार।

किन्तु ‘सुख’ में भौतिक पदार्थताओं से टकरा कर कवि की कंसोर माधना का सौन्दर्य-स्वप्न जैसे विश्रुतल हो गया। जीवन काफ में जब अज्ञेयी की रशीनिर्या बंधझाई लेती है रण रण में गये ताजे झौलते सून की गरमाहट होती है और प्राणों में अन्मात्रक स्पर्दन हिलोर लेता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कुछ और का और हो गया है, परन्तु कारुण्य के प्रवाह में जीवन के मबिराम स्वर पर पछते-पछते उसकी अलसायी पिड्डियों में कम्पन होता है पीड़ा का आश्रय गहरी सूखता में ली जाता है वह प्रतीक्षा में निष्ठ रहता है, पर क्या कभी जीवन पुनः झौंकर जाता है ? अपनी अनुभूति की अनुनौयिता से माह्व होकर उसने अपने बिलग का संभ विकसित कर लिया और प्रकृति के माध्यम से असीम वेतन तक

मनुज रोशनी पंखड़ियों के से बँय —

वे हताश करते बीजों को
ती रंजों म बिहूँत एक सँब !

मिःस्वर शोभा मकर गीत बन
गूँबा करती बन बन पपवन
मपुकर में भर प्रीति की उर्वेत ।

एक अग्य कविता में रूपमृग्य कवि महिमामय अचिरमय सीन्दर्य में बृहत्तर
मादघों की चरम परिपति प्रोजता है

में कृतज्ञ मन अग्यकार को टोह मनुज्य
तुम प्रकाश संमुक्ति बन करते पप निरघन
भाव बुद्धि प्रेरणा—ब्रह्म क्षेणियाँ पार कर
तुम सम्मय हो बनते घ्रायत मुज के रूपन ।

प्राण, बन्ध तुम रजत हरित ज्वारों में उठकर
मात्रा बाजसा के मोहित केनिल त्वापर
बन्धकला को बिठा स्वप्न की बवाल तरी में
तुम बखेरते रत्नछटा ज्ञानम्ब तीर पर ।

प्रेम प्रपत हूँ मेरे हिल तुम बने चराचर
ज्योति मृग्य हूँ तुम उज्ज्वल उर मुकुर अगोचर
शांति बेह मन को तुम सात्त्विक तीव्र अनन्तर
प्रिय मानम्ब छन्द तुम मेरे, आत्मा के स्वर ।

उनकी मध्यतम कृति 'कला और बुद्धा चीन' में बाज की बहु प्रचलित प्रयोग
बायी बाघ से टकराकर भी कवि की कविताओं का सम्मीहल और मार्भुय ययों का
रयों असुज्य है केवल बौद्धिक महनता और व्यापक अनुभूति के संसर्ग म सघकी काव्य
बेतना के उत्तर्य को तथा माड़ दिया है । बिम्ब योजनार्थ और चित्रात्मक प्रतीक भी
अपेक्षाकृत सघ जमेरे हैं उनमें रैतांजनों का कोप और निगार अधिक गहरा है तो
स्पष्टता और चक्षि का समारोह भी है । सगता है जैसे परम्परागत प्रतिभावत और छन्द
एवं लय की विरल्य में छुटकर उतकी भावनाएँ जांतरिक प्रवाह के रूप और पति पर
बिरद रही है । अमिष्यवित्र का मध्यम या भाषा है उसके अनुगासन म बहु गही
अपिनु भाषा स्वयमब उनकी अमिष्यवित्र को एकमात्र उपलभ्य तथा पुरी है जो
स्वय बलाकार के लिए वापने लगती है और बमणित रूप-स्वरूप उभार कर पूर्वत
मंवीत म परिणत हो जाती है । पर चित्र—

“यह भीत
अंतःकरणों एवाच बुद्धि है,

जिसमें अनन्त सुखन स्वप्न
मगल रहे हैं !”

एक अन्य स्वप्न पर कवि स्वीकारता है

“प्रेम जानम् और रस का रूप
बदल गया है ।

हृदय

छाति की स्वच्छ अतकताओं में
लीन होता आ रहा है ।
विश्व कहीं जो गया है ।
कैसा काल ? अन्ध-भरण ?

ओ अन्धकसे

देखत अमृतत्व ही अमृतत्व
अनिर्बचनीय
अस्तित्व ही अस्तित्व छाप है ।

जिस अरूप अप्रित्य को पाने के लिए कवि का चित्त व्याकुल होकर इधर उधर भटकता फिरा और सम्पर्क की उपसक्ति में एक मोहबोस एक कम्पित हृस्कोल एक उमयता अक्षय्य या अन्तरात्मा के गहन पोषण प्रकोष्ठ में जो बुनिया की आर्षका भी वह बहुत कृष्ण साधना की सिद्धि में समाहित हो गई । रूपसिद्धि की छतों व्यापक संचितताओं से जुड़कर ऐसे चित्र उभारती है जिसके आलंकारिक आच्छेदनों में प्रयोग के बावजूद भी बँसी ही रूप-सन्धि और ऐश्वर्य-उत्पन्नता है और वैसे ही मार्दव जैसे ही छन्द-भोजना बँसी नहीं जो इनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में है । कविताओं की पंक्तियाँ कहीं उबड़ी-मुलड़ी और कहीं अचम्बक और अठरतीव-सी बन पड़ी हैं, फिर भी उनका आकर्षक प्यों का त्यों है

“ओ नील लक्ष्मी

ये बोलते पंख मुझे भी दो
जो गीत गाते रहते हैं—

और

वह मनु की बहुरी परस—
मे भी

मधुपायी बड़ान भर्कना ।”

भाव जो वैचारिक उत्तमाव और अन्तर्विरोध है उसको पचा कर आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता भी कवि में है । उनके इतने सन्ने साधना-काल में कितनी हानियों का रस बदला पुरानी जर्जर मान्यताएँ अक्षय्यभूर हुए, नई मान्यताओं की प्रतिष्ठा हुई, पर पन्त के जीवन-संघर्ष ने इन सभी विचारधाराओं के बीच समन्वय

का उन्धान किया है। कला के सापक के पास उसकी अपनी कला के मूल्यांकन की जो कसौटी है वह है—साधन। उसकी रसप्राप्ति चेतना के तंतु जागृत रहते हैं तो उसकी काव्यधारा का अमल प्रवाह कभी धीब नहीं पड़ता। यही कारण है कि कवि की हर दृष्टि में उसकी आत्मा का निमज्जन और एकारम्य भाव मूर्त हो सका है। कलाकार के अविनाश की स्थिति में जो उसकी साधना का सच्चा रूप है वह उसके सौन्दर्यबोध की अन्तश्चेतना के सस्पर्श से स्फुट हो कर, उसके माधुर्य को छू कर बिना काव्य की बल्लेधियों में मारों बिलरान-सा सनता है। निम्न संश्लेषों में कवि का बैसा ही मन्त भाव देखिए जिसके कारण उसकी काव्य-स्रोतस्त्रिणी कभी सूखती नहीं बरम् छलकते उल्लसित भावों की अनवरत सृष्टि करती बलती है

“सोक-चेतना के व्यापक
बपहुँके शित्तिय कुले है
दुम रचना के संकल के पंखों पर
उमकत बाय में
निःशब्द
बिहार करो —
छवों की पायलें
उतार रहा हूँ ।”

इस प्रकार नई चेतना का यह ज्योतिर्बीज जो कवि की भाव-सत्ता पर पनपा है उसकी जड़ निरन्तर ही अत्यन्त गहरी है और सिन्धु रसधारा से उसका अग्नि सिंचन हुआ है। इनकी बाब की कविताओं में भी एक खास रंगीनी है नई भावना नई सौन्दर्य-दृष्टि और नये रासायनिक संस्कारों के बाब नई शक्ति और नया उन्मास। कुछ कविताओं में राग का स्वर प्रमान है पर कुछ में मयाब की पकड़ गहरी होती गई है। इनकी कतिपय कविताओं की भीतरी संवीकारमकता वा हमारी विषय मनो-वशाओं के साब होने वाले संमिषय के कारण एक व्यापी संवेचना का संचार हमारी उपचेतन मानसिक बनस्का में होता है और तभी हमारी सौन्दर्यप्राप्ति प्रवृत्ति हमारे प्रवाहित होने वाले रस का आस्वादन करती है। कवि की काव्य-साधना में कष्ट कल्पना के पायाब नहीं है और न तर्क का अबरुपक हिमप्रवाह बरिनु उसके उर्वेनों एवं बोधक प्ररणाओं को ते चिन्तन की समतल घाटी में ले जाती है। चर्यों के माध्यम से व्यक्त होने वाले अर्थ जिस बिन्दु का निर्माण मन के स्तरों पर करते हैं उनही सर्वसंगठिता अधिक प्रायमान और चेतन बनकर प्रतिपाद विषय के सत्य को पहचानने की प्रत्या प्रदान करती है।

मानव-हित और प्रयोग की साधना के कारण उसकी भीतरी शक्ति तदाकार हो गई है और इस तदाकार तन्मयता से कवि का मन जैसे अविनाश हो उठे है

“म नृष्टि एक रच रहा मन्त
भावी मानव के हित भीतर ।”

निःसन्देह पन्त की सम्पूर्ण साधना अन्तर्गम्य सत्य के बाजार पर पाश्चिमी जीवन की सूक्ष्म वार्त्तिक परिपति में है। प्रारम्भ में उन्होंने जिन सुन्दर स्वप्नों को सँजोना वे जीवन के कठोर सत से टकराकर बिसर गये और पुनः बिराट् का स्पर्श वाकर उनके सारे दुःख सारे संघर्ष सीमा का व्यवधान मिटाकर शान्त से अमन्त में एकाकार हो गये। कभी प्राणों के अन्तः राय से उनके भीतर का मीन कौष उठा कभी अस्मद्वय जीवन प्रयोगों की आत्मसात् करके वे हठसंग हो सठे और कभी उन्होंने अगनी कला की सूक्ष्मता से व्यष्टि-व्यक्तित्व में सवष्टि का सामंजस्य दर्शाया। उनके सम्पूर्ण कवित्व में स्वात-स्वान पर उनकी बाह्यी और भीतरी वृत्तियों में उल्लास पैदा हो गया है। लौकिक और आरिभक जीवन में कष्टमण्डल थी रही है। कवि के अन्तर्मन का ऊहापोह कभी अघरीयी स्वप्नमय लोकातीत भावनाओं में परिष्काण्ट हो गया और कभी बाह्य परिस्थितियों एवं मानव दुःखों से उचका अन्तर चहलित हो उठा। कभी उसकी उद्भाण्ट चेतना निस्तीम सुषमा म जो नई और कभी जीवन के व्यापक सामंजस्य के मूक अर्शन में उल्लस उल्लस जाँसें मूक थीं।

अस्तुत पन्त की सुकोमल अन्तर्वृत्तियों में जो कष्टमण्डल थी है—वह न सिर्फ आन्तरिक अस्तु बाह्य प्ररकारों के कारण भी है। साहित्य-क्षेत्र में आलोचकों के जो जो दस हैं—कविबारी और मार्कसबारी उन्होंने सम-समय पर अपनी आलोचना से कवि के शोयस मन को लकसोटा है। वह स्वभावतः स्वप्नवर्षी होते हुए भी कुछ अंत-प्रेरणा और कुछ प्रवृत्तिमूलक आलोचकों के प्रबल बाह्य से प्रवृत्तिमूलक बना किन्तु बुद्धरे आलोचकों के दस ने उसे स्वप्नवर्षी ही बन रहने की प्रेरणा दी। कवि का सरल मन मयक स्वलों पर डिबिबाइसत सा हो उठा है और कसकी मिधर्नित आरणाओं की पूर्ण अस्मिभक्ति नहीं हो पाई है। कवि दाग अपने व्यक्तित्व और कला की आलोचना जो उसने स्वर्ग की है पढ़ने से हमारे कवन की वृष्टि हो जाती है और मन्तपूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि पर बाह्य प्रेरणाओं का दबाव अनेकावृत्त अधिक रहा है, यहाँ तक कि वह अपने जीवन और कवित्व की आलोचना भी उस उदस्वता से न कर सका बीसी कि एक आत्मवायक कलाकार को करनी चाहिए।

आलोचनाओं को पढ़ते हुए हमें ऐसा बार-बार लटका है जैसे पन्त भी ने अपने आलोचकों की आलोचना पढ़कर अपनी आलोचना किसी हो। कदाचित् वह उनके मन की सरकटा अथवा अधिक कामअवृत्ति के कारण हो उनमें अपनी आलोचना करते हुए नहीं-कही आर्यदकावा का भाव आ गया है। जैसे 'ये सर्मीला और जन बीक ना' 'ये अकृति को एकटक निहार करता ना अपना ऐसा ही भाव व्यंजित करने वाले अन्व भाव में 'बह ना—बह ना'—उसी क समकक्ष है जैसे कोई आत्य विज्ञानु जीवन-अष्टा के मुख से यह कवन अघोमनीय है—'बेखो मे किन्तु मन्वर हूँ।

न जाने किन्तु उदार-बड़ाव आचर्शन-अस्मानचर्शन और आन्तरिक ऊहापोहों से पश्चात् कवि अपनी अन्तर्विज्ञाया की साधना क्या करता है। उसकी स्वयिक वृष्टि पीन-बुद्धर को औरकर अब भीतिक यवार्थता से आ टकराई है किन्तु अघमें बिस्वाक

का आपस में कम कल्पना का सम्बन्ध अधिक है। वस्तुतः उसकी विराट् पेटना आरम्भ में अपने भीतर के उन्मुखित सौंदर्य को प्रकृति में आरोपित करके जिस अज्ञात छवि की मधुमयी विस्मृति में लीन रही है वह बाद में क्रमशः अपने प्रेरक आचारों और जीवन की मपार्थताओं के अनुरूप डकटी गई। अनेक बार उसकी टार्किक बुद्धियाँ प्रबुद्ध होकर जीवन के प्रबलतः सरय पर सा टिकी और परस्पर इतने संभ्रम छा होता रहा।

जानू बिछा इस नू पर
तुमने सोने की किरणों की,
जीवन हरिपाली जो-जो कर।

प्रायः पन्थ की कठिपों को लेकर दो प्रमल विचारधारा के आलोचकों में लीलाताली सी रही है। यह भी विचार का विषय रहा है कि साहित्य में विरलतन सरय की अभिव्यक्ति अथवा अभिप्रेत है अथवा टालकासिक सामाजिक समस्याओं का चित्रित किया जाना। आज जब रोगी का प्रपल अधिक महत्त्वपूर्ण है और जीवन-यापन की विभीषिका अगत्यापटी जिज्ञा से रक्त बूझ रही है तो उससे एवना मुह फेर कर कोई कैसे उदासीन हो सकता है? किन्तु यह भी कैसे सम्भव है कि पेट की भूज ही सब कुछ है और आरमा की भूज कुछ नहीं? कैसे कोई सामाजिक समस्याओं में ही परितोप पाकर निस्वीम भुयमा और प्रकृति के अनन्त वैभव से भाँसें मीनकर भी सकता है? साहित्य में सर्वैव से दोनों की काँसा रखी है दोनों में अविचार माना है दोनों समाताप्यर सीकों पर देता बना है।

पन्थ की कविता छात्रवत-सत्य और मुग-सत्य की सफल अभिव्यक्ति है। उन्होंने प्रकृति की रंभीनी में दिव्य विरलतन विराट्-रूप का वर्णन किया है साथ ही सामाजिक-जीवन की समस्याओं पर भी बुष्टि-निघण्व किया है। अतएव उनके काव्य को हम विरलतन सौंदर्य-बोध और मुग-बोध का निगूढ़ छात्रवस्य कह सकते हैं।

कहना न होना कि 'बीजा' से 'उत्तरा' तक जाते-जाते कवि न एक गहरे पाठ को सीखा है। आज वह अनेक अचक्रदार मोड़ों से भिक्कलकर अपने अभीष्टित पथ पर आ गया है। अब उसे क्रिपर मुड़ने की प्रेरमा होयी—इसे कौन बचा सकता है?

'ओ स्वयं हरित छायाओं
इन सूर्यम जतना तूनी में
जसे मल बोधो ।
न नीत पय हूँ
उड़ता हूँ —
ज्योति आन में नहीं कन्नु मा ।'

काश्मीरी सत कवयित्री—लल्लुदे

लल्लुदे या लल्लुदेस्वरी काश्मीरी बाहमम की एक ऐसी प्रेमयोगिनी भक्त कवयित्री हैं जिन्होंने अपने स्फुट गय गीतों से न केवल अपनी अन्तरात्मा के सत्य का सौरभ बिखेरा अपितु अपने वैतन्य बृद्ध दर्शन द्वारा भक्ति और ज्ञान विवेक और अन्तर्नुसृति एक अक्षय्य और अक्षय्य की स्वल्पमूढ सत्ता का भी साक्षात्कार कराया। ये बहुत ही विरक्त और अज्ञानत्व में अस्मान रहती थी। यहाँ तक कि इन्हें अपने शरीर की भी सुबबुब न रहती थी और प्रायः अर्द्ध जन्मावस्था में अत्यवस्था सापक की भाँति एक अर्द्धमूढ सम्मोहावस्था में य घूमा करती थी।

इनके जीवन के विषय में बहुत कम ज्ञात है पर काश्मीरी जनजीवन में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान आम जनता की नज़रों में आज भी ये इतनी लोकप्रिय हैं कि इनके फुटकर पर मौके-बेमौके जनकी जबाब पर चढ़े रहते हैं। ये पर इनकी स्मृति को अत्यन्त अदा व समार के साथ शरीरतादा बनाये रखते हैं। इनके विषय में कितनी ही किम्बदंतियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें यत्र-तत्र इनके महान् त्यागमय जीवन की कुछ शालकियाँ ही मिलती हैं। कहते हैं—इनका विवाह एक अत्यन्त सम्मानित उच्च वर्ग में हुआ था पर इनकी सास का स्वभाव इतना विडम्बित और कर्कश था कि वे इन्हें तरह-तरह की यातनाएँ देती थी। इनके एक शीत का भावार्थ है कि चाहे पर में कितना ही बढ़िया पकवान बनो न बने पर लल्लुदे को तो हमेशा पत्थर ही खाने को परोसा जाता था। इनकी सास बड़ी ही अनुदाई से इनकी दासी में पत्थर का टुकड़ा रख देती थी और उस पर चाबस की पतली परत जमा देती थी जिससे खाने बाधो और परिवार के अन्य व्यक्तियों को वह बहुत ज्यादा चाबस नजर आता था। लल्लुदे ने किसी से कभी कुछ शिकायत न की चुपचाप अपनी स्थिति से संतुष्ट रहकर वे सारे धन को पीसी रहीं। फिर इनकी सास ने इनके पति के मस्तिष्क को भी विषाक्त बना दिया। उसका हर तरह से अपन पुत्र को यह समझाने की चेष्टा की कि मन्त्र विश्वासवादिनी है और उससे प्रीति नहीं रखती। एक बार संघर्ष में पति ने इनका अनुसरण किया तो एकान्त में इन्हें अपासता में रत पाया। किन्तु निरन्तर कोचन से ब्यो-ग्यो दुर्भावना बूझ होती गई, लोगों के दिलों में पर्क आता गया और एक दिन उसने लल्लुदे को घर से बाहर निकाल दिया। पटहाल

का आग्रह कम कल्पना का उल्लास अधिक है। वस्तुतः, उसकी विराट् चेतना आरम्भ में अपने भीतर के उन्मत्तचित्त सीदर्य को प्रकृति में आरोपित करके जिस जगत् छवि की मधुमयी चित्रमूर्ति में जीम रही है वह भाव में जमघम अपने प्रेरक आचारों और जीवन की मयाबंधनों के अनुकूल झलती गई। अनेक बार उसकी पार्थिव चित्तियाँ प्रभु होकर जीवन के एकन्त सत्य पर बा टिकीं और परस्पर इह सभ्रम छा होता रहा।

‘बाहु बिछा इस भू पर
तुमने सोने की किरणों की
जीवन हरियाली बो-बो कर।

प्रायः पन्थ की कृतियों को लेकर दो प्रमुख विचारधारा के आलोचकों में सीधायानी सी रही है। यह भी विचार का विषय रहा है कि साहित्य में विरम्भन सत्य की अभिव्यक्ति अधिक अभिप्रथ है अथवा तात्कालिक सामाजिक समस्याओं का चित्रित किया जाना। आज जब रोटी का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है और जीवन-यापन की विभीषिका लपकपाटी जिह्वा से उभर खूँस रही है तो उससे सर्वथा मुह फेर कर कोई कवि उदासीन हो सकता है? किन्तु यह भी कैसे सम्भव है कि पैर की भूष ही सब कुछ है और आत्मा की मृग कुछ नहीं? कैसे कोई सामाजिक समस्याओं में ही परितीय पाकर निस्सीम सुपमा और प्रकृति के जनस्त बैभव से अलें भीचकर भी सकता है? साहित्य में सर्वत्र से बोनो की कासा रही है बोनो न अधिकार मीमा है बोनो समानान्तर सीकों पर बैठा गया है।

पन्थ की कविता शारद-सत्य और मृग-सत्य की सफल अभिव्यक्ति है। उन्होंने प्रकृति की रंगीनी में दिव्य चिरंतन विराट्-रूप का दर्शन किया है साथ ही सामाजिक-जीवन की समस्याओं पर भी दृष्टि-निदान किया है। अतएव उनके काव्य की हृद्य चिरंतन सौंदर्य-बोध और मृग-बोध का निगूड सामंजस्य कह सकते हैं।

कहना न होया कि ‘बीना’ से ‘उत्तरा’ तक आते-आते कवि ने एक सहरे पाठ को लौटा है। आज यह अनेक चरकरवार मोड़ा से निकसकर अपने अमीश्रित बच पर आ गया है। अब इसे कियर मुड़ने की मेरणा होयी—इसे कौन बतल सकता है?

“जो स्वयं हरित छयाओं
इन लुप्त चतना लुप्तों में
धुसे मत बोयो।
में गीत लग है
उड़ता है —
ध्योति बाल में नहीं पन्ना।

काश्मीरी सत कवयित्री—लल्लुदे

लल्लुदे या लस्केस्वरी काश्मीरी बाह्यम की एक ऐसी प्रेमयोगिनी भक्त कवयित्री हैं जिन्होंने अपने स्फुट गय गीतों से न केवल अपनी अन्तरात्मा के सत्य का धीरम विवेका मपितु अपने वैतन्य पूर दशन द्वारा प्रकित और मान विवेक और अन्तर्नुमति एक मल्लभ और अल्प की स्वल्पमूठ सत्ता का भी साक्षात्कार कराया। ये बहुत ही विरक्त और ब्रह्मानन्द में तस्मान् रहती थी। यहाँ तक कि इन्हें अपने धरीर की भी सुबबुध न रहती थी और प्राय अर्धे जन्मावस्था में तस्वदर्शी साधक की भाँति एक अद्भुत सम्मोहावस्था में य जूमा करती थी।

इनके जीवन के विषय में बहुत कम ज्ञात है पर काश्मीरी जनजीवन में क्या हिन्दू क्या मुसलमान आम जनता की गहरों में जाब भी ये इतनी लोकप्रिय हैं कि इनके फुटकर पर मौके-बेमौके जनकी जबाग पर चढ़े रहते हैं। ये पर इनकी स्मृति को अत्यन्त बड़ा ब समाहर के साथ उरोताजा बनाय रखते हैं। इनके विषय में कितनी ही किम्बदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें यत्र-तत्र इनके महान् त्यागमय जीवन की कुछ सलकियाँ ही मिलती हैं। कहते हैं—इनका विवाह एक अत्यन्त सम्मानित उम्भ घराने में हुआ था पर इनकी सास का स्वभाव इतना बिडबिड़ा और ककध था कि ये इन्हें तरह-तरह की यातनाएँ देती थी। इनके एक भीत का भावार्थ है कि चाहे घर में कितना ही बढ़िया पकवान क्यों न बने पर लस्के को तो हमसा पत्नर ही खाने को परोसा जाता था। इनकी सास बड़ी ही जनराई से इनकी बाली में पत्नर का टुकड़ा रख देती थी और उस पर जाबस की पतनी परत जमा देती थी जिससे देखने वालों और परिवार के अन्य व्यक्तियों को यह बहुत ज्यादा जाबस नजर आता था। लस्के ने किसी से कभी कुछ शिकायत न की चुपचाप अपनी स्थिति से संतुष्ट रहकर ये सारे गम को पीती रही। फिर इनकी सास ने इनके पति के मरिठक को भी बिपाकत बना दिया। जस हर तरह से अपने पुत्र को यह समझाने की चेष्टा की कि लस्के बिबवासपातिनी है और उससे प्रीति नहीं रखती। एक बार संघम में पति ने इनका अनुसरण किया तो एकान्त में इन्हें जपासता में रत पाया। किन्तु निरन्तर कोचन से ज्यों-ज्यों जुमावना बड़ होती गई, लोगों के दिलों में प्रकं आता गया और एक दिन जसने लस्के को पर से बाहर निकाल दिया। पटहास

बीबड़ों में वे दर-दर मटकने लगीं जिसका परिणाम यह हुआ कि एक पलुबे हुए वीच मठाबन्धुनी विरक्त सन्त की रूप से वे स्वयं एक महान् योगिनी बन गईं। बाह्य सान सगुणा यहाँ तक कि बस्त्रों तक की इन्होंने उपेक्षा कर दी। नाचती-गाती आनन्द विभोर ये जमहु-जमहु पूमती फिरती रहती थी। जब कोई इनकी मण्डला पर सहम जाता या इन्हें आचार मर्मादा का उपबंध पता तो य उत्तर देती कि मैं तो उन्हीं को मनुष्य मानती हूँ जो भगवान से डरते हैं और ऐसे व्यक्ति दुनियाँ में कम हैं। एक बार की घटना है कि इनके समकालीन सयब असी हमदानो जो कि एक महान् मुस्लिम सूफी फकीर थे और चौदहवीं शताब्दी में काश्मीर आए थे अस्सदे की स्थापित सुन इनस भित्तने के लिए इन्हें बाहर बुद्धन निकल पड़े। अस्सदे ने जब उन्हें दूर से भाते देखा तो वे एकदम बिस्माती हुई पीड़ी कि आज तो मक्ष अछडी मनुष्य के दर्शन हो गए। पास ही एक रोटी बनाने वाले की जसठी मट्टी में य कद पड़ी और ऐसा लगा कि य उसमें अवयव जसकर मसम हा गई होगी। मुस्लिम सन्त डू डूते हुए जपर आए और उन्होंने रोटी पकाने वाले की पत्नी से इनके विषय में पूछताछ की। वह मयभीत हो गई और उसने कुछ भी जानने-बुझने से इंकार कर दिया। किन्तु वे सन्त मिरल्लर इन्हें घोबने में लग रहे और सहसा अस्सदे मट्टी से हरे विष्य बरन मारन किये हुए निकल पड़ी।

उक्त कथा में कितना सत्यांच है—बहु नहीं जा सकता परन्तु इसमें इनकी अन्तरंग सिद्धि और उच्च आत्मा का तो आभास मिस्सा ही है। जीवन को आच्छन्न करन वाले मोह और अदस्य अदिक बन्धनों से मुक्त होकर जब अकस्मात् प्राणों में बीजित जागती है तो ऐसा ठेक आत्मबीरव और अनन्त स्फूर्ति का संचार होता है जो दूर स्वार्थों बबबा अभीष्ट पूर्तियों से बहुत ऊपर उठा देता है। अस्सदे के मूल्य अन्तर में जबकि वह निदान्त अछहाय और सभी सुतों से बीजित हो चुकी थी एक एही ही लो जयी थी। इससे उनके विदवास को बध मिला और भीषटी पीड़ा ने व्यापक लार्थमस्य एवं सहिष्णुता को प्रथय दिया।

उस समय पंडितों और सिद्धित जनों के उपयोग की भाषा संस्तर दी पर अस्स दे ने जनभाषा कारमीटी में बड़ी ही निदछल सरसता से अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उस समय देव में भीर अघान्ति और जबल-गुबल मधी हुई थी और घर्नाम्ब कट्टर पन्थी लान भगने-अपने मजहबों का प्रचार करने में जुटे थे। सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक विषयता में सभी को बन्त कर दिया था। उच अवसर पर अस्सदे नरीकों में पलमिल यह और अपन अन्तहित सत्य को जन-संगठनायी आत्मदान के साथ एक ऐसी व्यापक और सबमुखम संपटिनी दकिन के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसमें न कोई आचरण का न विधाय न कोई अन्तराप और न किसी अपने-परामे का धेवभाव। इनकी दृष्टि ने सम्पन्न मानो चौहार्द और समता का सत्य प्रकट हो गया था।

एक स्थल पर वे कहती हैं

‘पद् ता पान् ॥ यमी समोय मानो

टिरोप् धानोद् विन् त पान् ॥

यमी अहम् मम सम्पत्तौ
तमी विदुः मुरमुदनाम् ॥”

अर्थात् जो अपने में और दूसरे में अहं भी मेव नहीं समझता जिसके लिए बिल की कुचहाली और रात्रि की उबासी एकही है जो ईश या पूषकृत्य की भावना से दूर है, वही केवल वही वेदाधिदेव परम प्रभु से साक्षात्कार करने का अधिकारी है।

सम्बन्धे संव की अतएव शिव की सत्ता में जो दक्षिणों निहित हैं उन दक्षिणों की धाम्यावस्था को ही वे ईश्वर या ब्रह्मभाव मानती थीं। स्पष्ट इन्द्रियों द्वारा बहिर्-रंग वस्तुओं का ज्ञान ता हो सकता है, किन्तु अतीन्द्रिय वस्तु जानने का उपाय तो ब्रह्म ही है और वह है निग्रह या योग। योग महाज्ञ है, उससे निःसंशय मोक्ष की प्राप्ति होती है। मन और जिन्यामों को साधने म योगी को बड़ा संशय रहना पड़ता है क्योंकि विषयाकार वृत्ति को ब्रह्माकार वृत्ति में लयाने के लिए बड़ी कष्टमंशय करनी पड़ती है।

अविद्यावत् ॥ त ज्ञान प्रकाशम् ॥
यमु चित्तो तीम् ॥ भूवन्तिम् ॥ मुक्ती ॥
विषयीसु संसारनील ॥ पाशास ॥
अवुचि पन्था अत् ॥ अत् रिती ॥”

अर्थात् दुःखदायी संकल्पों के विनाश के साथ मोहाच्छन्न बुद्ध को औरकर भिद्यने स्वयंमूत प्रकाश यानी आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है, जो बीबितावस्था में ही बीबलमुक्त हो अष्टा है यानी पुनर्जन्म की बार-बार की यात्रया से पार पा जाता है वही अचिन्म प्राणसक्ति से तादात्म्य का अनुभव करता है। परन्तु जो अज्ञानी है वे जन्म-मरण के चक्र में अचिकाधिक उलझ रहकर पाँठ पर पाँठ कपाते चकते हैं।

परन्तु शिव के दो रूप हैं—विश तत्त्व और दक्षिण तत्त्व। सत्-चित् की अनु-सृति होने पर एकाग्र समाधि अथवा निरतिशय आत्म में अवस्थिति होती है। चित्त की पाँच अवस्थाएँ अथवा वृत्तियाँ हैं—प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति। परचाय ही पाँच प्रकार के क्लेश या विकार की हैं। अविद्या अस्मिता राग द्वेष अग्निनिवेश। अस्त मनोविकृतियाँ निरन्तर बीब की कर्म की और प्रभुन करती रहती है जिससे तरह-तरह की संस्कारजन्य बाधनाएँ उभरती हैं। मोक्षी अष्टाव—अर्थात् यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि के द्वारा चित्तवृत्तियों या क्लेशों का बहिष्कार करने की सतत चेष्टा करता है। इसका कितनी ही अन्तवशाएँ एवं कोटियाँ हैं जिससे साधक को मुक्ति पड़ता है। अरम किन्तु पर सब आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है, तब आराधक और आराध्य में किंचित् भी अन्तर नहीं रह जाता। भारतीय रहस्यवादियों अथवा मुक्तिम सृष्टियों की

विद्यालय की ही कस्तुरी ने अपना इतिहास डाटा पुष्टि की है। इनके एक पद में—

“माया माना ना पर्जाना
साक्षि बाक्षि एहू कबेह ॥
जि नू नू बि मिली ना जल्ला
नू क नू कू क्यो सगरेहू ।

अर्थात् हे माय ! मैंने अपना आपको विद्यालय तुच्छ माना है और इस कुरेह की विहितियों को सर्वत्र मूट करण में लगी रही हूँ। निरोध के द्वारा मन को तुझमें लय किया जा सकता है। लेकिन ये कौन हूँ और तू कौन है—यह संघर्ष और तर्क विचर्च मन को सदा सातता रहा। आत्यन्तिक निवृत्ति या तुझमें 'स्व' को पयबसित कर सकने में असमर्थ रही।

कस्तुरी ने उक्त अवगनीय अनित्य प्रेम की भी व्याख्या की है जिसका गुणे के गुड़ के समान स्वाद ही किमा जा सकता है पर जिसके विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। इस प्रेम प्रेम वा बहामर्ब की अनुभूति ही योगिक क्रियाओं की सिद्धि है। प्राणायाम के अनवरत अभ्यास से प्राणवायु द्वारा शरीर स्थित वायुमात्रियों और शरीर के उत्पन्न होने में जो शक्तियाँ प्राकृत होती हैं वे ही इस पिपला और गणुमा के सहारे बुद्धिबली का बह्यरूप की और बन जाती हैं। अन्ततोगत्वा जब बुद्धिबली गह्य रूप कमल में प्रविष्ट होती है सभी सायक बीजगुण ही जाता है। मन और शरीर से परे तब आत्मा ही परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है जिससे पाप का कल्प स्वयं प्राप्त जाता है और विश्व की बृहत् परिधि में भ्रमण करते हुए भी उसे मय या सकोच नहीं होता।

अप्यत्त शैवी विपति पर पहुँचने से एक प्रकार का मठवातापव बन जाता है। आध्यात्मिक मंदिर के मध्ये में अनुप्य इतना गुर हा जाता है कि भस्मे ही लोग उसपर होने या उनको पिरस्ती बहावे इनसे उसका कुछ बनता भिन्नता नहीं। शम्भुदे ऐसी ही अक्षय्य मस्ती मठ की। वातापव प्रकृतियों में बन होने के कारण उनमें ऐसी उमंगता या बड़ कि लमता या मई की कि एनकी दृष्टि में न कोई बड़ा वा न छोटा। जो उनको इस मन्त्री की नहीं समझ पाता वा वह उन्हें पागल वा विद्विष्ट कहता वा मगर वा इन इन्द्रजिह्वी के घुमार का आवाज वा आता वा वह स्वयं भी इनके मंत्र और मन्त्रीक हस्तों में चमत्कृत हो उठता वा। एक बार किसी बजाज ने एक बाल के दो बराबर-बराबर टुकड़े फड़बाए और बायें-बाय दोनों कर्णों पर एक एक टुकड़ा टालकर वे आये बड़े मर्द। मार्ग में जिन लोगों ने इनका उद्घाटन किया अपवा जिन्होंने इन्हें एक मर्दान् मोबाबदी मजमूर इनकी अभ्यवना में तिर झुकाया तो वे अत्यंत मजाक और श्लोक बहाता पर एक एक पाठ उन कर्णों पर बड़े अलग अलग टुकड़ों पर लगाती जाती थी। तप्या समय सभी जगह घूम फिरबर लौटने के परचाए इन्होंने बरब-बिभता की वे दोनों टुकड़े लौटा दिए और शौचन के लिए कहा। उनके भार में उन बाँटों से जरा भी अन्तर न आया वा। इससे इन्होंने दुनिया की

कहाया कि ऐसी समता ही मक्ति प्राप्त करने का उपाय है। मान-अपमान की ओर से जहासीन भोमी भासी विद्युत् दृष्टि ही ऐसी सर्वव्यापी प्रेरणा का अविच्छाद्य करती है, जिससे कोई कितना ही अहित करे मन विचलित नहीं होता और न किसी की स्तुति या प्रशंसा से ही कुछ अचर होता है।

कहना न होमा—सम्बन्धे उस सिद्धावस्था को प्राप्त हो गई थी जो विकारों से परे परमात्मा से मूक मित्र का अनुभव करती है। पञ्चभौतिक शरीर जो बाह्यमाध्यों एवं कुसंस्कारों का आमार है और मिथ्याभासों एवं क्षुब्धताओं के कारण सर्वोपरि विद्युत् स्फुरणों की लक्ष्ण्यता करता रहता है अनन्त असाध्य रोगों अथवा व्याधियों से ग्रस्त होने पर भी कितना श्रिय होता है। कारण—भूल से आत्मा की अमरता शरीर में आरोपित कर ली जाती है। जीव समसत्ता है कि शरीर ही आत्मा और शरीर ही जिसमें आत्मरक्षण की प्रवृत्ति प्रबल होकर उसे चिरकाल तक कायम रखने के लिए प्रयत्न पीछे नमाती है।

सम्बन्धे पूछती है

‘कुतो उद्भूत कुतो आगि
कुतो सद् बधि तित्थिया
कुतो हरत् (पुनि कागि)
कुतो परम पद् मित्थिया ॥

अर्थात् कौन सोया पड़ा है और कौन आगा हुआ है ? ऐसा कौन-सा असाध्य है जहाँ निरन्तर अलसोत् प्रवाहित होता रहता है ? मनुष्य हर (सिध) को क्या वस्तु पूजा में भेज सकता है ? किस घातक परिणाम को अन्तत पहुँचा जा सकता है ? इसी के समाधान में सम्बन्धे अपने निम्न पद में उत्तर देती है

‘मन उद्भू ता म्कुल आगि
बाहुप् पंश् इन्द्रिया चित्थिया
पुण्ये हरत् पुनि कागि
एह्य चेतन् सिद् मित्थिया ॥

मनुष्य गृही निद्रा में निमग्न पड़ा है परन्तु जब उसे स्वात्म का बोध हो जाता है तो मानो वह जाग जाता है। पंच इन्द्रिया ही वह असाध्य है जो निरन्तर प्रबहमान रहता है। सबसे पवित्र वस्तु जो ममत्वान् सिध की उपासना में भेंट बड़ाई जा सकती है वह है अपने अस्तित्व या अहमाद के सर्वान्तर्य अनुभव का अविनाशी रूप। जिस घातक परिणाम को अन्तत पहुँचा जा सकता है वह है चित्तलस।

सम्बन्धे ने अपनी अंतरंग भावनाओं के समझ अनेक ठरुं उपस्थित किए हैं। कहीं-कहीं अनुभूत भावोग्माद में वे इतनी लो जाती हैं कि एसा प्रतीत होता है मानों वे अपने आप से वात्सल्य कर रही हैं। उनके एक भीत का भावार्थ है जिसमें उन्होंने एक प्रसंग का सम्बन्ध किया है।

में मालोक्त बिगरे तब तक सफलता के उच्च शृंग पर नहीं चढ़ा जा सकता। बिगरे पड़ते मुड़कते-मुड़कते यदि ऊपर चढ़ते भी हों तो नीचे कुछ अन्तर परतपरत का प्रकाश जिसे अभी अभी छोड़कर भाए है उसी ओर प्रेरित करता है। बहुत-बहुत धारबुल हँसी-करन्दे संगीत और मस्तानी तानें किशोरी ही मिथित ध्वनियों के साथ आकृष्ट करते हैं। तब मिथों और स्वयंओं का भी ध्यान जाता है बुनियाँ की बहुत-बहुत और आनन्दोत्साह भी मन-पटल पर कौब जाते हैं लेकिन सच्चा संकल्प-बल यदि जाग गया है तो मोक्ष पदार्थ लुप्त है और अवश्य अमोक्ष मनोबल से मार्ग में आने वाली बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं।

“कर्म तु कारण चि कर्मिन्
यव लभक ॥ परलोकम् ॥ अद्भु ॥
उत्प जत् ॥ सुर्मा मण्डलो बुम्भीत्
तवे चात्मिन् मर्त्तमी हाद्भु ॥”

अर्थात् कार्य दो प्रकार के हैं—अच्छे-बुरे पर कारण बनेक है जिनसे सद्-असद् भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इन सब बुरी बुनियाँ कुसंस्कारों और अतिव्यक्तियों युक्तताओं को बिलुप्त करने के लिए कुम्भक योग का अभ्यास कर। इसी बुनियाँ में यानी उच्च शृंग पर पहुँचकर ही नू निर्मय और स्वतन्त्र हो सकती है। अतः उठ भागे बड़ चढ़नी बनी जा और मूर्ध-मण्डल का भीर ब। मृत्यु का भय तुमसे तब बहुत दूर जाग जायगा।

“ज्ञान अम्बर पेरिम लम्बित
वीम पद् बपीतीम् हृदि अद्भु
कारणी प्रोचोकी गरीत्रि लम्बित
कीन् ॥ कान्म् । मर्त्तमी हाद्भु ॥

अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से अपने स्व' को आवृत्त कर ले। लम्बित जो पीठ वाली है उसे अजल अन्तर में समो के। 'प्रमथ की सहायता से लम्ब ने अपने आप को अभिमूल कर लिया है। अर्थात् अन्तर्मोर्ति बगा लेने से मृत्यु का भय उठते तब बहुत दूर जाग गया है।

अँधी से अँधी अलग-अलग उड़ान भरते हुए सस्त्रों ने उस उच्च शृंग की प्रकाशमान अनुभूतियों का नीच उतारकर सू-बासी मानव-वृत्तता को भी उस योगामृत का पात्र कराया है जो उनके दिव्य अन्तरवृत्तस्य का मानव-प्रसा है। तिसु वर एक साधारण साधनी या ज्योतिष की ही रूप विचारपारा या गनीहृत् ही जगमें नहीं है अपितु जगमें अकारणक अभिष्यन्त और तीव्र प्रपचीयता भी है। उन्होंने जितनी ही ऐसी धारणाएँ ध्यान की हैं जो समनामयिक और सुगीत ह। अग्नी चराइ बहिनी के कारण प्राया और भाव के संस्कार-वर्तित्कार की उन्होंने अकहेयता नहीं की बल्कि बर्ती-बर्ती से इतनी आगच्छ और जितानु हा उगी ह कि उग्राने प्ररनों की हाई-ना सपा ही है।

ये गुरा परमेपुरा
 वपुम अमुर बित्तो ॥
 इनई उपग्याय कम्बपुरा
 द्रह् ॥ कब तुलरो हाह् ॥ कब तती ॥”

वर्षान् मा मर पुन परमवर ! मस समझाओ बह गूढ रहस्य जो केवल
 माय ही को बिदित है । बचाओ दो हिस्म की है जो अन्तर को पीरती हुई कष्ट में
 ध्वनित होती है फिर बही एक माह् सदैव क्यों और इमरी माह् तप्त क्या होती है ?
 इसी का समाधान करती हुई वे अलग इस पत्र में कहती हैं

“नामिस्थान् ॥ त्रिपयी प्रकृत् अमवन्वी
 हीमीस तां वयोवी इमुर् सुतो ॥
 मानसमगडल ॥ नर बहवन्वी ॥
 द्रह्, तब तुलरो हाह् ॥ तब ततो ॥”

नामि-प्रदेश स्वभावान् प्रयत्न मर्म है बही से तप्त वायु टकराकर कण में
 ध्वनित होती है और मुख से ‘माह्’ बनकर पट्टी है । किन्तु बही अक्षररूप से छस
 कलाते प्रवहमान मानस जन्म के मयोम स सर्व बनकर मस स सल-खान्ति की बर्षा
 करती है । यही कारण है कि ‘माह्’ सदैव और तप्त दानों हाती है ।

एक श्लोक पर में—

“कलमा काल काजी सिद् ॥ विगलो ॥
 कश्चिद ॥ वेह ॥ कश्चिद बनबाप् ॥
 जानीन् ॥ सबपत् ॥ प्रनु ॥ अगले ॥
 पीपीय् जानक ॥ तीपीय मास ॥”

अर्थात् यदि कालान्तर में तुने अपनी शरीरत्वम्य वासनाओं का दमन कर
 लिया तो तू बरेन् जीवन पत्रन् करेगी या बनबाय ? यदि तेरी समझ में यह अच्छी
 तरह पैठ जाय कि प्रनु सबयत और कम्पासमय है तो ज्यों-ज्यों तेरी सहनशक्ति दृढ़
 पबित और बढय होती जायगी त्यों-त्यों तब अन्तर-बाह्य अतिष्ठ रहकर अद्भुत
 आत्म-सन्तुष्टि प्राप्त करेया ।

कल्हदे के अन्तर का श्लोक है ज्ञान में अद्वैत तत्त्व और कर्म में योग-शाधना ।
 इस तरह की चारणा श्रितमें कि मनुष्य की सर्वोच्च चतना तक जानातीत हो जानी
 है उनही रहस्यपूर्ण मौखिक अनुभूतियों की ही उपलब्धि है । एक समग्र पूणता—जिम
 आत्मा का एतन्व बह बनने है—उन्हें अपनी योग-शाधना स उपलब्ध हुआ या—बह
 भी जड़ रूप में नहीं सांख्यिक सत्य रूप में बर्षाति बहुत पहल ही गाहलब जीवन
 बिनात हुए उग्हौल वास्तविक धर्मभूतियों और मन की बहूनी अँबाहियों में ममजीने
 की अन्तारणा अर्थात् अपन नीतर और बाह्य अमन के बीच एक तन्वीयजनक
 अमन्व-मुख की उन्नायना कर ली थी । जीवन बहूत उमसा हुआ और वैधिम्यपूर्ण

में आबोक बिन्देरे सब छत्र सफलता के उच्च शृंग पर नहीं चढ़ा जा सकता । गिच्छे पड़ते मुड़कते-मुड़कते यदि ऊपर चढ़ते भी है तो नीचे कुछ अन्तर पर लपर का प्रकाश बिसे अभी-अभी छोड़कर भाए है उठी और प्रेरित करता है । चहक-चहक घोरगुम्ह ईंठी-चहकई संगीत और मस्तानी ताने भित्ती ही निमित्त ध्वनियों के छात्र यादृष्ट करते हैं । सब विषों और स्वयनों का भी ध्यान जाता है दुनियाँ को चहक-चहक और आत्मसोस्वाम भी घन-घट्ट पर कौब पाते हैं लेकिन सच्चा संकल्प-बल यदि जाग गया है तो घोम्य पदार्थ लुप्त हैं और अदम्य अमोघ मनोबल से मार्ग में मान वाली बाघारें गप्ट हो जाती हैं ।

“कर्म तु कारण वि कुम्भीत्
यव लभक ॥ परकीकत् ॥ अङ्ग ॥
उत्थ जत् ॥ सुयी मण्डलो कुम्भीत्
सर्वे जालिप् मरुत्तमी दण्ड ॥”

अर्थात् कार्य का प्रकार के है—अच्छे-बुरे, पर कारण बनेक है जिनसे एक-अन्य भावनाएँ उत्पन्न ह । इन सब बुरी बुरियाँ कुसंस्कारों और अनिष्टकारी लुहताओं का निवृत्त करने के लिये कुम्भक योग का अभ्यास कर । दूसरी दुनियाँ में यानी उच्च शृंग पर पहुँचकर ही तु निर्भय और स्वतन्त्र हो सकती है । अथ उठ जाने बड़ चढ़ती बनी जा और मूर्ख-मण्डल का नीर बे । मूर्ख का भय वृषासे सब बहुत दूर भाग जायगा ।

“ज्ञान अम्बर बरीब कस्तिक
यीव पद् दबीतीम् ह्वि वङ्ग
कादयी प्रोचोकी परीत्रि कस्तिक
कोन् ॥ कासुम् । मरुत्तमी शङ्कु ॥

अर्थात् ज्ञान के प्रकाश में अपने स्व' को आकृत कर ले । लस्सरे जो गीत गानी है उसे अपने अन्तर में समो ले । 'प्रबब' की सहायता से लम्क न अपने भाव का अभिव्यक्त कर लिया है । अलौकिक अस्तर्ग्योति जवा करने से मृत्यु का भय उससे सब बहुत दूर भाग गया है ।

दोषी से दोषी अक्षय्य उद्गम भरने हुए लस्सरे ने उम उच्च शृंग की प्रकाशमान अनुभूतियों का भीव उतारकर बु-वामी मानव-चेतना को भी उम योगामुक्त का पल बनया है जो उसके दिव्य अन्तरचेतन्य का भावबल प्रकाश है । दिव्य पर एक भाषाएक भाषणी या जोविन की ही एवा विचारधारा का मनीह्य ही उनमें नहीं है । अरिणु उनमें क-कारक अभिव्यक्त और तीव्र प्रयत्नीयता भी है । उन्होंने बिलनी ही ऐसी धारबाएँ व्यपज की है जो समसामयिक और यथीत हैं । अपनी कान्ठ बेरिनी व कालम भागा और भाव के संस्कार-परिष्कार की उन्होंने अबदेनता नहीं की बरिब बनी-नहीं है इनकी आकणक और त्रिज्ञानु हा उर्य ह् नि उन्होंने प्ररनों की हाड़ी-नी सवा दी है ।

में आसोक बिसरे तब तक सफलता के उष्ण श्रृंग पर नहीं चढ़ा जा सकता। गिरते पड़ते लुढ़कते-पुड़कते यदि ऊपर चढ़ते भी हैं तो नीचे कुछ अन्तर पर नगर का प्रकाश जिसे अभी-अभी छोड़कर आए हैं उसी ओर प्ररित करता है। बहल-बहल घोरपुल हँसी-कहकहे, सगीत और मस्तानी ताने कितनी ही मिथित ध्वनियों के साथ बाह्यत् करते हैं। तब मित्रों और स्वजनों का भी ध्यान जाता है। बुनियाँ की बहल-बहल और आनन्दोत्साह भी मन-मटल पर कौब जाते हैं लेकिन सच्चा संकल्प-बल यदि जाम गया है तो मोक्ष पदार्थ तुच्छ हैं और अयम्य अमोघ मनोबल से मार्ग में जाने वाली बाधाएँ मष्ट हो जाती हैं।

“कर्म तु कारणं हि कुम्भीत्
 पद्म लभक ॥ परसोकत् ॥ मञ्जु ॥
 उत्पन्नत् ॥ सुषी मण्डलो कुम्भीत्
 तदे जातिम् मरुपनी तञ्जु ॥”

अर्थात् कार्य का प्रकार के हैं—मञ्जु-बुरे पर कारण होने के हैं त्रिगुण सर-अम्य मावनाएँ उपजती हैं। इन सब बुरी बुरियाँ कुसुमायों और अनिष्टकारी दुष्टताओं को बिल्ट करन के सिद्ध कुम्भक योग का सम्पादन कर। दूसरी बुनियाँ म मानी उष्ण श्रृंग पर पहुँचकर ही तु निर्मम और स्वतन्त्र हो सकती है। अत उठ जाने बड़ पड़ती बली जा और मूर्ख-मण्डल का बीर है। मृत्यु का भय तुमसे तब बहुत दूर भाग जायगा।

“ज्ञानं अम्बरं परीमं सस्मि
 पीम पद्मं इपीवीम् हुवि मञ्जु
 कारणी प्रोभोकी परीत्रि लस्मि
 कीन् ॥ कस्तुम् । मरुपनी तञ्जु ॥

अर्थात् ज्ञान के प्रकारों से अयन 'स्व' को आवृत्त कर ले। लस्तदे जो गीत जाती है उसे अयन अन्तर म समो ल। 'प्रणव' की सहायता से लस्त ने अयन आप को अधिभूत कर लिया है। बलौकिक अन्तर्गोति अवा लने से मृत्यु का भय उठते अत्र बहुत दूर भाग गया है।

जैसी है जैसी अलम्य उड़ान करते हुए लस्तदे ने उत उष्ण श्रृंग की प्रकाशमान अनुभूतियों का नीचे उतारकर मू-बाली मानव-व्यवस्था को भी उत मीगामुत् का पान कराया है जो उनके दिव्य अन्तरव्यवस्था का मानवत् प्रसार है। दिव्य पर एक मायावत् नापनी या बीगिन की सी रस विचारपाप या नवीरुत ही उनमें नहीं है अथि उन लक्ष्मणक अमिष्यजन और तीव्र प्रपचीमता भी है। उन्हेन कितनी ही ऐसी पारबाएँ ध्वन की हैं जो समगाभिविक और सुगीन हैं। आनी पनरुड बन्दिनी के वाग्ध जाया और जाध के संस्कार-वर्णिकार की उन्हेने अयहेकता नहीं की बन्दि बनी-बनी के इतनी आनन्द और त्रिमानु हा उठी ह कि उन्हेने प्ररनों की ताड़ी-नी लपा दी है।

सुमद्राकुमारी चौहान का वात्सल्य

श्रीमती सुमद्राकुमारी चौहान के रूप में उठने वाली भाव-कहरियों को मसकर जो तिरौह धारक और कमी न श्रांत होत वाली आत्मत्वमयी पंक्त उमकी कविता में प्रकट हुई है उतमें आज भी बीवनी-प्रकित के कम छसक-छसक कर मन को आष्कापित कर लेते हैं। उनमें जो सहज वास-वधि की समम्पत्ती रत्नीमता है वह इन्द्रात्मक बोध भवना किन्हीं खास मन्त्रियों की धारोपित औपचारिकता नहीं अपितु वात्सल्य-वर्धन में उनकी सहृदी आत्मीयता एवं यर्माहत भावप्रवणता के अन्त रंग आवेग का परिचाय है। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ

“मे बचपन को मुझा रही थी
बोक उठी बिडिया मेरी
मधक मन ली कुन उठी
यह छोड़ी ली कडिया मेरी ॥”

वस्तुतः बचपन की कल्पना में कवयित्री का निद्र का अनुभव व्यक्तित्व है। विन्दपी अपन सुख-दुःख हँसी-खशी और खानको समेत मके ही प्यारी हो पर बकिन्नी की ये अस्वक पंक्तिना न कमी फिर लौटकर जाती है और न कमी रूप को सुखपुदाने बासा बैसा आनन्द ही बिसोपठी है।

“बार-बार जाती है मुझको
मनुर पार बचपन मेरी।
यवा है यमा तु जीवन की
सबसे मस्त पुती मेरी ॥”

जीवन की विष-विषिष गित-नई समपित अनुभूतियों के साथ जो बचपन की तरपित स्मृतियाँ उमर जाती हैं उनसे अंतर्प्रापों के तार कनसना पठते हैं। कौकी होती है यह अनुभूति का अज्ञात बाहू की मोहिली ली बाल देनी है ? कवयित्री अब बहुत छोटी थी—अशोध विदु—उस की अनिर्वचनीय पुष्कमयी सुबियाँ उसे बापत स्वजनवत् अथवा प्रत्यक्ष लख ली भावने क्यती हैं। एक बार नहीं अनक बार वास्यावस्था के एकीठिक दुःख उसके स्मृति-वटल पर कौन जाते हैं।

है। उसकी कारा में बन्दी होकर भी यदि सच्चे भावों में मुक्त होना है तो स्व-निष्ठ विद्वान्ताओं के द्वारा ही उन्हें पूर्णता देनी है। एक स्थल पर वे कहती हैं

“शिव शिव कराम्त यमो लोयो
 ज्ञान्यसि ॥ जयु मङ्ग ॥ ता इत्
 यमी अहम् ॥ मन् ॥ सम्पत्नी
 तमी प्रसन्नो सुरगुणताम् ॥”

अर्थात् जो सर्वत्र उल्लेख-बैल्ले 'शिव शिव' रचता है और भीतर मन में 'सोहम्' बगा सिद्धा है वह बाह्य रात दिन संघापी कामों में व्यस्त रहे उसकी ईश-बुद्धि सर्वथा मर चुकी होती है। तब अपनी आत्मा में ही वह प्रभु की असीम कृपा का आभास पाता है।

अन्त में जो ज्ञान लक्ष्मण को हासिल हुआ वह वा संकीर्ण स्वल्प की सीमाओं से परे सत्य स्वरूप का बोध। इससे उन्हें एक नई धारणा और नई अन्तर्दृष्टि मिली। दरअसल विद्वान् ज्ञान की कुञ्जी आत्म ज्ञान है। आत्मवेदा व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ वैदिक वेदों की संकीर्ण परिधीमा में बन्दी नहीं रहे सजतीं। उसके भीतर जो है उसी असीम को वह बाह्य सनता की परिधि में पा लेने की चेष्टा करता है। किन्तु यह अन्तर्ज्ञान बाह्यी प्रयत्नों से नहीं। उसके अपने भीतर ही अमर-आस्था के ऐसे बीज से अगमपाठा है जो सदा विस्तीर्ण असीम को आलोकित कर बहिर्मुख बनाय रखा है। लक्ष्मण को इस तरह का विवेक जीवन के अविच्छिन्न सच्चे दर्शन द्वारा प्राप्त हुआ था यही कारण है कि इस दर्शन में उन्हें अज्ञान का ही नहीं बरन् उस परोक्ष का भी दर्शन हुआ था जिसके केन्द्रस्य सत्य की प्रतीति होने मात्र तक उनकी बाधों द्वारा होती है।

है। उसकी कारा में बन्दी होकर भी यदि सच्चे मानों में मुक्त होना है तो स्व-स्मित सिद्धान्तों के द्वारा ही उन्हें पूषता देनी है। एक स्वल्प पर वे गहरी हैं

“शिव शिव करालत यमो लोभो
 चम्प्योस ॥ नमु मङ्ग ॥ ता इत्
 यमो मङ्गम् ॥ मम् ॥ सम्पन्नो
 तमी प्रसन्नो सुरगुरमाच ॥”

अर्थात् जो अदब उठे-बैठे 'शिव शिव' रटता है और भीतर मन में 'ओहम्' बना लेता है वह चाहे रात दिन संसादी कार्यों में व्यस्त रहे उसकी ईश-मुक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। जब अपनी आत्मा में ही वह प्रभु की असीम कृपा का आभास पाता है।

अन्त में जो ज्ञान कस्तुरी को हासिल हुआ वह या सकीर्ण स्वल्प की सीमाओं में परे सरय स्वल्प का बोध। इससे उन्हें एक गई गमित और गई अन्तर्दृष्टि मिली। दरअसल विरह चेतना की कुंजी आरम चेतना है। आत्मचेता व्यक्ति की प्रकृतिवादी ईहिक चेष्टाओं की संकीर्ण परिमीमा में बन्धी नहीं रह सकती। उसके भीतर जो है उसी असीम को वह बाह्य समता की परिधि में पा लेने की चेष्टा करता है। किन्तु यह अन्तर्ज्ञान बाहरी प्रयत्नों के नहीं उसके अपने भीतर ही अमरमास्या के ऐसे बीज के जनमनाया है जो सदा विस्तीर्ण असीम को आलोकित कर गतिशील बनाये रखता है। अन्तरे के इस तरङ्ग का विवेक जीवन के अधिक सच्चे रूप द्वारा प्राप्त हुआ था यही कारण है कि इस स्थान में उन्हें वर्तमान का ही नहीं वरन् उस परोक्ष का भी दृग्गण हुआ था जिसके केन्द्रस्थ धार्य की प्रतीति हमें आज तक उनकी भाषी द्वारा होती है।

सुभद्राकुमारी चौहान का वात्सल्य

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के हृदय में उठने वाली भाव-सहृदियों को मयकर जो निरीह सारस्व और कभी न यांत होत वाली आनन्दमयी पत्रक उनकी कविता में प्रकट हुई है उनमें आज भी बीवनी-शक्ति के बग छलक-छलक कर मन को आन्तविन कर लत है। उनमें जो सहज बाल-रश्मि की मर्मस्पर्शी रमणीयता है वह इन्द्रात्मक बोध अथवा किन्हीं खास मन्त्रियों की आरोपित भीषणारिक्तता नहीं अपितु वात्सल्य-जनन में उनकी मधुरी आत्मीयता एवं मर्मसह्य भावप्रवणता के अन्त रंग आशेष का परिणाम है। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ

मे बचपन को बुझा रही थी
बोल उड़ी बिटिया मेरी
ममन बन ली कून उठो
यह छोटी सी कटिया मेरी ॥

वास्तव बचपन की कल्पना में कवयित्री का निद्र का अनुभव अन्तर्हित है। त्रिस्तुती अपने गुल-मुल हैसी-बुधी और भाँसुओं समेत मझे ही प्यारी हो पर कविनी की वे अस्ह्य पक्षियाँ न कमी फिर लौटकर जाती है और न कमी हृदय को गुरुगुदाने जाता वैसे आनन्द ही बिखेरती है।

“बार-बार जाती है मुझको
बपुर या बचपन तेरी।
मया से गया तू जीवन की
सबसे मस्त पुत्री मेरी ॥”

जीवन की चित्र-विचित्र निद्र-ज^१ अगणित अनुभूतियों के साथ जो बचपन की तरपित स्मृतियाँ उभर जाती हैं उनसे अंतर्प्राप्ति के तार सनसना उठते हैं। कौसी होती है यह अनुभूति जो अज्ञात बाहू की मोहिनी सी आनन्दनी है ? कवयित्री जब बहुत छोटी थी—अशोक सिंगु—तब नौ अनिर्बचनीय पुस्तकमयी मुचियाँ उसे आपत स्वप्नबद् अथवा प्रत्यक्ष मरव ही भाषने सम्यगी हैं। एक बार कहीं अगक बार वात्स्यायना के ऐतिहासिक दृश्य उसके स्मृति-वटल पर कौंम जाते हैं।

अचिन्ता रहित खेतना जाना
 वह किरना निशय स्वच्छन्द ।
 कंसे भूसा वा सस्ता है
 बचपन का यतुस्मित आनन्द ॥
 अँच-भौच का ज्ञान यहाँ पा
 उमापूत किसने जानी ?
 बनी हुई थी वहाँ ? शीपड़ी—
 और शीपड़ों में रानी ॥
 किये रूप के कुम्से मने
 पूत भँगूठा मुपा दिया ।
 दिलकारी चिन्मोस मचाकर
 सुना घर आबाद किया ॥
 रोना और मचस जाना मी
 क्या आनन्द दिखाते थे ?
 बड़े-बड़े मोती से आँसू
 जप माला पहनाते थे ॥

पक्ष के रोने से माता का हृदय कबलात्र हो उठता है। वह चाहे कुछ भी
 करती हो सारा बाम-बाम छोड़ कर उसे हृदय से लगाकर पुष्कारती है और उसके
 अपुत्रकों को अपने स्तन-सपारस से लीबकर मुगार्ती है। बाल-बीड़ाओं में कितना
 चापल्य कितना मुग और बिमोर करन बासा आनन्द उमड़ता रहता है—यह निम्न
 पंक्तियों में देखिए

"मे रोई माँ काम छोड़कर
 आई मुगको पटा सिपा ।
 लाड़-पौछ कर बूम-बूम
 गीले धालों को मुग्रा दिया ॥
 दादा ने चन्दा दिखाया
 मज नीर मृत बमक पटे ।
 बुनी हुई मुस्कान देखकर
 लबके खेहे बमक उठे ॥

यद्यपि पीबन की आरक तरलता और रग रग की आगवित बढ़ती बम के
 घाय नय-नये विकसित और परिवर्तित रूप धारण करती गई है, किन्तु बार्धव्य की
 बरण शिबिलता और ग्नाकीपन का मायिक विषाद बाव्यावस्था की भरहुड़ मरती
 को दण मना है। उस समय बचपित्री को लगता है माँ को उसके मुग का साम्राज्य
 छिन-भिन्न हो रहा है और वह लटी हुई और टपी हुई पकानी की चहू बड़ रही
 है। या एक मगद कल्पन क साब मूडन और रहस्यात्मक अनुभूतिधीमता में उसके

भीतर की लगभगता एकात्म्य होती जा रही है, फिर भी सारी जपकटा और मन का उल्हास हुआ हुआ सा ज्यता है । जीवन की विषय संघीकृति तो है, पर जीवन-वस्था के विविध कीतुहल और असाधारणता ने निस्सग मानसिक उल्हासाह एवं अममनस्कता में सभु कयस की विकासमान उद्घाय घाट के बेम को मानों जबरज्त सा कर लिया है । एक अनभूत गोपनीय मन-स्थिति में उसके हृदय में जभन सी वीबा होती है वो स्या पहुँचाया करती है और जिसके प्रति कनयिनी ने गहरे प्रतिबाध का मास व्यक्त किया है

“आजमरी बाँधें दी मेरी
मन में उर्मप रँधीली थी ।
तल रलीली थी कानों में
बँबल छेम छीली थी ॥
बिल में एक कुमल सी थी
यह बुनिया अस्वीकी थी ।
मन में एक प्येरी थी
ने तब के बीच जकेनी थी ॥
पिला पोवती थी जिसको
है बचपन ? टना दिया तू ने ।
करे । बचानी के पन्दे में
सुनको केसा दिया तू ने ॥

दैनिक जीवन के सघर्ष और विषय भर नुहस्वी की अगमित समत्याएँ और परस्पर विपरीत तथा इन्ध्यात्मक परिस्थितियों के कारण मन किरता चिन्तित और दुर्बह मार से बबा रहता है । परन्तु सुमहा भी ने नुहस्वी को कभी अंवास नहीं माना क्योंकि नारी के यचार्य रूप की व्यंजना पहले पली फिर माँ में होती है । महामहिम बगनी के रूप में तो उसके सर्वात्कृष्ट अलौकिक रूप प्रस्फुटित होता है । सन्तान उसके ध्यकित्त की पूरक है अर्थात् प्रति पत्नी के सान्ध समन्वय का मूर्तिमान प्रतीक उनके परस्पर विश्वास एवं समत्व का हेतु और उनके जीवन के हर संघर्ष आन्ध चिन्त-कहाप का मूलाधार । बचपन की नैसर्गिक विद्यान्ति भोली माठी मधुर सरलता और निष्कपण जीवन की याद मन के सन्ताप और असन्ताप पर मरुम का काम करती है

“आ जा बचपन ? एक बार फिर
दे दे अपनी निर्मल छांति ।
व्याकूल ध्यया निदानी वाली
बहु अपनी प्राकृत विद्यान्ति ॥”

चूँकि कोमलता और एकनिष्ठ संरक्षण ही मातृत्व-प्रेम के अंतःप्राथ का केन्द्र

बिन्दु है अतएव गाँधी के चरित्र-योग की साक्षिकता के सम्बन्ध में 'माँ' का रूप ही उसकी भौतिक साधना की प्रथम परिचयि और अर्थात् ध्यात्मक रसतरंग के समन्वय की सतत चेतना है। सुनो की टोल बट्टानों पर जो उसके चरित्र-व्यक्ति हुए हैं वे जैसे ही-भिन्न स्तरों में—जाने-पहुँचाने से लगते हैं और यद्यपि आज बीबल का रूप बहुत कुछ खरब मया है पर माँ के हाड़-मांस के घाँवर मंत्रक भौतिक व्यवधान की बिसृष्ट कसीटी म्यों की त्यों की है।

कचवित्री के हृदय को विलोडित करने वाली मनोभ्यया तर्क-वितर्क बिन्दा बाजंका और भीत्सुक्य का जब प्यारभाटा सा जगता है तभी उसकी मन्ही बिरिया यह स्वयं भय कर देती है। वह मिट्टी गाने के परचात् अपनी माँ को भी उसका स्वार चयान आई है। कचवित्री को तब ऐसा प्रतीत होता है मानों वह स्वयं बन्धी बन गई है और पुत्री के रूप में उसी का बचपन साकार हो उठा है।

माँ ओं कह कर बुला रही थी
 मिट्टी लाकर आई थी।
 कुछ गृहे में कुछ लिए हाथ में
 मुझे निकालने आई थी ॥
 पुलक रहे वे संग दुर्गों में
 कीर्तुल या छलक रहा।
 पुह पर थी साह्याद-भक्तिमा
 बिजय-मर्ष या झलक रहा ॥
 धेने पुछा "यह क्या लामो ?"
 बोल उठी वह "माँ, कामो।"
 हुमा प्रकुम्भित हृदय बुगी स
 धेने कहा "तुम्हीं लामो।
 बाया मने बचपन फिर है
 बचपन देती बन माया।
 जतरी भंजुल भूति बेमकर
 मूम में लवजीवन छाया।"

बालिका का निरपेक्ष प्यार माता के स्वरुचिबलित हृदय में बिलना अट्ट तादस और आत्मिक शक्ति उत्पन्न करता है। वह उनके साथ रोमन्ती है, गाँधी है मुनकाठी है और स्वयं बन्धी बन जाती है। वह अपने स्नेहात्मक में जो समस्त पैसा भागती है, जहाँ प्रेम और चरणाधिकारिता बाल्यमय के साम-जाय विद्य विरा में प्राण पारा स्पर्श हो रही है। माँ के जगत्वाचित्य निमाने में उसे एक मया अर्थ मिल गया है मानों जिन बचपन को वह बपों से गोद रही थी वह उसकी अपनी बन्धी के रूप में फोट बाया है।

“ये भी उसके साथ खेळती
 जाती हूँ तुतलाती हूँ ।
 मिलकर उसके साथ स्वर्ण
 म भी बच्ची बन जाती हूँ ॥
 जिसे खोजती भी बरसों से
 अब जाकर उसको पाया ।
 भाव मया था मजे छोड़कर
 वह बचपन फिर से माया ॥

एक अन्य स्थल पर इसी भाव को व्यक्त करती हुई सुभद्रा भी लिखती हैं

‘धीरे हुए वास्तव्य की यह
 कीड़ापुर्ण वाटिका है ।
 वही मचलना वही किलकना
 हेसती हुई नाटिका है ॥

माता का हृदय विधाता न किन स्वर्गीय उपादानों और दिव्य कृतियों को
 लेकर निर्मित किया है और न जाने कसे संतति-प्रम का वाक्यवचन मनःप्राप्त को एक
 अभिनव मोहबाल में जाबड छा कर केता है । एक कैसी विचित्र भावोग्माहना ही
 मस्तिष्क की धिराओं को अभिमूत ही कर लेती है कि जिससे माँ का व्यक्तित्व उसके
 बच्चे के द्वारा अभिव्यजना का मार्ग पाता है । बालक उसके आवर्णों का प्रतीक और
 सुख-सीमाय का पूरक है । कवयित्री के मानस लोक में बिना स्वप्नों रंगीन कल्प
 नाओं और मातृकृतामयी प्रम-संकेतनाओं के समुद्रमय के साथ साथ अपत्य-स्नेह का
 बरदान सा वह पुनीत बस्तक प्यार पनप रहा है जिसने उसे प्यार की लक्ष्मयता और
 आत्मा की विद्यालता प्रदान की है । यह माँ का अलख्य विरवास किए वाप्यवचन-
 कारी मानुरता और संयत औत्सुख्य के साथ स्नहस्सप दीप्तबस्तिमय प्यार की धिर
 कटी हल्की छायाओं को मन में उतार ऐसे कितन ही विच प्रस्तुत करती है जिनमें
 वास्तव्य की कोमकटा और मातृ-हृदय के दुर्लभ भावरत्न छिपे पड़े हैं ।

‘यह मेरी गोरी को शोभा
 तुझ सुहाय की है काली ।
 काही धान जिहारिन की है
 मनोकामना पतवाही ॥
 दीपजिवा है अण्यकार की
 बनी घटा की उजियाली ।
 अया है यह कलक-मूय की
 है पतलक की हरियाली ॥
 तुपा बार यह नीरस बिल की

मस्ती मगन तपस्वी की ।
 जीबन ज्योति नष्ट नयनों की
 सखी कथन मनस्वी की ॥”

यहाँ तक कि बालिका का स्वप्न भी उसे नहीं बखरता इसके विपरीत उसके
 मन्हे से भौंठ, लम्बी सिंघकी अशुविन्दु और कण्ठ बुष्टि से माँ का हृदय यद्गद हो
 उठता है । वह समझती है उसका अपना कोई भंग है उसके मनस्वान का स्पून
 प्रतिकरूप—जिसे उसकी आशयकता है जिससे उसका धनिष्ट नाता है ।

“मे सुनती हूँ कोई मेरा
 मुसको कहीं बुलाता है ।
 जिसकी कब्रामुर्भं जीब से
 मेरा केवल नाता है ॥

सुमद्रा जी ने बाल बेट्टाओं का भी बड़ा ही हृदयपाही वर्धन किया है ।
 ‘पतंग’ पर लिखी एक कविता में

“मात मात हे हरे हरे हे
 पीसे और चाँद तारा ।
 घेले बासा भी पतंग माँ
 लगाता हर्मे बहुत प्यारा ।
 रँसे बाला से बो माँ या
 पले बाबा ही से बो
 क्यों बेरी करती जाती हो
 जलो पठी रँसे हे बो ॥”

इस प्रकार माँ की जीबन्त रागात्मकता से इनकी वैयक्तिक निष्ठा का एका
 रम्य अविच्छिन्न सम्पक मात्र एक अट्ट बना हुआ है । महा भाव्यपीछा नापी का रूप
 जिसके जीबन की पूर्णता माँ बनने में है इनकी कविताओं में अर्पण सरल सहज रूप
 में व्यक्त हुआ है । जाने वाली पीढ़ियों माँ की आस्था और प्राथम्यता को क्या कभी
 संदिग्ध होने देंगी ? माँ के समूचे निश्चित व्यक्तित्व में संदृष्ट विभक्त व्यक्तियों के
 सरलेप का सहज समाहार हा लकटा है अर्थात् समस्त वास्तवों का स्वीकरण या उनकी
 परिपूर्ति । सुमद्रा जी ने जो कुछ भी लिखा वह माँ के रूप में सुमान्दम्यापी जीबन
 की एक ऐसी अभिन्न इकाई है जिग में सर्व निःशेष की प्राप्ति का आनन्दोपसाप्त है
 और जहाँ अन्तम् की रंजनकारी प्रकृति को बाँधकर वे अपने समन्वित भाव और प्रभाव
 से बिर-बिरान्त एक जनता-जनार्दन के समस्त निवेदित होती रहुँगी ।

“बिगरे बाल बिरल बरना ली
 धीने रोई रोई सी ।
 योरो में बालिका जिसे
 जगन ली रोई रोई-ती ।”

महादेवी की काव्य-साधना

साहित्य और कथानुसंगियों को महादेवी जी से प्रायः छिपायत रही है कि उनके इतिवृत्त में सामाजिक संघर्ष इस प्रकार एक वैषम्य के घात-प्रतिघातों की सीरी और निर्बाध अभिव्यक्ति न होकर उनके अपने एकात्मिक जीवन की पूर्णता के उत्थरक विषय है जो एक खास दिग्दिग्ध पर हस्की बुद्धिक रेखाओं में स्थापित होकर बसे हैं। जहाँ तक महादेवी जी की कविता का प्रश्न है बात कुछ इस तक सही कही जा सकती है। जीवन के बाह्य विरोधी बहिष्म्य में भीतर ही भीतर कुटिल रह कर और पीड़ा को धारमसात् करके वे जिस अवचेतन स्थिति में अप्रत्यक्ष रूप से श्रेयस्त होती रही वह स्पष्ट और महिर्गण न होकर बहुत कुछ कल्पनामय और मनोमय हो उठा। स्वच्छन्द विचारवाण और नतिक आर्तक से सहम कर ज्यों-ज्यों सतकी प्रकृत भावनाओं का समय और बोधन होता गया त्यों-त्यों स्मृक के प्रति उनका आग्रह कम होकर एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत होता गया और वे छायावाय की शिकमिष्ठ छाया में जैसे साँझमिचीनी धी सेवती रहीं।

जसमे हँस भी मेरी छया
मुझमें रो भी ममता माया
अमु हास ने विश्व तबाया
रहे खेतते आँसुमिचीनी।

वस्तुतः कविता में महादेवी के अन्तस्वर प्रकृत रूप में कम ही शकृत हुए हैं। कवयित्री की तरह सूक्ष्म कोमल अनुभूतिमाँ जीवन के जिस समय को लेकर प्रकट हुईं, वे जितन तक ही सिमट कर रह गईं कर्म की प्रत्यक्ष प्ररणा न दे सकीं। जिस सीमा रेखा के भीतर जीवन अन्तक बाधाओं से बिरा है उसे भाँभकर भीतर जाने में कम यित्री को जैसे मय भगता है। जीवन की बाह्य जयते ही वह सहय कर टिकक जाती है और स्पृह से उठकर सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति में प्रथय पाती है।

कौन मेरी कसक में नित
मबुरता भरता अलकित ?
कौन प्यासे खोजनों में
धुमड़ फिर शरता अवरचित ?

मस्ती मयन तपस्वी की ।
जीवन ज्योति नष्ट नयनों की
तपस्वी जगन मनस्वी की ॥”

यहाँ तक कि बालिका का स्वप्न भी उसे नहीं बखरता इसके विपरीत उसके नग्ने से झूठ, लम्बी सिसकी अशुक्ति और कथक दृष्टि से माँ का हृदय गर्भव हो चला है । वह धमसती है उसका अपना कोई बंध है उसके अन्तःस्वभाव का स्पूढ़ प्रतिस्वप्न—जिसे उसकी आश्चर्यकथा है जिससे उसका अनिष्ट गाता है ।

“मे सुनती हूँ कोई पैरा
मुझको कहीं बुलाता है ।
जिसको कथनापूर्व जीव से
पैरा केवल मरता है ॥”

गुमरा भी न बाक केप्टाओं का भी बड़ा ही हृदयपाही वर्धन किया है ।
‘पतन’ पर किसी एक कविता में

“काल धाल है हरे हरे है
पीसि और खरि तारा ।
बेसे बासा भी पतन माँ
जगता हमें बहुत प्यारा ।
पिसे बाला से बो माँ या
बेसे बासा ही छे बो
क्यों बैरी करती जाती हो
जलो पतो पैसे है बो ॥”

इस प्रकार माँ की जीवनत राशारमकता से इनकी वैयक्तिक निष्ठा का एकात्म्य अविच्छिन्न सम्पन्न आज तक अटूट बना हुआ है । महा भाग्यशीला नारी का स्वप्न जिसके जीवन की पूर्णता माँ बनने में है, इनकी कविताओं में अत्यंत सरल सहज रूप में व्यक्त हुआ है । जाने बाकी पीड़ियाँ माँ की आत्मा और प्राणवत्ता को क्या कभी रूढ़ित होने देंगी ? माँ के समूचे विकसित व्यक्तित्व में संश्लेष विभक्त व्यक्तित्वों के संश्लेष का सहज समाहार हो सकता है अर्थात् समस्त शायित्वों का स्वीकरण या उनकी परिपूर्ति । गुमरा भी ने जो कुछ भी लिखा वह माँ के रूप में मुकाम्तव्यापी जीवन की एक ऐसी अभिन्न इकाई है जिस में सब निश्चेयता की प्राप्ति का आनन्दोन्माद है और जहाँ अन्तस् की रंजनकारी प्रकृति को बाँधकर ने अपने लमन्वित भाव और प्रभाव से बिर-बिराम्त तक जनता-जनार्दन के समक्ष निवेदित होती रहेंगी ।

“बिन्दरे काल बिरत बरना सी
जाँके रोई रोई सी ।
धोरी में बालिका सिन्धे
जगन सी जोई जोई-सी ।”

महादेवी की काव्य-साधना

साहित्य और कलाकारागिनों को महादेवी जी से प्रायः सिखायत रही है कि उनके कठिन्स में सामाजिक संघर्ष हलचल एवं वैषम्य के घात-प्रतिघातों की सीधी और निर्बाध अभिव्यक्ति न होकर उनके अपने ऐकात्मिक जीवन की पूर्णता के उत्प्रेरक बिन्दु हैं जो एक लाल सिद्धि पर हस्की घूमिल रेखाओं में स्थापित होकर बसे हैं। वही तब महादेवी जी की कविता का प्रसूत है बावत कुछ दूर तक सही कही जा सकती है। जीवन के बाह्य विरोधी वैविध्य में भीतर ही भीतर कुंठित रह कर और पीड़ा को आत्मसात् करके वे जिस अवचेतन स्थिति में अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होती रहीं वह स्पष्ट और बहिर्मुख न होकर बहुत कुछ अस्वनामय और मनोमय हो उठा। स्वच्छन्द विचारधारा और नैतिक आदर्श से सहम कर ज्यों-ज्यों उनकी प्रकृत भावनाओं का समय और मोपन होता गया त्यों-त्यों स्वूल के प्रति उनका आपहू कम होकर एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत होता गया और वे छायावाद की शिल्पमिथ छाया में जैसे व्योमिषीनी सी बनती रहीं।

जसमे हूँस बी मेरी छाया
मुझमें रो बी ममता माया
अपु हास मे बिन्दु सजाया
रहे खेकते व्योमिषीनी।

वस्तुतः कविता में महादेवी के अन्तरस्वर प्रकृत रूप में कम ही प्रकृत हुए हैं। कवयित्री की तरफ नृमन कोमल अनुभूतियाँ जीवन के जिस सत्य को लेकर प्रकृत हुईं, वे चित्तन तक ही सिमट कर रह गये कर्म की प्रत्यक्ष प्ररणा न व सहीं। जिस सीमा रेखा के भीतर जीवन अनेक आधामों से बिरा है उसे काँबकर भीतर आने में कवयित्री को जैसे शय लगता है। जीवन की आह जमते ही वह सहम कर ठिठक जाती है और स्वूल से उठकर सूक्ष्म सौन्दर्यभूमि में प्रथय पाती है।

क्योन मेरी कसक में नित
मजुरता भरता अकनित ?
क्योन प्यासे लोचनों में
पुमइ धिर सरता अपरिचित ?

स्वयन-नयनों का बितेरा
बीर के सुने मिल्य में
कौन तुम मेरे हृदय में ?

महादेवी को जीवन में पीड़ा की बड़ी ही तीव्र अनुभूति हुई है किन्तु इस पीड़ा में भी वे एक प्रकार का आनन्द अनुभव करती हैं। उनकी कविता की अनेक पंक्तियाँ बतलाती हैं कि वे पीड़ा से छुटकारा नहीं चाहती बल्कि अन्य किसी भी वस्तु से यह उन्हें अधिक प्रिय है।

प्रश्न है, यह पीड़ा की अनुभूति कसी-जिससे छुटकारे की इच्छा न की जाय ? उसका जवाब धरा सा लगता है और रंगों की बाह रलते हुए भी उनके प्राणों में पुच्छ है। इस विज्ञासा के समाधान में हम कहेंगे कि उनकी पीड़ा या अंतर्द्वेषा भावना की तरलता में अभी अन्ततः अज्ञापोह की सहज सृष्टि बचना सामान्य है जिसमें अतनी भाविकता और विह्वलता नहीं है जिसकी पीड़ा के मूल में अपेक्षित है। पीड़ा कवयित्री के मन की वह सद् स्मृति है जो सौष्ठव में उमर कर किन्हीं अस्पष्ट प्रयोगों और बुझने जायेयों की क्षमिकता में फैल जाती है जिसे लीक-डीक पकड़ा नहीं जा सकता और नहीं जा सकता। अन्तों के माध्यम से अतनी सूक्ष्म मन स्थिति को व्यक्त कर पाना संभव ही कैसे है अतएव उनकी अभिव्यक्ति में यह दर्शन और दाह नहीं है जो अपने अस्तित्व से बहरा कर मध्यस्थ की प्रकृति को व्योक्ता की सीतलता और भीतर के कोलाहल को शांति में परिचित कर देने की स्वादिष्ट करे। वे तो अपनी पीड़ा अस्पष्टाहट और बर्चनी को क्यों का क्यों अद्युक्त बनाये रखना चाहती हैं।

मेरे पुलकाकुसुम
पलक पलक जाती रस-सागर तुम
प्रस्तर के जाती अन्धन तुम
सद रही क्या निषिदा नव-नव ।

पीड़ा महादेवी के जीवन की सक्रिय पृष्ठ है। उसमें वह व्यापक रसात्मक भावों है (कष्टों नहीं) जो एक छोर से दूसरे छोर तक संख्यात् होते की समता रखती है। इन स्थिति में कवयित्री कभी-कभी अपनी ऊँची उठहू पर उठ जाती है कि पीड़ा बैरना और विवधता में उसकी भावनाओं का तादात्म्य सा हो जाता है।

अप्रिय साम्प्रय गतन मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना प्रबला विराम
नव अदब अदब मेरा सुहाय
छाया ही क्या भीतराय
नुधि नीने स्वप्न रंगीले धन
साधों का भाव तुमहुलापन
बिरता विचार का तिमिर महन

संघ्या का नम से मूक मिलन
यह धनुमती हँसती खिलन ।”

महादेवी का हृदय मार्मिक संवेचना से भास्कर है जिसका मूल उत्स है प्रेम । अतिरिक्त तन्मयता और आकुल भावों के कारण उनकी अस्त्युष्टि बुरस गई है पर इनका उक्त प्रयोज्यमाय अतीन्द्रिय अनुभूति से परे सर्वतोभावेन आत्मार्पण की निष्काम विह्वलता में जो जाता है वही अन्तरात्मा की गहराई में असीम व्याकुलता छिपी पड़ी है । प्रम-साधना इस्तर तपस्या में परिणत होकर आन्तरिक के उस चरम बिन्दु पर पहुँच गई है वही छिछरी कायमानों को समेटकर उसकी पूर्णानुभूति की सार्थकता है और इस एक प्रम से उसके आगे अन्त प्रेमपिपासा बगती है ।

“जीवन है उग्यार लमी से
निबिपी प्राणों के लाले
मौब रहा है विपुल बेरला
के मन प्याले पर प्याले ।

प्रेम-विह्वलता का ऐसा भाषावन —बाहे बह कौनिक हो अथवा पारलौकिक —एक ऐसी विगन्धित प्रम-साधना की तस्लीमता बजाता है वही बेरला से अभिपिक्त और हृदयरस से प्साधित प्रमाकुर धारवत प्रम-पिपासा के महान् महीन्द में कइ चहा उठता है

है पुवों की साधना से
प्राय का भंडन मुलापा,
माय लपु जीवन किसी
निस्सीम विधतम में समाया ।

इसी 'निस्सीम विधतम' का मोहक स्नेहाइ रूप जो कबयित्री के कल्पना-पट पर बंकिठ हो गया है उसी के प्रावरस से मालों बह अंतप्रोत हो रही है उसका प्रत्यक नि स्वास उसी से मुबासत है और उसके कोमल सस्त्रों से बह मालों अभिभूत और आधिष्ट सी है । सबाँवकपेण बह उसमें रूप होना चाहती है उसके जीवन में अपने जीवन का राम और मूक संवेदन संदेकने की आकांक्षा रखती है फलतः बर्ब और कयक की संवासी अनुभूतियों में बह यम-यम उराकार हुई सी समती है

‘विधित - तू मे हूँ रेखा कम
मचुर राम तू, म स्वर संवम
तू असीम म सीमा का जम
कामा छाया में रहस्यमय ।
प्रेमसि विधतम का अभिनय क्या ?

मही कारण है कि इनका व्याख्यातीत बर व्यक्तिपरक होता हुआ भी समष्टिपरक है । विभिन्न मन-स्थितियों के बीच उसका संवर्धत रूप बड़ महारई

और मार्गिकता से डमरा है। परमाणु उसमें है, पर त्रिबुलिघोतक बड़ता नहीं। इसके विपरीत पूर्ण मनोभोग से उसकी सापेक्ष भावस्थिति को बड़े कीदल से ग्रहण किया है। कहीं-कहीं उसमें निहित पहले संकेतों को इतनी तीव्रता और स्थिरता के साथ बाँका गया है कि उसकी अभ्यस्त और गुणातिबुद्ध उपसम्भार्या की न केवल मार्गिक व्यंजना हुई है अपितु उसमें सौम्य और मांगस्य की प्रतिष्ठा भी की गई है।

महादेवी की उन्नत मार्गिक प्रकृति इतनी वैविध्यपूर्ण है कि उसकी विचारों में उनके मार्गिक ऊहापोह के अमंगल बिम्ब-प्रतिबिम्ब उभरे हैं। कहीं स्वल्प क्वाप में आर्सेटित विकृता अभ्रम और कुष्ठाओं की निर्द्वन्द्व अवधारणा है तो कहीं उनकी उन्नत भावस्थिति दर्शन की गरिमा में क्लिपटी-विपटी प्रकृत अनुभूतियों में मानवेतर होकर सुदम सौम्यबोध की छपन अनुभूति में लय हुई ही लगती है। यह उन्नत अनुभूति कवयित्री की आंतरिक पीडा के बोध से कहीं-कहीं इतनी सजामक हो उठी है कि उसके आहत कन्दन की अनुभूत अवस्था भीतरी अवस्था के कुहासे में बची पड़ी राधि राधि भावकहरियाँ हुमकहर सन्के मारती है और उसके ऐकान्तिक स्पष्टिभाव को सार्वजनिक तो कभी सार्वमिक चितन की कुंठा से भर देती है

“मुक्ताता संकेत भरा मन
भलि गया प्रिय जाने जाने है।
नयन धरनामय धरन नयनलय
भाव हो रही कैसी उलझन
रोम रोम में होता री सति
एक नया दर का सा स्वयम् !
पुलकों से मन कून बन गये
जितने प्राणों के छाने हैं।”

प्रेम-तत्त्व का प्राधान्य होने से महादेवी के काव्य में विकास की एक स्पष्ट अन्तर्धारा बीज पड़ती है। बुद्धमान पराणों के वास्तव और पाह्य रूपों को अक-हेसा कर के अपने भीतर के सौम्य को उलम्ब करने में उद्येक सचेष्ट है। भीतिक जगत् की कर्षणता जैसे उनकी दृष्टि, मन और प्राणों को स्पष्ट तक नहीं करती। उपा की आभोक भरी आभा में कभी उनके प्राण या उल्लेख है और कभी संघ्या की नवमादमयी घनता में सिहर उठत है। उनके छन्दोमय अन्तर में सियु का सा निरीह सारस्य है जो इन्द्रधनुष की रंजित शोभा के यन्त्रक्य बसबस आसमान में बनते मिटत देखता है और जिसके मन की दिवित्र उमग कौमुद की रंजीनी और जानन्य की पुलक कभी मान्य होगा नहीं जानती। दूर—बहुत दूर—जो म धृस्य का मूक मोन जब कवयित्री के मन के दिवित्र पर उद्भासित हो उठता है और किसी भी तरह स्पष्ट-अस्पष्ट रूप में वे उल्लेख अपनी बस्यता और सुम के भावबोगों से बाँध रचना चाहती है तो उनके अन्तस्य के किसी मुहुर, भीतरी कोने में उदासी उभर जाती है और एक हुन्का सा अजीब सा मोन छा जाता है। नीरव एकान्त वाता

वरम में सृष्टि के विराट् और वरम सुन्दर रूप को हिरनने की महम्म भेष्टा में बे खोयी सी अनाक बँठी रह जाती है और बनी गहरी बेबना में उन्हें एक चुटीली मिठस का अनुभव होता है। कभी उनका मन किसी अज्ञात वस्तु के साक्षात्कार की कामना में उड़प उठता है, कभी जीवन की गूह्यतम गूह्यता उन्हें अन्तरने खपती है और कभी अन्तर्पेट पर किसी निर्मम की चाह मचक उठती है अन्तरों पर अनुराग बिबर बाठा है और तबनों में विरह की छाया छटपटा उठती है

अपनी कपु निववासों में
 अपनी छावों की कम्पन
 अपने सीमित मालस में
 अपने सपनों का स्वप्न।
 मेरा अपार धर्म ही
 मुझसे है माय अपरिचित
 हो गया जबकि जीवन का
 सिकता-रुच में निर्वासित।

किन्तु कवयित्री की सुबन-शक्ति का यह अपरिचित अपार धर्म कभी चूक नहीं पाता उसकी अभिव्यञ्जना का आगे कभी बचना नहीं जानता। उसके भीतर कला-साधना की ज्योति उत्तरोत्तर दीप्त होती रही है और इसी आलोक ने उसे बाहर के अंधेरे की उपेक्षा करने की सामर्थ्य दी है।

महादेवी के काव्य में एक स्वप्निक मानसिक आवावरण और ध्वजा का सम्मोहन है। प्रकल्पोत्पन्न और अन्तर्-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में उनके धाव बितने ही अन्तर्बुद्ध होते पाए हैं उनका भावामिव्यञ्जना की कला भी उतनी ही सजग और दार्शनिक रहस्यात्मकता से आच्छन्न होती गई है। कौतूहल के बाव बिज्ञासा माई फिर रचित कल्पना और अन्तत कोमलतम सुक्ष्म सौंदर्य-भावना। उनके अन्तरतम में सहेजे उदात्त अपने सुबसी सी मीठी-मीठी यादक उदासी में भरकर कविता में उतरे। माधुर्य की मूक अनुमूर्ति में सौंदर्य का उनका आकषण उत्तरोत्तर अन्तर्मुखी होता गया और वास्तविक अनुमूर्तियों के मूढतम स्तरों में छिपी आन्तरिक उल्लस-मुदक को उन्होंने विविध रंगों ध्वनियों और अवाधारण क्षययता में संहत किया। किन्तु उनकी मातृभारा में कदम उल्लसाध धय और बेबसी की धन्धि है। जीवन के अत्यन्त निकट होकर उनकी दृष्टि वषार्बता की ठोस भूमि पर नहीं कोमल वस्तु पर टिकती है। उनका प्यार छसकता है पर उनके धम-संघात के सुसु। उनके भीतर कुछ बुराव सा है जो उन्हें यषार्ब के निकट जाने से रोकता है और यह बुराव उन जाने में ही कमस बढ़ता गया है। भीतर बर्द है कुछ अन्धक्य सा भुमकता हुआ उमरता भी है केवल कवयित्री उसे हवा में उड़ाना नहीं चाहती। यह दूरी का स्वाद सा करती हुई आध्यात्मिक पाप में उसे जकड़ केना चाहती है।

निम्न पंक्तिमें में भाव-गुम्फन देखिए

‘रजत-रश्मियों की छाया में बुझित घन सा बहु अस्ता
इत निराश से भासत में कदवा के झोल बहा जाता ।
उसमें मम छिपा जीवन का
एक तार अथवा कल्पन का
एक सूत्र सबके बन्धन का
संभ्रम के तुने पृष्ठी में कण-काण्य बहु भिन्न जाता ।

यों महादेवी के काव्य में एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी है जो निराकार उपासना सुफीवाद और बौद्ध-दर्शन से प्रभावित है, किन्तु उसे भी एक बौद्धिक प्रयोग ही समझना चाहिए। वहाँ भाव की प्रमुखता में तन्मय दब जाता है वहाँ व्यक्ति-जीवन के प्रसार में पहचान लीकें बिना जाती है। महादेवी के काव्य की दार्शनिक मूडता अत्यधिक कल्पनाशीलता सूक्ष्म चिन्तन संस्कारमय बुद्धि उत्तरी अपनी अनिर्दिष्ट स्थिति से उत्पन्न हुई है। वह अन्तः प्रकृति की ओर से नहीं बाह्य प्रकृति की ओर से है। इसीलिए उसमें उनका निबलन मूडता नहीं वह जैसे अपाचित अज्ञात आत्मन के सहारे दूर टँपा सा रह जाता है।

महादेवी के काव्य में कहीं-कहीं अत्यन्त अमानवीय स्वर गुन पड़ते हैं। निर्वाक स्वप्न बीतराग स्वर, जो स्वच्छन्द होकर भी अन्त-प्रेरणा के असीम आदेशों में निगड़ भावय है। किसी अज्ञात इच्छा से बिह्वल उनके समस्त कृतित्व पर घुसनी सी छाया पड़ी है। ‘बीपथिला’ में वहाँ कवयित्री ने गीतों के साथ तूष्णिका का भी प्रयोग किया है। कल्पना की मूर्धन्यताओं के साथ रसों का भी अत्रुतपून सामञ्जस्य हो गया है। उसमें काव्य और कला का तबीन क्यान्तर है कला की आत्मा का सजीव स्फुरण है और सूक्ष्म रसों की कलात्मकता के साथ उनके भाव-मायीय की अनिन्द्य अभिव्यक्ति है। बिषों में अथवा संकल्प मर विद्य गए हैं और कवयित्री की कला की अन्तरंग साधना गीतों के प्राप्ति में मुक्त ही उठी है।

किन्तु सच्चे अर्थों में सापक वे हैं जो साधना की निबिद्धता में बाह्य साधनों के ऊपर उठ जाते हैं। मानवीय अस्तित्व अपने भीतर चाहे कितनी ही गहिराई और चाहे कितनी ही महत्ताएँ सम्निहित किन्ते हुए क्यों न हा इस प्रकार की प्रेमयोग-स्थिति सहज सम्भाव्य नहीं है। स्वयं महादेवी की ‘आधुनिक कवि की भूमिका में लिखती है ‘चिन्तन में हम अपनी बहिर्मयी ब्रह्माओं को समेट कर किसी बस्तु के सम्बन्ध में अपना बौद्धिक समाधान करते हैं अतः कभी-कभी वह इतना ऐकान्तिक होता है कि अन्त से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चिन्ता पूर्ण रूप से बाधक ही नहीं रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन में बाधक होकर।”

बौद्धिक होने के साथ-साथ महादेवी के दार्शनिक चिन्तन में रस-सिद्धता अधिक है। उनके काव्य में उगात्मक उल्लेख है आत्मानुभूति नहीं। निम्न-निम्न

रों के भूमिगत आडोके में आध्यात्मिक-तत्त्व तिरोहित हो गये हैं और अबुष्ट विन्दु पर उनकी भावनाएँ जैसे बढ़ हो गई हैं एकरम सीमित। उनमें फँसाव नहीं है, मारी के सरस कोमल पाप को छोड़कर ब मानों माने नहीं बढ़ पाती।

गद्य

किन्तु इसके ठीक विपरीत महादेवी जी अपने गद्य में उस रूप का निर्वर्णन कराती हैं, जिसमें केवल स्वात्म को यौरेव और अनतता प्रदान करने वाले उपकरण ही नहीं प्रत्यक्ष रूप से हितकारने वाली प्ररणा-प्रदायिनी शक्ति है। ब अपन निजी व्यक्तित्व को छोट से छोट इतर व्यक्तित्वों में छद करके अपने बिब और बूसरे के दिलों की बात सुनने और सुनाने को तैयार ह। उनका गद्य कविता की भाँति सौंदर्य क मुलाह में डालकर हमें आँखों से दूर मही से जाता वह तो हमारी सिराओं में बेतना भरकर हमें यथाव जीवन में धाँकने की प्ररणा प्रदान करता है। वहाँ साधना और श्वासोहृ नहीं है, आँखों के परस्पर पूरक भिन्न है। आत्मा का सत्य शब्द शब्द पकित-नकित में सधीव होकर हमारे सम्मल उपस्थित हो जाता है।

आज भी जब कोई मेरी रगीत कपड़ों के प्रति विरक्ति के सम्बन्ध में कौतुक-परा प्रश्न कर वेठना है तो वह अतीत पिर वर्तमान होन क्यता है। कोई किस प्रकार समझे कि रंगीत कपड़ों में जो मुख धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगता है, वह कितना कठन और कितना मुर्झाया हुआ है। कमी-कमी तो वह मुख मेरे सामने माने वाले सभी कठन-नलान्त मुलों में प्रतिबिम्बित हाकर मुझ उनके साथ एक अटूट बन्धन में बाँध देता है।

स्मरण नहीं जाता बेसी कठना मेने कहीं और देखी है। साट पर बिछी मैली बरी सहनों विकृङ्गन परी मसिन बाबर और देख के कई बच्चे वाले ठकिये के साथ मेने जिस बयनीय मूर्ति से साक्षात् किया उसका टीक भिन्न से सकना संभव नहीं है। वह अठारह से अधिक की नहीं जान पड़ती थी—बुबल और बसहाय खेती। मुझे मोठ बाँधे साँके पर रक्त-हीनता से पीसे मुख में जाँसे ऐसे बल रही थी जैसे तेसहीन खीपक की बली।

‘मुझे आज भी वह दिन नहीं मूमता जब मेने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बचारों को सफाई का महत्त्व समझाठ-समझाठे बका डालने की मूर्खता की। बूसरे इतबार को सब जैसे के तैसे ही सामन ब—केवल कुछ संया भी में मुह इस तरह जो बाये से कि मैल खनेक रैखामों में बिभक्त हो गया बा कुछ ने हाप-नीब ऐसे पिये से कि शोप मसिन शरीर के साथ से बखन जोड़ हुए से समते से और कुछ न खेबा बाँध न बबमी बाँसुरी की कहावत खरिठार्थ करने के लिय कीट से मैल पटे कुपटे भर ही छोड़कर ऐसे अस्मिर्पबरमब रूप में आ उपस्थित हुए ब जिसमें उनके प्राय रहने का बावर्ष्य है गने अचन्मा कौन की शोपमा करते जान पड़ते थे।’

(अतीत क बकभिन पृष्ठ २८ ६३ ७४)

‘मुख से मटमँडे सफेद किरमिच के जूते में छोट पैर छिनाये पतलून और

पंजामे का सम्मिश्रित परिचाम बेसा पंजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आचार पर सिखा कोट पहने उमड़े हुए किनारों से पुरानपन की घोषणा करते हुए हूट स भाषा भाषा बह बाड़ी-मूँछ बिहीन दुबली नाटी को मूर्ति बड़ी की बह तो घातबत थीनी है। उसे सबसे अक्षय करके देखने का प्रथम जीवन में पहली बार था।

(‘स्मृति की रेखाएँ’ पृष्ठ २२)

आश्चर्य है कि महादेवी भी जिन्होंने अपनी रचित कल्पना द्वारा कविता में मनोमत्त मूर्ति करके असीदर्य को बहिष्कृत या गौण सिद्ध कर दिया था वे पद्य में सचेत प्रयत्न द्वारा जीवन को एक पूर्वतर एवं बढ़तर मर्यादा पर प्रतिष्ठित कर सकी है। वहाँ उन्होंने कलाकार की उस समृद्ध जीवन-दृष्टि को विकसित किया है जो बुद्धि वास्तविकताओं और कल्पनामूलक सम्भावनाओं के साम्य-वैषम्य की विभाजक सीमा मिटा देती है। आंतरिक रागातिरेक को उन्होंने अपने तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि जिस-जिस व्यक्तियों और जीवन की अलग-अलग वास्तविकताओं में छ्य कर दिया है। ‘अतीत के अलम्बन’ में बीसा के गाँव की गैबई नारियों का कितना समीप दृश्य चित्रित किया है बरा देखिए

‘दूर पास बसे हुए, मुड़ियों के बड़े-बड़े बरौंदों के समान लयने वाले कुछ लिये पुरे कुछ जीर्ण-शीर्ण बरौं से स्त्रियों का सुष्ठ पीठ-छाम्मे के अमचमाटे मिट्टी के नये लाल लीर पुराने मबरम बड़ लेकर पंजाजब भरने आता है उसे भी में पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेवार काठ कोई निरी काठी कोई कुछ सफ़ेद और कोई गैठ और सूत में झूँठ स्थापित करने वाली कोई कुछ नई और कोई छेवों से बछली बनी हुई बोटी पहने रहती है। किसी की मोग लपी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी विदूर रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में अमकती रहती है और किसी के कड़ने ठेक से भी अपरिचित कभी आटा बनी हुई छोटी-छोटी सट्टें मुँह को बेरकर उसकी लहाची को और भी कैथित कर देती हैं। किसी की साँवली गोक कलाई पर घहर की कन्धी मयबाद बुड़ियों के मय रह रह कर हीरे से अमक जाते हैं और किसी के बुर्कक काने पहूँके पर लाल की पीछी मँकी बुड़ियाँ कासे पत्थर पर मटमके अन्धन की मोटी लकीरें आन पड़ती हैं। कोई अपने मिरुट के कड़े-मुक्त हाव बड़े की भोट में छिपाने का प्रयत्न सा करती रहती है और कोई बाँधी के पछली-ककना की हाँकार के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाल की पैसे वाली तरकी बोटी-अकयी-कपी साँव मर लेती हैं और किसी के हाँरें अम्मी अजीर से पला और माल एक करती रहती हैं। किसी के पुरनत घुंसे हुए नेहूँए, पिरों में बाँधी के कड़े सुडोस्यार की परिधि सी बसते हैं और किसी की फँसी उँबधियों और सफ़र एड़ियों के साथ मिळी हुई त्याही रँग और कसि के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बड़ियाँ बना देती हैं।’

(‘अतीत के अलम्बन’ पृष्ठ ७६)

मि-सन्नेह, मानव जीवन इतना विखरा हुआ और विविधता से पूर्ण है कि उसे

देखने-समझने के लिए अपने चक्षुओं की आवश्यकता है। महादेवी भी ने अतीत की अनगढ़ धार्मिकमयीन क्लिष्ट स्मृतियों को सरस विरहास के सकोमल घाने में पिरोया है। उन्होंने जीवन में जो कई मोड़ उपम-युक्त आनन्द-प्रत्यावर्तन और उनसे प्राप्त स्थिर विवेक और स्थिति को परखने वाली आत्म-विश्वासमयी दृष्टि-प्रसार की कला सीखी उससे अपने सपनों के सरस किन्तु मार्मिक चित्र खींचने में उन्हें पर्याप्त सुविधा हो गई। उनका सरस तरल सजीव स्तह भूले गये गिराभित बाघकों को देखकर उमड़ पड़ा और उनका कोमल हृदय अमावस्यत भर्त्सनाओं की धिक्कार, पीडित उपेक्षित पुष्पों द्वारा रीदी और सामाजिक बन्धनों में जकड़ी नारियों की आशा-निराशा स्वास्थ्य-रदन और अन्तर्बाह्य ऊहापोहों से इतित हो उठा। वहाँ कहीं उन्हें परलम महहाय विषबाएँ अथवा कुमुदकी घी कोमल अस्पश्यस्का पति-विहीना किन्तु किसी युवक की क्लिष्ट बाधनाओं की धिक्कार, अर्थात् सतति से विमुपित कोई कियेरी बासा दीक पड़ी वही उनके भीतर का ठकाड़ा और भी अधिक दुर्दम्य कठोर आत्मवेदना से प्रताड़ित होकर प्रकट हुआ।

‘यदि यह स्थिति अपने सिधु को पीर में डैकर साहस से कह सके कि ‘अबरो तुमने हमारा मारीत्व पत्नीत्व सब से लिया पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न दोगी तो इनकी समस्याएँ तुरन्त सुलभ हों।

न केवल उपेक्षितों परित्यक्तों विधवाओं और अर्थात् अन्तान वाली माताओं के प्रति उनकी असाधारण करुणा और सहानुभूति जाग्रत हुई अपितु पुत्रों की सम्मोषणा की प्रग्वक्ति अग्निशिखा बनकर कप क्य सहित व्यापार करने वाली वेदनाओं तक के प्रति भी उनकी सहमावना है। महहाय बेवसी और मजबूरी के कारण धिनकी विन्वगी के मुख्य नित्य घटते-बढ़ते रहते हैं व समाज में हेम और पतित समझ कर भले ही ठकरा भी जायें किन्तु उनके पतन में पुण्य का स्वार्थ और उसके भीतर बुमड़ता हुआ कुत्सित बाधनाओं का कसमसाता ऊग्रान ही सहायक होता है।

इन स्थितियों ने जिन्हें गवित समाज पतित के नाम से सम्मोषित करता आ रहा है पुत्र की बाधना की बेसी पर, कैसा औरतम बहिर्गम किया है, इस पर कभी किसी ने विचार भी नहीं किया। पुत्र की बबरता रत्नलोपता पर बलि होने वाले पुत्र-नीरों के बाहू स्मारक बनाये जायें पुत्र की अधिकार भावना को अशुष्क रखने के लिए प्रग्वक्ति विदा पर शक भर में अक मिटनेवाली नारियों के नाम बाड़े इति-हास के पृष्ठों में गुरक्षित रह सके परन्तु पुत्र की कमी न बुझन वाली बाधनाभि में हँसते-हँसते अपने जीवन को तिक-तिक बसाने वाली इन रमणियों को मनप्य जाति ने कभी भी बूढ़ बसु पान का अधिकारी भी नहीं समझा।

(‘गूँतला की कड़ियाँ’ पृष्ठ ११३)

महादेवी भी ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और परम्परागत संस्कारों पर कहीं नहीं इतना दाहक थापाया किया है कि पाठक तिकमिला उठता है और उनकी अन्तरन करुणा एवं निर्मम कथोट से प्ररित पतिहीन अमिम्यक्ति को सजीव रंगों में चित्रित

देसता है। कहीं हृदय को इतित करने वाली कोमलता है तो कहीं कड़वाहट के सम्बन्ध से उत्पन्न कष्टापात। अप्रतिहत रूप से इन वधाघातों न उनके मर्म को छुआ है उनकी मार्मिक तीखी संवेदनाओं को उभाड़ा है और जीवन की समृद्धी सहिष्णुता और हर तरह के अनुभवों की परम्परा में प्रथम क्रिय व्यावहारिक एक सैद्धांतिक अन्तर्भाव को प्रत्यक्ष किया है। सामाजिक जीवन की गहरी पतों को छूने वाली इतनी तीव्र दृष्टि, नारी-जीवन के अपमान और शोषण को तीक्ष्ण से बौद्धिक वाली इतनी बागवन् प्रतिभा और निम्न-वर्ग के निरीह कुल साधनहीन प्राथियों का ऐसा हार्दिक और अनूठा चित्रण अत्यन्त कम ही मिलेगा। यथार्थ की टोच भूमि पर जब कलम चलती है तो उसमें अनुभव की गहराई होती है व्यक्त-विश्वास की सक्रिय सजगता निवास करती है। छत्रमें टोच होती है मिठास होती है चिरन्तनता साँस लेती मन्दर जाती है। महाबेबी के 'अतीत के अक्षिप्त' 'स्मृति की रेखाएँ' और 'पत्र के साथी' में उनके सुबल अन्तर्भाव अगरी सतह पर उठन वाली कहुरियों की भाँति नहीं बरन् अंतर्मुख के गहन-गम्भीर आच्छादन से उत्पन्न तीखे ठोस बिन्दु हैं जो मर्म पर चोट करते हुए अमित रूप से अक्षिप्त हो जाते हैं मानो भीतर की सारी दक्षिण संचित होकर अक्षयों में सजीव हो उठती है।

'सप्तपर्णा'

महाबेबी जी के बौद्धिक चित्तन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है 'सप्तपर्णा' और इससे उनके इतिवृत्त की संख्या गई दिया मिली है। उसमें उन्होंने भारतीय वाङ्मय के विकारे सम्बन्धों को अपनी रचित कल्पना द्वारा मुक्त किया है। जैसे अत्यन्त बड़े प्रवाह का न कहीं धीरे-धीरे नजर आता है और न कहीं आदि अन्त जैसे हो मिलता और दूरी भापती कितनी ही समानान्तर रेखाएँ बाज तक साहित्य के प्रवाह में कम हुई हैं। उक्त प्रवाह की चर्चा करते हुए महाबेबी जी कहती हैं—'प्रवाह में बनने पिटने वाली लहर नव-नव रूप पाती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती चूठी है, परन्तु प्रवाह से अटक कर अकेले उठ से टकराने और बिखर जाने वाली तरंग की मात्रा नहीं बालू मिट्टी में समाप्त हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को ऐसे एकाकी अन्त से बचाकर उसे जीवन के निरन्तर गतिशील प्रवाह में मिलने का सम्बन्ध देता है।

एक अन्य स्वयं पर से मिलती है— बालोक की मूर्ध से पृथ्वी तक माने में कितना समय लगता है, अंतरिक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक ध्वनि की मात्रा किस क्रम से कितने समय न पूर्व होती है, यह जानने में समय विज्ञान भी इस जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सका है कि मानवीय विचार और संवेदन का एक युग से दूसरे में संचयन किस क्रम और कितने समय की अपेक्षा रहता है। पर क्यों की संख्या और इतिहास की ऊर्ध्वोह के अभाव में भी हमारे हर चित्तन हर कल्पना हर भावना में मानो 'सत्त्वमसि' तुम नहीं हो का कभी स्पष्ट कभी अस्पष्ट स्वर गूँगा रहा है जो प्रमाणित करता है कि हमारे बुद्धि और हृदय के तारों में कोई दूरगंत संस्कार भी है। जिसके सम्बन्ध में तर्क की अक्षय्य उलझने हैं उसके सम्बन्ध में हमारा हृदय कोई

प्रस्तुत नहीं करता क्योंकि हमारी अंतर्दृष्टिगतता उसे अपना स्वीकार कर लेती है।"

सचमुच साहित्य की पटभूमि मञ्चे ही समसामयिक वैशिष्ट्य लिये हो फिर भी उसकी प्राणवान परम्परा रेष एवं काठ के सीमान्तों से पने ऊर्ध्व चिरंतन मानवीय समस्याओं से घना जुड़ी होती है। भाषा का साहित्य जिस जिज्ञासा अन्वेषण एवं प्रयत्न के बल पर इस विकास बिन्दु तक पहुँचा है वह अपने इस अभियान में कितनी ही पगबंदियों से गुजरकर एक बड़ी मजिबत व्यक्त करता हुआ आगे बढ़ा है। 'सप्तपर्वा' में महादेवी की ने हमारे साहित्य की समुच्च्य परोहर—वैसे आरंभवाणी वास्तविक चरणावा मन्त्रबोध काव्यवास मनभूति तथा अक्षरेण आदि की कृतिपूर्ण से कुछ मञ्च पत्रों का स्थापित प्रस्तुत करके सर्वथा एक नई परम्परा कायम की है।

सामान्यतः इस प्रकार का स्थापित कठिन कार्य है। कारण—ऐसी रचनाओं में केवल परबल होता है, वह अपने मौलिक चिन्तन और अनुभूति का स्वयं न बना कर परमुखापेक्षी स्वयं कहता है। अतएव मूक विषय की आत्मा एवं पृष्ठता को ऐसी रचना में यथावत् चित्रित करना एक बड़ी कला है और इस कला में महादेवी की—मिठी सम्मति में—सारी चतरो है।

सबसे पहले आरंभवाणी अर्थात् वेदों के सुजन और निर्माण की सम्पूर्ण विधि में एकाकार विभिन्न विचारधाराएँ—विश्वों में न सिर्फ हमारे धर्म संस्कृति आधार विचार वास्तव मन्त्राणों तक को गतिमान किया है काव्य रूप में प्रस्तुतित हुई हैं। अन्वेष से अनुसिद्ध 'आवरण' की निम्न पंक्तिवर्षों देखिए

"अपोतिष्ठतना तु धाने धर्म उतरी मू पर
विधियों में तेरा बाल रहा सबसे भास्वर;
ओ सुर्म बदन की स्वसा । गूच्छते तेरे स्वर,
हारें विद्वेपी रबी रहें हम विद्वेपी वर ।
हो अर्धगामिनी धत्य पूरणी बाह् मपुर
प्रकल्पित पुत मह अग्निशिखा छटती अवर;
ओ रूप भाव कक भी उसका प्रत्यावर्तन
करती अदमार्पे बचन नियम पति में आरव ।"

वैदिक साहित्य आठव भाग डेटे' है साध ही माया और शैली की दृष्टि से अत्यन्त सुकह थी। वैदिक होने के कारण सबसे हृदय का तादात्म्य भी बहुत कम ही पाया है, पर महादेवी की ने उसमें से वे चीजें चुनी हैं जिनसे किसी भी देश एवं काठ में मानव जीवन का अटूट सम्बन्ध बना रहता है। तथा अपोतिष्ठति अभि-
पात भू-अन्वेषण धान्ति-स्तवम साम्यमन्त्र पृष्ठप्रवेश जैसे विषय उसे हैं जो सर्वत्र सृष्टि का नियमन और संवासन करते हैं। समय की अर्थव्य परतों को भीर कर दूसरे आर पर वह मानव कर्तव्य-बोध यान-विराय हर्ष-विषाद और उदात्त-अनुत्पाद नृतिवर्षों की छाँकी थी उसमें मिक जाती है। अक्षरेण के ये उद्बोधन काव्य निरूपण

ही चीन्हे अन्तस्तक को झूठे हैं।

“यह उन्नत आकाश
और यह भारती जैसे
भीतिरहित है और
निरन्तर रहते अक्षय।
जैसे ही है प्राय।
अबाधित प्रति तेरी हो
गल्ल न होना और सदा तु रहना निर्भय।”

बैरिक साहित्य के बाव आदिकवि आस्मीकि की अमर कृति ‘रामायण’ में से कुछ सुन्दर प्रसंगों को छिया गया है। राम का सोकोत्तर रूप एक ऐसे योद्ध महा-मानव की उद्भावना है जिसमें सोकिक और पारलौकिक धरितियों का एक माध सम्पूर्ण है। आदिकवि के हृदय में राम की यह महाभाषा एक बहुत ही छोटी बटना से प्रेरित हुई थी। कौच पत्नी के कदम कन्दन में उनकी प्रतिमा को मानो सल्ले से बगा दिवा और उसके अस्फुट स्वर इस महाकाव्य में छय होकर अजर-अमर स्वर और, शास बन गये।

“भ्याव से हत कौच की
धनीय स्थिति का ज्ञान
कर गया मुनि धर्मजन के
द्रवित आकुल प्राण।
बैलकर तब विरल की-की
ध्याय धरित धर्म
बहु बली बाधी सहज,
के द्रवित उर का मर्म।

जन में राम और भरत मिछाप की कुछ काविक पंक्तिवाँ बैकिए

“भरत तब बीड़े उचित
कुछ मोह से आकाश
धरत तक पहुँचे न पू पर
विर पड़े कुछ आगत।
‘आर्य’ ही मत कह सके वे
धर्म में निष्ठात
कण्ड पदपद से न निकली
अस्य कोई बात।

आदिकवि आस्मीकि के बाव महाकवि अस्वतोप आशिबास भवभूति जयदेव तक माने के लिए बीछ साहित्य की अटूट लम्बी परम्परा को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता।

बीड़ वर्धन बम्पबध पाठक कथाएँ और बेटी-बेटी गाथाएँ हमारे भारत की मिट्टी से सिरपी गई, उनके विद्याल बहिष्कृत में मुक्तमूठ जीवन की कितनी ही व्याख्याएँ और अनुभूतियाँ लिखी पड़ी हैं। बीतराज बिल-भिरकभियाँ राजकुमार-राठीपुत्र बाह्यन-मूत्र साध्वी और गणरजबुएँ, राजमहिषी और श्रुत शक्तिपाँ—इस प्रकार विविध वर्ग परिवार और परिस्वरियों के भुक्तबोपी मानव और उनके बन्धित मुख-बुख हृष-विषाद और पाठ प्रतिपाठ के बीते-जाते बित्र हूँ उन बीड़-साधनाओं में मिलेव वा तहम ही हमारी रापारमक खिदनाओं को भागीकृत करते हैं।

'बुठपरित' और 'शोन्दरनम्' महाकाव्यों के रचयिता अरबबोध महाकवि काकिरास के पूर्ववामी हैं। बीड़काशीन शार्सनिक कविओं और धार्मिक मान्यताओं के बाबजूद भी इस तत्त्वज्ञानी कवि की रसघाही चेतना के तनु बसकी अन्तरंग अनुभूतियों को छुकर, साप ही पीतरी राग-विराम आकर्षक-विकर्षण तथा कठोर साधना के साथ-साथ उबकी उपमवी अग्निभक्ति की ठारिकक एकता की ओर भी संकेत करते हैं।

“बिहृष और सुपरत दोनों ने
रोक दिया ककरव कोलाहल
घान्त तरपों में बहता वा
घान्त भाव से सरिता का बल।
घान्त रिघाम् स्पञ्ज हो गई
नील पयव वा स्वच्छ मेघ बिन
पवन लहरियों पर तिरता वा,
विष्य लोक के तूपों का स्वर।

महादेवी जी के हृमों काकिरास के प्रकृति-विष और मनभूति तथा पयदेव के शृंगार और वेग पद भी बड़ी ही सजीनता और शोन्दरानुभूति के विवर्यक रूप कर उभरे हैं जिनमें भारतीय लोका बीदन जानें उनकी कपनियों में सतत प्रवाह-शीन रसबोध है जो न कभी सूखा है और न सूबेया। आर्ककारिक योजना और अन्ध विग्यास को ही कण्ठ का प्राण माना जाय तो इस विद्या में भी महादेवी जी न बड़ी ही यरिमा और प्राध्यादिकता के साथ उसे निषामा है। किसी छुपरे की अनुभूति को संप्रयथीय बनाने के लिए उसे अनुबारों वा कण्ठरों की निरूह स्पञ्जता एक बड़ी ही कठिन साधना है, बिना ठगमय हृष उसे प्राणों में उतराव नहीं वा सकता। काकिरास के अत्र-विलाप की व संस्तरिबी कितनी शजीन उठरी है

“बाहू की सुरलोक की,
कुसको न पर छोड़ा बकेला
धरम ही नित्र सुम यहाँ
सुम रज गई हो पवन-बैला।

पर बिरह की गुह ध्यया से
यह हृदय है भार बोझिल
के नहीं पाले इसे ये साथ
कुछ सबलम्ब सम्बल ।”

कालिदास की प्रकृति-निरीक्षण से प्रेरित ‘कुमार संभव’ ‘रघुवंश’ ‘मेघदूत’ ‘शकुन्तला’ ‘विश्वामोर्षधी’ और ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ आदि के प्रसंगों को भी उन्होंने मार्मिक रूप में शायोचित अभिव्यक्ति प्रदान की है। शकुन्तला की विवाह की ये पंक्तियाँ—

“साध विवा होगी शकुन्तला
सोच हृदय माता है भर-भर,
दृष्टि हुई चुन्की हुई बिना से
कठ अमु से कण्ठ बड़ स्वर ।
जब ममता से इतना विचम्बित
व्यथित हुआ बनबासी का मन
तब इहिला बिछोह नूतन से
पले कितनी ध्यया गृही जन ।
ग्रह्य किया या कभी न जिसने
तुम्हें पिताप बिना स्वयं बल
संभल प्रिय होने पर भी जो
नहीं स्नह के तोड़ सकी बल
बन्ध तुम्हारे नब मुकुकों का
जितके हित होता या परस्पर
बह शकुन्तला जाली पति पृह
बाध अगुना वो इतको सब ।”

‘मेघदूत’ में बिरह काठर पथ अपनी प्रिया को संदेश भेजता है। महादेवी की शरल माया में एक संबंधित नाव-इकाई की रूपरूपि करती है

‘संस्पर्शों के शरल बलजुक ।
के बावो संदेश प्रिया तक
दिरा जिसकी धनद कोप से
बिरह तप्त काया ।
जापाइ मान का
प्रपन्न विवात जापा ।”

और भवभूति के ‘जलतरामचरित’ की बरा रूप पंक्तियाँ देखिए
‘ये के ही विरि सुजर मयुरों की केका से
बनाबली है बही मत हरिनों से संकुल

जहाँ निचुल पावप जल में एहरे बूबे हूँ
वही नहीं लट जहाँ मंशु लतिकारें बंशुल ।”

‘सप्तपदी’ में महादेवी जो ने प्राचीन काव्य-शैली को समझे सांस्कृतिक सन्दर्भों में ग्रहण किया है और अमस्कार परिष्कार और अतिरिक्त प्रेयपीयठा द्वारा उसे परिणामय बनाने की चेष्टा की है। इसमें तात्पर्य का उल्कास या कमानी वृष्टि नहीं है अपितु आंतरिक सहानुभूति एवं संवात का सम्मोहन है। अन्तर्भूतना एवं मन-सम्बन्ध के माध्यम से जो कुछ उन्हें अनुभूत हुआ अथवा साहित्य के बहुविध प्रसार में हाँककर कसा और सौन्दर्य को आत्मोत्कृष्टि द्वारा बितना भी वे उसे मुक्त बना सकी वह निरूपण ही उपादेय एवं प्रमत्तियु है। स्वयं महादेवी जी के शब्दों में—

“किसी कवि की छवि के अन्वयन के समय उसकी अनुभूतियों के साथ पाठक का जो साक्षात्सम्बन्ध होता है वह कभी पूर्ण कभी अर्धतः पूर्ण और कभी अधूर्ण हो सकता है। इस साक्षात्सम्बन्ध की मात्रा के म्यनाचिन्त्य पर केवल उसके अपने आनन्द की मात्रा का म्युनाचिन्त्य निर्भर है किन्तु जब वह किसी की अनुभूति को सम्यक्तः दृष्टि से सम्यकीय बनाने का कर्तव्य आँकार कर लेता है, तब उसका साक्षात्सम्बन्ध या उसका अभाव जो पदों के प्रति उत्तरदायी है। प्रस्तुत अनुवाद की अपूर्णताओं के प्रति मैं समझ हूँ किन्तु समुद्र की अतक पहुँचई से निकला हुआ मोती काष्ठ की छोटी मंगूरा में भी रखा जा सकता है।”

जीवन-दर्शन

किसी भी श्रेष्ठ कलाकार की महत्ता का मापदण्ड उसकी अनुभूति की पहुँच और उसकी विषय-वस्तु का फैलाव है। कलाकार क्यों-क्यों अपनी भावनाओं को विरचालना की एककता में लय कर देता है। क्यों-क्यों उसके आत्मभाव की परिधि व्यापक होती जाती है और तब प्रत्येक अर्थ वस्तु उसकी बुद्धि का विषय बन कर अनुभूति का विषय बन जाता है। जसा कि हम ऊपर कह आये हैं महादेवी के काव्य में विदग्ध आवावरण की सृष्टि हुई है। उनकी अस्पष्ट आकाशमयी आह्वानों आन्तरिक विषयता का परिणाम है। बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता अथवा न होने से उनमें भी आत्म-पीड़न और अनासक्ति है उसी में जीवन के प्रति उनका दृश्य विरहास छोकर उनमें लीस निराकार आश्रय पलायन घावना और शिथिल उत्पन्न कर ही है। यद्यपि यह आन्तरिक विद्रोह और भी अधिक तीव्र और कुलकर व्यक्त हुआ है। अन्तःसंघर्ष और अस्तित्व के साथ-साथ उनमें सामाजिक परिस्थितियों से उभाव है और वह उभाव मह अनासक्ति ही उनके सारे दर्शन का आधार है। यद्यपि सामाजिक जीवन की हार्दिकमुत्पी बतानुभूति के प्रति स्वल्प एवं सखल विद्रोह होते हुए भी उनमें पवित्रक कान्तिकारी चेतना और सम्यक किमाधीकता के चिह्न नहीं हैं। उनमें राय है कथावात नहीं पराजय है प्रतिकार घावना नहीं कोमलता है कटोरता नहीं निर्मम वास्तविकताओं के प्रति मूक स्वीकृति है, उनके निदान का

कोई स्पष्ट उपचार नहीं। महादेवी में बिबोही तत्त्व सांजातिक सामाजिक निरंकुशता घहन नहीं करते अतएव उनमें प्रतिरोध और विरक्ति है जिसमें विपार का गहरा नुट भी है। कहीं-कहीं जहाँ उध गहरी है, उनका बज आत्मा उड़न उठती है। उनके भीतर में बिबूप बज उठता है नापीत का यह भीलकार कर उठता है और वे अधिकारिक वास्तु होकर जोट करती हैं। समाज की विभिन्न हासोमुसी बिकतियों का पर्याकास करते हुए उनमें हृदय की मधुर पीड़ा की कण्ठत मुन पकटी है जो पाठक के मस्तिष्क में अमित बिह्व सभा जाती है।

इसी को अधिक स्पष्ट करें तो हम कहेंगे कि पद्य और पद्य में महादेवी के जीवन-दर्शन की दो पृथक बायाएँ बिबसित हुई है। उनके पद्य की कसौटी है सदा संजम्य और आत्मपीडन जिसमें बाह्य परिस्तिथियों में आस्था न होने के कारण अन्तर्मुखी बिन्दन है बिबुद्ध बाध्यात्मिक अनुभूति नहीं। आत्मबर्षी बिन अनुभूतियों में रमता है उनका उसमें अभाव है अतएव इनका पद्य राजारमक कल्पना का पूर्ण प्रति निधित्व करता हुआ भी इतना ओकसबिध न हो सका जो मन में उतर पाता। इसके बिपरीत महादेवी के पद्य का अणमा पृथक अस्तित्व है। पद्य के अंतर्गत स्वरो को उगहोंने गद्य में मुलर किया है और जीवन को उगहें अर्थों में प्रतिच्छिन्न करने का स्वप्न देखा है। ओक-सामाज्य भवेदनीयता की भावभूमि पर उगहोंने गहरे-हस्के रंगों के सम्मिश्रण से जीवन के जो बिब बिके हैं वे अर्धपूर्ण अनुभूतियों के आचार पर वचार्थ का उगह निरूपण करते हैं।

'मामा 'दीपशिखा' और 'आधुनिक कवि' की भूमिकाएँ कविनी के अन्त संजन और प्रमुख संकल्पों की बिचारारमक प्रतिच्छिन्ना है जिसमें अपने पद्य-समर्पण का बापड अधिक अस्तस्थिति की निधिष्ट बिषाओं का संश्लेषण कम है। कहीं-कहीं बाध्यात्मिक बिन्दन की बोधिव्यता से उनका भाव-अ्यंजना सहज पुञ्ज हो गई है।

महादेवी जी की एक बिचिन भावत है कि वे हँसती बहुत हैं और कभी-कभी बिपरीत स्थिति में भी बेहृ हँसती हैं। जीवन के प्रति 'ट्रेजिक' बुदिकीय रत्ननेवाली कविनी का यह रूप बहुतों को आश्चर्य में डाल देता है।

मानव-मन के सीमास्त क्या है ?—यह तो बताना कठिन है, किन्तु किसी भी शारीरिक अथवा मानसिक अतम्बद्धता बिमंयति या बिपर्वब से उगन वेतन का अने तन से संयोग होने के कारण मनुष्य का पराबित मन बाह्य संघर्षों से उगकर एक कास्मनिक शूटी मस्ती अथवा मन बहुसाने वाली भावकता का प्रभय लेता है और अपनी पदकङ्कण से भरी अनुभूतियों की भावेमपूर्ण अभिव्यंजना करने लगता है। यह एक प्रकार का अक्षयहीन लक्ष्य है जो उसे कास्मनिक मुन देता है। अनक बार बाहरी अक्षयकठारों और भीतरी बिबलता माबुक ब्यक्तियों को प्रमादपस्त बना देती है। उसकी वेदना में अंधे कदम आरोग की प्रचुरता होती है, उबी प्रकार उसकी बिपरीत प्रगिनिया हृय भी बिचिन और भावेमपूर्ण होता है। महादेवी जी की हँसी

निराशा पछानन भावैय बृष्टि असन्तोष और भीतरी विवशता का परिणाम है जिसे अनन्त सचर्चों से परे मुक्तताबन्धा कहा जा सकता है। यदि हम उनकी हँसी का विश्लेषण करें तो उसके अन्तर्ग में उतनी रसात्मक अनुभूति नहीं मिलती असम्बन्धता असंगति और अपेक्षापन पायग। उनके रस की भाँति उनका हास्य भी सञ्चारक है। असम्बन्ध बातों और विपरीत स्थिति में हँसना इसी संभ्रमन से प्रेरित होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विश्लेषण किया जाय तो अज्ञात मन की सभी बृष्टी इच्छा-आकांक्षाएँ कभी ऐसे बाहरी विषय पर आ टिकती हैं जो किसी विशेष अवस्था में स्थिर या आगेपिठ हो जाती हैं। बेहद विरोध या असाधारण वमन ही इसका मूक है जो बाहर भीतर असामञ्जस्य के कारण अस्थिर का अनुकूलन बियाड़ देता है। मनोकोक में यह भीषण कक्षाबाट एव अँड-संघर्ष 'मनोविच्छेद' (Mental Dissociation) का कारण बनता है जिससे मानसिक दीर्घस्य या मनोविशेष उत्पन्न है। मन की अस्थिरता अल्पिक संवेन एव अत्यधिक भावुकता कुछ ऐसे मनोभ्रम उत्पन्न करती है साथ ही परिस्थिति की प्रतिकूलता परस्पर विरोधी बृष्टियों को प्रथम देती हुई उन सबैगों को उमावती है जिससे अकारण ही हँसना या रोना आता है। किसी बुरावही बृष्टि से सुटकार पाने के लिए मन जब किन्हीं अक्षेय कल्पनाओं में रमन लगता है तो अन्ततः वे ही उस पर डाली हो जाती हैं और वे विभिन्न क्रियाएँ या हठ-अवृत्ति घने-घने उसकी बाह्य में सुमार हो जाती हैं। यह समझत हुए भी कि यह असंभव अकारण और निराधार है ननु विवश रहना है मानों ये नियत क्रियाएँ या सांकेतिक श्रेष्ठाएँ उसका अभिन्न अंग बन गई हैं और ऐसी स्थिति में सहज ही वैचिष्य अवस्था असामान्य श्रेष्ठाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

कभी-कभी अतीत की घटनाएँ—जिन्होंने हमें बहुत अधिक प्रभावित किया है—हमारी मौजूबा अनुभूति के साथ संस्मृत होकर समूचे चेतना तंतुओं को एकछोर बाँधती हैं। फिर वे इस प्रकार मन पर बाधक बन जाती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे माना प्रतिक्रियाएँ आत्मसंघर्ष की घोरत और मानसिक विकार की कपा प्तर मात्र हैं। इससे 'मूड' या ज्ञात मन—जो बाहरी जगत् के विमम-उपनिषयों में बँबा है—सर्वव्य भविभूत रहता है और अज्ञात इच्छाओं से परिभासित मन के सूक्ष्म तंतुओं को विभ्रुकक करता रहता है। परिणामस्वरूप संवेगारमक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ असम्बन्ध हो जाती हैं और इससे उसमें कभी अत्यधिक प्रसन्नता आती है तो कभी अत्यधिक उदासी। यह उसका तात्कालिक मनोभाव या 'मूड' पर निर्भर करता है।

जब चेतन-अचेतन स्थिति में हृदयस्व भाव विचार एवं आसम्बन्ध एक हो जाते हैं तब हम किसी विशेष बात पर नहीं हँसते न किसी वस्तु को हृस्पास्पय आनन्दर ईमते हैं वरन् जो ही अपने आप हँसने हे तब हँसी भीतर से नहीं बाहर से आती है। महादेवी भी अपनी हँसी को स्वकीय भाव से नहीं मुक्त भाव से अप नाती हैं। जनक बाह्य सुध-कुञ्ज जय-पराजय मान प्रपमान हासि-काव्य और प्रिय-अप्रिय प्रसंग उनकी आरिभक दृष्टता से टकराकर मन्त हँसी में विकर जाते हैं। हँसी

का विरलेपन करती हुई एक स्वयं पर महादेवी भी स्वयं लिखती है

“जब हमारी दृष्टि में प्रसार अधिक रहता है तब हम किसी एक में जैसे कैम्ब्रिज नहीं कर सकते। प्रत्युत् हमारी विहंगम दृष्टि एक ही क्षेत्र में एक साथ भ्रमक को स्पर्श कर जाती है। इससे जिस चीज तक हमारा ज्ञान बढ़ जाता है उसी चीज तक हमारी दृष्टि के विषयों का महत्त्व घट जाता है। इसके विपरीत जब हमारी हँसी में मुक्त विस्तार नहीं होता तब हम हँस के सफ़ोरे के समान उसका सुख स्पर्श सब तक नहीं पहुँचा सकते। उस स्थिति में हमारे हास-परिहास व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों को केन्द्र बनाकर सीमित हो जाते हैं। बसाकार की दृष्टि एक-एक पर ठहर कर ही प्रत्येक को अपना परिचय देती है और उसकी हँसी एक साथ सबको स्पर्श करके ही आत्मीयता स्वीकार करती है। इस परिचय और आत्मीयता के अभाव में जीवन का यह आदान प्रदान सम्भव नहीं होता जिसकी साहित्य और कला में पग-पग पर आवश्यकता रहती है।

महादेवी भी भावप्रधान कवयित्री हैं। भावोन्मेष ही उनमें जीवन-साधक आशा जागृत दृष्टि साहस आस्था सद्योप और अदृष्टि-समष्टि सम्बन्धी व्यापक अनुभूति तथा विराधी तत्वों को उन्मीलित करने की शक्ति देता है। इसी भाव-भावना से उनमें आत्मनिष्ठा उत्पन्न हुई है।

अनेक बार उनके रचनाधर्मों और संस्मरणों को पढ़ते हुए यह विचार मन में पड़ा कि महादेवी जी ने अपने कठित्व में निजी वैवाहिक पहेलियों पर क्यों न प्रकाश डाला अपना पति से सम्बन्धित किन्हीं भी अनुकूल-प्रतिकूल अनुभवों को क्यों न धर्मों में बाँध दिया जैसा कि उन्होंने अपने जन्म वधवन स्वभाव तथा माता-पिता भाई बहिन और सम्पर्क में आये अन्य छोटे-से-छोट व्यक्तियों और घटनाओं के सम्बन्ध में किया है। वस्तुतः महानु साहित्य-साधक के सम्बन्ध उसका अपना स्वयं पूर्वक अस्तित्व नहीं रहता और पार्श्वक एवं भद्रभाव की सांस्कृतिक व्यापक आत्मानुभूति में लय हो जाती है।

कहाँ मिलेगा वह बिलुका प्रियतम ? क्या आया ? क्योंकर, कैसे किन सुखर सगो और सीमाग्यधानी बेका में उससे साक्षात्कार होगा ?

“ओ तुम या जाते एक बार ।
कितनी कष्टत कितने सहिष्
पक्ष में बिछ जाते बन परान;
माता प्राची का तार-तार
अनुगत सरा उम्माह राग;
आँसु केते हैं पक्ष परवार ।
हँस उठते पक्ष में मर्छ नयन
पुन जाता मोठों से विपार,

छा जाता जीवन में बसत—
 कूट जाता फिर सचित विराग;
 यों देखती सर्वस्व पार ।”

किन्तु जब क्या सपना होती है तो भाव स्वप्न और अनुभूति-शक्ति विचित्र हो जाती है। न उसका निश्चयेपण ही हो सकता है और न उसकी व्याख्या ही संभव है।

‘रस सी भीरव क्या तम सी भगम मेरी कहानी।

क्या जाने यह भगम कहानी महादेवी जी के लिए भी पतनी ही कुमोच और अनजानी रह गई हो कि वे स्वयं आज तक उसके अलङ्कार में न पठ पाई हों और अपने अन्तर्मग की सूक्ष्म प्रक्रियाओं और जीवन-सूत्रों का उस बटना से कोई सामञ्जस्य न बैठा पाई हों।

जब साधक आत्मनिष्ठा बना लेता है तो उसे जीवन के आदान-प्रदान की आवश्यकता नहीं रह जाती और न वह अपने जीवन में सामञ्जस्य-असामञ्जस्य दू करने की चेष्टा में ही अपनी शक्ति व्यय करता है। उसे न किसी के संरक्षण की अपेक्षा है और न कोई बन्धन ही उसे अपनी सीमा में बाँध सकता है। महादेवी जी किबती हैं ‘स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है तब पुण्य उसके लिए न महत्त्व का विषय रह जाता है, न मय का कारण ।”

महादेवी जी आज उस सतह पर पहुँच गई हैं जहाँ विभिर की सीमा पार करके वे निस्सीम पक्ष की पत्नी हैं और उस पक्ष की अशेषता को जानते हुए भी उनके धर्म और विश्वास का अक्षयान नहीं है। उनकी अन्तःशुद्धता बरकर आज अपने अभ्यय रूप में सुस्थिर हो गई है उन्हें न विजय की माकांक्षा है और न पराजय ही उनके अन्तःविश्रम का अवरोधक है। वस्तुतः कला की समस्त साधना ही उनके जीवन का प्रथम और अन्तिम ध्येय बन गया है।

हिन्दी काव्य क्षेत्र में गारी के योगदान पर विचार करते हुए दो बातें विचारणीय कही जा सकती हैं—एक तो उनके कृतिरस में मानव-जीवन के युगल पक्ष भौतिकवाद और अध्यात्मवाद की जगमग छाया का प्रस्फुरण दूसरे कथन कोमल और अत्यधिक मादप्रबल होने के कारण उनकी गारी-मुसमल शब्दना शिथिल सरल और मर्मस्पर्शी बन पड़ी उनकी अनुभूति उतनी ही तीव्र और गहन होकर प्रकट हुई।

प्रेमयोगिनी मीरा की कविता अनुभूती वेदना के कर्मों से सिंचित है—यह कौन नहीं जानता? उनका प्रेम कितना सच्चा है, उनकी सगत कितनी गहरी और स्वाभाविक। प्रियतम से अपने को एक रूप मानती हुई उन्हें भिन्न अस्तित्व की भावना ही नहीं होती। उन्हें वाचस्पत्य हो गया है और भिन्न-भिन्न नौ आकांक्षा उन्हें उन्मत्त बना देती है।

भैं तो गिरधर के रँग राती
वेचरैय खोला पहन सखी
मे गिरमिर खेला जाती
या गिरमिर में मिलो सखी
खोल मिली तन जाती।

विरह की कसक के साथ मिलन की प्रसन्नता अनुभूति भी हमें मीरा की कविताओं में मिलती है। उनमें अपने उपास्य के लिए वेबल कथन अधीरता ही नहीं हृष्य की विह्वल प्रसन्नता भी मिश्रित है। आत्मा में उमड़ती उद्दीप्त भाव-तरंगों को बाणी का रूप देकर उन्होंने जिस स्वच्छन्दता एवं सरसता के साथ अनुभूति और सवेदन दीलता का मिश्रण किया है—वह लाकोतर है। वाचरण सुग्नों में भी वे कितनी अंभी बात कह गई है

‘जनन बनब बसाई री जो म साहब पाई री ।
इन मनन मेरा साहिब बसत, उरती पलक न नाई री
त्रिभुवी महल में बना है आरोपता तहाँ से माँकी भगाई री ।

और

‘सुरत निरत का विचला लँकोले मनसा की करले जाती

प्रेम हृदी का तैल मँबाले, जगो रघुा दिन रस्ती ।

मीरा मुक्तत' समुजोपासक है उन्होंने अपने उपास्य श्रीकृष्ण के मधुर रूप की ही उपासना की है किन्तु जब उनकी मुझतम अन्तर्मूर्ति अन्तस्तास को चीरकर अपनी स्थिति स्थिर न कर सकी ता उन्होंने उस निर्गुण को भी बाहा जो मौलिक प्रपंचों से परे एकरस और निर्मल है 'आ अपनी यँच बठा बा । कहीं वे कहती हैं

‘सूखी ऊपर सेज हमारी किस बिच सोना होइ ।

गगन मण्डक सेज पिया की किस बिच मिलना होइ ।

असीक्त प्रेम की वीबानी मीरा ने अपने उपास्यों द्वारा मुक्ततास्था का यह उन्वेष दिया बा बीबंत है बापत है और बीप्तिमय है ।

भगवान् कृष्ण के एकान्त प्रेम में वे इतनी बिभोर की कि अपनी भाव-भूतियों के ताबास्य द्वारा उन्हें पति रूप में उन्होंने बरण कर लिया बा

‘माईं म्हुनि सुपने में बरी गोबाल

राती पीसी कुनरी मोड़ी मँहवी हाथ रसाल ॥”

मीरा की इस आकुष तमयता ने कोई बुराब-किपाव नशी है । उनकी प्रेमा शक्ति उस निर्मल स्थिति में पहुँच जाती है जबकि माराम्य के विबाय उम्ह कुछ पुसता ही नहीं । उसी की रूप-आधुरी उनके लयनों में ईस जाती है और हूसरी कोई छबि नहीं समाती ।

‘हैली मो सों हरि बिन रघुाई न बाय ।

सासु लड़ी री सजनी ननब बिजोरी

पीब किन रघुा री रिसाय ।

बौधी भी मैली सजनी पहरा भी मैली,

ताला क्यू न बड़ाय ।

पुरब जनम की प्रीति हमारी सजनी

सो क्यू रघुा री लुछाय ।

मीरा के तो, सजनी, राम सनेही,

और न जाईं म्हारी बाय ।”

मीरा का प्रेमोभास अथवा अर्धतोभावन आत्म-समर्पण की बाधनिक बिज्ञासा के भीतर पैठने के लिए उस उच्च स्तर पर पहुँच जाना बाहिए जहाँ सचीम प्रेम के बुझ एवं नैरास्यपूर्ण परिवेस का अधिकम करके आत्मानन्द की असीमता एवं भगवत् प्रेम के रसाभूषि में लय हुआ बा सकता है । आत्मा और परमात्मा बीच और ईस्वर एक दूसरे से भिन्न नहीं है । माया का धावरण अथवा दूसरे शब्दों में अज्ञान का पर्दा दोनों में अलगबा पैदा करता है । मीरा पुष्क ज्ञान-बंधन द्वारा इस लय पर नहीं पहुँची थी बल्कि वे तो भगवान् नटनादर के समुक्त रूप की उपासिका थीं । उनका समुबा मन प्राण बीबन-बर्धन और साधना इसी प्रभाव में बूधी थी ।

“प्यारे बरसन बीज्यो जाय तुम बिन रह्यो न जाय
 बल बिन कमल बन्द बिन रजनी ऐसे तुम बैस्यो बिन लजनी ।
 प्याकुल प्याकुल फिक रैन बिन बिरह कनेजो जाय ।
 बिबस न भूख नीबि नहीं रेंना मुख सु कहत न भाबे बीना ।
 कहा कहुँ कछु कह्य न भाबे मिलकर तपत बुझाय
 बसुँ तरसावो अम्तरयामी धाम मिलो किरपा कर स्वामी
 भीरा बाली जनम जनम की परी तुम्हारे पाँव ॥”

मीरा प्रेम की इस अतीन्द्रिय अनमूति की पराकाष्ठा पर कंठे पड़ने लगे—
 इसके कितने ही कारण बताये जाते हैं । अमृत से भक्त भी बीर निष्ठावान न
 व्यास्तिक मेहुता राजपरिवार में उत्पन्न हुई थी । इनके पितामह राज पूरा परम
 कर्म भक्त थे । माता-पिता की एकमात्र सन्तति होने के कारण इन्हें माता के एकमात्र
 प्रेम की निष्ठा का अवसर अपेक्षाकृत अधिक मिला परन्तु उसके संस्कारों का सीधा
 प्रभाव इन पर पड़ा । एक दिन हँसी-हँसी में उन्होंने अपनी चाकली बेटी को बहकाने
 के लिए भववान कीकला की प्रतिमा की ओर अंगुलि-निर्देश कर कहा था—‘बेटी ये
 हो तेरे बूझा है । इसी से तेरा क्याह रचाईगी ।’ बालिका के मन में बात भँस गई
 और उसकी मबोध सरलता सामर इसे जाने मनवान सब भाग बीठी । मीरा का
 अधिक समय पूजा आराधना और भगवान की मूर्ति के समक्ष अनुमन-विनय और
 सरल-सरल की मनुहारों में ही बीतता था । बड़े होने पर लगाई या विवाह तक की
 बात इन्हें अज्ञात लगती थी और उससे इनका मन सामंजस्य नहीं कर पाता था ।

“कौई और को बहने भाँवरी मूँके जल जजाल ।

भीरा के प्रभु बिरिबर नामर करो सपाई हात ॥”

प्रेम बीवानी मीरा की इस सपन और तस्तीनता पर सब किसी में ध्यान
 नहीं दिया ।

‘बिन माँजन में यह कम बस्यो उन माँजिन से फिर बैसिये का ।’

इस मर्म को सब कोई न समझा परिणाम स्वका मीरा का विवाह सिञ्जीबिया
 बंस के महाराजा साँवा के प्यठ पुत्र राजकुमार भोज राज सिंह के साथ सम्पन्न हुआ
 विवाह में बिरिबर बागाळ की प्रतिमा को मानना ये न मूर्खी ।

‘दे री माई मूँ को गिरिबर जास ।

प्यारे बरन की जान करत हौँ और न बै मनि जास ॥”

विवाह के पश्चात् मी इसकी ली मबवान में ही बनी रही । स्वप्न में इन्हें
 सदा प्रभु के दर्शन हाते रहे ।

‘सोवत ही पलका में ये तो, पलक बल में पिड जाये ।

भँ सु पठी प्रभु आबर देन क, जाग परी बिड डूड न पाये ।

और लखी पिउ सुत पमाये में खु सखी पिउ जामि पमाये ।
 आज की बात कहा कहूँ सजनी तुपना में हरि लेत बुलाये ।
 बस्तु एक जब प्रेम की पकरी आज मये सखि मन के भाये ।”

व्यप्य के बाद तो ये सचमुच ही बन्धनमक्त हो गईं । अगम-अग्रमान्तर का विरही प्रेमबिह्वल मन निष्काम माध से और परम साम्बलना व आश्वासन के साथ कृष्ण मण्डित में विधोर हो गया । राजवंश की आचार-मर्यादाओं का पालन करने में उन्हें कठिनाई होती थी । पति की मूर्ख से इनका बैराम्य इतना बढ़ गया कि प्रेम बिह्वलता के कारण इनमें चाबोन्माद बना । अपन प्रानाचार प्रभु की प्रतिमा के सम्मक्ष कभी ये ईसतों कभी रोतीं और कभी-कभी इतनी तबाकार व एकनिष्ठ हो जाती कि ये एक प्रमातुर उम्मारिनी की भाँति नाच उठतीं । इनकी मण्डित एक प्रमनिष्ठा चरम स्तर पर पहुँच गई थी पर औसा कि प्रायः होता है सामान्य परिस्थितियाँ अनुकूल न थीं । इनकी दुस्सह पीडा प्रियतम को परम आर्थीय के रूप में पाने की असीम ध्याकुलता दूसरी तरफ लोकात्मक दुःस-मतिष्ठा और स्वजन-भरि जनों की तीव्र मर्सेना—इन सब विधि निषेधों न इन्हें कष्ट दिया और इन सबके दौरान इन्हें बड़ी-बड़ी यातनाएँ सहन करनी पड़ीं किन्तु मीरा उनसे विचलित नहीं हुई बल्कि उन आघातों और प्रताड़नाओं का दबाव बढ़ते-बढ़ते इनकी कविताओं की मस्ती में ही प्रस्तुतित हुआ ।

“राती माती प्रेम की बिय भयत को जोड़ ।
 राम बमल माती रहे धन मीरा राठीर ॥”

और—

“नाच भयत भूषण जने, सील संतोष सिवार
 जोड़ी खूनर प्रेम की, गिरिचर जो भरतार ॥”

कभी इन सभी परिस्थितियों से बचकर अन्तर की प्रेरणा क बधीभूत हो बै पुकार उठतीं

“जब तो निभावा बनेवा बाहु गहे की लाल
 समरप सरब तुम्हारी साइयाँ सरब तुम्हारे लाल
 भव सागर संसार अपर बल, जामें तुम हो जहाज
 निरापार आचार जपत गुह, तुम दिन होय जकाज ॥”

मीरा के काव्य की विनयता है कि रूपदर्शन और मिथन स्तुति की आंतरिक बन्धीपटा के साथ-साथ उनका बिह्वल और आकत माध उन्हें उच्च भावमूर्ति पर प्रतिष्ठित करता है जहाँ उनका चरम उत्कर्ष एक परिपूर्ण विकास हुआ है । प्रमान्यता की साधना में वे एक ऐसी प्रमयोगिनी के रूप में आधिभूत हुईं जिनकी बाणी लोकोत्तर ध्यवना करती हुई हृदय की निरच्छल तरंगता में बूझकर प्रकट हुईं । उनका यह प्रसिद्ध पद—

‘हेरी, में तो बरब बीबानी म्हारा बरब न जाव्या कीय
बरब री मारया बर बर डोभ्या बर मिस्या ना कोम
मीरा री प्रभु पीर मिहापा जब बर सारो होय ।”

मीरा की कांठासक्ति कुछ ऐसी थी जिससे मयबाग श्रीकृष्ण ही उनके सर्वस्व और वे स्वयं उनकी बेटी या दासी थीं। उनमें एकदम इतना बढ़ गया था कि वे अपनापन को सर्वथा भूलकर, जो साबना की चरपाठिचरम छोड़ा है, अपने प्राणपति में ही एकीभूत हो गई थी।

‘धरे सो गिरिधर पोवाल हूसरो न कोई”

एक हूसरे पद में वे कहती हैं

“में गिरिधर के घर बाऊँ ।

गिरिधर म्हारी साथी प्रीतम बेसत रूप म्हाराऊँ ।
रिया पड़े सब ही उठ बाऊँ और जये उठि बाऊँ
जो पहिराई सोई पहिरैँ जो है सोई बाऊँ
मेरी जखनी प्रीति पुरानी उन दिन पस न रहाऊ
बाहूँ बेठावे सित ही बटू बैचें तो बिक बाऊँ
मीरा के प्रभु गिरिधर नायर बार बार बलि बाऊँ ।”

मीरा ने माया-सौम्यर्य सबका सवाल लीला शिष्य की दृष्टि से काव्य रचना नहीं की बरन् उत्कट भक्ति एक प्रेम विह्वल हृदय से जो सहज उद्गार निकल के ही गेब पद बन गए।

‘हरि मोरे जीवन प्राण आधार ॥

और आसरो नाहि तुम बिन हीनू लोक भसार ।

जय बिना मोहि कछु न तुहाब निरक्यो सब संसार ।

मीरा कहै में दास रावरो बीज्यो जसि बितर ॥”

अब तक गोस्वामी तुलसीदास की बिदुपी पत्नी रत्नावती के सम्बन्ध में कोई नहीं जानता था पर मध्ययुगीन साहित्य पर शोध करने वाले अनेक विद्वानों ने उनके दो प्रश्नों ‘दोहा रत्नावती’ और ‘गोस्वामी तुलसीदास’ को खोज निकाला जिनमें उनके नीतिपरक और आत्मपरक दोहे मिलते हैं। गोसाईं जी का अपनी पत्नी से कितना प्रेम था और वे उसके प्रेम में बीरये किस प्रकार एक भयंकर, तूफानी रात में नदी-नाले पार करके अपनी पत्नी के पास पहुँचे थे—यह एक प्रसिद्ध आक्यान है। चूँकि वे एक बिदुपी और पठित पाठी थी उन्हें अपने पति की यह उन्मुक्तता और बेसहरी पसन्द न आई। एक सच्ची कर्तव्यनिष्ठ जीवन सहचरी के माते उनके मुँह से उध समय अदुर्ब भावमयी ओजस्वी वाणी निस्सृत हुई जिसने तुलसीदास जी को सर्वथा झुंझी दिया की ओर मोड़ दिया।

पर यह क्या ? इन अममोक दासों में यह क्या तो बेठी—इसका भाव रत्ना

बली को बाद में हुआ। गोसाईं जी ने घर और गृहस्त्री का परिचय कर दिया और फिर कमी वापस ल आये। पति दूर या और पत्नी की पहुँच से परे, किन्तु फिर हिन्दी बुधिया न भक्ति एवं प्रेमाभु के नैवेद्य से ही पति की पूजा-अर्चना प्रारम्भ की जो बोहों में बनकर पृथी

“बिक् मो कहुँ मो बचन सवि मो पति लह्यो विराम ।
पई बियोगिनी निज करनि रहुँ पड़ावति काम ॥”

प्रेम और कर्तव्य के इस द्विधा समय में उनका गारीत्व उभयमय सिद्धस्त का गया और उनका बाहुक अन्तर कमी-कमी अत्यन्त कातर हो पुकार उठया

हूँ न नाय अपराधिनी, लीक जमा करि बैड ।
करनन बाती जानि निज बेगि बारि सुनि लैड ॥”

पति के अभाव में बर्बादिक जीवन की नीबें ही कोखी हो गईं। प्रेम-व्यथन और माहस्य की एकनिष्ठा चरमरा उठी। जिस घान्ति का उदय मन के भीतर होता है उसके सहसा छिन जाने से बहु अविदास बन जाती है। वैतन्दिन बूझ और राख मरे जीवन की पकान के जब पल के पल उभड़ने लगते हैं तो क्यता है घान्ति मिष्पा है भ्रम है, क्योंकि अर्थाविरोधों का हल क्या है मन जैसे घान्ति पा सकता है घान्ति तो मन के बाहर से नहीं मन के भीतर से उत्पन्न होती है

“अबपि यै घर छों निकरि मो मन निकरे नाहि ।
मन छो निकरो ता दिनहि, जा दिन प्राण नसाहि ॥”

ये विषय की छामाई गारी-कण्ठ से निर्मकत होना चाहती थी। अन्तर्जन का बूझ इन झुझती परलाह्यों से छिन गया। रह क्या पाया ज्ञान। विरह कातर एला बली अत्यन्त बीन हो लिखती है

“हाय सहज ही हूँ कही लह्यो बोप विरसेत ।
हूँ रत्नावलि बेंबी मयी, पिय हिय कौब बिसेत ॥
नाय रहुँगी भोग ही पाखु पिय बिय छोप ।
कबहुँ न बरें उराहुने, बरें न कबहुँ बोप ॥”

एलाबली के आत्मपरक बाहों में उनके हृदय की बेरना विरह और निराया प्रेम की कठोर साबना की साँकी मिलती है। ऐसे प्रेम में छामाई और मायिकता होती है। विबाह-व्यथन में बँध दो साथी जो एक दूसरे के पूरक हैं किन्तु माय्य की बिह भवना से असय हो जाते हैं और फिर मिलने का अक्षर नहीं पाते तो सहज-सहिष्णुता ही उसकी पूरक बनती है

“एतन प्रेम डंकी कुल, पला बुरे इकसार ।
एक बाह पीड़ा लहै एक लेह सम्भार ॥”

प्रेम की यह समझन सहज बुद्धि ठरकें एवं ज्ञान से अनुभासित होकर अंततः तृप्ति कर बन जाती है। जब निराया हाथ लगती है और यह अनुभव होता है कि बार बार

मिराचा ही मिलैयी तो सार्विक बेराप्य पपता है। यह बेराप्य किसी निगदा से उपभूत नहीं अपितु सत्य एवं महत्तर लक्ष्यों को प्राप्त करने की भावना से जन्म होता है अर्थात् असाध्यमान प्रेम के लिए अनुदाप करना छोड़कर वह आन्तरिक मिलन मयया आत्मार्पण बन जाता है। आसक्ति आशेष और कामना य सब बेड़ियाँ हैं और आये बड़ने से रोक्ती हैं। रत्नावली के अनेक भीतिपरक दोहों में हृदयावेगों को एकाग्र करने का उपदेश है

“प्रायः दुराय तन रय अरे, अपल कपय भी जात ।
रतभावति मन सारविहि रोकि सके उतपत ॥”

वस्तुतः सच्चा आत्मदान प्रेम के मिथ्याभिमान को मज्ज करता है, इसीलिए रत्नावली की अभिव्यक्ति में कहीं भी बुराग्रह आक्रोश या उगलम्भ नहीं है बल्कि पम्मीर ध्या के साथ-साथ धीनता और हृदय की कठप पुकार है

‘मिपतम एक बार गृह जाओ ।

अनुचित उचित करुयो हों कबहुँ ताहि समुक्ति सन्ध्याओ ।

तब विधोष मफुलात हीय अति धीरज जाइ बेवामो

सहो न जात बुसह बुज एतो बरस क्या बरताओ ।

दिन कितेक नाच अज बीते ताहि मोरि सुधि लीनी

सुखन पाकिनी प्रीति रावरी बहू परी किम भीनी ।

कति गये मो बीर सुनत जन कहत सुनत सफुबाजें

का अज करी कहीं अज जोअों कितहुँ प्रोब न पाजें ।

अमित प्रीति परतीत—भाँच तब, पाई रही हों मोई

सपने हूँ न कबहुँ हों जानी बसा मोरि अत होई ।

पकि ५५५ सब जेने जोति ताहि विपारों

सुम्बरिबुँबरि महाराज की बौकाबती की पुत्री भी और इनका विवाह राजपूत गढ़ खीची महाराज बलभद्रसिंह के पुत्र बलबलसिंह के साथ हुआ था। कविता से इन्हें अत्यन्त अनुराग था। इन्होंने बाराह ग्रन्थों की रचना की है। इनके छन्द बहुत ही सरस और सरल हैं।

‘मन ! तू कबहि पकत कहा बाहुत ?

कड़ बंगम उघाल बलत है तिनको कीन निबाहुत ?

तोको कहा नार है भंया ! कछे को बुझ मारि ?

निजय हूँ निदिबन्ध नहुत में प्रभू कृपा किन बाई ?

बमत-राह के राहपीर ए बहुत बढाऊ लोग;

तिनम तहू भाग येत्यो है किहूँ करम संयोग।

बकीठची भी राजमा रसिकबिहारी महाराज नागरीदास की पासवान और स्वामी हरिदास क परम्परा-नुमत प्रसिद्ध महात्मा थी रसिकदास को भी घिप्पा थी। सन्तों के सम्पर्क में रहकर इन्होंने अनक भक्ति एवं श्रृंगार-प्रधान भावपूर्ण पद रचे जिनमें ब्रजभाषा और राजस्थानी भाषा दोनों का मिश्रण है।

‘बर्ज भाव नन्दनवन बबाईयाँ।

गहमहू आनन्द रंगरली अति पोपी सब मिली जाइयाँ।

नहरि मधोमति के भयो सुत फुली अंघ न माइयाँ।

‘रतिक बिहारी’ प्रान बौवन लखि बैठ मारीया सुहाइयाँ।’

छत्रबुँबरिबाई भी नागरीदासजी की पौत्री थी और उन्हीं के सहयोग से इनमें काम्य-रचना की अधिकांश उत्पन्न हुई थी। इन्होंने अपने ‘प्रेम विमोह’ ग्रन्थ में भीराबा-कल्प और सलियों की विविध प्रेम लीलाएँ विवित की हैं। इनके पद्यों में सम्मेलन और विरह हृदय की कोमल वसक है।

‘अस्तनपद-नकअ-रज ध्याऊँ; जिन प्रभाव प्रेमासव पाऊँ।

ताते बरसों विपिन बिलासी नन्द-भुवन रावा सुखरासी।

पिय प्यारी छकि परम लखैहू निरहि बिहार करत बनऐहू।

हुँ परसपर जिन से चोर; हुँ मनोहर नवल किसीर।

विष्णुप्रसाद कुँबरि महाराज रघुराजसिंह की पुत्री थी और समकालीन भक्त कवयित्रियों में से हैं। प्रथम महिला थी जिन्होंने रामभक्ति से प्रभावित होकर ब्रजभाषा में ‘ब्रज बिलास’ नामक ग्रन्थ की रचना की। ब्रजभाषा में भी ‘कल्प-बिलास’ और ‘राधा बिलास’ य दो ग्रन्थ इन्होंने लिखे। इनकी पद-रचना अत्यन्त सरस है।

‘निरमोही कंसो जिय तरताये।

बहिले मलक बिलाय हमे दू अरु बर्यो बैय न जाये

कब सौं तसकन में री सजनी बाको दरद न जाये।

‘विष्णु कुँबरि’ जिन में जाकर के ऐसी पीर मिटाये।

मिरासा ही मित्रेयी ली सात्त्विक बैराग्य जगता है। यह बैराग्य किसी मिरासा से उद्भूत नहीं अपितु संन्य एषं महत्तर कर्मों को प्राप्त करने की भावना से जन्म लेता है अर्थात् अज्ञायमान प्रेम के लिए अगुताप करना छोड़कर बहु आन्तरिक मित्रम बन्धना आत्मार्पण बन जाता है। आसक्ति जावेग और कामना य सब बेदियाई है और आगे बढ़ने से रोक्ती है। एतद्वाली के जनक नीतिपरक बोहों में हूबवाबेगों को एकाग्र करने का उपदेश है

“पाँच तुरंग तन रच कुरे अपक कपन लं जगत ।

एतद्वाबलि मन सारविहि रोकि सके एतपाव ॥

वस्तुतः सच्चा आत्मदान प्रेम के मिथ्याभिमान को नष्ट करता है इसीलिए एतद्वाली की अभिव्यक्ति में कहीं भी दुराग्रह, आक्रोश या उतासम्न नहीं है बल्कि गम्भीर व्यथा के साथ-साथ हीनता और हूबय की कर्मण पुकार है

“मिथ्यात एक बार बहु जगती ।

अनुचित उचित कर्यो हों कबहुँ, ताहि समुझि लमसाबो ।

तब बियोग अकुलात हीय भक्ति पीरज माइ बँबाजो ;

सह्यो न जात बुलहु बुल एतो बरब रया बरसाबो ।

बिन कितेक भाव अब बीते, नाहि भोरि लुधि कीनी

गुजन पाछिनी प्रीति राखरी अहह परी किम नीनी ।

कठि पये मो बँन सुनत जन कहत सुनत सङ्गुबाजो

ना अब करी कहीं नज जोबोँ कितहुँ खोज न पाजोँ ।

अमित प्रीति परलौठ—माँग लख, पाई रही हों मोई

सपने हूँ न कबहुँ हों जानो बसा भोरि जत होई ।

बूलि जाऊ हों सब परेको बीति ताहि बितारोँ

भाय सराहीँ एतल अम्नो को तब जरन निहारो ।”

मीरा की भक्ति-साधना की उत्कृष्टता से प्रभावित होकर रामप्रिया और ज्युमप्रिया बाँबावती जी और मुन्दरकुँवरि, बबीठली जी और छनकुँवरि, विन्नु प्रसाद कुँवरि और बबीभराय एतनुँवरि बीबी और प्रताप कुँवरि बाई, ठाड और रोव सहजोबाई और जम्पादे जादि भक्त महिलाओं का प्यान भी कविता की ओर आकर्षित हुआ और कष्क-बक्ति में विभोर इन्होंने अनक वय पदों की रचना की। इन सभी के कठिहक में सच्ची अनभूति और सरल भाव-स्वभावता है। रामप्रिया और ज्युमप्रिया के पीतों में अनरामठा और बैराग्य जन्म आध्यात्मिक भाव हैं। महारानी बाँकावती उपासक बबबासी कष्कबड़ के महाराज राजासिंह की रानी थीं। प्रसिद्ध नागरीदाम थी इनके पुत्र ने और मुन्दरकुँवरि जी इनकी पुत्री। इनके यहाँ कविता परम्परागत प्राप्त थी और स्त्री-मुख्य सभी काम्य रचना करते थे। रानी बाँकावती की ने प्यारहीँ एतध थीमद्भागवत का उन्दाबद्ध अनुबाह किया जो ‘बबवासी भागवत’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मुन्बरिजुंवरि महाराणी बाँकावती की पुत्री थीं और इनका विवाह राधक बहु लीची महाराज बलभद्रसिंह के पुत्र बलबन्धसिंह के साथ हुआ था। कविता से इन्हें अत्यन्त अनुराग था। इन्होंने बाराह शब्दों की रचना की है। इनके छन्द बहुत ही सरस और सरल हैं।

‘मन । तू कहि पचत कहा बाह्य ?

अइ अंम पचत बसत है तिनकी कौन निहाहत ?

तीको कहा भार है संघा । कहे को बुक नामे ?

निर्भय हूँ विविधत सहज में प्रभू कृपा किन जाये ?

आगत-राज के राहपीर ए बहुत बदाऊ लीच;

शिनम तहू आन कैसो है किहूँ करन संयोग ।

बभीठजी की ज्ञानाम रसिकविहारी महाराज नामरीरास की पाठवान और स्वामी हरिदास के परम्परागत प्रसिद्ध महात्मा श्री रसिकदास जी की सिप्या थीं। छन्दों के सम्पर्क में रहकर इन्होंने अनेक मन्त्रि एवं श्रुमार-प्रदान मानपूर्व पद रचे जिनमें ब्रजभाषा और राजस्थानी भाषा दोनों का मिश्रण है।

बसै आज नख-नखत बधाइये ।

पाहुमहू आनख रंमरली अति लीची छब मिली बाइया ।

पाहुरि पसोमलि के भवो सुत कूची अंन न माहया ।

‘रतिक विहारी’ प्रान लीचत लकि देत असीअ सुहाइया ।

छत्रजुंवरिकाई की नामरीरासजी की लीची थी और जगहों के सहयोग इनमें काव्य रचना की बहिर्बहि उत्पन्न हुई थी। इन्होंने अपने ‘श्रेम विमोह’ पन्थ कीरावा-कम्म और सन्धियों की विविध श्रेम लीकारें विविध की हैं। इनके पदों का सम्मयता और विराम हृदय की कोमल कसक है।

‘अस्तनपद-पकज-रच प्याऊँ; जिन प्रभाव श्रेमातन पाऊँ ।

ताते बरनों विपिन बिलसती नख-सुवन राया सुखराती ।

मिय प्यारी छकि परन लोहेह; निलहि विहार करत अनखेह ।

हुँ बरतवर बित के जोर हुँ मनोहर नखल किछोर ।”

विष्णुप्रसाद जुंवरि महाराज रचुराजसिंह की पुत्री थीं और समकाकीन बस कवयित्रियों में से हो प्रथम महिला थी जिन्होंने रामप्रसिद्ध से प्रभावित होकर ब्रज भाषा से ‘अवध-विकास’ नामक पन्थ की रचना की। ब्रजभाषा में भी ‘विष्णु-विलास’ और ‘राधा विलास’ व दो पन्थ इन्होंने लिखे। इनकी पद-रचना अत्यन्त सरस है:

‘निरमोही कैसो जिय तरसाये ।

पहिले कलक विलास हर्म वृ अर बरों बेग न आये

कब ली कलकत में रो सखनी बाढो बरब न जाये ।

‘विष्णु जुंवरि’ विल में बाकर के ऐसी पीर बिदाये ।

प्रवीणराय कला-मर्मज्ञ उचित महिला थीं। प्रसिद्ध कवि जेयानदास इनके अत्यन्त प्रशंसक थे। अपना 'कविप्रिया' ग्रन्थ भी उन्होंने इन्हें ही भेंट किया है। इनकी प्रशंसा सुनकर एक बार बादशाह अकबर ने इन्हें अपने दरबार में बुला भेजा किन्तु वे नहीं गईं और अपने स्वामी महाराज इन्द्रजीत सिंह से इसकी शिकायत की।

'आई हों ब्रह्मण मग्न तुम्हें निज स्वासन लों सिगरी मति बोई ।
 बेह तजों कि तजों कुलकानि किए न जजों लखि हूँ सब कोई ॥
 स्वारस भी परमारस को पन बिल विचारि कही तुम सोई ।
 जामें रहे प्रभु की प्रभुता और मोर पतिव्रत भंग न होई ॥

इस पर क्रोध होकर अकबर ने महाराज इन्द्रजीत पर एक करोड़ रुपया जुर्माना कर दिया पर इन्होंने उसे भी अपनी बाजू-पट्टा से क्षमा कर लिया और दरबार में भी नहीं गईं। इनके अनेक स्फुट पर लिखते हैं।

'कमल कोक भीकल मंजीर कलघोत कलजा हर ।
 उरक मिलन अति कठिन इनक बहु बल्प नीलधर ॥
 सरबन दारबान हेम पैठ कंकाठ प्रकाशन ।
 निर्गुण बाहर तबवरहि कौत कुंजन बुड़ भासन ॥

इति कहि प्रवीण बल पल अपक अविच भवित तिय गौरि सेप ।
 कलि कलित उरज उरये सलिक इन्दु घौस इमि उरक हेंप ॥

रत्नकुंवरि बीबी राबा सिधप्रसाद सितादेहिन्द की बारी भी और संस्कृत कारली दोनों भाषाएँ अच्छी तरह जानती थीं। साहित्य से इन्हें बड़ा अनुराग था। 'प्रेमरत्न नामक पुस्तक में इनके उसी पर संब्रवीत हैं।

'तई राबा की कछु बधा बर्षत आई नाहि ।
 मलिन बेप भूषन रहित बिषत रहित तन माहि ॥
 कबहुँ सुरावत बिरह बस पीत बरन हूँ जाय ।
 कबहुँ व्यापत अदधता प्रेम नगल मुख छप्य ॥

प्रतापकुंवरि आई मारबाइ के महापदक मानसिंह की पत्नी थीं। राम इनके दृष्ट से और वे बड़ी ही उदार, दानवीर प्रवृत्ति की महिला थीं। इन्होंने कठोड़ों की सम्पत्ति राम की और जनक मन्दिर, टाकाब आदि बनवाये। ७ वर्ष की आयु तक इन्होंने पन्द्रह बच्चों की रचना की। इनके घरों में सरक भावनी और हार्दिक स्वाभाविकता दृश्य है।

'आम तो काठु नाहि मिदी जग में मये राबल से बड़ जोषा ।
 तारंत सुर भुषोषन से बल से मठ से रत बाबि बिरोषा ॥
 केते मये नाहि जाय बजानत भूस मुण सबही करि जोषा ।
 आस मिदे परताप कही, हरिनाम जपेऊ बिचारत जोषा ॥

इन्द्र-मन्त्रि से प्रेरित होकर अनेक भक्त कवयित्रीयों का इसी प्रकार की

प्रेमरस-परिष्कारित पर रचना कर रही थीं तो कुछ मुस्लिम महिलाएँ भी प्रभावित हुईं और उन्होंने कृष्ण की ही अपना इष्ट बनाया। कृष्ण के मधुर रूप की उपासिका होने के कारण उनकी कविताएँ सौन्दर्य और प्रणय रस से सिंचित होकर प्रकट हुईं। इस नय शक्ति का विकास ने उन्हें तन्मय कर दिया था और वे बिनाश ही हो रही थीं। ताज के पदों में मीठा का सा मनोयोग और एकनिष्ठ भाव है। वे स्वाम के विरह-विषाग में सब कुछ विस्मृत कर बैठी हैं।

भुनो बिलबानी मेरे बिल की कहानी तुम
 दस्त ही बिकानी बरनापी नी चहुँपी में ।
 बैचपुजा ठानी में नमाज हूँ मुलानी
 तजे ककमा कुरान सारे गुनग पहुँपी में ॥
 स्वामका तलोना तारताज सिर कुन्के बिए,
 तेरे बेह बर में निबाज हूँ बहूँपी में ।
 नम्र के कुमार कुरबान ताभी मूरत प
 हों तो तुरकानी हिम्बुबानी हूँ रहूँपी में ॥

ताज कृष्ण-प्रेम में दीवानी सी हो गई थीं। वे नित्य सबेरे नहा बोकर मन्दिर में पूजन और कीर्तन करने जाती थीं। इनके बनक प्रसिद्ध पदों का संग्रह गोविन्द गिस्काभार्डे ने किया है।

बूझी मुस्लिम कबयित्री श्रेष्ठ जाति की रंगरेजिन होते हुए भी बड़ी ही भावुक और उदिक स्वभाव की महिला थीं। वे अनिवाहितास्वाम में ही पर रचना किया करती थीं। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक बार प्रसिद्ध कवि आकम ने अपनी पगड़ी रैवने के लिए इन्हें दी। रैवसंयोग से उसके छोर में बोहे की प्रथम पंक्ति लिखी हुई बेंपी थी।

‘कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि डीन’

पगड़ी रैवकर जब वापस आई तो आकम को अपने बोहे की पृष्ठ देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। श्रेष्ठ ने उसे वहीं छिन्नकर पूरा किया था

‘कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य परि डीन ।

आकम और श्रेष्ठ दोनों में जलरोधक प्रेम बढ़ता गया और आकम को बाह्य ने उन्होंने मुस्लिम धर्म अपनाकर इनसे विवाह कर लिया। ये दोनों मिलकर एकसाथ पर-रचना किया करते थे। ‘आकम केसि’ में इनके पर संग्रहीत हैं। श्रेष्ठ के कविर्वाण पदों में शृंगारिक भाव है।

भैरवि के तारे तुम त्वारे कंसे होऊ वीर
 पावन की बूरि हर्म बूर की न जानिये ।

इन्होंने मक्तिपूज अनेक पर रचे हैं। मुस्लिम होकर भी ये कृष्ण की मधुर

छवि पर मग्न थीं। जन्हीं को आत्मजन मान कर इन्होंने ब्रजभाषा में भक्ति-परक पद रचे।

‘अब ते गुपाल मजुवन को सिधारे माई
मजुवन भयो मधु दानव विषम जो
तेज’ कहे, सारिका सिद्धपद जंजरीट मुक
कमल कलेस किन्हीं कालिम्बी करन लीं ॥

अर्थात् रानी बीकानेर नरेख राजा पृथ्वीराज की रानी और काका दे की सपत्नी थी। शेष की भाँति इनके स्फुट अंश शृंगार-रस प्रधान है और भाषा राजस्थानी मिश्रित है।

सहजोबाई और दयाबाई ये दोनों गुरु-बहन थीं और निर्गुणोपासिका थीं। दोनों ही उत्कट गुरु-भक्त थीं और अपने गुरु अरजदास जी के साथ दिल्ली में रहती थीं। इन्होंने बिरबर और मुन्द के समान नीति त्याग औरास्य से अतिशय प्रेम लिखे हैं। सहजोबाई के पदों का सग्रह ‘सहज प्रकाश’ और दयाबाई के ‘दयाबोध’ ‘विनय माञ्जिका’ दो ग्रन्थ मिलते हैं। दयाबाई ने अनेक उत्कृष्ट छंद पद लिखे हैं।

‘बीरी हूँ अितबत छिहँ हरि धारै केहि ओर;
छिन उरुछु छिन विरि पके, राम दुखी मन मोर।
प्रेम-मुज प्रपटे जहाँ, तहाँ प्रमट हरि होय;
बधा बारि करि बैठ हूँ धी हरि दर्शन लोय
दयाकुंवरि या जपत नै नहीं रह्यो विर कोय
बैतो बात सराय को लैतो यह जब हाय।

सहजोबाई में अपेक्षाकृत औरास्य है। उन्होंने बिरब प्रपञ्च छ परे निर्गुण ईश्वर की महत्ता परिचायक कविताएँ लिखी हैं।

‘यत छोटापन सब महा विरग बड़ाई धार।
सहजो जन्मा बुझिय, पुरु के बचन सम्यार ॥
सहजो तारे सब सुखी बहै जन्म बी पुर।
साधु जाहे शीलता जहै बड़ाई कर ॥
अभिमानि नाहर बड़ो भरमठ किरत उबाड़।
सहजो नगही बाँकुरी, प्यार करै संतार ॥’

इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं मगर फिर भी ये बड़ी ही पठनीय हुई विरक्त संत थीं। इनके सम्बन्ध में अनेक किम्बदंतियाँ प्रसिद्ध हैं। हरिमति के अनामन्तर ही इनकी गुरु निष्ठा भी बड़ी सच्ची और गहरी थी वरन् मनवान् से भी अधिक गुरु में इनका बुद्धि विरवात था।

‘राम तजु वै न मुद न बितारै पुरु के लन हरि क न निहारै ॥

— २ — ‘हरि जे’ जन्म दिपो जग माहीं पद मे आभायनन छटाहीं ॥

हरि न बीच जोर बिसे साबा तुब न कई छुटाय मनाया ॥
 हरि ने कुम्भज ब्रह्म में पेरी पुब ने कपटी ममता बरी ॥
 हरि ने रोम भोग डरसायो मुब जोयी करि सबे सुटायो ॥
 हरि ने कर्म भर्म भरमायी पुब ने जलम क्य जलायी ॥
 हरि ने मोसु माप छिपायो पुब बीपक बं ताहि बिजायी ॥
 फिर हरि बंध मुक्ति गति लामे पुब न सब ही जर्म भिटाये ॥
 बरम बात पर तन मन बरके तुबको मतम् हूरि कू तत्रि डाके ॥”

गाम-जप की श्रमणा में इन्होंने जीवन को ब्रजाल माना और शरीर को नस्तर ।

“पानी का ता बलबुला महु तन ऐसा होय ॥
 बीम मिलन की डामिये रहिये ना पड़ि सोय ॥
 रहिये ना पड़ि छोड बहुरि नहिं बनूला बेही ॥
 ब्रह्म ही कु जोम् भिम तब राम तनेही ॥
 हरि कू भूले जो फिरं तहुको जीवन छार ॥
 सखिया अब ही होबको सुमिरयो करतार ॥”

मपनान् में सर्वात्म्य समर्पण की बरम श्रमणा ही इनकी भक्ति का मूल मंत्र है । संसार के बंधन मिथ्या है । यह दुःख क्षणिक और इसमें बसने वाले समस्त बराबर जीव जन्म मृत्यु, बरा ब्याधि के चक्रवर्त में फँसे अपने 'स्व' को भूले हुए हैं ।

सहजो भज हरि नाम क, तबो क्षणत् तुं नेह ।
 मपना तो कोई है नहीं अपनी सपी ब बेह ॥”

इह मन्थ इबक पर अपने आपको उपबोधन करती हुई ये कहुती हैं

“तहुको फिर परितापनी स्वात विकसि अब जाय ।
 अब लपि रहे शरीर में राम सुपिरि पुन माय ॥”

प्रभु-प्रेम में अब मन अममस्त हो जाता है तब उसे चिन्ता क्या है ? जयमें बहूँकार की तो पीठ ही नहीं बहूँ तो प्रेमरस में छका रहता है कबता है बँति जीवन लूभ तो उस मनवान के हाथ में है और वह बँता चाहता है बीता ही नाम नचाता है । मन्थान में जो लगी है, बड़ी उसका केन्द्रबिन्दु है ता बर क्या है, चिन्ता क्या है ?

“प्रेम-विधाने जे भये नम मयो बरनाचूर ।

छके रहै, पुपत रहै, सहजो बँति हनूर ॥”

येही ही प्रेम की वीथानी थीं बाबरी साहिबा जो मस्ती और प्रेमोन्माद में चर के निकल बड़ी और यादगारिक ब्रह्मण एवं नाते-निस्तों को तोड़ कर हर समय हर बबहूँ 'उसे' ही बीजती छिरीं । मोहाप और बहूँता के कारण जिस प्रेम के बुराब है और जो बहूँते से छिना है यह इस जावरण के इटोटी ही बरक हो गया तो फिर यह क्या गया ? कौन सी बाध, कौन सा अंतरण तब प्रेम-मन पर बहूँतर होने के

रोक सकता है ? तबपर जो प्रेम के भावावेगपूर्ण प्रवाह में निरंतर प्रवाहमान हो उद्य प्रेमरस में डूबी या नतवाली बूमती हो उसके लिए तो यह बद्धुत बलौकिक प्रेम ही उसके जीवन-वर्धन का व्यापार और मूल मिति है ।

इनके अधिक पद नहीं मिलते । यह एक सचैना बहुत प्रिय है जिसमें इनके त्याग-वैराग्य और आत्मबोध की सलक मिलती है

“बाबरी राबरी का कहिये मन हूँ के परतग भरै नित भाँबरी ।
भाँबरी जानाँह संत सुजान जिन्हें हरि क्य हिये बरसाव री ॥
साँबरी मूरत मोहनी मूरत बैकर जाल जगत जजान री ।
जाव री सोँह सिहारी प्रभु, बति राबरी देखि मई मति राबरी ॥”

भारतेन्दु समकालीन कवयित्रियों में कुम्भेलबाबा और तोरणदेवी सुकल 'सखी' के नाम उल्लेखनीय हैं । कुम्भेलबाबा शाखा भगवानशील की वर्मपत्नी थी । इन्होंने देव मक्ति और स्वदेस-महत्ता पर कबिताएँ लिखी हैं । तोरण देवी सुकल 'सखी' में श्री राष्ट्रीय कबिताएँ लिखीं और इनका 'जागृति' नामक कविता-संग्रह वर्तमान युग की कविकारी चेतना को छेकर प्रकाशित हुआ ।

प्राचीन काल की अपेक्षा इस युग में काव्य-शैली का अव्यधिक प्रचार एवं विकास हुआ है । उसमें नवीन भावों की अभिव्यंजना तथा कमनीय कल्पना की मनोहर सजावट का व्यवसाय है । जब दुनियाँ के पदों पर बीसवीं सदी के जाँकों को समाने वाले विभिन्न विद्वान् अंकित हुए, जहाँ विद्वानों के साथ विज्ञान की सलकें सपयोगितावाद का विकास और नैतिक जीवन की कथमकथ हमारे जीवन के केन्द्रबिन्दु के आसपास चक्कर लगाने लगे तो साहित्य-क्षेत्र में भी भारी उथल-पुथल हुई । स्पष्टवाद की इमारत और सुदृढ़ प्राचीरें बहने लगीं सामूहिक चेतना जागी और स्त्रियों में भी प्रतिस्पर्धा के भावों का सङ्केत हुआ । कविता की मोहक शान न चलका ध्यान आकृष्ट किया और उन्होंने कवल भावभूमि में ही नहीं बरन् कविता के कला-मध्य में भी पूर्ण मान दिया । हिन्दी-काव्य-मन की उज्ज्वल तारिका सुधी महादेवी जी को कौन नहीं जानता ? ये चिन्तनशील विद्वान्य तथा भावुक गायी हैं । छायावादी कवियों में सबसे अधिक अनुमति एवं मार्मिक अभिव्यंजना इनकी रचनाओं में पाई जाती है ।

कोमलता मधुरता पीड़ा इनके रूप की अनुस्यूति मिति है । अंतर्व्यंजना के लक्ष्य उल्लेखकों में अपने आकृल प्राणों को लपेटे रहने में ही इन्हें बरम सुख की अनुमति होती है । उठी में इन्हें एक प्रकार का अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है । चेतना मापकी चिरलंबी है उसके बिना ये रह नहीं सकती ।

पर छेव नहीं होयी यह मेरे प्राणों की पीड़ा
तुमको पीड़ा में डूँडर, तुम में डूँडूँगी पीड़ा ।

इनका हृदय निरंतर किसी अभाव का अनुभव करता है उठी के अन्वेषण में व्याकुल है । प्रथम मिस्रन के पञ्चाद् ही सच सजावट प्रियतम है इनका विषय हो

गया है प्रिय को धीरे भर देल भी तो मझी पाई

‘इन कलचाई पलकों पर पहरा जब वा बीड़ा का
शास्त्राग्य मुसे दे बासा जस चितवन मे बीड़ा का ।

महादेवी की प्रभात अंतर्दृष्टिनिष्पन्न कवयित्री है। वे अपने सीवर स्वयं को तथा वस्तु-व्यवहारी को देखती हैं साम ही उस निराकार की भी उपासिका हैं जो विश्व के कथ-कथ में प्रकटि की अनन्त सौंदर्य-श्री में आभाषित है।

श्रीरचन की छाया में छिप

सौरभ की अलकों में ।

पामक ! यह गाल तुम्हारा

या सेहराया पलकों में ।

इनके ‘मूक मिथन ‘मूक प्रणय’ में स्रष्ट एवं भावुक हृदय में उड़ने वाली अनुभूति-कहरिषी का हृदयपाहो चित्रण है। रूढ़िस्थोन्मुख आध्यात्मिकता में विभोर होकर इन्होंने जिन पद्यों का निर्माण किया है छायावाद की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का आत्मा की परमात्मा के प्रति आकुल प्रेम-वेदना का विभ्रम एवं अलौकिक चिन्मय दण्ड से अपने सूक्ष्म सम्बन्ध की चप्टा का तथा स्कूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भरे अनेक चित्रों का जो सजीव चित्रण इन्होंने अपनी कविताओं में किया है उसमें इनकी निरासी भावजनिमा के दर्शन होते हैं और जीवन का गम्भीर दार्शनिक तथ्य भी अंतर्निहित निम्नता है।

‘जुमे न जाना अलि । उसने

जाना इन अँकों का पानी ।

मेरे बैसा उसे नहीं,

परधनि उसकी बहिषागी ।

मेरे जीवन में उसकी स्मृति—

भी तो विस्मृति बन जाती ॥

उसके निर्बल लम्बिर में

कथा भी छाया ही बानी ।

स्वों यह निर्बल छल सजनि ।

उसने मुझ से खेला है ॥

किन्तु मारिक रंकिटियाँ हैं ? सत्य के अन्वेषण में आकुल प्राण पहुँ और के दुःख-बाहुस्व से क्षुब्ध और कातर मन हीनक शब्दों अहनिषा जला करता है। प्रकृति के अँक में जब उसका अस्तित्व आपट हो जाता है तो यमन-यम में बिखरे अव्यक्त मोठी उसे अपनी जोर आह्वान करने में असमर्थ होते हैं—जहाँ उनके अनुपम सौन्दर्य को मूल जाता है।

‘आलोक यहाँ लुटता है

दुम असे है तारागन ।

अबिराम बना करता है
पर मेरा शोषण छा मन ।

महादेवी जी की अन्तर्मैत्री ब्रह्मि तीक्ष्ण और सूक्ष्म है। इनकी हृद्गत भावनाएँ कहीं-कहीं बड़ी बूढ़ होती हैं। जीवन तो सबैव समान नहीं रहता विषमता में ब्रूकटा-उतराटा रहता है। अतएव य ईश से यही प्रार्थना करती है कि जीवन में सबैव अतृप्ति बनी रहे क्योंकि दुःख में ही सुख अन्तर्निहित है और निराशा में ही आशा की किरण फूट पड़ती है।

मेरे छोटे जीवन में
बैना न तृप्ति का कब भर
रहने दो प्यासो जानें
मरती भाँसु के सागर ।

ये विषाद में ही हर्ष ताप में ही शीतलता तथा पीड़ा में ही आरमानन्द का अनुभव करती है।

एक कदम ब्रह्म में
बिना तृप्ति का संसार संवित ।
एक क्षण क्षण के रहा
निर्माण के बरतल हात छत ।
बा लिया भैते किसे
इस बेचना के मधुर कम में ।
कौन तुम मेरे हृदय में ?

'श्रीपद्मिका' और 'यामा' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके गीति-काव्य में मधुरता और संकीर्ण का अमृतपूर्ण आधिर्भाव हुआ है। इनकी शोभक भावनाएँ यथार्थता में उलझी नहीं रह सक्ती कलक इनकी कविता वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ी है। इतने बर्षों से बाह्य जीवन एवं सामाजिक परिस्थितियों से अधिकारिक विषम होते जाये के साथ-साथ इनकी कविता भी उही अनुपात में अन्तर्मुखी होती गई है। सात्त्विक के आचार-उत्सव अनुभूति और कल्पना का अनुकूल सामंजस्य होने हुए भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं को इन्होंने सामाजिक यथार्थों की रणक जान से बचाया है।

श्रीमती सुनझाकुमारी चौहान ने छायावाद की भ्रूकनूकिया में न पद यथार्थ बाव की अपनाया और इनकी रचनाएँ बहुत सरल ओजस्वी और प्रभावोत्साहक छिद्र हुईं। इनकी काव्य-भाषना महादेवी जी से भी पहले की है। अज्ञात शिव के लिए तड़प-तड़प कर मरने की अपेक्षा देह की पुकार पर पर मिटने वाले बीरों एवं आदर्श रमणियों की पावन स्मृति में अणु बहाने में इन्हें अधिक मुपानुभूति हुई। इनकी सरल ब्रह्मि प्रारम्भ से ही समाज के जीवन की ओर रही। इन्होंने उल्लेख पलायन

नहीं किया। अपनी छत्रछायाती ऐसी सुगम ढँही में भावनाओं को उमार-उमार कर रखने में ये सिद्धहस्त थीं। प्रणय-पीतों के दो-एक चित्र देखिए

‘बहुत दिनों तक हुई प्रतीला
 अब कक्षा व्यवहार न हो।
 बड़ी! बोल लो किया करो तुम
 बड़े मुझ पर प्यार न हो।
 बुरा बुरा ही बातों पर
 मन कटो मेरे अतिमानी।
 लो प्रसन्न हो जाओ पत्नी
 मेने अपनी ही मानी।

एक और उदाहरण

तुम मुझे पूछते हो काऊँ
 में क्या बनाव हू तुम्हीं कही;
 ‘जा’ कहते रहती है नवान
 किस मुह से तुमसे कर्तूँ ‘रहो’।

सारथ्य एवं कला का मिश्रण इनकी रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित है। इनकी ढँही में सदा ही प्रवाह और वेग है अन्तर में सुख और बाधा की किरणें छिपी हैं इनका जीवन युग-युग से छाये हुए बियाद और छत्रछाया से परे है ये आशावादी हैं उत्साही हैं जो अल्पकार के आचरण को भीरकर प्रकाश की कामना करती हैं।

स्वदेश-प्रेम भी इनकी कविताओं में कूट-कूट कर भरा हुआ है। वे अशापी थीं और साथ-साथ इनकी कविताओं में पूर्ण रूप से प्रकट हुआ है। इनकी ‘साँची की राती’ अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इनकी वात्सल्य रस की कविताएँ भी बहुत ही श्रव्यस्पर्शी हैं। ‘मेरा नया बचपन’ की कुछ पंक्तियाँ देखिए

‘मे बचपन को बुला रही थी
 बोल जड़ी मित्रिया मेरी।
 नमन बन ली फूल जड़ी
 यह छोटी ली कुत्रिया मेरी।’

वात्सल्य की रसात्कारित भाव का उच्छल भावग मन को मिथी देने वाला है, किन्तु इनकी प्रेमपरक और भक्तिपरक कविताओं में भी कुछ कम पहुँचाई नहीं है। सहज-सरल होते हुए भी इनका कवित्व और विरह्यता उच्चकोटि की है।

‘मुझे भुला दो या टुकटादो
 करओ जो कुछ जाँवै।

लेकिन वह भासा का अंकुर
 नहीं सूखने पावे ॥

करके कृपा कभी दे देना सीतल बस के छींटे ।
 कबतर पाकर बस बस यह, दे फल लायब मोटे ॥”

‘बीरों का कैसा हो बसन्त इस कविता की कुछ पंक्तियाँ—

‘आ रही हिमाचल से पुकार
 है उबसि गरबता बार बार
 प्राची पश्चिम नु नम जपार,
 तब पूछ रझे हूँ दिगु बिगल
 बीरों का कैसा हो बसन्त ?
 कुम्भी सरसीं ने दिया रंज
 मयु लेकर आ पहुँचा धन्य
 बयु बसुबा पुलकित अंग अंग
 हूँ बीर बेश में किन्तु कस्त
 बीरों का कैसा हो बसन्त ?

‘आ रही कोकिला मधुर तान
 माक बाजे पर उजर पान
 है रंज मौर रज का बिपान
 मिलन आये हूँ आदि अल
 बीरों का कैसा हो बसन्त ?

‘मल बहिं हों या हो कुम्भाज
 बल बिलबल हो या बगुपबाज
 हो रज-बिलास या बलिज बाल
 अब पही समस्या है दुरल
 बीरों का कैसा हो बसन्त ?

एक दूसरी कविता में—

“उम्ह तहसा निहारा सामने लकोब ही आया ।
 मु बीं आँसे तहज ही भाज से नीचे मुकी भी ये ॥
 कर्ने क्या प्राणजन से यह हृदय में तोष हो आया ।
 बही कुछ बोलें पड़ेसे प्रतीक्षा में बकी वो ये ॥

इन्हींने कल्पित प्रथम या आनाम्त निरङ्ग-वेदना के बिच लीचने में अपनी
 बाधिता की समुची दबिद नहीं समायी अगिनु व्यक्तितगत सीमाओं में सिमट कर भी
 अपनी गहरी अनुभूतियों को व्यापक एवं सर्वसंबोध बनाने की कैप्टा की ।

“मूलो तो सर्वस्य । मत्ता वे
वर्षन की प्यासी पड़ियाँ ।
मूलो मयूर मिलन को मूलो
बातों की जलही सड़ियाँ ॥

मूलो प्रीति प्रतिज्ञाओं को
माताओं विपत्तियों को
मूलो जगर मूल लफटे हो
बाँसू धीर जसाँतों को ॥

मूलो छोड़कर तुम्हें प्राणवन ।
तुल्य या भान्ति नहीं होगी ।
यही बात तुम भी कहते थे
सोचो भान्ति नहीं होयी ॥

तुल्य को मयूर बनाने वाले
तुल्य को मूल नहीं सकते
तुल्य में कसक जड़ ही ने प्रिय ।
मूलको मूल नहीं सकते ॥”

इनकी सभी कविताएँ बहुत ही सीधी-सादी हैं । कहीं भी कोई उलझन या बुझता भरी जल्दवार भाषा नहीं है । पर उच्च शरक भावाभिव्यक्तता के भीतर कुछ ऐसा आकर्षण और मानिकता है जो पाठक के ग्रहणशील एवं संवेदनशील हृदय पर छा जाती है । प्रकाशान्तर से अन्य कवि-कवयित्रियों से इनकी कविताओं में यही अन्तर है कि ये अपनी रचना-शैली से चकित-संविभ्य या झंझकारों की छटा से जकाशीला नहीं करती बल्कि ऐसी शरक महजिम भाषा में अपने विचारों को प्रकट करती हैं जो सब को ग्राह्य है और एक विशिष्ट सजीवता चकित और सात्विक उत्साह—जो इन रचनाओं के पीछे चकित है—बहु सज्ज ही सुग्य और वमिभूत कर लेने वाला है ।

“मेँ सबा कटती हौ आयी
प्रिय । तुम्हें न मेँने पहचाना ।
यह मान बाब धा बुमता है
बब बेक तुम्हारा यह जलता ॥”

इनकी कविताओं में राष्ट्रप्रेम और जनवासी स्वर भी है । बिदेसी शासन की शृंखला में जकड़ी जब भारत भूमि छत्रपटा रही थी तो इन्होंने अपनी शरावत वाणी से बतकी गौरव-भी को मूलरिठ किया । इन कविताओं के भी कई पहलू हैं । ‘आँसी की शानी’ ‘जलिमाबाबा काम’ ‘स्वदेष्ट के प्रति’ ‘मातृ-मन्दिर में’ ‘विद्या’ ‘पुरस्कार कैंसा’ आदि कठिनप कविताएँ कर्तव्य-कर्म तथा राष्ट्रसेवा की कित्य पठिशील पयार्थत को जमन्वित कर बाब भी सुमयम का नेतृत्व कर रही है । ‘आँसी की शानी’ की

मुप्रसिद्ध निम्न पंक्तियाँ—

‘आजो रानी याद रखये हम इतना भारत वासी
 यह तेरा बलिदान जगायेगा स्वतन्त्रता भविनासी
 होवे चुप इतिहास जगने सच्चाई की चाहे फाँसी
 हो सबमाती बिजय मित्रा हे मोलों से चाहे साँसी
 तेरा स्मारक तू ही होषी
 तू कुर अमित मिश्राणी थी ।
 बुझेले हरबोलों के मुँह
 हमने सुनी कहानी थी ।
 कूर सड़ी सर्वांनी वह तो
 साँसी वाली रानी थी ॥”

‘रानी की चुनौती’ शीर्षक कविता में—

“आते हो भाई पुनः पुकती हूँ
 कि मस्ता के बंधन की है काज तुमको ?
 तो बन्दी बनो देखो बन्धन है कैसा
 चुनौती यह राखी की है आज तुमको ॥”

‘टुकरा हो मा प्यार करो ‘प्रियतम है बकते समय’ ‘समर्पण’ ‘पुरस्कार का
 मूक्य’ मिथिल समीर’ आदि इनकी कविताएँ कोमल भावों को व्यक्त करती हैं ।
 इनकी कविताओं का संग्रह ‘मुकुल’ के नाम से प्रकाशित हुआ है जिस पर हिन्दी
 साहित्य-सम्मेलन से सैकधरिया पुरस्कार मिला चुका है । श्री माधनकाक चतुर्वेदी ने इनके
 सम्बन्ध में लिखा— ‘वह गीत नहीं जीवन-संघीत किन्तु उसकी पाँतों पर कल्पना
 के फठोर मोती नहीं अनुभूति के धम-धमों से सीसे ‘मुकुल’ बिखरे होते । उन विधियों
 की आमा संस्कारिया के चाँदी के टुकड़ों पर नहीं माँ कहकर नचल पड़ने वाले कुमार
 हृदयों के ममता मरे बाह्मणों पर प्रतिबिम्बित होतीं । दुर्भटन के कारण इनके
 आकस्मिक निबन्ध से हिन्दी साहित्य की बहुत राशि हुई है ।

तारा पाण्डेय बाबूक कवयित्री हैं और कई वर्षों से अपने गीतों द्वारा हिन्दी
 साहित्य की समृद्ध कर रही हैं । इनके जर्जरों में पीड़ा और कसक है, हृदय निरन्तर
 रोता-बा रहा है ।

‘जीवन की तुल-बुद्ध की स्मृतियाँ
 जग पढ़ती घीतों में मन में ।

बास्याबस्या में सांवातिक रोम से पीड़ित होने के कारण इनका अन्तर धुल्ला
 गया और ये अन्धमयी हो गईं । माता के अनामयिक निबन्ध से भी इन पर बहरी डेठ
 लकी जिसे ये ऊगरी हँसी में छिपाने की सर्व्व वेष्टा करती रहीं ।

‘प्रयाण में मस्ता का विधोय

सहकर चुपके चुपके रोई

पर सब कहती हूँ बाहर से सबन मुस को हँसते बैसा ।

इनके गीतों में तरबता और मन्दार का अन्वय है । पाठों की झलमसाहट में भी इन्हें विपश्चिन्नात्मकता गजर आता है

‘सबि ताराबलि का बिखरा बल ।
नम के प्रांगण में सब हिल-हिल
करते हूँ ये मिलनिल मिलनिल ।
ये व्यङ्ग्य ही भावकता बस
जाती हूँ इनमें ही हिल-मिल ।
सबि करते हूँ मिलनिल मिलनिल ।

इनकी माया छन्द पद्य बोधगम्य होती है । ‘कीकर’ ‘ससर्ग’ ‘धुक्किक’ और ‘बिनुकी’ आदि इनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं । कभी-कभी पीड़ा से तप जाकर ये सस्कार और मंगल-अपेक्षि अशाना चाहती हैं । निम्न पक्तियों में मधुर भावाभिव्यञ्जना के साथ-साथ अनुभूति और संवेदनशीलता का कौसा सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है ।

‘उर अन्तर का मँराश्य विद्या
मेरे आशों में ज्योति अला हो ।
स्मृति-विस्मृति के तान-बाने
अनबाने औ’ बिर पहचाने
सुखि-यय से आते-जाते
उबकी आज मुला हो ।
बने साधनापय पय सुन्दर
अमर र्हें ये गीतों के स्वर
हाथ बढ़ाकर जीवन का रय
मेरा सुन्हीं अला हो ।

स्वर्गीया बुद्ध्यापवती देवी ‘आर्य’ अपनी मूजनाकाशा की पूर्ति किए बिना ही हृदय अक्षर संसार से विद्या ह्य मरें । अल्पकाल में जो कुछ भी ये लिख सकी उसमें हृदय की गहराई, कदना और विचित्रते स्वर हैं । परिष्ठा भी प्रबहमान बाध में इन्हें ज्यया और स्वय उमडता बीच पडता है ।

‘किसके लिपू लकडम बिहाय-तम
अविधायत यह रोवन ।
नौरम प्रातों में बिखरती,
बयों अयना बीगा मन ?

इन्होंने राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी हैं । ‘अतवेरना’ कविता-संग्रह इनका प्रकाशित हो चुका है ।

स्वर्गीया रामेश्वरी देवी भिन्न 'बकोरी' की के कृतित्व में प्रकृति का बगूठा चित्रण और प्रभावोन्मत्तास है। स्निग्ध प्रांजक भाषा और परिष्कृत शैली में इन्होंने सूक्ष्म चित्रांकन प्रस्तुत किया है

'आते शिपे दूग भूँदते भानु के
मेघ के छिने बड़े जल्पाती ;
बंभला भाँ तब बीपक कैकर
रोव भरौ उन्हें बूझने आती ।
शोली भरे सूर सुन्दरियाँ
पजमोसियों की हैं सड़ी सी लप्याती-
जौलों के रूप में आते बही
उन्हें बल्लरियाँ हिय-हार बनाती ।'

इनकी कविताओं में राष्ट्रीय चेतना और स्वदेश-प्रेम भी है। किजस्क' इनका कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

स्वर्गीया रामेश्वरी बोपल हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की धर्मपत्नी थी। अपनी अतामयिक मृत्यु के कारण ये हिन्दी की पर्याप्त सेवा न कर सकीं तो भी बोड़े अर्थ में इन्होंने जो लिखा उसमें प्रौढ़ता और उद्बुद्ध प्रवाह है। वैयक्तिक परिधि से परे जीवन का सरल सामंजस्य और मानिक व्यंग्य है।

'बोड़े से मधु विण्हा के
नपणों में जीवन साधु ।'

इनकी बगक कविताओं में प्रणय की पिपासा और कश्क स्वर है

'बोके ए पबिक ! न सोझे
मेरे बीबव की लड़ियाँ ।
जल्पाती ही अब रहने को
बुझिया जीवन की बड़ियाँ'

इनके सम्पूर्ण काव्य में कोमलता कल्पना की कमनीयता और अनुभूति की सघाई है। 'जीवन का सपना' इनकी पुस्तक है जिसमें तीस कविताएँ और बचनीत संग्रहीत हैं।

स्वर्गीया होमबती जी प्रमुख रूप से कहानीकार हैं किन्तु इन्होंने अपनी एकांत अनुभूति और संवेदना को कविता में भी ब्रषित किया है। बसमय वैयक्य के कारण इनके समस्त कृतित्व में अबसाद और रामात्मक संस्पर्श है। अपने कविता संग्रह 'उद्बुत्ता' में इन्होंने प्रारम्भ में ही अपनी पीडा का परिचय दिया जो हृदय को सूता है

'उर में जलड़ा पीड़ा बारिधि
जीवन में बरसे बंधार ।'

जीवन-मन को छोड़ कर
पाया कविता बन उपहार ! !

अल्प वय में पति के अभाव से जो एक सूनूपन और कदना का साथ उनमें आपस हुआ वह कविताओं में छाकार हुआ है। इस चोट से उनमें हृदय की विद्यामत्ता और औपचार्य अधिक भा गया था। दूसरों के दुःख से वे तत्काय तात्काल्य स्थापित कर केटी भी और जीवन में सहरे पैठने की प्रवृत्ति भी उनमें अधिक थी। एक कविता—

“प्राण-पंछी उड़ चला फिर !

आह ! परदेही पपी को मान कर पत्र का सहारा ।

अरु दिया या साथ सहसा खोजन जीवन किनारा ॥

छोड़ कर वह अरु दिया मयबीच में बहु बुल रहा फिर ।

प्राण-पंछी उड़ चला फिर !

लौट आना चाहता पर, लिख रहा छत और कल-कल ।

है स्पर्शित आज मेरे मन-विह्वल का मन कल-कल ॥

आरहा बिसिप्य-सा फिर, रहन पाया निमित्त भर फिर ।

प्राण-पंछी, उड़ चला फिर !

एक पग आग मचल कर, और हो पीछे ठहर कर ।

निबिड़ तम में हृदय पामे, सोब लेता कुछ सिहर कर ॥

लित्तिज के उल्लस पया ? उत्पान है, अवसान या फिर ?

प्राण-पंछी उड़ चला फिर !

आ रहे पंजी लजय सब ध्यान में घर व्येध अपना ।

किन्तु मेरा प्राण-पंछी भर दूरों में मीन अपना ॥

वैलता तुफान छाये मेघ सुस्मृति के घुमड़ फिर !

प्राण-पंछी, उड़ चला फिर !”

अनुमत्ता करे भी नर्मदा प्रसार करे की चर्मपत्नी है। इनमें लम्पयता और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है। अनेक कविताओं में सुमहाकुमारी जहाँन की याँति वात्सल्य और माँ की पुष्क है। इन्होंने अपनी बेटी आरा के प्रति सखि को संबोधित करके लिखा

‘सखि एक से जो बन भाइ
मेरी ही मिश्रता तो फिर से
मेरी गोदी में मुस्काई ।
पौवन ने शशाक को पाया—
खिला फूल फिर कली बना री
में अन्तर-घट को ममता से
सखि, आज फिर से भर लाइ ।’

अनुमत्ता की ने महादेवी चर्मा की बाष्पात्तिक और पलायन वृत्ति की भी

अपनाया है। कहीं-कहीं व्यंजना बहरी और अधिक मासिक होकर प्रकट हुई है।

‘ने हूँती मधुमात आया।

आर पड़ा अनुराग विद्व-विद्व और अब पल्लव छाया।

बीर

‘शरकर बैभी में स्वेत कूज

हूँत उठे गपन में तारक बन।

मेरी आना से ध्योन हुआ

सहरमा सतरबी बुकूल

छाया पू पू कर मूल उठे

तुम्-तुम् तक-तक में मधुर कूल।’

धीमती सुमित्राकुमारी सिनहा कुछ बयों से कविता-क्षेत्र में पर्याप्त प्रवृत्ति कर रही हैं। इनकी माया सरल किन्तु भावपूर्ण होती है। कोमल कल्पनाओं की उड़ान में वे कहीं-कहीं बहुत ऊँची उड़ गई हैं।

‘कमल भाग के तनु लरीके

हीने तुम बने अब बंधन

बुल्ल बलों ता भी बन तोड़ा

बही बन गया है अब पाहन,

तुमने समयता स्वप्न बिते बहु सपनों का आकार बन गया।

एक बरम्बाय ने जीता है

जीवन की प्रतिविधियों का कम

बन बिजुओं की सौंघ दिया है

पपकारी ने अब का विद्वान

तुमने समयता बिते किनारा आस बही नैसकार बन गया।”

यहाँ एक ओर आपकी कविताओं में आमुकता धक्कती है, वहीं धर्म अधि-म्यस्त ज्ञेय तथा खुल्लबाबी तत्त्व भी उल्लिखित हैं।

‘‘छासिर निरस मेंजग की मूरी

बलकों पर धपने लींसे से

दिल्लब पर तारों के दीबल

ज्योति अरे आपनब हींसे से

तभी छतककर नम से बरती

पर बतंत मधु आया हावा

तुमने ही मुस्करावा होया।”

इनकी रचनाओं में कोमलता के साथ-साथ वेदना भी उचित है। धारों की अन्वयता कल्पना की उड़ान और सुबल भावजन्म आबकता से परिपक्वता पाकर यह

देवना भाषा और गिरजा के बोल विखाती हुई इनकी कविताओं में स्फूर्ति भरती है।

महादेवी के पश्चात् ये ही एक एसी कवयित्री हैं जिनकी कोमल एवं सुष्ठु कल्पना समस्त बलकार-विभास और सम्बाहम्बर को पीछे छोड़कर अपने सहज भावों में ही काव्य हो उठी है —

“क्या कहूँ तुमसे किसोरी

इस गृहस्वी-भूमि पर नु भीष विष के हा ! न बो रो
 बुझ किस है ? जो सवा ही माम्ता है डुर बच से
 सुख किस है ? जो न सोचे — “मे रहूँ भरपूर सुख से”
 भबिर हूँ संसार के सुख-बुख दोनों बोल रानी ।
 अत भीषण में बलो कर दो जर्षों का मेळ रानी ।
 यदि न हों जानू यहाँ तो हास का क्या मोल हो फिर
 बी न पलक हूँ तुला के किस तरह से तोल हो फिर
 क्या नहीं है रास काली जब कि क्या कमकती है
 क्या नहीं है बिरस कटि जब कि कस्मियाँ गमकती है
 मोलना सपर्य भग के है इती का नाम भीषण
 सन्तुलन रखो उठायो तो तनिक ऊपर नयन-भग
 व्यत-तापों में पलाकर ही जरा संभव सेबी रो
 क्या कहूँ तुमसे किसोरी।”

उदात्त काव्य-शैली सरल भाषा मिश्रित गान्धीय और नाटी-सुमन भावनाओं के हृदय का सफ़ेद चित्रण ये ही सुनिभा बी की कुछ विशेषताएँ हैं जो मन को बहिष्कृत कर लेने वाली हैं। ‘साध्य पीठ’ की कुछ पंक्तियाँ—

‘जा गई सौप्त

अब बीपक मुझे बलाने दो ।
 मुझ को अब ज्योति जपान दो ।
 नदियाँ घाटी-दल-उपवन पर,
 पर्वत ज्यों घर-सापन पर
 क्यानाचक की जो छाँह पड़ी—
 अत में पल भर बिलमाने दो ।
 सुरलाई उतरती जोकुली
 हापों में के सेगुर लूली
 इसका पद ज्योतिष कर मुझ को—
 सपनों के बिज बजान दो ।
 नीलम महलों मोठी बिकरे,
 परती पर बीपक बी छूरे

ज्ञाननिष्ठ को से ही बेर टेर-
 प्रज्ञा को मुझे बताने दो !
 जस को बस हीप बताने दो !
 मा पई लोख
 अज मुख को हीप बताने दो !

इन्होंने मखिवरक कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें हूबन की सचाई के साम-साम उचना-सौन्दर्य और नायबराय्य भी हैं—

"मे हूर मखिर के पद पर अर्घ्य चढ़ाती हूँ
 ममबाल एक पर मेरा है ।

मखिर-मखिर में घेद न कछ मैं पाती
 है सिद्धि जहाँ लानना वहीं पर जाती
 मन की गरिमा जिसके माय मुच जाती
 बाणी कर का अमियेक वहीं पर पाती
 में हूर पूजन-अर्चन पर क्षीश मुकतो हूँ
 अविमान एक पर मेरा है ।

कलिमें कूलों पर किरने प्यार मुदाती
 मन से जाती माटी-कन में छा जाती
 पर क्या कलिमें कूलों में ही बत जाती ?
 चूरन की किरने चूरन के सोंप जाती ।
 में किरन-किरन की मी पर प्यार मुदाती हूँ
 विनमान एक पर मेरा है ।

मन ही तो भावकत स्नेह प्रेम का बन्धन
 आने तन की गति किया व्यक्त का बन्धन
 यह पूजा भक्ति-प्रायतन-गत अभिनन्दन ।
 मन की महिमा-गरिमा का करते बन्धन ।
 में हूर असीप मन को स्वीकार कराती हूँ
 बरदान एक पर मेरा है ।"

बैशाख-जठ की दोषहरी कितनी भीषण होती है । उसके प्रखर ताप और अपाहा उपमा का माह कर मन काँप उठता है । कविवित्री ने ल के सन-सन करते आय उपलये शाको में भी पद्यों का सम्मोहन कर दिया है

"बैशाख-जठ की दोषहरी ।
 लू के शौंके सन सन सन सन
 बजते हैं माग भरा से मन
 भंवारीं से मंडित है सन

मुलताले जाते अन्तर्मन
 उठती जाती हूँ पट्टरी !
 बेसाख-बेठ की बोपहरी !
 बिहगों के मग्न पड़े स्वर भी
 सरिताय सूख रही सर भी
 अब तो विस्तृत अम्बर पर भी
 बिकारे न हूँ बिकों घन के पर भी
 मिलती न कहीं उड़ें छहरी !
 बेसाख-बेठ की बोपहरी !
 यह रूप भीर बुपहर की तपती परमी
 किन ज्वालाभक्तियों के अन्तार से जग्मी
 किस झंकार के अनिघाप धरा पर जग्मे
 अतुपति के वाद्यस्त्री-उपवन मुरसाये
 फिर मृत्ति-कणों से बका वाग्य का आगत
 सूखे टूटों से बिरा सुरभिजय कातन
 प्यासी प्यासी लगती धरती की जलें
 सूनी सूनी रोते बाबल की पंख
 अब मौन धरा औं नम के आकर्षण हूं
 मुकड़े मू पर के कक-कन औं तुफ-तुफ हूं,
 जीवन की साधें दूर हैस में सोई
 चेतना लता कुओं की लोई लोई,
 आलस औं भारीपन में तन-मन कुबें
 सम्ये लम्बे दिन लम्बे ऊबे ऊबे ।”

‘तुमने ही मुस्करा दिया’ शीपक कविता में हृदय को रंजित करने वाला भावोन्मेष है। जबकि क्यों ही वह मुस्कराया समस्त मृष्टि में बैठे मादकता छा गई। अलिल पृथ्व-जगत् का यह बिठेरा ही ठो बिटाट बिचपट पर कौतुक भरे बिच जाँका करता है जिससे माभुय मुकुलित हो चला है और उसी की दौर्दम्य-धी सर्वत्र बिकार जाती है

तुमने ही मुस्करा दिया क्या जो बसन्त का मन बीराया ।
 धरती ने मग्न पहन लिये है

रजत कनक छतलों के कमन
 नदियों ने मुत्त जो कर देखा
 भीर धार का निमल रूप ।

गरम रसत बन्धनी पवन की शिरा शिरा म यों लहराया ।
 तुमने ही मुस्करा दिया क्या जो बसन्त का मन बीराया ।

हेतु की भाँसों की प्याली
 में जज्बाई मर की लाली
 भरकत बन में लगे लखने
 तोते, मोर बना कर लामो
 लाल किनारे मुमक सारसों ने फिर से अभिसार रचाया ।
 तुमने ही मुस्करा दिया गया जो बसन्त का मन बौराया ।
 कामों की सुगंधित बहनों को
 छू ही गई तुम्हारी बिलबल
 लमी लगे पालों से कूटा
 सोने ला बीरों का पीवन
 लमी विपलों में कोयलिया ने मंजल का विगुल बनाया ।
 तुमने ही मुस्करा दिया गया, जो बसन्त का मन बौराया ।
 पूँवत लोले बेती कलियाँ
 लगे किलकने पछी सारे,
 लमी लगेरा हुले फिरने
 लमी लखने डारे डारे,
 भरती हुई इतार्थ पुनक कर अँपों में रंग हव लमया ।
 तुमने ही मुस्करा दिया गया जो बसन्त का मन बौराया ॥”

ये सार्वजनिक कार्यों एवं कवि सम्मेलनों में सक्रिय भाग लेती हैं। इनकी अंजल
 लुहाम 'विद्याम' 'वर्षगाँठ आधापन' 'पंजिनी' आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।
 वेमठरिमा पुरस्कार से भी ये पुरस्कृत हो चुकी हैं और एक सम्मेलन से वाच्य-साधना
 कर रही हैं।

भीमती विद्यावती 'सौखिन' विद्यालय मौलिक कर्मिणी हैं। इन्होंने अतुर्विद्
 के ली जीवन के साधारण-असाधारण क्षणों को बिल बराता से पकड़ा है। जम्ही की
 भावनाओं के अनुकूल डाल कर ऐसे आकार प्रदान किये हैं जो सम्पूर्ण रूप से मति
 के अर्थवक हैं। कोमल हृदय के स्पन्दन को बाधित करने के लिए कहीं के अपने आप
 को मुक्त करी या अनुभव करती हैं

अं अकृता की मय्य पुता में जड़ती एक लगी है ।
 लीने लख भर को भी तो विद्याम नहीं जाना है
 जाना कमी तो बृहदार अक्षिम फिर से ठाना है
 इत सोते लँतार के बीच म ही बल लनिक लनी हैं ।

परिवर्तन की झंझाओं से गई लदा लकसोरी
 और परिवर्तन के बीड़ों ने से-लम्मार हैं बीड़ी ;
 अपने ही आरसों से मे फिर फिर गई टपी हैं ।

कोई परछाही है उसके पीछे भग्न रही हैं
 आकारों से अपनी घरी बरोहर नाम रही हैं
 प्रेम में किसी मनबोजे के भं भरपूर बची हैं ।
 बुद्ध की अन्धी [घाटी में पिरती पड़ती बड़ती है
 और राह पर निज प्रलयों को ठकराती चलती है
 जैसे कोई लक्ष्यबोध तीर-सी सजेल भगी है ।”

प्रेम प्रेय के इन्हों से ऊपर, हाट और अज्ञात से अज्ञय निरु-अए परिवर्तनों की संज्ञा को बीरवी-अकृती उब ठँबाई की राह में दौड़ना सरल नहीं है पर रास्ता बनाने काटा बना कधी बकटा है ? हृदय की अलमोल भिन्धियों को बिखेरती बिहूयी की नीलाम्बर में उकड़ी 'कोकिल' की कौमल कल्पना शान्त होना नहीं जानती । एक अन्य कविता में

“मैं जीवन के हृदय में पड़ी कोई दिव्य पीर हूँ ।
 अला विमा है असा नीड़ निज अड़ नाबिध जालों पर
 उड़ान में ही अल अल रहता जाता है जिसका घर
 अद्वि बोंध में केसर उड़ान जाता एक कीर हूँ ।

अज्ञान स्वयं जाकर अिसकी दृष्टि अना अगमन है
 और तीर्य पात्रा में अिसकी अनी प्रेरणा अण है
 बलि के अित स्वीकार हो चुका है जो अह शरीर हूँ ।

मानव विरहित अजम अजम के अमृत भरै सपनों से
 सजित करके अक्याअयों के अहान तीर्थों से
 लामा गया यज्ञ के अुधाराअ का अण्य-नीर हूँ ।

अक न लखूना अितना भी अल अक्य सरकता अए ।
 अक न लखूना अापानों के अथत भी अा अए
 में अणु के अरक्य से अूरने जाता एक तीर हूँ ।”

अपनी भक्तिपरक कविताओं में इन्होंने भक्ति के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है । अमित का अर्थ है—हृदय की निरूपट सरकता और अचाई । नाटी का निरूपण निरूपण अम और अमर्षन की भावना ही अर्थात् अक्ति है जिसमें किसी प्रकार का भी अणु-अंधर्ष वा स्वार्थ नहीं है । निम्न कविता में हृदय का आह 'परिष्कारित भाव अलके भीतर के निरूपक अत्य का अणुबोधक और अिस्वास का अतीक अतकर अक्य हुआ है

“मेरा अण अजम अण अण
 अण अतिअण्य अकृति अण अण

सब सुपौंड निरंजन काम्या ;
मेरी सत्य समय के माये
सब वर्धन जीवन बन जाता ।
मेरा ज्ञान—

माया तो अनुमति बिरानी—
कैसे अपने भाव सजाऊ ?
किस प्रतिभा को काम्य कर्तुं में—
सारा विनाश भ्रम बन जाता ।
मेरा ज्ञान—

औरों के पतिवार्तों पर ही
मेने अपना पथ सिरका है—
किस मौलिकता पर इतराऊँ
प्रति पम समानुकरण बन जाता
मेरा ज्ञान—

यों तो मेने जग को सब तक
बहुत ज्ञान-विज्ञान दिया है ;
कैसे पतका लैजा जोड़ —
मेरा कार्य सूजन बन जाता ।
मेरा ज्ञान—

पीड़ा में क्या धोर मचाऊँ
और विषय में नाह कर्के क्या ।
मेरा सकल विकास सकल बन
संतुति की पुलकन बन जाता ।
मेरा ज्ञान अज्ञान बन जाता ।”

एक हुसरी कबिता में—

“ज तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी
घरल सत्य इक हवाला अनुपम
कारिहु मुष उधरी
जाने अजज्ञान कर्हें अपनी
रचना जाति करी
मेरे तन मन अज्ञान की पति पम कनी सिपरी ।
म तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी ।
भाव भाव के जगम जगम अब

एक कथा तबरी
 और कम की पत्तिल पत्तिल में
 एकहि स्वर लहरी
 एक छत्र बस राज तुम्हारी एहि तन की तबरी ।
 ये तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी ।

लकैलों पर बंधू बंधू कि
 लोड और जगू
 जोई बनामी लोड बन जाई
 जहाँ कशो बरसू
 जाकर होइ छूँ बिश्वासी ऐसी सपन करी ।
 ये ता तेरे प्रेम के सिन्धु परी ।”

भीमती 'कोकिल' में जाब के प्रेम और अभिरास की काली परछाईयाँ नहीं उभरी हैं। बाबी के बंधाव से मुक्त जीवन कपी महासागर का अग्रगाहन करके वे अपनी अमूम्य काम्य-मन्त्राओं की माला मानव-समाज को अर्पित कर रही हैं। निरन्तर मिट-मिट कर, कुछ जो-जोकर या पा-पाकर अपनी रिक्तता को वे किसी बेवसी अभाव या ईश्वर के रोदन से नहीं भरना चाहतीं, बल्कि अपनी विचारिकी और मनु मय पीठों की आनन्दमयी मस्ती में मुरझी-सुत की अनुभूति में पिरकमा चाहती हैं।

“मुरझी जाबि रही मनुबन में
 एक पूँज पूँजी आत्मा में द्वार कुले कंचन के,
 नाच रही राधा कबि देसी दप-रंग-अम्बन में ।
 एक पूँज पूँजी मानस में द्वार कुले अम्बन के
 उड़ी जा रही लबक कल्पना जीवन लिए मयन में ।
 एक पूँज पूँजी अन्तर में द्वार कुले चाँदी के
 आनन्द बरसा मशी अम्बनी दुनिया के अन्दन में ।
 एक पूँज पूँजी काया में द्वार कुले लोहे के
 कठिन अत दूरी अज्ञता की मनु जमया जीवन में ।”

भीमती विद्यावती मिय कविता के क्षेत्र में अनेक बरों से साधना कर रही हैं। एक आरशावाच मैट्रिक गारी का सा आरशासन और संतुष्टि के स्वर इनकी कविता में उद्बुद्ध हैं। भयवान के प्रति अरबन्त हीन मानना और मूक समर्पण का भाव अन्दर इन्होंने अपनी भक्ति की उन्मयता को धर्मों में साकार किया है

“भय वह मुझको नहीं कि भेरी यह लघु लता मिट जायेगी
 केवल यह बुज फिर न द्वार पर प्रतिबिम्ब मस्त राशि आयेगी
 ये वह ही वह ही भय वह ही अम्बिर, फिर बरदान न बरसो ।
 अत्र भेरे भयवान न बरसो ।

वीणा मेरी एक एक ही तरह सभी भंगुली पड़ती है
फिर क्यों अधिकतर राग रागिनी दूट-दूट स्वर में बड़ती है
वही अक्षर है वही बीसुरी गायक अपने धान न बरलो !
अब मेरे भगवान न बरलो ।

बंचल मन को एक तुम्हारी बुद्धता का आधार रहा है
जिसके ध्यान-मात्र के बल पर जीवन भर मयर्व सहा है
निर्बल के आधार, भोक के प्राण बिद्व-कल्याण न बरलो !
अब मेरे भगवान न बरलो !”

अच्छाट, साज-सज्जा उचित-वैचित्र्य और मिथ्याडम्बर से ऊपर उठकर
अपन मंत्रप्रवेश के अक्षर मीन में ही ये भगवान की सोच करती रही । सनै-सनै
यह भावना भी इनमें इतनी पुष्ट होती गई है कि मानवत्व की बरम परिणति को
ही इन्होंने देवत्व की संज्ञा दी । देवत्व आखिर है क्या ? क्या सचमुच जीवन की
अमरता का बरबान उन उच्चारणार्थों में नहीं है जो पटवन्व उपासना गृहों या मठ-
मन्त्रियों में नहीं बरन् त्याग-उपस्था परहित और अपनी संभूत चैतन्य सभित द्वारा
एक सच्चे मनुष्यत्व में देवत्व को सार्थक करने की अनवरत साधना में सगे रहते हैं ।
इंसान मेरा देवता’ शीर्षक कविता में इसी भाव को व्यक्त करती हुई ये लिखती हैं

“मे चाहती भगवित स्वरों में बिम्ब को यहू बु बवा,
इंसान मेरा देवता ।

रवि के प्रबलतम ताप ने अम को पसीना कर दिया
प्रत्येक बिलकी बुद ने जीवन धरा पर भर दिया,
बहु मूर्ति पीछप की बन बिर-अचिता !
इंसान मेरा देवता ।

बनबोर तीघ प्रहार से अब बय-सा लोहा कय,
तब आप की बिननी उठी व्यापक युगों का तम कय,
इत साधना की अब नियति भी अनुगता !
इंसान मेरा देवता ।

पठ बंद हो पूजा-गृहों के अब लवा को आज से
अध्वान अब बाहर न होया लोक और समाज से,
देवत्व का ही नाम होया मनुजता !
इंसान मेरा देवता !”

वहीं वहीं छायाबाद और रहस्यबाद से प्रभावित होकर इन्होंने उस अज्ञात
स्वप्न को भी अनुभव किया है जिसकी कि अभी तक म्युनाधिक रूप में परिपाटी
वसी बा रही है । किन्तु इनकी भी प्रतीक्षा का अन्त कवन या पीड़ा के पठसर में
नहीं बरिह हैसते हुए बरगत में है । उस तमिस्रा में ही इनके प्राणों के तारे या चैतना

नहीं कौंधती बसिबु इनकी भावमयता सहजता और सादगी का परिचय कराने पर सरल वाणी की रचना में फूटी पड़ रही है।

“मेरे कवि की प्यास कि जैसे सीपी के अंतर की स्वास्त,
मेरे कवि की प्यास कि जैसे बारल न बिजली की माका
जैसे स्वास्तामुनी लिए रहता है अपने में अंगारे
जैसे तनमय रात छिपाए रहते हैं प्राणों में तारे
रहता है अज्ञात सब मालव-मन का इतिहास !
एक जसी की ही छाया है मेरे कवि की प्यास !।

है मिट्टी की प्यास मृत्ति के सोने भरे हुए अक्षर में
है सरिता का बेप नाभ के झिलते हुए सबल संकलन
कुलों की मुसकान सुरभि की मस्ती भरी हुई लहरों में
जीवन के मकरन्द किसी के पापल प्यार-भरे प्रहर्णों में
मन की सामुपता का ही है एक कम संघात !
और जसी की एक जेतना मेरे कवि की प्यास !।

मेरी मीन प्रतीक्षा का कम हो पाया है अंत
रोता बतझर बन वाया कम होसता हुआ बसल
तुष्टि न मन की है पाया है अन्ते का लम्बे
कम को प्राप्ति न हो जाती है अन्ते का आदेश
बाहू रहा मृतक पर आण्ड-एककी आकाश !
किन्तु और जाने को व्याकुल मेरे कवि की प्यास !।”

भीमती कमला चौधरी नक़्कत कहानीकार हैं, पर काफ़ी कविताएँ भी लिखी हैं। इनके उद्गार में लक्ष्मी सरल निपट्य संबन्धित हुई है। प्रम-विरह आधा-निराधा मिलन बिछोड़ के अग्राहक पीठ इन्होंने नदी गाए, बल्कि जीवन की दीड़ में बनाया है ही वो सम्पर्क में आते रहते हैं उनसे ही आराम्य स्थापित कर इन्होंने अपनी संवेदनाओं का बड़े सहज लक्ष्य बच से विस्तार किया है। बाहरी दुनिया के सामान्य असाधारण परिवेश से परिचित होने पर ही एसा आराम्य अग्रह है। व्यापक अर्थ में राग-विराग दुर्प-विचार और मानव-संवेदनाओं से प्रभावित होकर विषेय सामान्यपूर्ण स्थिति में अपनी तीर पर एक दूसरे से विभिन्न आन पढ़ने के बावजूद भी समय के अनभिन्न संघर्षों से टकराकर अस्त प्रयत्न-परम्परा की महत्ता में उदात्त भावनाएँ बहुराई में आकर एक हो जाती हैं। तत्सर्वार्थी दृष्टि वैविध्य में भी एकात्म खोज केती है। इनकी नजर काफ़ीकारी नहीं बल्कि अरम्यतल में विठी प्रकृत व्यापक भरती पर ही टिकी है।

‘धीरे-धीरे अरम्य बढ़ला, पवन ! तनिक लयत हो आना
अपन लहरियों के नतन पर, रीम-रीम पत होत बँबला !

नील गगन में खरि उदा है,
सागर का उम्मार बना है
सहर-सहर का अचन-गचन
भिरुन-काफसा पीडा-कवन—

बढ़ने दो व्यवधान न कमा, उचित नहीं बत्पात मचाना
पुन-पुन के सापक सागर ने प्रेम खोम का तप है ठाना ।

घरा घपन में है अति बुरी,
महाविपादमयी मजबूरी
मम की छाव न होती पुरी
प्रेम-कथा नित रही मजबूरी,

सम्भव नहीं खन्न का अन्ना बीर सिंगु का नम तक अन्ना,
बिफल तपस्वी अचल प्रीति का अपन । न इस का ध्यान दिमाना ।

कभी नहीं होता परिवर्तन
अटक अडूट नेह का बन्धन
आदि मत्त का यह आकषण
सुखर बिरलता का रिप्यर्शन ।

बिफल बिरहुरत रोना गाना ताप अरुण प्रतिफल अकुलानन,
सतत निराशा का बार पाकर, फिर भी अविफल प्रीति निनाना ।

करने दो तन्मय हो दर्शन
होने दो उच्छ्वास सतर्पण
सत्य घाम्बत का यह रूप्य
आत्मोक्ति करता है कन-कन ।

दहर पवन तुझान न जाना या अतमय मत शोक बढ़ाना
बिधम बैरना आकुल अन्तर, लक्ष्य प्रीति की शक्ति अमाना ।”

इस महावाचा के अर्थात् आध्यात्मों में कभी-कभी ऐसे एकाकी अमरेखे राज
भी आते हैं जो हर अत्रयावधि अतीत और हर अनागत अभिव्य का रहस्यमय
संकेत देते हैं ।

“अल बरता या रात अपरिमित ।
उसी बीच में मजुर घात कर
कोई नम पू पया अपरिचित ।
पावत का उत्पात नहीं बर,
बापल अंशावत नहीं का
हुकूम-सा आयात लया का

घन-रस उन्हापात नहीं था ।
 छिप-छिप भाषा बूढ़-जोड़ में
 घुलत हृदय में हुआ समाहित ।
 बरक बरसा था रात अपरिमित ।
 प्यासी भाँसें देख न पाईं,
 बालपट-सी होनी नर भाईं
 बन्ध हुए कालों के बरदे,
 पतली भी नानी बकराईं ।
 केवल लौमा का पद उपरा
 मगल में बहु हुआ जमाहुत ।
 बरक बरसा था रात अपरिमित ।
 कोर बुधा ही किसी किरन से,
 या मनहर बंकिम चितवन से
 छोड़ मगी ज्यों स्नाय कली पर,
 दबनम बरकी प्रात बबन से ।
 चौक पड़ी थी बंसुब पड़कन,
 पल्लुन भाषा सहता विस्मृत ।
 बरक बरसा था रात अपरिमित ।
 बुक-बुप करता मन पठुनाईं
 अनुराग लयी छिपकी मुन्हाईं,
 बप रंग घाकार न देखा,
 किन्तु बुकक तिहरन नर भाईं ।
 बिरा बितेरा दिव लोभता,
 अंतर पद नर छवि प्रतिबिम्बित ।
 बरक बरसा था रात अपरिमित ।"

'अपनी अपनी मंडिक' में ये उक्त यन्त्रण्य ही और अपसर होना चाहती हैं
 जहाँ राह पुमराह है किन्तु स्वयं प्ररथा से खोज लेन क अभिमान में है । यह ठी
 पठा नहीं कि मंडिक का लोग-छार किरर है मगर थिल को साहित्य बनाकर और
 हृदयम बनती सरस्वत से क्रय से क्रयम विभाकर भाव बड़ने की स्वाहिए रखती है ।

नही-कही उर्दु सज्जों के प्रभाव में कविता में खान पूक दी है ।

"मुझे राह में रोमानी नल पिबाला—
 मैं अपना ही बीपक बलाती चल पी ।
 किरन मेरी बंजिल किरर है किनार,
 नहीं मुझको लेना किसी का सहारा ।

तब्य कर मेरे बिल ने मुझको पुकारा
 बताया है बुझके से कोई इतार ।
 बताया नहीं मुझको कोई किनारा—
 मैं बिल को ही साहिक बनानी बन पी ।

नहीं मानी भाँकों को सजपज ये रोक,
 अकारण्य अगम्य अमाने भी हू हूक ।
 कि जो कुछ है बालिक है कुछ भी नहीं हूक
 ये नकसे नहीं मुझको मने हूँ मृतक
 मेरे बिल में बजती है सरण्य जो हरबन—
 मैं उससे हरबन को मिलती बनूँगी ।

मनसि हूँ महरें ये उनकी है अचल्य
 कि जाना और जाना बहारों की भाव्य ।
 अमाने न बी क्या युक्तों को ये राव्य ?
 अकारों ने पाई कहीं से हूँ राव्य ?
 सनी मैं भरी हूँ अजब एक बहुमत—
 मैं बहुमत को राहत बनाती बनूँगी ।

ये गुलशन में गुचे हूँ हंसते अरक्य,
 गुलाबों की रबिअें हवारों कहुकते ।
 हवारों हें झिलते हवारों महकते
 कभी अदक होते कभी हूँ अककते ।
 ये हंसते महकते हूँ बनते विगकते—
 ये गुलशन बनानी बनाती बनूँगी ।

बनाये हूँ दरिया न अुर ही किनारे,
 पपीहूँ में पाये हूँ बिल से ही नारे ।
 अतामी अकक पर हूँ किसने अमारे,
 वे अकक-तितारे से अकके जो तारे ।
 ये अरि और अुरज ये बिलअम नवारे—
 मैं अपन नवारों में अाती बन पी ।

अकके ही आई अकके हूँ जाना
 अलग अपनी अजिल अलग हूँ अककना ।
 कि जान का जाने का अकका अककना,

बनाया है खुद ही अपनी ही बनाया ।
 तुम इसमें नहीं कुछ बढ़ाना-बढ़ाना—
 मैं अपना फसला बनाती बनूँगी ।”

वच-काव्य की प्रमुख श्रेष्ठिका श्रीमती बिनमनदिली जी जब कविता की ओर भी बचकर हुई हैं। उर्बाली इनका प्रथम प्रयास और 'मनुहार' इनकी सफलता का घातक है जिसको श्री दिर्घाज कुमार राय जैसे महान कलाकार ने अपने कलकंठ में उतार गीतों की सम्मत्ता से स्फुटि का बरकस स्वम्भन भर दिया है। 'चारण' में इनकी अनेक सुन्दर कविताओं का संकलन है। इनकी भाषा सरस एवं लचीली है, किन्तु सस्फुट शब्दों के साथ-साथ उर्ध्व ऊपरसी शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।

इनकी कविता श्रुतार्थी है और उसमें छायावादी क्लासीक प्रेम की भी यत्न-यत्न गन्ध काटी है। रूढ़िवादीभावना के बाव में इन्होंने कला मिटासावाद को भी कहीं-कहीं प्रोत्साहन दिया है।

निम्नलिखित पंक्तियों में हृदय की भावनाओं का केसा सुन्दर निर्वर्तन हुआ है

“पलमिलन के मधु क्षण में
 सखि ! उनसे क्या पूछूँगी मैं ।
 भूल सनी सबकों को
 कुछ रोकर ही होंसूँगी मैं ।”

बिनमनदिली जी बड़ी गद्यकाव्य में सिद्धहस्त हैं कविता में कोई निश्चित भाव नहीं पकड़ सकीं। फिर भी जिस अनुमूत को इन्होंने समझ रचना बाधा है उसे अपनी सहज संवेदनीयता से मूर्त करने का प्रयास किया है।

“तबल पूछते हैं मैं आली बूध में शर्मिली क्यों हूँ ?
 गरज समझ जगका प्रीति-घट घट में ही घक जाती क्यों हूँ ?
 जब है झूले झुईमुई सी छिन छिन में मसलिली क्यों हूँ ?
 सजल पूछते मुझसे आली छया से धबरास्ती क्यों हूँ ?
 कलक-कलक मारक मबिरा का पप में ही झलकस्ती क्यों हूँ ?
 क्या निघा पी सखी बेसुप मैं पीछे हट जाती क्यों हूँ ?
 बिजब बिजब मुझ आलिंगन में बेयकर मिठली आली क्यों हूँ ?
 तबल पूछते यही सखी मैं पूछट में शर्मिली क्यों हूँ ?”

एक दूसरी कविता में—

“प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ
 दुःख बल है, कम फल है
 कूर भापी जन्म तल है

प्राण बन्दक प्रेम छल है
फटे बिल को सी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे छाव ही मे बी रही हूँ

कठिन पल है दूर कल है
सावना मेरी बिकल है,
कमल बल में भाग्य बल है
पीति संघा पी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे बी रही हूँ

छल क्या है बिर व्यथा है
एक ही जीवन प्रथा है,
प्रथम शौरभ मन मुंघा है
बिल तुम्हारे के भी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे बी रही हूँ

इति बरन है, सिल मन है
बहुन बन सा सिबिल तन है
सौंघ रम रम में भुटन है
पुन्य स्वयिकल छी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे बी रही हूँ

प्राण पल है, अमु कप है
गुह्य विमल ही मरन है
यह कहीं से अकल अच है
क्योति तम अन्वी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे बी रही हूँ

आँसे तरन है अनौ तरन है
कदम भरा पल तरन है
निबल निबि पर निधि प्रबल है
रार बी सन्धि रही हूँ ।”

यों तो छायावार-रहस्यवाच की मूसबर्ती भावना से प्रभावित इनमें कुछ बेचा
सा हो बिस्मय कीगुहक और असीम येशन का अन्वन है, किन्तु वहाँ भी छायावादी
धैमी और अन्वितावाच से मुक्त होकर इन्होंने लिखा है वहाँ इनके उद्गार अधिक
रचनात्मक बन पड़े हैं—

“मरी अन्ने पत भू बी
सुर बगरी हो आमीये

साम्ब्य प्रसा के जसु
तब कैसे लस पामोने ?”

‘परिछाया’ में इन्होंने अज्ञात पिपु के प्रति अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उदरस्थ अन्धने बाधक के प्रति जो अपरिमित स्नेह, ममत्व और वास्तव्य भरी उल्लसिता होती है उसे उस ‘मा’ के सिवा कौन समझ सकता है जो कितनी ही रम्य कल्पनाओं के सहारे उस अकल्पनीय नूतन बीज का निर्माण करती है। लाज और संकोच में सिमटी उस घनीभूत अनुभूति में वह रमती तो खूबी है पर उस अठरम बाह्यार के शब्दबिन्द नहीं बना पाती। विनेशानदिनी जी ने इसी अद्भुत विषय को ‘परिछाया’ में बन्सूरी निभाया है—

“स्वप्न में भीषित कहीं तुम
जो चुकी है बस अपना
नाम बिन ही तुम रहे हो
बिंद अक्षयल स्वप्न अपना।
खोसता बिबि एक मुसलै
या सभी से खलता है
हृदय का बिद्वान्त मादिय
तर्क उतको ठेसता है।
बर्तमान की पुत्रा मेरी
एकनिष्ठ अविचलित ध्यान
आपकक निद्रा के प्रहरी
तुम स्वप्नों के स्वप्न महान्।”

स्नेह-विह्वल मे उस अज्ञात से पूछती है—

“यात्रा में कितने पग बाकी
बीबक में कब नेह भर
इयोति पुत्र साकार कल्पना
कितना कितसे स्नेह कर।”

निम्न पंक्तियों में बहिनी गारी का चितना सजीव चित्रण है—

“भरती कपती धा पग खेंपते
नहीं समझ पाती हूँ
पु मने से इस अंतराम पर
दिख रेखा ली जाती हूँ।”

उदरस्थ पिपु की ओर संकेत कयी हुई एक अम्य स्पष्ट पर वे तिर्यता है—

“जीवन की चिन्ता हारे
 उस संकल में एकत्रित
 पीड़ा की मूर्च्छित छाया
 मेरे कन्ठ में चिन्तित।”

किन्तु बालक को जीवन के बात प्रतिबात आधा निराशा और दुःख व संघर्षों की निरन्तर लपटी लीची रूप और बचपानमयी छायाओं से दूर रहने का आदेश देती हुई वे लिखती हैं—

“जीवन की कदम कबाएँ
 संकित मेरे धारों में
 वे छलनामय अनुहारों
 तुल पड़ती जब कारों में।
 मेरे समस्त बालकपन
 महूँ जबर मत मत घूना
 जब तक महूँ पड़ी जगामे
 निशि वासर बढ़ना हुआ।”

जगती की माया-ममता धमेटे वे अपनी चिन्ता व्यक्त करती हुई लिखती हैं—

“अबु मुझ मुरसा न आये
 दुष्क अघरों में तिक्कन
 ध्याल इतना कब कया वा
 दुष्टि में उद्विप्त जत।

एक इतरे स्वस पर—

“व्यथित मत हुला
 अमर वातावरण प्रसिक्त हो।”

कहीं वे कहती हैं—

“बक सोया जो बालापन
 मेरी नाड़ी में जले।

इस लक्ष् काव्यशक्ति में विनम्रवर्तिनी जी ने अपनी नितास्त कोमल भावनाओं को व्यंजित किया है। ‘अतिछाया’ की मूमिका में ये लिखती हैं—“उस समय बपु के कर्तव्यों से काब मरा संघर्ष था और नवीन जीवन की कटुता बचपान मिठास को बारी बाटी से देखकर बचपान जाती थी। परोक्ष में उड़ते-उड़ते बमालम भरती पर गिर पड़ने का बचपान सा लगना था। अपने बाप संभलने की आशा न होने से बापस छटने का प्रयास तक बढ़ा कष्टग्रस्त था। प्रती ही विक्षिप्त ही बचपान इपर-उपर छटपटाती रही और समय बह भी बीत जसा दुःख गति है। आज ‘बाया इन्द्र भी वास्तव्य की बुद्धि से दूर हैं—बहुत दूर।”

हीरादेवी बतुर्बेरी के 'मञ्जुवन 'मञ्जरी' 'नीलम' काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें सरस जनमू न और कोमल व्यंग्य है।

श्रैया उपमा होती जाती
मेरी माता छोटी जाती
बाइल शमशान भाव बरसते
किन्तु कवय एक पट्टेबूनी य।

संत रस्तोगी का 'पराग' कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनके इतिहास में बेइना और कल्याण-परिष्कारित भाव है। कविताओं में अन्ध से सरले रहते हैं

"माँ रे भर दो
मेरी चिर जाती पापार में
पुप-पुप के अनियंत्रित स्वर में
बीड़ा का स्वर, सागर का —क अपना ही भर दो
माँ रे भर दो।"

निम्न कविता में इनकी हृत्तन्त्री की बेइना संकल्प हो उठी है

"कल की बीती बात आज बन गई कहानी
बल्ले-बल्ले मूल बुन के जो पाँवों में
बाँट लिया लुपि ने उनको अपने पाँवों में
बल्ले-बल्ले कून जिने से जो राहों में—
बीच समय ने लिया उन्हें अपनी बाहों में
पतथर के पम में बोलिल कल पुरबाई की
आज वही पर बसल करता है, मनमानी।

कल की बारा बनी नदी का आज चिन्तार,
कल का कूच, आज प्राणों की बारी हारा—
कल जो वा प्रारम्भ आज बन गया बसल है—
शून्य बन गया सुबह साँस का लम्हा धारा
कल 'पुरबाई' ने डालों पर झूला डाला,
बोली-जाती कली आज बन गई खबानी।

कल की रात और कल का एमपीन अम्बेरा।
आज बनी मस्ती में दूबा हुआ खबेरा,
कल खम्बा की वही बज रही थी घुलनाई—
वही अमा के महापीन ने डाला डेरा,
कल तक जो कुछ भी नवीनता थी बीचन में,
आज लप रही है कितनी जनजान पुरानी।

बहुत वास है जिस नंजिल को लपस लिया य,
जिस पर मन के अरतारों का बसा दिया वा;

बनी मोर का सपना वह सारी बुझहाली
होली बन कर खली बिन्दवी की बीबाली;
कल जपनों को जो हँसने का बान मिला था,
जादू बन गया है सुनी झंझों का पानी।”

धीमटी झलझाला बड़ीबोली में पीतों की रचनाएँ करती है। हैरतनाद जैसे उर्दू के मद्द में आप अपनी कविताओं कहानियों एकांकी नाटकों गद्य-काव्य एवं समीसारमक निबन्धों द्वारा हिन्दी का काफ़ी प्रसार कर रही है। आपकी कविताएँ सरल एवं भावपूर्ण होती हैं

‘बिबो फूलों का सधु जीवन पलभर को जिससे मिट जाये
पर पत्थर की कठोरता में युग के युग भी क्षिप्र समाले ।
पर क्या कपुता असकम्ता है और बीपता क्या अनस्त है,
प्रोच्य और हिम से बँबकर भी भूसा जाता क्या बसत है ।
जग में अतकल है फूलों का सधु जीवन व्यापार, न कहना,
जसके कब भर के सौरभ पर, बिजवी प्रसार जादू, न कहना ।’

सुधी शान्ति एम ए की प्रथम काम्यकृति ‘निकुक्ति’ है। ‘रेखा’ पर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने आपको वैभवसरिया पुरस्कार के पुरस्कृत किया है। आपकी स्पष्ट कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं

जम के तीलेपन में मर कर,
निधि सजती तारों के जलर,
बुपके बुपके, पर जपनों की मुहु मुहु बात न बुप रहती है ।
साथी । रस न बुप रहती है ।’

बपहली चाँदनी का मादक सम्मोहन जब बरतों-आकाश और रिधा-बिदिशामों में छा जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो यह मिलमिल आबोक चाँदनी को तार-तार करके छिटका देता है। बँबस वायु भी मुग्ध सी मौन ठिठक जाती है और स्वप्न की मनुहारों मचस-मचस उठती है

‘जमजमाने हूँ बपहले चाँदनी के तार ।’
बल गया दिन सति आई
सूर्य को देने बिचाई
दिस बिघारें मुसकराई
तो घये मुसरित बिहूम के रात मुहु मुहुभार ।
जबबपारी है बपहले चाँदी के तार ।
हो गई है शान्त हसबल
मुग्ध सा है वायु बँबस,
बड़ रही है नीर प्रतिपल
दे रही बिघाम को है स्वप्न की मनुहार ।

अमचमाते हैं बपहले बरिणी के तार ।

ध्योन समनों से जरा है,

भूमि का बंधक हरा है,

प्रात सजुबाया जरा है,

जब न छिन पाया निशा का बरि के प्रति प्यार ।

अमचमाते हैं बपहले बरिणी के तार ।”

एक बूझटी कविता में जीवन के अग्रिमिद सपने और दुःख-सुख की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गई है

“कितने सपन ?

बतने ही कितने जीवन में

सपने-सहोदर, साथी

अपने !

कितना दुःख ?

जतना ही; कितना इस मन ने

माया है इस जगती से

सुख ।

कितनी आशा ?

कितनी मन में मौन निराशा

की बलसी तपदी

परिभावा ।”

प्यार इनकी दृष्टि में मन की दुर्बलता नहीं बल्कि पूर्व जन्मों का संयोग है

“पूर्व जन्मों का यह संयोग

न मन की दुर्बलता है प्यार ।

नेत्र-माली के हित

सौख्य-कुसुम सब होते नहीं समान

किसी को यह बैठा है मोह,

किसी को जबकि पुष्पा का बाग

बिना कारण ही यह वैषम्य

बतामो होता कौन प्रकार ?

पूर्व जन्मों का यह संयोग

न मन की दुर्बलता है प्यार ।

किसी को दक्षि से प्रिय उद्योत

दिखाकर से प्रिय है तम आल

किसी के हित बनती मलहार

अप्यकरतम लपटों की नात

पुष्पसम जम्बूत के सम भीम
 किसी की पलकों पर नीहार ।
 पूर्व जन्मों का यह संयोग
 न मन की दुर्बलता है प्यार ।
 बुद्धि है जिसको सखी न माय
 नमिल पायी न जिसे अबगाह
 कल्पना जिसको सखी न काम
 भावना ने रुज बायी पाह
 रही जिसका ह करती किन्तु
 सजस सुस्मृतिर्या ही मृ गार ।
 पूर्व जन्मों का यह संयोग
 न मन की दुर्बलता है प्यार ।”

एक अन्य कविता में कवयित्रा जयन प्रणयी से दूरी की विदम्बना त्यागकर
 पिछन के बरदान की माचना करती है

“आज दूरी दूर कर दो प्राप्त ।
 स्वप्न की पलकों समुदा शक्ति-रश्मियाँ रंगीन
 पहन जायी रात्रि तम का बरस आज नभोन
 कुमुदिनी मुसका रही है, किन्तु तुम अनजान
 आज दूरी दूर कर दो प्राप्त ।
 बात हो कर मुग्ध मुनते पवन का लयीत
 चाहती प्राची निम्न के सज न जाएँ भीत
 यात्रिणी पावन हुई पा निम्न का बरदान ।
 आज दूरी दूर कर दो प्राप्त ।
 झोटकर धाते नहीं हैं मयूर अब सुकुमार
 झोटकर जाता नहीं कठा हुआ है प्यार
 पूर्व इसके हो कि मञ्जरित प्रिय उषय का पाल ।
 आज दूरी दूर करदो प्राप्त ।

छानिल भी न कविता में प्रयोग भी करते हैं । प्रयोग के क्रियेमें प्रेम के रंजीत
 स्वप्नों को नहीं पासते बरन् हकीकी की चोट से जन्म पन-रज छिटका देते हैं । निम्न
 कविता करा देखिए

“बहु सामने से निकला;
 क्षन । क्षन । क्षन ।
 एक विद्युत् सहृ
 न जाने आई कहां से
 और गई फिर

छोड़ गई;
 मन में तिहरन
 कपोलों पर लाली
 मधुमे नेत्र
 भाकुल अन्तर ।

पाँच बड़ जाने
पूछा विवेक ने—
“किधर बने” ?
“कहीं नहीं पू ही टहलने”
(नम जोकते रहे जगत्)

मस्तिष्क न पूछा
“बाहते हो क्या” ?
“कुछ नहीं ! कुछ नहीं”

सामने मुँहरे पर
बोलता है काया
क्या कोई भायेया ?
हृदय करम लगा
बेम से बक ! बक !
जान ने पूछा—

“क्या तुम्हा तुम्हें ?”
“होता क्या ?

तुम क्या कभी
संघय रहित और मौन
रह सकते नहीं !

हर पल
प्रश्नों की झड़ी ?

हर अन्त
अविज्ञान ?

मुझ निर्दोष को
इतना क्यों छताते हो !”

(और तभी जोर लिया
वितके तिय व्याकुल हिया)

इत बार पूछा हृदय ने
मस्तिष्क से

“कुछ बोय तो नहीं
मिलने में जनसे” ?

विवेक रहा मौन
पुनः प्रश्न

किन्तु निवृत्त ।

तब तक नेत्र ननों से
संभला कुछ कर चुके
और वे विजयी हुए ।
परास्त कर दिया
उस बहिष्यातूसी बुद्ध को
जो उन्हें रोककर
परिचय करने

को था तत्पर
मिलन को बिरह में ।
और कहों नम से

बढ़कते हृदय न
“कैसा पुष्प-पाप !

बोवन है
बोवन है

मधुमय शब्द हैं
तुम हो इम हैं ।

कैसी परंपरा !
कैसा धर्म !

कैसी लोक लाज !
भूत बामी आज

के पुरानी धर्म की बातें !”
और उसके मारक स्वर से

धर्म मूर्च्छित सा विवेक
बैधता रहा

मुनता रहा

समझता रहा

कि छन में हृदय
अपन जन्माह पर

रोएया

पछतायेया

और मु झलता कर
जती से कहेया

“तुमन मुझको
क्यों नहीं रोक लिया !”

धीमयी धार्मिक सिद्धान्त के ‘उपमासा’ और ‘असफा’ दो काव्य-संग्रह प्रकाशित

बुझे हैं। छायावादी कवियों की भाँति ये भी उन्होंने राधारमक सम्बन्धों की प्रमुखता देयी है वहाँ कोमल भावराशि और प्रबल भावेन किसी वस्तु के लिए सतत छटपटाते हैं, प्राणों में न बुझने वाली प्यास भागती है, आँसू उस वस्तु के लिए भटकती रहती हैं जिसे वे कभी पकड़ नहीं पाते और भीतर ही दिखी सती की लक्ष्मणा में आगझक हो जाती है—

“निज दुयों की नीड़ में
 झेते रहे सपने बसेरा
 अब वहाँ पर है बिहसती
 सजयतपुंनिस्वास बनकर,
 कौन प्राणों में समाया आ रहा जस्मास बनकर ?”

एक दूसरी कविता में

“जाव जो अनुरक्ति के पल
 जाव जो अनिश्चित के पल
 जाव मेरी साधना, बरबान जावे
 रस की गहराइयों में गान जाले !”

कवयित्री का मन उस सत्य को पाने के लिए आक्रामित है जो जीवन की न जाने कितनी ही प्रकृति परिभाषाओं में खो गया है। इस छक्का में क्या मन कभी आसक्त हो पाता है ?

“कौन वहाँ पर समझ सका है,
 झेते छलती मन को आशा।
 कौन किसी को बता सका है
 जीवन की प्रकृति परिभाषा।
 अब तक जीवन है सब तक तो
 हँसते हँसते जीते जाना !
 अपने मन का क्या बहुलाना !”

इनके भीतर का सौन्दर्य और प्रथम ही गहरी अंतर्मूर्च्छी मूर्ति उस बेचना को अपने कैद में बहल करती है जिसने इनके भावोद्भेद को विभिन्न प्रकार से मूर्तिमान या अविच्छिन्न करने की क्षमता प्रदान की है

“दूर निश्चिन्न के जीवन में छिन
 मुक्तकाले से तुम रहते हो।
 नदुर मिलन की आशा केकर,
 बहुता जीवन यान हमारा।
 दूर कभी तो होगा कदु को

युग युग का व्यवधान हमारा ।
 जान नहीं है स्नेह माया का
 मोर कहीं बा, छोर कहीं है ।
 कहता है हर एक यही बात
 भी राही है दूर किनारा ।
 दूर कभी तो होगा कह बो
 युग-युग का व्यवधान हमारा ।

‘जब तुम्हीं अनजान बन कर रह गए, पीर-क कविता में नारी हृदय के सन्धि
 सद्बार प्रकट हुए हैं :

‘जब न तुमसे स्नेह के बो कम मिले,
 क्या कहने के लिए बो सप मिले ।
 जब तुम्हीं मे को सतत अबहेलना
 विश्व का सम्मान लेकर क्या करें ?
 जब तुम्हीं अनजान बनकर रह गए,
 विश्व की पहचान लेकर क्या करें ?’

एक छुटरी कविता में

‘बँधनों में बँध गया है
 स्वर्ग ही जन्मुक्त जीवन ।
 मुक्ति से प्यारा मुझे है
 कल्पना का मधुर बन्धन ।
 बेदना उर की अमर संगीत होती आ रही है !
 हार ही अब तो हृदय की
 भीत होती आ रही है !

प्रिय से इतना ताशान्व हो गया है कि उसकी हार पर वह अपनी भीत को
 बार देना चाहती है । बस्तुतः यह एकमात्र चेतना स्वतःपूर्व है इसमें बिलगाव या
 पुनःकल्प की मायमा नहीं जायग पाती । ऐसी स्थिति में एक छुटरे की सफरता-अस
 फरता या अय-वराजम बहिर्माग्य इकाई बन जाती है

‘कब अकोरी बाद से मधु प्रीति का बरदान पाती !
 पर कभी क्या स्वप्न म भी लय को अपने मुलाती
 तुम अपरिचित लय ही बनकर रहो पर,
 मैं तुम्हारी राह के भ्रूव बिन्दु सतत निहारती हूँ ।
 मैं तुम्हारी हार पर प्रिय ! भीत अपनी बारती हूँ ।
 चाहते से हो लकी कब कामना पूरी किसी की ।
 मापने से कम हुई क्या राह की दूरी किसी की ।

प्रीति मेरी छू ल पाए तब करण पर,
 में उसी लक्ष्मी प्रीति पर द्यत जन्म अपने भारती हूँ !
 मैं तुम्हारी हार पर प्रिय ! भीत अपनी भारती हूँ !”

शांति जी की अभिव्यक्ति में शब्द कल्पना मही है अपनी बात बहुत सीधे साधे शब्द से भावार्थक ढँकी में कहती है। उनकी कविता का आधार वे छायावादी रहस्यवादी परम्पराएँ हैं जो सपन अनुभूति के रूप में हृदय की प्रेरणा और उर्मय को उद्दीप्त करती रहती है। ‘रात सपनों में इसी की मन का भीत सुमाऊँ कब’ है मयन में ‘बसु भी’ ‘तुम मुझे अनजान क्यों हो’ ‘सत्य और स्वप्न’ ‘ज्यों-ज्यों तुम्हें बनाया अपना’ ‘मीन निष्ठा में आज अनजानक’ ‘काम ! किसी से इस जीवन में’ ‘प्यार का विरनास तो हो’ ‘स्वप्निक संसार’ आदि कविताओं में नारी हृदय की परकर्मों सुन पड़ती है। छाया-प्रकाश की इन्द्रजन्तुपी रंगीनियों में स्वाधों के भीन छारों में विरोधी भाव-सद्वियाँ जब छिन्नभिन्न होकर बिखरती हैं तो घरतों पर ही आकर टिकती है। अतएव इनके प्रिय की प्रेम-भाषना में स्वामाधिकता और एकनिष्ठ माह्वान है। एक स्पष्ट पर में सिद्धती है

“मेरी इस निरीहता की निज
 क्षमता से तुलना मत करना
 मेरे अन्तर की साधों को
 निज पर अवलम्बित रहने दो।
 मेरा स्वर सीमित रहने दो।

एक मन्त्र स्वस्त पर

“जब प्राणों की सोई पीड़ा
 रह रह कर मुसकाती जाती।
 जब मन गिरि से टकरान को
 पीड़ा की बदली फिर जाती
 दूरी ही यह बीजा जाने
 कैसे जीवन राय सुनाती।
 भाषों के उमड़े सागर की
 लम्बों में सीमा बँब जाती।

यह क्या कहेंगे मन सरनिज में सागर का कहनाया कैसे ?
 मौन निगा में आज अनजानक, मेरा जी भर आया कैसे ?”

धीमती शकुन्तला शत्रु शिन्धी के सुप्रसिद्ध कवि एवं नाट्यकार की गिरिजा कुमार शत्रु की पत्नी है। ‘चार सप्तक’ के नव दृष्टि प्राप्त कवियों की पीठ में शकलशाबूबक निज आज बाकी प्रयोगश की कवियित्री के रूप में वे अथिक प्रख्यात हैं। परिपक्व प्रतिभा संयतमयी और विघाती होना है। विष पर निरद्वैत मतिपीक रहे

हिन्दी कवयित्रीयाँ

ओ रचना में उसरोवर मौलिकता एवं प्रभाव संप्राप्तता जाती जाती है। इनकी वैचित्रिक अनुनृति और मनोरथा का एक मन्दर मन्मन्त्रिण देखिए

कहाँ से कहाँ तक की

उठाई बात

तनुच कुछ और भी

पई ये रात

तहाँ में तिर्यक जाली बालें

छोटी हो गई रात

जिब जाली सूत सी लम्बी

बन गई पुनी

हल्के बावलों की;

कली पूक डाल

तुन दिया ललीला बस्त्र

तारक छाँड़ सबाई

रंगरेज ने मनु रंग बोल छारे

पुनर भियाई

बीर लवती अधिक मीठी

पिच्छे दिनों से

आज की ये जाँवनी रातें

बड़ जाली बालें ।

ये बीप

इसी से मुणों की जाँवनी है

य मन्त्र बलता बीप अपन आप

रवि काँति

अंधकार की गहराई

महीं इस बीप की बिरस्वामिनी है

मनु बन्हाई में मिता बी

ये मिता मन्त्रकाय

जो ठहर गया बैकर अनोठी प्यात

पत भक्तिप्यत दतमान का

अमिय रस उँड़के तारा

इत बीप में

जास्वा से भर गया ये बीप

उजली रात

इत मन्त्र बरुते बीप के आलोक में

है छिपा निबिड अंधकार

मन्त्र बरुते बीप से हारा

मुणों मुणों का प्रकाश

छाँड़ ही पी लिए इसने

न जाने कितने निकलते प्रात

कितनी समाई रात

कितने अंधकों का इसन

भिगोया मात

न समसो व्यर्थ की ये बात

व्यर्थ ही निकल गई ये

तुनहली रात

आज की ये बात ही मन्त्र

बर्तक-सी बीप में

जिन्दगी भर

जिन्दगी से बियोगित होकर धी बसेनी

जब ज्यों समय जलेगा।

पनि घर ये भी साथ में

सुरभि ही बहेगी ये हमारी बात

सही तुम मान लो

इत स्वयं-आलोक-कन बीप को पहचान लो

अन्ध रवि के से रज तुमति पर

बिद्युत मन्त्रक लिए ये बीप हैं

किन्तु न प्रकर प्रकाश

मन्त्र केतन उड़ता हुआ

परा से आकाश तक की

लहरियों से मुला मिता

बिछा रहा आलोक कन किन्तु बीप के

सोया हुआ आलोक

बिबन्धित हो

कितके मन्त्र सरोवर में कमल लया रहा

इसे पहचान लो

कहीं हमारी बात

सही तुम मान लो

सभी रंग विकसित शब्द से
 यदि न कर सके ये बात
 इस ललौने बिज्र का मनु चाँद सा प्रतिबिम्ब
 हृदय में
 भाँक न दे यदि ये बात
 तो क्या
 इस रतीझी लखना का भी
 इस कठोर सगमरमर सिला पर
 कहीं नहीं स्वान ?
 ये हीय
 पुष्प है
 यही कैश पराय

जिससे मिल रहे अक्षीरित भावनाओं को
 समुद्रमल प्राण
 जिससे उठ रही
 बीमे
 सुरभि सिक्त बयार
 य अचला मन्त्र चलती ली
 और ये निकलती रात
 मुझमें भर रही आज
 अटक विरबास
 कहीं से कहीं तक ली पठाई बात
 लो हारी ये
 सज्जुब कुछ और भी गई ये रात ।”

अपनी कविता-गुस्तक काँवली 'चुनर' की भूमिका में ये लिखती हैं— 'आज के कवि ने भारी चम्बों कास्पनिक उड़ानों और बनेच हीली के हृमिम बोझ का लबावा उठार फेंका है। कल्पनाओं का स्थान वैनिक चम्बों ने छे लिया है।' सचमुच ये वैनिक चम्बे ही इनकी कल्पना को छाकार करते हैं इनकी सविधान और जिज्ञासा को उमारते हैं। प्रयोगबाह्र मल्ले ही कुछ अतिरिक्त परम्पराओं का हामी हैं, पर उसके पीछे ने कुछ ऐसे अमूर्ते पहलुओं पर भी वृत्तपाठ किया है जो अब तक कल्पनातीत और बनबेके पड़े ने। एक कविता में ये प्रथम करती हैं

‘वर्षों चुप हुई अचलक आज बोलो
 इस मुग पर ली कसी प्रमिष पसे भी लौली
 कूडी घीघ महीं लमाती धिसकर
 अनुभूति की अनूति—
 ये मुग
 पच ओए बच्चे सा इसी तिराहे पर
 बैठ गया है
 इस मुग जालोड़न में
 चुने की मुठी खेत गई बयों नीन
 धाँकें बयों बनों बड़ी-बड़ी बाबड़ी सीले
 उबडबा धाँके
 अधिक प्यार से या
 मनस्ताप से ।”

पनपट की बहुत पहलू रंजीनी और मारक बातावरण का अनेक कवियों ने वर्णन किया है पर अब ननों के दरदिरिं जो अमपट होता है और भीड़ ही रेल-

रेश में जो मरीची के लवण उखरते हैं उसका एक बिज बरस बैकिए

“मन काड़ हुए मा पीत में
 पतलर के पसे से
 दूटे कनतर या पिचके डाकडा के डीज
 बढाने वाले जिन्हें
 मरियल घोड़े से
 कसे बीज
 सबक नटकिपी
 कमकली कलसियां
 काई का बीड़ जोड़े
 कुछ नमे बचने वाले से निकल
 बूहे से उस तरफ बीड़े
 चुबहु की डैम थी
 भीड़ बंहाक पी
 क्यों किली मुबा की मोत पर
 इकट्ठे हों
 निराशा भीर प्राथमिक अरुत का समाच
 पु हू बदमत
 इमसि से
 कपड़े मंसे पड़े बीड़ के आकरो से
 बागिन सी फुडकारती थी
 नल कल
 घूँ अं पुनि बार
 न पानी की बार उतरती थी
 न भीड़ ही सिमटती थी
 कोई कहता था नलकल में
 छिपकली बिपटी थी ।
 बैल नू हुकमत मपड़े
 पड़े कुर्से को घाल
 दिलबिलसती थी
 थम से बघती प्वाछ
 मानव जीवन
 नहीं घाल ।”

एक दूसरा बिज

“बिलीना बिछा नीचे दूध

हरा लाल पत्ता सलौगी का बूब
 नील के फूलों से भरभर जाये
 कड़ुई गिबोली बड़ी भर भर जाये
 सासु भी के बबा बू में पाँव
 खूँटी पर बठ बज्जमा करे काँव
 छोड़ी गलब ने कड़े जो हमें बोल
 बेतराम बू घट रही कण्ठे सोल
 सामन बठ भी ठाढ़े
 कड़ु ई पानी से लामे
 गोरी जिठनियाँ बठी भयन बलाये
 भी बस बस जाये ।

‘बरस बीठ गया’ संस्कृत कविता में घर-गृहस्त्री के बोस से घाँठ गृहणी की उलझना भरी चीस का एक उदाहरण

“यमी घरं
 पापक बेंले
 भेपीड़ी बड़ी बना
 बरं भर को छुट्टी पामी
 नीबू का बारबत
 बही भी लस्ती
 बाइतभेम ममीन की
 कुलभी
 मन भर भर कर जित्ताई
 जाड़ों में साप साव
 बेंपीटी से हाव तापे
 बोसे गिरे
 कटि ली हबा बली
 कड़कली सर्दी में
 गरम बानू के परठें भूष के बड़े
 कबोरी सिद्धी की दिस्ताई
 सब म भर पाई
 मँके की पाव भाई
 पठुँबा हो
 भाई मेरा हो बार लौठ गया
 पूरा बरत बीन गया ।”

कहीं-कहीं इन्होंने मूल रूप में भी प्रयोग किये हैं। ‘एक अनुमति’ में भी की

बचन को धाम की व्याधा से भी बड़कर बताया है

“जी की बलन
 धाम की कुलन
 दोनों समान हैं
 लिखी कमान है
 जो छड़ेया जो बिसेया
 ये ऐसा बुच
 बिन छड़े भी बुजेया ।”

किणोर बचस्वा में जब आत्मकाष्ठ से जीवन का प्रथम चरण होता है और
 किटनी ही तरंगों व आशेष मन को शकघोरते रहते है तब किटनी ही बावें मन में
 उठती है, पर सनका समाधान नहीं हो पाता

“बया जानूँ यह निरी अकेली मस्ती है
 क्या जानूँ देही बलकाती सीपी फंको बिचारी है
 कहूँ पूरा आरि
 औरहूँ सात

बाँध शकती
 मयी कयीकी
 किणु अचूरी
 मामा बिलती
 बमरु सुनहरी
 उठता है तुकान
 कुल्लै धंयों में भरती है
 नित नूतन मुस्कान
 बिचत-सी छितराती बल-बात में --
 बल न भाती

एक अचानक बिचारी सहरी बाल न पाती
 ऐसा म सुन्दर मुताब उठते कुमार का
 किणु कहीं मर पाया
 बमी सुन्दर प्यार का
 जतम औरहूँ सात
 ध्यों आरिष की रस
 केवल हँसता आरि
 नहीं कह सकती पुरनपासी ।”

एक सुसरी कविता में पुरानी कमरे में बचारी कइरी की मन-विचि का
 न बिन समारा मया है

"पुकाही कमरा
 पास में बपारी
 बाली पर एक मुसाब
 उस पर मधुमाखी
 कमरे का कोना
 मकड़ी का जाला
 मकड़ी का फँसना
 हरे डाक के पत्तों का बोना
 उसमें भरे फूँक
 कुछ झूल
 बंजलि घोरी
 नहरें भीली
 तराबू के पलकों सी इधर उधर बोली
 तोली
 पत्तों का बोना
 बंजलि घोरी
 सपने का तोना
 उस ताक में
 हैजलीन स्नो की झीपी
 तैल की गुग्गुु तीली
 छोड़ी डिबिया
 बंसलीन मरी
 भीली बोतल में
 कटी सुपारी गरा
 दिवान की बड़ी
 किन्हीं जेपसियों ने छुई
 घुमा ही नुई
 क्या बजा ।
 मन को कुछ मच्छा सा लग रहा
 जाल और फँसना
 मुसाब-मधुमाखी ।
 बड़ी मैत्र पर
 सुग्गर सा संघ्य
 रोगनी तिरछी तैत्र
 घेल्क में रहीं कित्तारें

एक का हृदय
परम काशी की भाषा
मग मचला
हूँ !
मन्ना ?
एकही कमरा—”

धीमयी अनुपमता क्षया ने सुकुमार भाव-विन्मास को गई कपरेखा थी है।
सभी कवयित्रियों की भाँति अनन्त का साथी इनके साथ भी है और मूर्च्छना का
भासाय भी कहीं कहीं कुछ-कुछ बैसा-सा ही सुग पड़ता है। फिर भी उसके प्रस्तुत
करने का निजी श्रम और उसमें मन्मथा है। 'पठ भर बसती रही' शीर्षक कविता में

“अब न कुछ भी बोल लायी !
रसतली बहू किन्तवी जो मृत्यु को हँस कर रिखाती ।
रात भर बसती रही, निज नेह में पलती रही ।
उरन्वला मिखा उरसास से
अवसाय को छलती रही

बद, सिमिर के पहल पद पर अमित लेखा बिच न पाती ।
अमर हूँ सुख-बुद्ध हकदरे,
पुप-छीही प्रणय डोरे ।
जाज की चुनी डपर पर,
कक बसेंगे बीर बीरे ।

पद, क्षमक कर बुर भीतम के अयक की सुधि न जाती ॥
मद जला सा हृदय केकर,
पिन रहा नसाज नम के ।
‘आह ! कब तक में समेटे
ही रूँपा’ पीठ, छज ये

कारवा भी रौर जाता जाहू से बरबाद छाती ।
पीठ बैरी कपकियों से
सो रहे ज्यों कल कमल पर ।
बात बसती काँप उठते
सिहरते फिरते अठल पर ।

लील हो जाते बहो में रिक्त अँबल भर न पाती ।
बोजने माई अमय बरबाद
का भी हो गया समय ।
बदलरों से मुठ के
होता रहा है सत्य का क्य ।

जान पति विश्वास कृतता कल लठेगी प्यार बाठी ।

पल रहा है इबास का पन

क्यों पवन प्ररित सबक पन

एक ठोकर पर बरस बल

भाग जाये क्यों तुरन्त-मन ।

कुस मयी है खेतना पर जल रही है प्राण बाठी

मन न कुछ भी बोल सानी !”

‘प्ररना’ में इन्होंने एक दूसरे ही डंभ से नूतन ॥ मिश्रयोजना की है

‘कोन बहु पुकार गई ?

अंबियारे आँपन में दिबरा सा बार पई

सूखे बी तिलकों में पुनपुन सा बीर है—

पतकों में डपि मज भीषन सि कठा है—

नीक बिठप रूँठा है

ऐसे मन सुगला को चुपना सा बार पई

दिबरा— “ ” ।

देहों की पलकी पर सिहरन अंबियारे की ।

इहनी पर सजबज है पंछी बनबोर की ।

पन्थी मन हारे की ।

सबकी बनबीठी भिनसार को मुहार गई ॥

कोन “ ” ।

भाँकों की शाकों पर आँसू का झुला है ।

होठों के बोले पर प्राण बहुत झुला है ।

पेचों में जूझा है ।

साँसों की छिद्रकी लठ प्यार से सेवार गई ।

दिबरा ।

बेला के पजरे से सायर भी बीड़ा या ।

तब की बहानों ने फूल फूल तोड़ा या ।

गति ने मुक भोड़ा या ।

रैठ की गसबाही से चुप चुप दुकार गई ॥

सपनों के मकूबे पर भावों के बीरे पर ।

आसा के बिरबे पर प्यार के टिकोरे पर ।

बीर के मिहोरे पर ।

सरस रूप गज के पुहारे कुहार गई ।

कोन ।

रह रह कर गिरतीं हूँ जाके उदाती के ।

दुल से पुंभुमाए से भाप की उछाली से ।
 बंले से बाती से—
 अलस के मटियाले बासन संगार गई ।
 कौन -- ।
 ऐसी फुलफुगी को पाता मर जीवन है ।
 बंठे जिस डाली पर जलमें ही कम्पन है ।
 गीतों का नखन है ।
 मुर्डी में बाँधो तो बारी सी पार पई ॥
 कौन ॥”

‘पार बाई रे’ कविता में भी इसी प्रकार की लंबी और लतन डंग अपनाया गया है । सम्पुक्त चिन्तन के छाव-छाय जीवन के किसी अछूते पल की अनुभूतिजग्य रसात्मक व्याख्या मिलती है

“जल की बघार बहे नाचे अमराई रे
 मन मूर्ख पर सुनि ने बाप सी लयाई रे
 प्राण के मंजीर बंभे ससों की डोर में
 मान जनहारों की चन्धिया हूँ छोर में
 पड़कनों की राबिका मुरली तुम बाई रे ॥
 कम्पना की अल्पना बाहों के अल्पन में
 बिज के बीबारे पर नयन दीप छाजन में
 बात की अंगुलियों ने बाती उकसाई रे ॥
 पलकों से छान कोई सोम तुबा पी जाए
 अलसा के पीतों की बगिया में सो जाए
 जैसे दबी बाँहों पर देख उभर बाई रे ॥
 रंग मरी लहालय में भावना की लपन बड़ी
 पम्ने की पाली में बरती ले पियरी लड़ी
 ग्हाई कोई दुलहिन सी पार निजर बाई रे ॥
 मन मूर्ख पर सुनि ने बाप सी लयाई रे ॥”

बाड़े की घुप घरी में टिटरते प्राणियों के किए जितनी मुकदर और आभय प्राणियों होती है पर इसके छाव ही कितनी अस्वायिता छिय । इतने हिन क छाव हूँ तिमरी लकी-छिपी सी मनुष्यों की पकड़ न बाहर आगयी मजूर धाती है । निम्न कविता में बाड़े की घुप कवयित्री को ‘मोन बिरैया’ से प्रतीव होती है जो कुछ देर मनी कीब रिक्काकर मार्गो नीलाम्बर में अंतर्पन्न हो जायगी । ‘घुप परी’ की कल्पना सरंग में बहकर इन्होंने बाड़े की घुप का मुन्दर-से-मुन्दर बिज लड़ा करत में एक हासिल किया है

“ओ जग सुहामिन मान भरी ।
सोन चिरेया नम पित्रे की धरती की ओ धूप परी ।

अप्या पर बेठी अमसाई
बुटकी घना तनिक जमुहाई
बापी परिवारिका शटासठ
सिमटा कुहरे का अमपट
बाड़िम भर कर लाई जल बट
बैजन्ती लाई पीला पट
सूपमुषी के स्वर्ग बटोरे में कस्तूरी भरी भरी ।

शुक शक कर देख मतबारी—
भू भूमि अमर सोनबारी
शटका है जब पीछे जारे
नम में दिगसे केसर ब्यारी
छाँह समेटती भीला कहंमा बुबकी बुबकी शीबरी ।

बूट जिसक औचक का जाया
पकड़ उसे सागर मुसकाया
औचक छींचा पिरी बीच में—
शट ले जा तट पर बठाया ।
कमल कनी बीड़ी से पाँवरि गड़े न कहीं कुछ काँस री ।

मीठी मीठी मीनी लोको
हल्की गरम बुलाबी रप की
बई कुई की ब्यों धुग छीमो ।
अभी जपल छू गई यहाँ तुप
कहाँ कुतापी जा बूजे लज
किर बपिया के पास बड़ी कठ निरज रही है डरी-डरी ।

हंसनि पाँच मुसामी फेंका
लाल बोंब से बिबरा बिबरा
रोम रोम बरबरा कुरपुरा
छीदों से बर देती बलुपा—
कनी जमजमा कर छिय जाती ब्यों जल के बाहर हाकरी ।

याब नास और जीपी पानी
अरी बन्द कर बहु नाबानी ।
जाड़े पाके में छिदुरेन
खेत पात के बम्पर बापी ।

पुष्पबुध बेंबो के मालों को छू कर तू भी तो सिहरी ।

औं जाम सुहायिन माल भरी ।”

इसकी प्रतिभा को ही कल्पमात्रिणाही नहीं है, बलितु यथार्थ से भी उसका सहज समाज है। जहाँ एक ओर शमीरों के इठलाते बंधके तो वहाँ दूसरी ओर बुलटी जियगी के बंधर में सिसकने वाले कगड़ों की लक्ष्मी भी कवयित्री के माल में उभर आई है। दोनों की जिन्दगियों में कितना अन्तर है और कितना बेधम्य। यद्यपि पूजा जाम तो अभिजात्य के सहभाज ने सर्वप्राण्य केतना से पुष्पक अपन आप को अपनी ही सीमाओं में इस प्रकार बन्दी बना लिया है कि वह बूझने पहलू से बहुत दूर जा पड़ा है। इतना ही नहीं दोनों पर तुम्हात्मक दृष्टि से निवार करने पर यह स्पष्ट ही जायमा कि गरीब की आत्मा शमीर से बेहतर है। अपनी दुःखों की परिधि में रहते-रहते अपेक्षा कुछ उसमें उदात्ता परहित भावना और सहनशीलता अधिक विकसित होती है।

“शुकी मनजम बीन से लखव—

जग ऊँचे पैरों की बोटों में पले

नये नएदों में डले,

इन्हें सामूली इमारत न समझी—

ये हैं भुवन मोहन बंधसे ।

बहु है तुक की बरोहर सा लाइला बेबी

ये है सो कैस बें रक्की मूमयी मैम ली

बेबी की मम्मरी

और ये पापा—

अंसे सुख की नयी परिभाषा ।

सामने साबनी गंधरा का बीड़ा पस

किनारे को फुतरती हुठीली कहरें

जिन्हें बैच बरबत पाम जाती है

बबी की बस ।

पतित पावनी के कमारों पर,

भुवन मोहन की काली छाया न,

कुहरे और बुरे से डके

नाबबनों से घिरे—

बुलटी जियगी के बंधर न—

सपनों के बीज बोते

सहमते सिक्कते—

ये आउद-हाउत

तुक सीमा से आउद ।

इनमें तितकते हैं कपले

छबर हँसते हूँ बंगले ।
 परसों की बात—
 भूढ़े की बेहू पकी
 नीम के पानी से घाब धोती ।
 जबान रतिया
 तिर चुनती रोसी
 पिठली फिर हँसती
 भूढ़े बच्च को छाती से लगाए
 कान पर हाथ रख कर कहती—
 “बुढ़ू के न छोड़ूब बोबी जी
 कई मो अल्ला पाक पासों की बात ।”
 लाल चौड़ी डेरों वाला छिपकली,
 सामने बरबू बरती एकदम नीली ।
 कपड़े धुने की कुमिया ली मिली—
 बीबार एक घर की
 इसमें रहती घुरसली ।
 ‘बीबी जी एक कोठरिया’
 ‘जसमें सामान है—
 दो अठिन के बस्ते चार पीये छः बस्ती
 जाली कहाँ री ?’
 ‘बीबी जी मोर मरब जाबा है ।’
 बुसरी किये रहा—
 बहुत दिन पर जाबा है ।
 फिर बला जाई बीबी जी’
 ‘ए बीबी जी—
 कोठरिया बीबी जी’
 हूब पपली ।
 और कल—
 नबनीत के पुतले को
 पटक दिया धुने भाबनूस ने ।
 कारण दाइतिकस पी
 मालकिन श्रेय बिदल पी ।
 ना बिस्माई पीटा
 फिर मोटी हरी मक्खी ली भनभनाई
 ‘भरो नाहि जात्या तं अनि ॥’

पैदा हो कर रहा ॥”
 भाड़ियों से बतरतीच
 कंचुए से बेहाने—
 काठ से ली और बड़े
 कोखने से नहीं मिचते ये—
 जपेजा से लेकर जिम्हरी
 पल्लो है
 बड़ो है
 बिलाम्पती फूल नहीं—
 वे झुरमुट हैं सदा बहार के ॥”

सङ्कल्पना की ने कुछ कविताओं में सामान्य से सामान्य वस्तुओं पर भी दृष्टि-
 पात किया है। मूकता कवि की चेतना उस चेतना के साथ सरलता से तदाकार हो
 सकती है जिस पर वह मनन करते-करते अकस्मात् हो इतना धीरे-धीरे हो उठता
 है कि वह उसके विभाष में पहरी बँध जाती है। उसके हृदय पर वह जितना ही
 मनन पूर्वक सोचता है वह उतनी ही लचील रूप में उभरती है। निम्न प्रयोगवादी
 कविता में उदात्त तथा स्टेजना का एक विश

“स्टेजना से हूर,

बिलकुल बहरी के किनारे—

जहाँ इंजन के पानी का ऊँचा सा बम्बा है।

लम्बी ली बतली एक बाल्टी ली लटकी है,

बूँद-बूँद पानी अपने आप जिससे रिक्तता है।

जहाँ नीचे स्थित है, एक कल्पित घिसा कण—

ठीक सिध जिय ला।

मस्तिष्क नहीं है किन्तु बेचता तो बुरा है।

टङ्गे मेड़े पत्थरों की जगह बलहरी है,

लोहे का बंग बाबा लपटा अतिथक चर

हप् हप् टपकता है जिससे जोहावा बल।

बूल का बिपुष्ट कोच अवलेखन चम्बन है।

झूठ चाद पत्तों की हरी बिन्दु-पत्र है।

बली हुई तिपटे के बीड़ी के टुकड़ों के—

‘बम्बा’ ‘बरबाना’ के बूल भी एकत्र ह।

बाजी भी जाती ह,

बाजे ह।

दिल्लों से परबन निबाल कुछ झीकते ह

अपव भूष इंजन का।

धर्राहट पहियों की बमक की बमडम है ।
 बारह भाती बैद पाठी ।
 पठरी पर कटपट ही—
 स्तोत्र पाठ मंगलमय हर हर बम बम है ।
 पीक पड़ी पान की ब्यों पिचकारी बक जठी
 रंग मरी एकाबसी है मोसा सिबधकर की ।
 पाड़ी की बाँलयाँ ही जारती की मासा है
 तिगलक की रोशनी ब्यों बीबड पर रात्रि बीप—
 पवन किसी बुझिया सा बेहूरी ली पया लीप ।
 मुस्करा रहा है बिबधनाब पूरे औबड़ सा
 पूक, पीक, पाप अपराध ओड़ बन भव का ।
 झूठ उच्छिष्ट सिर बार इस रौरव का ।
 अडिग वहाँ बैठा है जोपी बिद् बाम्ब सा ।
 बने भी बैजा—

अमात्यास नतमस्तक थी ।
 सब कुछ ब्यों भूस गई
 छंकर की महिमा, इस औघड़ की परिमा—
 में काधी और काँची की
 लपिमा भी मूल गई ।
 हाप भेरे कुड़े रहे—
 नत्र भी मुँडे रहे ।
 सिब तो बहुत बेबे सिब-सत्त्व यही बैजा है ।”

कोना बहुत ही महत्वपूर्ण और बड़े-बड़े भवनों राजमहलों इमारतों उष्ण
 मट्टाधिकारों सुन्दरियों कोमल कामिनियों राजराजियों-महाराजियों के कर्मों अंत
 पुरों से लेकर गरीब लोगों और मजदूरों की सौंपदियों तक का अविभाग्य बंग है पर
 आज एक उस पर किसी की दृष्टि ही नहीं गई । कोना कितनी स्मृति-विरम्भियों
 आशा-निराशाओं जीवु और मुस्मानों गई बनेलियों की लज्जा-सम्प्रेष कीड़े-मकोड़ों
 और न जान कितनी मुस्मानों और बुष्प बस्तुओं को समटे अपना छपुठा में भी
 बिराट है । इसकी सौफी निम्न कविता में मिलती है—

‘सोक भी छापी में
 कलेजा है पत्र भर का ।
 बड़े-बड़े महलों का बाता है
 और मिजारी है दर दर का ।
 तभी तो दोनों बाहों में समेट रखे हैं—
 काकों जीवु करोड़ों मुसदाने ।

कितना अपने कितना बेमान ।
 कितनी चाहों की रात से
 कितनी ही बार—
 प्यार की करबी से बापी गई है बसुई भास ।
 मकड़ी न आसों के तारों से
 बुन बी उसके तिर पर
 एक महीन रेशमी पगिया ।
 वहीं नीचे छिपकती बद् बद् निपस सेती—
 नन्हें नन्हें कीड़ों की बुनिया ।
 और बरा नीचे छाती में मुबो हुई बीस पर
 टेंपती है एक अंगिया—
 कभी मुलाबी कभी घाली—
 कभी धम सीकर लेकर,
 तो कभी आँसुओं से तर होकर ।
 वहीं कहीं नन्हें नन्हें तिल धी
 पत्थर की सुपत्थ बाली—
 हृदयियों के निमान है ।
 'बू-बू की' 'ई-ई' 'ई' की प्रतिध्वनि के
 लुका छिपी के
 बाई पटक के,
 अंमली की सन्धों से बड़ी आँख करके
 हाँकन के,
 बोलते हुए बाप है ।
 यहीं बुझिया रीती बापर टेक गई थी
 बुझियों में रोम की सी आनाब थी ।
 यहीं जुनी थी तालपुरे की खड़ी
 रखने वाली की अगलियों में नीतों
 की हाँकार थी ।
 एक दिन इसी ओड़ में बिपबा
 तिगार बोकुर बठ गई थी
 एक दिन इसी छाती में अहुबिन
 मान बरा प्यार केकर सिमट गई थी ।
 यहाँ बरें न लला सगाया तो
 बलसी बलसी बलड़ी से धीप दिया ।
 और भिरनी न बिना बर का घर बनाया

तो—

बाबी ने शब्द झाड़ करके तोप बिधा ।

बोली—

दोके न रुग जाय ।

सुभ लभाय जो है

संपन्न का पुत्र का

सुख का सौभाग्य का ।

कैसे है यह मोड़

जिस पर महलों के बोराह बनता-बनात

मनुष्य अपने साथी को

बौराह पर मड़काना सीख गया ।

वर यह क्यों का क्यों है,

सबियों से ।

तब भी लीग कहते हैं

क्या कौन में भगवत से बँडे हो ?

लेकिन सब तो यह है कि—

जिसे ईंट गारे और मिट्टी की बीबार में

यह दर्ब नरी बरार नहीं

जिम्बगी की बीड़ों से

बचने को यह डाल नहीं

यह कौता नहीं—

बह जवह कुर्मी है ।

गोल ।

बनकरदार ॥

ईंट-ईंट पर घुमावदार ॥॥

जिसके घेरे में प्यास नाचती है

मौत जिम्बगी को खाँचती है ।

जहाँ तकहूटी तक काला बानी है—

और नीचे कमी न मिटने वाली सिपाही है

एसे ही कुर्एँ सा है वह काला बन

जिसमें सब कुछ तमा सैन की

सबको बुलारने को

पुखकारने को

बड़ और बतन के—

प्यार को धार को

शकल का—
एक कोना नहीं ।
इन्हीं मनुज तब भी—

नापला है अपनी छाती बिलों में
जहाँ सींक सा पतला
एक कोना भी नहीं ।'

कुमारी रमासिंह नवोदित कवयित्री हैं, पर इधर बोड़े बयें म ही अपनी सहज संवेदनशीलता और भावप्रबल व्यंजना द्वारा रचता बना चुकी हैं। मौजूबा कविता में प्रयोगवादी शब्द के साव-साव कुक्षिमता छिछरी मानुकता और कृपा प्रबंधन एवं भाङ्गमर की जो प्रकृति जोर पकड़ती जा रही है फलतः मये कवि-कवयित्रियों में हृदय पत्र गीत और बौद्धिक शीघ्रताग अत्रिक बीस पड़ती है। किन्तु प्रसन्नता की बात है कि इनकी तन्म्य कृति 'समुद्रफेन' की कवितारें आंतरिक सन्देशों को उमा डती है मन को सूती है और कही-कही तो बड़े ही सहज ढंग से बड़ी अंभी बात कह बी गई है।

'समुद्र फेन' पर लिखी पंक्तियाँ ही बहुत सुन्दर हैं—

'जगत सब है तिम्रु को अब तक न कोई बाहू पाया
है न पोताकोर बिसने डूँड रत्नों को जकाया ।
है बहुत महुरा बड़ा सम्पन्न विस्तृत भी बहुत है—
मह सम्राट् केन लेखिन व्यय बनकर उभर आया ।
बी कमी बहुकीन बिसने मच दिया कहरे उठाई
एक छोटा प्रसन्न यह महुराइयों की नाप लाया ।"

'परिभाषा' शीर्षक कविता में जिम्बगी का अकेलापन ही उसकी अच्छी बारी है। कौन किसका साथ देता है? जीवन के मोड़ों पर यदि कोई सहाय्य देता है तो सरपट पीड़ में तीव्र कषापाओं और तेज रफ्तार में वह साथ छूट जाता है

'सही है राह में चलते बढोही साथ के—
डाकृत बँबलते है

मगर कुछ मोड़ ऐसे हैं
कि सहसा हाथ से है हाथ बरबस छूट जाते हैं ।
अकेलापन अकेलापन अकेलापन
यही है ठीक साथ
जिम्बगी की एक परिभाषा ।
यहाँ का मोड़-मनता से भरा जीवन
मयन यह सँत की पुतसी
मगर कम साथ है बसते सपने-सपनी

बुलाती जब किसी अज्ञात की ड्यंगली !
 अकेलापन अकेलापन अकेलापन
 यही है ठीक थायद
 बिम्बों की एक परिभाषा"

एक दूसरी कविता में—

"ज्योति को महिमा असीमित
 तिमिर की अज्ञता अपरिमित
 किन्तु भुवली दृष्टि को जो भी किरन बेती सहारा
 मे उसी के सामने नत हूँ।
 भीत में आरोह कितना
 हार में अवरोह उतना
 खुर होती आस्था को जिस हृष्य ने भी पुकारा
 मे उसी के सामने नत हूँ।

तारे, बाबल इन्द्रबनुष सांध्यपीत आदि विषय पर न जाने कितनी कावताएँ
 कबी मई है पर इस पुस्तक की कविताएँ मुझे बिधेव प्रिय लयी हैं और हर पंक्ति
 : हर शब्द में मुझे ताजवी और नयन का एहसास हुआ है। मुरमई बेका' की कुछ
 कितबी—

"छिपा कोई कितेरा है
 न जिसकी तुलिका दिखती
 न रंगों के सकोरे ही
 सजेटी रंग का यह 'बन्ना' भर खेला हुआ है।
 कौन सी वह भावमुद्रा भाँक बेवा
 कौन सा सौन्दर्य या वह डाँक देवा
 है नहीं कुछ ज्ञात
 कसी कम्पना इस पर उतारेगा
 केंती भावना या यह सँवारेगा
 यह अभी तो
 यह सजेटी रंग गहरा और गहरा—
 और गहरा कर रहा है।
 कुछ ठहर कर
 इत कला के सिद्ध सापक ने
 तुनहरे रंग में कौंधी खुबोहर
 कालिमा के बीच म घन्ना लयाया
 और यह बन्ना तुनहला

रात का पहला लक्षत बन सामने आया
 , भरकती सी बुद्धि का
 / उबका सारा मिला गया
 कालिमा के बीच—
 यह थी ! केन्द्र बना स्थित गया ।”

रमाश्रिह ने जीवन की गूढ प्रकृतियों पर ही अधिकतर बुद्धिपात किया है । जीवन के भीतर और बाहर सौन्दर्य-सौन्दर्य समान रूप से बिलसता पड़ा है पर उस की प्रायः प्रतिष्ठा मनुष्य के हाथ में है । जीवन का हर दिन हर क्षण बहुत ही महत्वपूर्ण है । इन क्षणिक आयामों में हम कितना कोठे और कितना पाते हैं—इसका सेपा-बोका कैसे किया जाय—बस यही सोच-सोचकर मन धरपाने लगता है—

“एक दिन यह और बीता सोच मन धरपरा रहा है
 शिखरी का नाम चलना
 चल रही बुनिया बराम्बर
 स्वास की बूँदें लडाकर
 चरण बलि की डोर में बंध
 बंध की लीकें बनाते
 छोर मंजिल के कड़ासे—
 में लिप्यते दूर जाते,
 कित्त मरी का चल महीं रुककर [मला ठहरा रहा है ?
 एक दिन यह और बीता सोच मन धरपरा रहा है ।
 मेघ काले फिर रहे हैं
 छा रही कौसी कुमारी,
 माँझ में भरही पवानी
 यह सिद्धि की स्वाहू जाती
 रेत की लहू पर लकीरों
 ली लीची उमरी रही कै
 चल स्तुति के जुले हैं
 बंध की बूँदें नहीं वे
 मन चलत नावान धिनु सा गिन्थियाँ दुहरा रहा है ।
 एक दिन यह और बीता सोच मन धरपरा रहा है ।”

‘हे संकल्प के धन’ में अनुभूति की यन्त्रिधि इस रूप में है कि ऐसे जब जीवन में बहुत कम आते हैं और उस समय यदि बिस्वास या मन की धारणा मुर्च्छित है तो मन्त्रात्म में उदीप्य माननाएँ नय रूप-नय में दलती हैं अर्थात् यह नियन्त्रा संकल्प यन्त्रि ही आंतरिक निष्पत्ति को बाह्यरूप करती है—

हे, संकल्प के लक्ष !
 तुम्हें समर्पित है
 विश्वासों की पगली
 इसे सहैष्य लो !
 हे, संकल्प के लक्ष !
 तुम्हें समर्पित है
 धर्मित की मंत्रुपा
 इसे मान दो ।
 हे, संकल्प के लक्ष !
 तुम्हें समर्पित है
 सीमा की लघुता
 इसे स्वीकारो !
 हे, संकल्प के लक्ष !
 तुम्हीं लक्ष्य ही
 तुम्हीं निपन्ता हो ।
 तुम्हीं को समर्पित है
 मिट्टी की कच्ची राशि
 इसे तम रूप दो,
 रङ्ग दो
 प्राण दो ।”

‘घाहपी चुबह’ में जैसा कि प्रायः होता है मित्त का भौंपू सुनकर बहुत से लोग अपने कामों की शक्यता करते हैं । प्रगतिशील कहलान वाले कवियों के लिए मित्त का भौंपू बड़ा माने रखता है । इस स्पदा में रमाविह भी निगी से पीछ नहीं हे पारा देखिए—

‘अंधी ऊँची पक्की छतों के रास्ते से
 तुरख माया
 किसी संपीत का घमा बँपा ।
 मित्त के भौंपू ने
 स्वागत का पीत गुनगुनाया
 हुकानों के झुलते हुए घटर—
 और मोहों के दरबारों न
 लहरा बजाया
 बाहर के घो-कैत और
 कौब की अस्मारियों ने
 अपना अपना पैर-भय लँबारा

धूमती हुई सड़कों ने बाप की
बाँधी और सोने के गुपुतों में—
ध्वनि जाई
पूरा का पूरा बाजार गम हुआ—
बिन के रत्ना का स्वास्त बा।”

इसके विपरीत पद्मा 'सुधि' की कविताएँ अधिक आत्मपरक हैं। कवयित्री के मत में—“बीजन में संयम ही सबसे बड़ा सुन्दरम् है और छोटी सुन्दरम् में 'सत्य सिद्धम्' पूर्ण प्रतिष्ठित है।” इनकी कविता-पुस्तक 'माचक्षिणा' की अनेक कविताएँ पढ़ कर मुझे लगा कि स्यूनाभिक रूप में महादेवी जी के चरण-चिह्नों पर चलने का ही प्रयत्न किया गया है।

“प्रिय ! माट्टी मन की सजाऊँ
बाली सम हर इबास जजाऊँ
पुलकों की कल्पियों को चुनती
प्रियतम के सुने स्वर सुनती
माँसु के तुलसी बस भेदू
जपने कठे बैब मनाऊँ।”

एक अन्य कविता में—

“सतत बीपिका-सी हूँ बनती
हर क्षण में जो घर जाती।”

पद्माजी छायाबाह की कुहेलिका से प्रभाव तो नहीं है, पर एक आरोपित अन्तर्मुद्रता द्वारा उस समय की माय्यताओं से प्रभावित अवश्य है। कितनी ही कविताओं में वही मोहक स्निग्धता और उपरमत्ता के साथ-साथ मीठी कसक इष्टव्य है—

“जब जाए जिससे सारा जप
छेद जाए नीरव भीयभता,
कोलाहल में निजबुल में भी
जो हूँ अपनी प्रेम हीनता
हे द्रिमु मन बैरानी हो जा।
सहता जा अबसाह जपत के
राजबुलारे, शान्त सरक बन
मेरे प्रति इयित के सम्मुख
करता जा तू मोन समर्पण।”

अधु कवियों का प्रिय विषय रहा है चासकर नारियों की विरह-वेदना तो माँसुओं की कल्पियों में ही सूची गई है पर 'सुधि' जी ने एक नये ढंग से ही उसे प्रस्तुत किया है—

“माँसु बिना सूत की माला ।
 बिन सागर बिन सीवी उपज
 मुक्ता बिना धाब हो बसके
 बिना कस बहुती बारा-सी
 यह मिरि अचरोहित बलमाला ।
 बिना डोर के, बिना ग्रन्थि के,
 इस मन को उस मन से बाँधे
 बन्धनबार नयन-मंडप की—
 मेरी यह माला बरमाला ।”

अंतस्तक की मौखिक संवेदनाओं को उमाङ्कर इन्होंने अपनी कतिपय कविताओं में ही छायावादियों के से उपमान और बिम्ब खोज हैं जो मनोरम मृदु कल्पना को उद्बुद्ध करते हैं । बुझ-सरिता में बहती प्राण की नौका का एक बिम्ब

“बली प्राण की नौका पहती—
 बुझ-सरि में बुझ से अनजानी ।
 अमर स्वास बतवार बने हैं
 ईसा उसको खेन भाती ।
 पपिक बनी है विश्व बेवना,
 ऊर्मिल बिम्बक पाग मुपती ।”

एक दूसरी कविता में इतस्तत फँसी ज्योति किरण कबविणी को किसी देव की दन्त प्रमा-नी भवावनी लगती है—

“जहाँ जानती बाली री म
 बँबकार क्यों मुझको भाता ।
 लपटा ज्योति किरण जो फँसी,
 कित्ती बेरय की दन्त प्रमा है
 मनुहास जीवन पर करती
 कोसाहुल से मरी लना है ।
 घु घटमयो पलक में मुझको—
 इसीलिए बँटा अप पाता ।
 लगता कोई विष्य बस्तना—
 दीप घाल कर प्राप्य गपन पर
 प्राप्त हुई पंचत्व देव की—
 बौह बौह बार जनम भर ।
 ताप्य दीप में निरय जमती
 देव न जाने मन भर जाता ।”

और सूत्रधार में मृग मार्गों घन-बदली को किरण-मूत्र में बाँधकर कल्पुनती

कितनी ही
 स्मृतियाँ
 ऐसी बौझी-बौझी
 भाई
 बंते दूरे मनुष्य की
 मरिचियाँ
 दूरा सहारा बैसकर
 मा जुझती है
 सिर मन्ना पया
 गिरा दिया
 फूल फूल बर
 लया सिया
 तोड़ डाल से
 एक झूल
 चुनता रहा
 चुभता रहा
 ओ,
 स्मृति
 फिर कभी न
 माई !

'आमा निर्माता' 'तितली' 'एक अनुभव' आदि कविताओं में इन्होंने वास्तव्य
 रस को साग की चिट्ठा की है पर उसमें रसमीची या आत्मावित करने वाली अभि
 व्यक्त नहीं है बरन् उक्ति-बमलकार और तर्क-वितर्क में ही उसकी सहायता को
 गई है

"मा ! मामा मुझको कहते हैं
 तू तितली है री तितली है
 म भी क्या बोली है निकली ?
 बेरे भी क्या बो पर बे ?
 गंभीर हुईं मा यह सब चुनकर
 बोली— सोने के मंडे से
 में तू बापू सब ही जन्मे
 करो प्रभात सूरज की पूजा ।"

जहाँ इन्होंने मूल तत्त्वों को पहचाना है वहीं इनकी अभिव्यक्ति को ठीक
 लं मिला है और वे अधिक मार्मिक बन पड़ी हैं

"दुख पीती माँसू की बाली

हाथ काँप उठता है
 अंजलि में भरते ही मधुर चारिणी
 मुक्त की सीमा पर जनजाति भी आ पहुँच
 तेरा मुक्त बर्जित करता मुझको बड़न से ।
 जैसे कौब लपक जाती बिजली की रेखा
 दिख जाता सब अतपुक्त अविरित भगदेखा
 तेरा ध्यान मुझे झकझोर जाता जाता है
 बड़ा हुआ मेरा पग सहम लौट जाता है
 मुझे चाहिए नहीं अकेले यंत्र राग रस
 मुझ चाहिए नहीं अकेले प्रीति प्रेम घास ।
 तेरा मुका हुआ मस्तक
 जब तक ऊपर को नहीं उठगा
 तेरे अटके चरणों को
 जब तक पत्र इवित नहीं मिसेया
 तब तक मुझको बर्जित होंगे
 तुक्त ध्वज के तारे सावन
 तब तक मझे लौटना होया
 बार बार यों ही बन निर्धन ।

प्रिय की याद कबचिबी को पहले गोपन कदा में अक्षी धी पर जब समय
 असमय कमी भी किसी भी क्षण बीर किसी भी परिस्थिति में आ जाती है । वह अक्षी-
 छिपी घर्मिली या प्रेम की मूक मीन नीरवता में डूबकर आत्म-मीका को पीछर ही
 भीतर समोए रखकर सामोस रह जाने वाली नहीं है बल्कि अक्षी हृदय की रिपछता
 का अभाव वह कैसे धरेगी—यह वह स्वयं नहीं जानती । घाय ही इस बीरान उसने भाव
 सँजयी या विचरायी—इससे भी यह बेछबर है

“याद तुम्हारी
 पहले जाती थी
 गोपन एकांत कदा में
 अब जाती है
 राह घाट पर
 समय असमय
 हरे अस्मिन् बत्तों वाले
 पेड़ों की शैजू
 शैजू : बँस मार उड़ जाती
 बिहान पात को
 भीगू पस मर

सब मानने-
 यों अभियारे में मरजाते की हबिस न थी ।
 लेकिन यह असह्यम मृत्यु
 अनुकारन बने
 या चौड़ी सी जी आस्था को कचले
 मुझको स्वीकार नहीं
 कर सकते हो बन्धु अगर
 इतना करो—
 और नहीं काछ,
 बस केवल
 बिनती करो ।”

इसके अतिरिक्त वह भी क्या कम अपराध है जो दूसरों से मकरत करना
 उदात्त है और हर अवगुण एवं स्वार्थ को प्रभय देकर जीवन के आचारमूठ सिद्धान्तों
 न बना चोटता है ।

“हर एक व्यक्ति से मुझा द्वेष प्रतिहिता ।
 घबराना धम से
 कामों से का छपना ।
 मे मत्तम्ब सबसे
 तना-तना-सा रहना ।
 हर आह कपट छमना की मन में मंसा ।
 नीचों की ईंटों को
 चुपके बिसकाता ।
 मूरख के घर पर,
 कानिष्ठ से बड़ जाना ।
 धोत्रेबाजी बोरी का हरदन जाना ।
 ग्याही के कटे
 घर-घर बोते फिरना ।
 पुर भाग लपाकर,
 दूर तमाना लफना ।
 मकड़ी-सा सब घर जाला ताने जाना ।
 सत्से में ही पर्यन पर,
 हाथ बड़ाना ।
 रास्ता चलतों पर,
 डंसे तान चलाना ।

भजनबी भीड़ के धरे में
हर एक शब्द बदलें-बढ़ते ।”

बहु प्रेम करती है

‘जीवन से शोभा क्या घों ही हट जाती है
मेँ उसे बिपु या नहीं बिपु
नम के भाये कलौ अयाय
रस की सरिता
मध्याह्न काल की किरणों से
पट जाती है
मेँ उसे विपु या नहीं विपु
पर मेरी प्यास कहाँ बुझती
पर मेरे पैर कहाँ बजने
लभित लुपियों के कोप
हाथ से अंगर घड़े
बपले मीठों में बीरहून-से प्रेम लये ।”

सहसा ही हवा बसी तो फूलों और कलियों ने सुगन्ध को पन-पन बिखर कर
तनूके नातावरण को सुवासित बना दिया । निम्न पंक्तियों देखिए

‘सहसा ही हवा बही
फूलों की कलियों ने बिखरा ही सुगन्ध
को सब तक सही ।
जल पये कषाट बन्ध लोचन के लीबरे
नलमय के संघ शोक प्राण हुए बाबरे
बुचके ली कानों में बुलबुल कर बात
आन कितने कही ।
बनी हुई लहरों में बाल बुला बल हिला
हूर बेग का बरत लोया अतकल खिला
तिहरी अब लहर पास छाकों ने हीने
बहि अल सही ।
सहसा ही हवा बही ।”

मुझी इन्नु बीन नई कबयित्री के रूप में उद्युक्त भावोन्मय और गन्ध कल्पना को
लेकर आन बही है । जेसा कि प्रायः परी कविता की प्रतिक्रिया उसकी निस्संगता अथवा
अतिगन्ध बीजकता में है । सो यह बात हम पर लागू नहीं होती । इसके विपरीत नए
गिस्म को नई जीवन-दृष्टि के साथ समापोजित करने की चाह है । आज का प्रयोग

यही है
 बस यही ।
 यमरा की बड़ का मनुहीन रस—
 कुमारी तक पहुँच नहीं पाया ।
 अस्विहीन शब्दों के इन त्यक्त केंद्रुल में
 मुझे मत करो ।
 एक व्याकृति तुमने भी
 एक व्याकृति तुम ही—
 सब मेरी आत्मा
 सब भाव्यताओं की ।
 कभी-कभी सपता है—
 शो, बस अब उतर गया—
 असावधानी की खूँटी पर टोंग गया
 भ्रम का लकाडा ।
 लेकिन फिर
 यही;
 यही मूल ।
 तुम तो यही हो—आबरु से अभिन्न ।
 प्यवा के भीत से तिहर कहीं पामीने ?
 एक दिन बोला के फूलों की बुद्धि खुली
 आसमान तबि-सा तपा हुआ
 झूठे सप्तमे के तारे और
 चाँद
 दूद कर टपक रहे ।

‘सर्ब सा शौका’ कविता एक लघु विषय है जो अपनी व्यंग्यता के कारण मन एवं प्राणों को सहसा रोता है ।

“यह हुआ का सर्ब-सा शौका
 बहुत नीला
 बड़ा मौढ्य
 उड़े प्यारे गुलाबी बादलों पर
 बेंग सिता
 झूमता
 या कुछ धानो इहनिर्घों को
 झूमता

‘सिम में फूल मा पए
सहेली ।

बेज—जा ।

या कहूँ—

बाड़े में झींझी की झील पर
तेरी कपास

या—

—छोड़ झील—

घुप के सुनहरे हरे जेत
कहरा मए ।

बेज—जा !

छूटे बाल—मास छुए

हुवा ने बताया बा

‘रात को बसंती रप

भांगन में छाया बा ।

छाया बा

रात को बसती रप ?

जगी भी केसर पहारों पर ?

जगी ही होयी तब—

रात झूठ बोल कर

बचपी क्या ?

बेजा या मोरे ही

कुहरा तो कुद घेने ।

बूँदें भी परती बी ।

—मौर फिर—

तबसे बड़ी बात—

यहाँ

सिम जो फूली है !”

कुमाठी कमलेश सप्तमती की सरल प्रचार युगमयी अनु पद्य-रचना में मार्मिक और हृद्य को धामोहित कर देने वाले अभाव और एकाकीपन का एक कल्पक कलर स्वर में बला रहता है । अभाव की तरङ्ग ध्वनी, कवि, किरणकर, की, कही, कतिर, कलक, मौलिक बृष्टिकोष सम्भववादी और सहिष्णु ही बचिक है । प्रगति में बिरबास रहती हुई भी य प्रतिबिम्बवादी नहीं है बल्कि किसी भी प्रकार के मिथ्याचार और आडम्बर न परे देवकाल एवं परिस्थितियों के अनुकूल चलना जानती है । कविता में जबकि एक सुविधायी और बलीकवादी चल रही है इनकी अभिव्यक्ति कितनी सीधी

बड़ी ही कठिन जिदगी की उगर है ।
 कहीं तक जानू पय पके साँस हारी ।
 न धूमि तुम्हें जो कभी एक क्षण को
 मिठुर भाव तुमने उसी को मुकामा ।'

प्रलय और विरह-बचना से आहुत मन व्यस्तमयी ही जाता है । विरासा
 प्राप्ति को बचावटी है और अधिकाधिक ईश्वर अन्ततः उपरामया प्रगाथा है।

‘मने कब माँगा लीनों लोको का बँसव ?
 मने कब माँगा मनुष्यतु का पीवन अभिनव ?
 मने कब माँगी अनुपम निधि सुन्दरता की ?
 मने कब माँगी भी-भोजा मोहकता की ?
 न विचारिनी हूँ-कूटी कुटिया मेरी
 जल बसीम में अति सीमित लला मेरी
 तुह माँया मिल भी जाता तो रखती कैसे ?
 बन्ध मात्र से जल बनी मधु बहती कैसे ?
 मैं तो जग सुखियों पर ही लक्ष्म कटाती
 न तो जग पर-बिगुनों पर ही बलि-बलि जाती
 बीज पए जो मूलपत्र पर रोज तुमहारी
 होती पई समय के सौंज की दिन-दिन गहरी ।
 जो माँसे से मिले न भर बिन माँसे पाए ।
 पीड़ा बल कर आज हृदय में प्राप्त सयाए ।’

‘अवशेष पय’ में कबयित्री दिसाहारी नहीं बरन् बृह कदमो से स्वयं राह
 बनती हुई प्रगति-पथ पर अग्रसर होने की आकांक्षा रखती है । अनेक माम्यताहीन
 सिद्धांतों में नकारात्मक भावना बयाकर बहु गम-उह नहीं होना चाहती अपितु स्वबल
 प्रवाह की ओर उद्युक्त होकर उक्त भावना का उस जोर सेना चाहती है । उममग
 स्थिति में भी यदि हृदय में साहस और सामर्थ्य है तो बिना किसी अवरोध के निष्कण्टक
 आगे बढ़ा जा सकता है ।

‘साधना का पय अभी अवशेष है
 जोर तरणी से पुलिन भी दूर है ।
 तेज कर कुछ और गति की तेज कर
 क्यों नया ये आज माँसी दूर है ।
 हो रहा अक्षय्य रवि का व्यस्ती—
 तिम्रु ल किरने अपन बटलेसियाँ
 माँज कर कर आ रही लम्प्या परी

मैं न रोती रो रहा विश्वास मेरा ।
 ध्योम भरता मोक्षियों से रात ही में
 भेष भरते फिर घुमड़ बरसत ही में
 क्या सुनाऊँ मैं क्या बपनी क्या की,
 सजल निध बिज जीव का आकाश मेरा,
 मैं न रोती, रो रहा विश्वास मेरा ।
 जन्म जल से हुआ किन्तु जलज बनी ना
 प्राण प्रिय परते मगर पबरज बनी ना
 क्या भविष्यत जाव बना भूलो सभी कुछ
 कौन सुनता अब कदम इतिहास मेरा ?
 प्राण कर बिज रात आराधन किसी कर,
 या मए अमरत्व आत्मासन कितो का
 क्या पता वा पात्र में मनु के गर्ल है ?
 जल जठेपा एक बिज हर स्वास मेरा ॥
 मैं न रोती रो रहा विश्वास मेरा ?
 सत्य जल का बल चुका है आज छलना,
 जल चुकी जितनी बनी है धीर बलना,
 अब न स्वयंज मजिमें भरया सर्वेयी,
 पूर्ण मुस में ही जगत प्रवास मेरा ॥”

प्रथम की असफलता में कबयिनी दुराशा, ध्यंग्य अबबा जपालम्भ का सहारा
 नहीं लेती बल्कि अपनी इस आबापी पर बसकी पुम आत्मा और आत्मावित जाव
 है । सहज विवेक के साथ प्रेमाहुक मन को बहु निरन्तर आराधन देती
 खूटी है

क्यों बिकल अब हो रहा मन ।

जो गया जाना उसे वा

सेव जो जाना उसे वा

इस पमन भी' आपमन का दूतरा है नाम जीवन ।

पुस्यु का तिरजन प्रलय कम

बल रहा है, बल रहे हम

वा रही है पास मंजिल या रूढ़ बिज मौन का लन ।

प्राण के इस इवात-नच पर

प्रथम ही केवल सदा फिर

पूल हर दूल्, मरपट एक सारा बिज जंयवन ।

क्यों बिकल अब हो रहा मन ।”

सवियों पुराने आदर्श और बहामुख स्थापनाएँ प्रशमभिन्नु कबाकर बाड़े हैं। प्रत्येक मई पीढ़ी पुपनी बाठी से बाठकित और सद्यमान रहती है। सुनौती और प्रतिक्रिया में मनुभूतियों और सबैयों से भी बबिक उबाकभित बाँदिकता से डूक ठान की है। सुजन-प्रतिभा बुदि के बाोल से इतनी बब गई है कि इबि बैबिष्यबायी और भाब-सुम्य प्रकृतबायी कबिबाएँ, बिन्हुँ बटबाारे से-केकर पड़ा बा सके बड़ी बा रहती हैं। नया कबि वा नई कबयित्री बैयभितक स्वासुम्य के माम पर उब कब मनुभूति से भाबान्त है बिबमें उसकी स्वसता बबाई बई और उम्र के बाोर कसमकष के कारण उसकी कौमक कस्यता के बार बिबिभन्न हो गण है। बगपड़ टेड़ मेड़े बन्द सतरों में बैसे इषर-उषर के कुछ बूटे बलार और बबूरे बाब्य। सीबाएँ और पेरै-उठी की बबाकार परिधि में बूबता-उतराता मन-बैसे किसी की ससाय में बककर बटक गया हो इबिब बबुबाओं की निठैहता हाँक रही हो और बहूब हड़बड़ी ब तबरा में बैसे कुछ बूट गया हो बिसका कुछ-कुछ बंबाब ही कमाया बा बकता है परा साका नहीं उठाठ बा सकता। शाबबब उबबम इबि कय बब-संयोग और एकाम्बिति के बंबिबन मानस-बटक पर बबबते तो हैं पर उनकी बनुभूति सकिबट नहीं हो पाती कि वे बंब-बंब हो बिबार बाते हैं। कहीं कबिता बिसकुल नब ती नय और स्वर के तासुम्य और बस्तु-सावेसता से बूर बहूब बूर बा छिटकी है।

“बाब सुम भाये हो
 मैने बूड़े में है फूल बाँया।
 भाब मैने बागों को लुनी हुई
 काबल की बारोठ सी रेबाओं में
 फिर नई कबिता भिली है।
 फिर मैं बहार की इक बस्तु बनी हूँ
 मेरे बागों और सुतियों के हूँ फूल।
 मेरी इक साड़ी प भी हंसते ठुप फूलों की बुनिया।
 बरती की लहरती हुई कतलों का भाब
 मेरे इन इरमों में है
 मेरे इन बंयों में है लकड़ों पीठों की लय।
 मैने फिर से
 कबरे की बीबार पर का बिब बबता
 बिब यह कुछ बीतता का बल पड़ता है।
 भाब फिर न ‘कीदत’ को बड़ने हूँ बैठी
 बाब फिर मेरी बबूर में
 धीत का लौम्य संगमरजर की बमरता न बता है।
 बया यह मेरा ही है घर
 बितदी बीबाओं के होंठ

रुगता है—येसे संवेदनशील हृदय पुष्क-पुष्क भावधारकों में विभाजित हो गया है जो काव्यात्मक अनुभूति के स्मान पर चिन्तन की तार्किक निष्पत्ति बसवा एक साध 'मैमरिजम' की ओर खिंच के जाता है। नीचे उद्धृत 'पुष्पा और रूपट' कविता में कवयित्री की तर्कशील चिन्ताया तो प्रकट होती है पर शूक्ति छंदमें निहित चिन्तन अपने विविष्ट स्य और भाकार में गद्य की योजनाव्यवस्था में बसता है, अतएव अस्त तक संवेदना की समता व्यंजित नहीं हो पाती।

५५

तीर्थ यात्रा पर जाने वाली

स्वेषात्त दृग की

यात्री

बनना नहीं चाहती।

यह भी क्या मजाक है ?

तीन मास तक

जन्ही यात्रियों के साथ

रहना पड़े

सुबह की

नई किरन की बपबपाहुट सुन

जाँचें सोमू

सामन बासी बेहरे हों

रात को नींद की बहिं पहुँ

बूडा परछाइयों के साथ

अमल कहे

तो—

बेधे हुए करन हों

परिचित स्वर हों,

भारी हवा हो ॥

नहीं ! नहीं ॥

मुझे संतुष्ट कर दृग में

सक्रर करने दो

हम स्टेसन पर

नये यात्री बहेंगे

बैठप

बोलेंगे

हँसंगे

कुछ उन्हें नया मिले ॥

जैसे तन्दूर की आस दो

इनके लगे जके मानव को मिली न जब तक छीन है ।”

माया-आकाशाओं की मृगमयीधिका में मनुष्य भ्राष्ट्र है। अन्ततः यह कवयित्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि बरबसस मनुष्य नहीं बल्कि तरह-तरह की माया आकाशाएँ जो मन में पकती रहती है वही उसे विचलित किन्ने पहुँची है और उन्हीं के साथ वह बरबस लिपता बल्कि है

“हुर क्षण
समय-तर में
पठता है बुबुबु सा
जो जाता है,
आकाशाएँ
हाथ बढ़ाती हैं,
पकड़ न पाती ह ।
किर भी
न बुबुबुओं का अस्त है
न आकाशाओं का,
अस्तित्व के पाँव हैं
मनुष्य बल रहा
मनुष्य नहीं बल्कि
माया—
जो मन में पकती है
बलती है ।”

निम्न कविता में बीरान बस्ती को बसाने के लिए, उसकी पण्डहर-की उबासी को मुसबार करन के लिए और चिन्तित-परिधान मामलों के निमित्त विरकाचित महल लड़े करने के लिए विषयम नहीं भ्रम चाहिए घुस्ती या प्रचार नहीं जल्हाह न स्फूर्ति चाहिए

“सुने पण्डहरों ली,
हमारी—
बीरान बस्ती है ।
रिस की पत्नी
इतनी नहीं सस्ती है ।
—कि जल्दी हाथ न माए
हमें 'कठ मोर' कर जाए;
पण्डहर की उबासी में
महल की गबगबी रोती;

तुल भी है, बुझ भी
 कौन किससे काम है ?
 सबसे अच्छा
 पतसर का मौसम है ।
 'बल्लभ' को स्वाहा का—
 —कहो क्या प्रेम है !
 अच्छा जब जानो
 रोर धोर के लिये
 कोई राह देखती होमी ।
 बीपक की जाती में
 मन की महक फैलती होमी ।
 इतना धोर क्यों मचाती हो ?”

'किसकी पुकार तोड़ती है निद्रा के पास ? सार्वक कविता में आधुनिक
 प्रवाही के साथ-साथ सूक्ष्म और रहस्यवादी ध्वनिना है जो अतीन्द्रिय में बिस्वास
 रखती है

'लौस को घर का प्रवेश द्वार
 बन्द होने के पहले ही
 प्रवेश पाती है किसी की पुकार;
 बँबले, घुबल सितल पाद,
 न जाने कितनी बार,
 टकरा-टकरा कर,
 घर-दरियों से निकले
 लौट आते हैं—मधुर-मधुर ली झंकारें ।
 लौप कर बीमारों को
 ऊँचे-ऊँचे द्वारों को
 कोई दिन रात रहसा है मेरे पास
 पर जानती न हूँ
 कि किस की पुकार तोड़ती है निद्रा के पास ?
 हर काम में हर बात में
 साथ देती है,
 मनदेही पर फिर पहचानी साथ;
 लपटा है मन में
 कि तन में कूके प्रभु ने स्वाद्य
 ही प्राणों की बिपुलता के बाद ।
 यह ध्याकुलता,

फिर तन के सीमित बन्धनों से
 मुक्त हो खेतना भी
 छिन्न जाना चाहती है
 जो जाना चाहती है,
 तुम्हारी आत्मा के फिर पोषण क्या में—
 तुम्हारे कुलकते मोक्षियों—सी
 कि तुम्हारा कोमल परस पा कर
 पंखियों की पंखों पर उड़ती
 मेरी छिहरती कल्पनाएँ
 स्वप्न धरमाई—सी
 आकाश की अनन्तता में
 समा जाती से अपना अल्प मुझ ।
 तब आरपार सागर की लहरों से इंसित
 बार-बार बुझते हो तुम मुझे ।
 जो मेरे फिर मूलन क्षुतिमान परम पुण्य ।
 सुरमाई सरिता की लहरों में प्रबहमान
 तुम अपने अन्तर की अर्द्धमल्ल साधनाओं की
 बीजनी-सक्ति की शलक दिखता जाते ।
 तन अजस स्नेह के भार से बोधिल
 इन शुक्री हुई पक्षकों से
 मोक्षियों का हार उपहार बन
 बिरता है प्रतिपक्ष प्रतिबिम्ब
 तुम्हारे जन दूरान्त विगन्तरपायी चरणों में ।
 तुम्हारी अनन्तकाल से कँठी बुझाओं में
 कि तुम्हारे विद्यास बहास्त्रक में
 मिला जाना चाहते हैं मेरे प्राण
 फिर बिन से जन्मान्तरों से ।
 ये जाँच सितारे शिलमिलते कसब
 युगों से बैच रहे हैं
 कि हृत्प मे बाबली राधिक—सी
 भटकती हैं लोभने तुम्हें
 गुरमुटों में कूलों में अन्धियों में
 पर हार कर रहे जाती हैं ।
 कि मेरी फिर बिरहिन आत्मा में
 उठता है व्याकुल विमोहित-सा आत्मोद्वेग ;

फिर तन के सीमित बन्धनों से
 मुक्त हो जतना भी
 छिन जाना चाहती है,
 सो जाना चाहती है
 तुम्हारी आत्मा के चिर घोषण कर मैं—
 तुम्हारे बुलकते मोनियों-सी
 कि तुम्हारा कोमल परस पा कर
 पंछियों की पंखों पर उड़ती
 मेरी सिहरती कल्पनार्प
 स्तम्भ सरमाई-सी
 आकाश की अनन्तता में
 समा जाती है अपना अरुण भुङ्ग ।
 तब आरपार सागर की सहरों से इगित
 बार-बार बुझते हो तुम मुझे ।
 ओ मेरे चिर नूतन क्षतिमान परम पुरुष ।
 तुरमई सरिता की सहरों में प्रबहुमान
 तुम अपने अन्तर की ऊर्मिष्ठ भावनाओं की
 जीवनी-शक्ति की झलक विकला बाँटे ।
 तन अजस स्नेह के मार से बोधिल
 इन झुकी हुई पलकों से
 मोलियों का हार उपहार बन
 मिरता है प्रतिपल प्रतिदिन
 तुम्हारे जन दूरान्त विगन्तरपामी चरनों में ।
 तुम्हारी अमलकाल से फेंकी मुझाओं में
 कि तुम्हारे विद्याल बधरबस में
 मिल जाना चाहती है मेरे प्राण
 चिर दिन से अम्मास्तरों से ।
 ये चाँद तितारे, शिलमिलते नक्षत्र
 युगों से बैस रहे हूँ
 कि हाथ में बाबली राधिक-सी
 भड़कती हूँ जोड़ने तुम्हें
 शूरयुद्धों में कलों में अलिग्नों में
 पर हार कर रह जाती हूँ ।
 कि मेरी चिर बिरहिन आत्मा में
 उठता है व्याकुल विमोहित-ता आलोड़न

बौरा की बिरोपठा है कि छिन्न प्रवाह और पतिव्रत स्वर की रिक्तता को
 रन्होंने प्रकारान्तर से भावनाओं की रूप से पूर्ति करने की चेष्टा की है। नीचे उद्धृत
 सुधि भाई में हुए सय और तुक उसके चारवाही स्वर प्रवाह में है

सुधि भाई

पलकों में सपनों में नयनों में भँसुओं में
 सुधि भाई ।

सपनों में पुलक पई
 पलकों में मखल पई
 नयनों में छलक गई
 भँसुओं में डलक गई

सुधि भाई

मखली-सी, छलकी-सी डलकी-सी, सुधि भाई ।

भोखियारी बपिया में कोपल-सी झूक पई
 सूनी बुपहरिया में पीड़ा-सी झूक गई
 कारी बबरिया में उमड़-उमड़ बुमड़ाई
 बाँधी की रत्नों में बितबन-सी मूक रही

सुधि भाई,

कोपल-सी पीड़ा-सी कारी बबरिया-सी-सुधि भाई !

पन्धिर की बेहरी पर,
 पूजा-स्वर लहरी पर,
 मझा-सी ठहर पई
 मूर्धित हो छहर पई

सुधि भाई

बेहरी पर, लहरी पर ठहरी-सी गहरी-सी-सुधि भाई !

पतझड़ के पातों में
 अनसोई रत्नों में
 मनजाने घाटों पर,
 अनमूली बातों में

सुधि भाई

रातों में, घाटों पर, बातों में सुधि भाई ।
 भोर की बिरोप-सी बीबल में बहक गई
 मटकी पुरबपा-सी बीबल में बहक गई
 बने की सफ़ियों-सी सानों में मरुक गई
 बाँध की कुम्हिया-सी प्राणों में लहक गई
 सुधि भाई

बसक उदूठी
 स्वय संका
 बहूँ ।
 कौन फिर
 यह स्वयम तन
 सब कुछ विषय कर
 बसा वास्ता
 तप्त माने पर रुगास्ता
 तिसक बुम्पन का ।

(प्र मल्ला बर्मा)

इन्हीं की एक दूसरी कविता 'प्रसून के लिए' की कुछ वंशियाँ

"दूब-सा तन
 दूब-सा मन
 होने दो
 दूब-सा तन-मन-जीवन
 सूर्य न स्वय सिम्भूर बन
 भोस-सी सीमन्त में
 ओ जीब-बी बिडवास की रेसा
 उसके लिए तुम
 दूब-सा तन
 दूब-सा मन
 होग दो
 दूब-सा तन-मन-जीवन ।"

'बसन्त' शीर्षक कविता में स्वर-भाव और अविरामान्त का एक अननक प्रयोग
 करता गया है

"चारों ओर"
 चारों ओर" चारों ओर मेरे
 लत हूँ बसन्त के
 हर मोड़ पर
 लक्ष्मिनी शूमती है राह
 "मुझे है सितु तेरी यह
 हवा पर तरती
 कूर्तों की गण
 बीरे सहकार की

को बली अभितारिका सी आज साजन को मनाने ।

आज केसरमय अनिल है अबनि जम्बर है महफले
बाँवनी में भीयता जय ऊँपते उडपन झलकती,
झर रहा झरना झिझर से हीर-कज तट पर बिखरते
बाँहुरी बैठा जगत का निरक्षता मोती डमकते,

साजनो में आत्मबिस्मृत भिय पुरातन को रिझान
को बली अभितारिका सी आज साजन को मनाने ।”

(सुभाषिणी)

एक अभ्य कवयित्री के कुछ नये मौलिक कल्पना-चित्र जो अपनी सजीव चित्रात्मकता के कारण सामने उभर कर साकार हो जाते हैं । ‘प्रार्थना करो’ शीर्षक कविता

‘तुम और मैं
और बीच में बाँकी पर
पवित्र गंभीर नग्नी मोमबत्ती :
बाँधों में
कहना प्यार की लहर : महुरी ।
उभरती बूबती
बूबकर फिर उभरती ज़िबपी
सुख-बुख साज-साज भोपने का बह
विचित्र आङ्गाण बारीक है वो ।

मा : इस सीने नज बेंबरे में
सुंदर हो गयी यह रात ।

प्रार्थना करो :

कभी डसे न कभी डसे न ।

‘एक और बसन्त’ का चित्र—

“प्रीतिकर लगे कँठे

यह पुमान्क को मद्रिम भाग के रंग-सा बसंत ?

किनारों को भूमता हुआ आकाश ?

—मेरी बैह में भर रही है

एक और बैह

भुझते लिपटे हुए मन में

एक और जन—

प्रीतिकर लगे कँठे ?

‘हरेकिर्मा शीघ्र कविता की कुछ पंक्तियाँ—

अपने अक्षरीरी तड़पते

वास्तव्य की—

इसी से हँस पाते हो

इस मेरे आसीपन पर ।

किन्तु मैं

आसीपन में इसी

ममत्व लजोपे

अपनी बल्लभता समर्पित करती हूँ

हर धातना-झींके बिदना-बस्त

शिगु को

बोहड़ राहों में जो

मेरी ज्यमियाँ पकड़ बल्लता है

त्रिसके झोंठों को

बिसली घुप-सी हँसी

भेंटती है ।

एक अग्य अक्षरिणी की प्रयोगवादी कविता 'मू द और प्य में

'टिप टिप करती बूँदें

जो बराबर

बस्तक है रही हूँ

बाब जिड़की से

काँच पर

ठीक तुम्हारे शब्दों की तरह

है छब्ब

जिन्होंने मेरे हृदय के

काँच को तीक

कमी से भीतर प्रवेश से

मुझे

सामूचा निबो दिया है”

(अमृता मारती)

‘तुम का भी हो मैं अपरोक्षानुभूति है । यह अनुभूति अपने में एक प्रबल
आवृह है पर मात्र उच्चका सीमित संघर्ष बन कर रूढ़ गया है

“तुम तो अनिश्चित हो ।

जैसे अनागत अविष्य ।

पर इसके बावजूद

तुम तक यदि आऊँगी

यिरे बुझ के सूझे हुए तने पर
 में मन मार कि जब वह फिर से नहीं मिलेगी ।
 एक काँपती-सी पकड़ी (माथों की !)
 मुझमें तनी लगी सहूराने
 को छोड़ी थी पहाँ
 निछी, देखो कितने अनजाने ।”

वैयक्तिक सीमा में तिमट कर अनसुति की प्रखरता मन के क्षणिक स्पन्दनों
 में तीव्रतर हो जाती है जहाँ सब कुछ उछल उठता है और जन्म कोई ध्वनि या
 अनुभूति सुनाई नहीं पड़ती । यथापथा के पक्ष और स्तर भी मिलते हैं, जन्म यथा
 स्थिति की अर्थवत्ता को 'तुमने मियाँ ही दिया' शीर्षक कविता में कवयित्री संवरण
 नहीं कर पा रही है

'तुमने मियाँ ही दिया मुझे मुझ सब स्मरणों को
 फिरनों से

जब ये भीगे कपड़े पहने कैसे निकलूँ घर से ?
 नमी के साथ बरबत तिर भाये इत अपरिचित-से
 अनजाना भाव का क्या दर्ज ?

लगता है—

फिरनों और इत अनजाने भाव को तैजोए हुए
 किसी एकान्त में बौद्धतर

बुझक को आत्म-समर्पण कर दू ।

पर, देखो न मैं यहीं को यहीं काड़ी हूँ !

मेरी लघनता अनुभूति इन फिरनों से सन्धि कर

मुझे आधुत दिने जाती हूँ

और न डपी ली काड़ी हूँ !

फिरनों के बर्षा-जल से चुकी कति

देखते-ही-देखते अरुचिम लगना मैं डूबी जा रही हूँ;

किन्तु मैं कते देखूँ उसका मोहक परिचय ?

इस स्थिति की अर्थवत्ता का भी त्रिय कैसे संवरण करूँ ?

कैसे ये भीगे कपड़े पहने घर से निकलूँ ?”

(निमला रावेन्द्र)

यही कवयित्री 'मह बिखरता मादक मान' में और भी निरपेक्ष हो जाती है
 पर जड़मन् ताँति के बावजूद भी उसके हृदय पर अनजाना अपरिचित बौद्ध कर्मता
 पाता है

अधु बिखरता मादक मान आज नहीं छूता कसे,

अज्ञात लौट जाये— परवेस को ! तब तुम— आत्ममानी साड़ी में अपने को— डाँक के पापल की लल-लल— बौझट पर मौत के—	स्वागत को बिछा दो ! राज ही— पलकों में काजल के काले-काले बादल ले आओ ! और तप— जैसे बादल कठोर पर्वत— धूम के	मीठा हँसे ले तितक पड़ता है तुम भी— मात्र धूम्य से दररा के छलक पड़ो कि इतना सोचने का— अबसर भी उठो न मिसे कि बाद 'उसके' तुम्हारा— क्या होया ?"
---	---	--

मनोवैज्ञानिक मुरिबयों और भावना-जगत् की अनेक उलझनों के साथ-साथ प्राचीन प्रेम-संस्कारों की सापेक्षता में पर्यन्त अन्तर आ गया है। नई कविता के छन्द लय लम्बे आसना प्रतीक-विधान तथा कथन भूमिमा के विविध पक्षों में कुछ न कुछ वैविध्य और नयापन हुआ है। परन्तु कहें कि आन्तरिक चमक-संगठन की अपेक्षा उक्ति-वैविध्य और लयलक्ष्य भाव-भूमिमा मीठूदा कविता का एक प्रधान गुण रहा या न रहा है। फिर भी कुछ कवयित्रिणियाँ उसी प्राचीन परिव्रादी पर गीतों की आरम्भी उच्चार रही हैं

“पीतों की अनमूसी आरती
स्वर-किरणों की अलख जगा कर
किस सपने का कब गुहारती ?

घोटों की वह जलस सकुच कर
किस रीते पलसर पर रोती ?
हाथ की बीरानी ईहा में
कौन नमस्कृत अमृता खोती ?

अपने लिलिज पलक फँसा कर
यह अलोरती ठाँस बिटौ ओ—
अज्ञ प्रमात का पथ निहारती ?

आज लम्बे के पल मुलपते—
बन पाँपि-से उड़ जाने को ?
आज अटकती राह न जान
किन सकेतों के पाने को ?

एक अन्य कविता 'प्यार का आचार पाकर' में इसी प्रकार के आर्द्र मर्मों की प्रथम भाव की बिर आकृष्टता है जहाँ उसकी परिधि की इयत्ता दो हृदयों को स्नेह-भूष में बाँध देती है। मासुख सौन्दर्य के आकर्षण से परे वह एक ऐसी मनु। भूमिका है जो न केवल स्पृश वासनाओं का परिष्कार करती है बल्कि जीवन सूक्ष्म सुन्दर, उदात्त भावनाओं को उद्बुद्ध कर प्राचलान बनाती है

"सुक गई पलकें किसी के प्यार का आचार पाकर ।

हो उठे दृग लज्ज उर की पावना लम्कार पाकर ।

मूक बाँधी में किसी की प्ररणा का अंध पाकर ।

जल पड़े प्रेमी-पथिक विस्वात का संतार पा कर ।

धूमती धलकें किसी के स्पर्श का आभास पाकर ।

जल छठे बीपक, शलम के स्नेह का आचार पाकर ।

मूक पया मन्धर सितिल के बस का आचार पाकर ।

कल्पना मुषरित हुई है, लव बिहग का गान गाकर ।

जा गई फिर से शमा बिर-सिमिर अपने साथ लाकर

भर गई आँसु किसी के बिरह की मयु-रात पाकर ।

बतना आयुत हुई उर का अक्षत प्यार पाकर ।

चातकी भूकी घटा के भयन में बरसात पाकर ।

पवन-मति भी नर गई बिर बिरह का उच्छ्वास पाकर ।

पल छठे पायाप कदवा की क्षिमाही साँत पाकर ।

सुक गये पर्वत-सागर बनती बिता का प्यार पाकर ।"

(कु सन्तोष सचदेव)

अपने चौपक कविता में कवयित्री अपने से ही प्रश्न करती है कि मन चाँदनी क्याकुल क्यों है ? इसका कारण हृदय में प्यार की तड़पन है। फलतः कभी तो उर में गीठ फररता है नमी नमू बुकाले लगते हैं, और कभी मीन रू-रू कर मय की रागिनी फूट पड़ती है

"बिहल मन क्यों चाँदनी में ?

पूणिना का जम्ह देजो

है पान में अपमगला ।

भाज उज्ज्वल चाँदनी में

बिभ है गोते लगाता ।

बया रहा अस्तित्व मेरा,

भाज अनुय चाँदनी में ?

बिहल मन क्यों चाँदनी में ?

बन्दर के किठिन खोबे-खोबे से कमठे हैं। करुण मनुहार भी जब व्यर्थ साबित होती है तो दर्द और व्याधा की छटपटाहट और भी गहरी होकर उमड़ती है

मेरी अस्तित्व घड़ियों में भी निरुर ! न जान भद्र तुम री पाये !

अबरोँ तक आते-जाते ही—
मेरी बानी एक जाती थी
दृष्टि कहे कुछ इस से पहले—
पलक नयन पर झुक जाती थी ।

जो कुछ मैंने कहा वही तो प्रिय ! मेरा मन्तव्य नहीं था,
मौन अज्ञानत निमग्नता मेरे मन का भाव नहीं हो पाए ।

तुम को भीत सुनाती क्या जब—
शुब ही भीत बनी बेठी थी
कैसे स्वर के दीप जलाती
शुब संगीत बनी बेठी थी ।

अर्थ अर्थ से बहुत बड़ा है; यह मैंने उस दिन ही जाना
क्या तुम को अपनाते मेरे शब्द न मेरे ही हो पाए ।

सारा अर्थ समेट नयन से—
मात्र एक अलवार बही थी
भीरत जीवन से एक कर मैं
सार्सों कर खून चुका रही थी ।

मुझ को या मालूम कि तुम तक मेरे छन्द नहीं पहुँचेंगे
जाने फिर भी कित्त आशा में निश्चि भर पीत नहीं तो पाये ।”

(पुष्पा 'रश्मि)

अल्पविक भाषावैय की मानिक बेचना से आहुक यही कवयित्री 'विसर्जन पीठ'
में गहरी है

“अधु को बरसात से जब प्रीत की कासित्त मुलेमी
देवता ! मेरे निर्मग्नता का विगत होमा बही !

भाष के आवेद्य मैं ये
बहु धये ये मात्र इतने
अनगुने मैंने विष्ट हर
आत्मा के प्रसन्न कित्तने

गुप्त हो कर सार्स क्यूमी बंश से अनशाव के जब
बता ! मेरे निवेदन का विगत होमा बही ।

दुनों से दुसों ने बिपना जाना है
 किन्तु धुरनि ने भेद नहीं कुछ माना है ।
 कबल-सो काया थोड़े दिन चलती है,
 भूप छाँस बनने को तिल तिल डकती है,
 दूर दूर दुसों ने चलना जाना है,
 किन्तु लहर ने भेद नहीं कुछ माना है !”

(स्नेहलता 'स्नेह')

वो बियोगी हृदय जब मिळते हैं तौ जैसे दूटे पार जुड़ जाते ह। इस सुम
 मिलन की बला में प्राण बिरक उठते हैं भाषा-सठिकाएँ कहकहा उठती हैं और
 आनुष-व्याकुल भाव आनन्दोदकास में मुस्करा उठते हैं

“आज फिर मञ्जुगल गाये ।

हो रहा भ्रम जर तरंगित आज जीवन प्राण गाये ।

जुड़ गय जो तार दूटे

बल धरौ फिर मूक बोला ।

मिट गये संताप क्षिप के

साबना कर निर नधीना ।

मिल गये वो जर बियोगी नेह का बरदान पाम ।

दूर कर घन-कास्मिमा को

कास्मिमा छाई गगत में ।

हो रहा अनुराम अनुभव

आज कितना भ्रम मिलन में

नृत्य करते मोर भू पर, शीतल में घन स्वाम ज्ञाय ।

विमरिमाते बीप की लौ—

जयजगाई स्नह पाकर ।

मुग्ध ही छाये शालभ फिर

प्यार की आशा लगाकर ।

जो बिरकल धे नाथ जर में आज फिर वे मुस्कराये ।

बन गई भवितारिका सी

बिल उड़ी भाषा कताये ।

बचन बहु बहु प्रेम-निधि से

से रहा अगणित बलाये ।

मन्त्र ने मञ्जुल स्वरो में राय फिर नूतन सुनाये ।

आज फिर मञ्जुगल गाये !

(बिद्यापती वर्मा)

मान करती हूँ, किसी का ।
मान जायें वे न मानें
मान करती हूँ किसी का ।

तु बतावे समझूँ क्या ?

इक प्रेम का सितार समझूँ ।

बीत समझूँ हार समझूँ, या इसे मैं प्यार समझूँ ?”

(राजकुमारी सिधपुरी)

निम्न कविता में 'प्रेम प्रेम के लिए' (Love for love's sake) इस विषय पर बहुत छिड़ी हुई थी। भाव का अमिश्रित और शालीन प्रेम निरकुसुम है। वह देश काल स्थान से बाधित होकर किसी आचार-भर्यादा के बन्धन में बँधना नहीं चाहता। इसी का नाम प्रेम है? अथवा क्या कर्तव्याकर्तव्य सुख-दुःख संबोध-विवोग के अनेक उद्वेगनों के मध्य समझान से प्रबलमान अन्त में धारवत्त मिस्त्र-भूमि पर प्रेम की बाध प्रतिव्यक्त होती है? कथविनी पूछती है—क्या इसका नाम प्रेम नहीं है?

'बहुत छिड़ी हुई थी

मिस्त्रवर

गले की आवाज को

तार-सप्तक तक

ऊपर उठा

पूरे ओर-ओर से कह रहे थे—

'प्रेम प्रेम के लिए ।

सब प्रेम में

आवर्ण का संबंध

झोभा नहीं देता ।

प्रेम के प्रवाह पर

निराचार नीका को

कयर-मतवार हीन

छोड़, चुप बैठना ही

प्रेम है ।

और सब कलसिद्धेशन

ध्यम है

बोगध है

उनकी चर्चा भी

प्रेम के बन्धन

बीर

दूनों से दूनों ने बिबना बना है
 किन्तु गुरमि ने भेद नहीं कुछ माना है ।
 कबन-सी काया बोड़े दिन बसती है,
 रूप सभा बनने को तिल तिल डकती है,
 दूर दूर कलों ने बसना बना है
 किन्तु लहर ने भेद नहीं कुछ माना है !”

(स्नेहलता 'स्नेह')

हा बियोपी हृदय जब मिलते हैं तो जैसे टूटे तार जुड़ जाते हैं । इस नाम
 मिलन की बेला में प्राण बिरक उठते हैं आसा-कठिकाएँ सहकहा चळी है और
 आकुल-म्याकछ भाव भाग्योश्वास म मुस्कण उठते हैं

‘आल फिर मधुमान पाये ।

हो रहा मम जर तरवित, आज बीबन प्राण जाये ।

बुड़ मय बी तार दूटे

बज पठी फिर मूक बीबा ।

मिठ मये संताप हिय के

सापना कर नित नबीना ।

मिल गये हो जर बियोपी नह का बरवान पाये ।

दूर कर धन-कालिमा को

कालिमा छाई गयन में ।

हो रहा अनुराम अनुभव

आज कियाना मुम मिलन में

नुरय करते मोर भू पर, बयोम में धन ह्यान छाये ।

दिमदिमाते बीप की ली—

अयनपाई स्नेह पाकर ।

मुग्य हो छाये शालम फिर

प्यार की आना लपाकर ।

को बिकस ये माव उर में, आज फिर है मुस्कणपाये ।

बन गई अनिसारिका सी

बिल पठी आना कताये ।

पवन बह बह प्रेम-निधि से

से रहा अमजित बलाये ।

मधय न मंजुल स्वरो में राग फिर नूतन मुनाम ।

आज फिर मधुमान गाये !”

(विद्यावती वर्मा)

धीरे धीरे पलपाया है
 माना सरबी परमी बर्षा-
 सह कर मधुवन बन पाया है ।

कूल गई बस मैं इतने पर इसको मेरी मुल न कहना ।

श्रुतपति भी मुझ में मुसकाता
 पतझड़ भी मुझ में बस जाता
 मध्य बदन मुझ को सहलाता—
 धीरे बबुछर प्रीयण आता ।

परि प सब मस को खो दें तो मेरे माकी । पूल न कहना ।

घोष रूँ साक्षों पर कटि—
 तो कदवा जल डैते रहना
 'घूलों ही में फल जिलेम'
 जग ही यही बात तुम कहना ।

म मेसवार नहीं सब मानो फिर भी मुझ को कूल न कहना ।”

(बध्द्रमुली ओसा सुधा)

एक अग्य वीत में यही कवयित्री बड़ी आर्द्र विह्वलता धीरे धृगय भाव से
 अपने आकुल प्राणों की अबूझ व्यथा को व्यंजित करती है । हुँसना तो सपना है ही
 पर रो भी न सके—बीबन की मह कितनी बाढण बिबसता है

“बया जो पाए वीत दूम्य में जगह नहीं तुम सुन पाए हो ?

मेरे आकुल प्राण पुकारें,
 ओ मेरे पीतों के बाता ।
 सब कुछ भुला जा सकता,
 बया भूल पए पीतों का नाता ?

बया बहु कीरा अभिनय ही या जो कल रोए मुतकाए हो ?

बया यह बात सही है जग में—
 रहती सब की प्रीति धरूरी ?
 हुँसना तो सपना है, लेकिन—
 रो न सके कितनी मजबूरी ।

बया यह जान पराजय मेरी अपनी भीत जाता पाए हो ?

बया नीरव रजनी में मेरी—
 विसकी तम तक पटुब न पाती ?
 तिस तिस बस में मिटूँ
 मोन तुम निमित्त है काहे की छाती ?

बया परिभाषा यही पुरय की बता मुझे तुम द्वाए हो ?

गान करती हूँ किसी का ।
 मान चाये थे, म माने
 मान करती हूँ किसी का ।
 तू बतादे समझू क्या ?
 इक प्रेम का तितार समझू ।

बीज समझू हार समझू या इसे म प्यार समझू ?”

(राजकुमारी सिक्पुरी)

निम्न कविता में 'प्रेम प्रेम के लिए' (Love for love's sake) इस विषय पर बहस छिड़ी हुई थी। आज का अहिंसा और शांति प्रेम निरंकुश है। वह ऐस काछ स्पष्ट से बाधित होकर किसी आचार-मर्यादा के बन्धन में बँबना नहीं चाहता। इसी का नाम प्रेम है ? अबका क्या कर्तव्याकर्तव्य सुख-दुःख संयोग-वियोग के अनेक चट्टानों के मध्य समभाव से प्रबहमान अन्त में घाबरत मिन्न-मूमि पर प्रेम की बात प्रतिष्ठित होती है ? कवयित्री पूछती है—क्या इसका नाम प्रेम नहीं है ?

“बहस छिड़ी हुई थी
 मित्रवर
 गले की आवाज को
 तार-सप्तक तक
 ऊपर उठा
 पूरे जोर-शोर से कह रहे थे—
 “प्रेम प्रेम के लिए ।
 सच्चे प्रेम में
 आका का पैर
 टोमा नहीं देता ।
 प्रेम के प्रवाह पर
 निरापार लीका को
 लपर-वतवार होन
 छोड़, चुप बैठना ही
 प्रेम है ।
 और सब कनतिहरेमान
 व्यय ह
 बोपत ह
 उनकी बर्बा भी
 प्रेम के पवित्र
 और

असक जय बखिए

रात सुन्दर थी,
 बिल में छपे गुमनाम एमों के साथे
 नीले अम्बर के तितारों-जड़े गुम्बर के तले
 यहूरी छाया है चाँद का लाम्बा जो पड़ा
 किलकिल सहरोँ प नयी बुझ के साथ
 स्वादों का एक जहान उतर आया ।
 और फिर जो भीजा जो चढ़ा—
 मोटर की घुरघुर घुड़घुर, घड़घड़, घुर में
 बीसो परती औँ लम्बे लम्बों की महक
 बूब ययी, खो ही ययी ।
 चाँद भी बिजता न था
 पर जलकी जगह—
 मोटी मलमल के एक कुरते और
 काली टोपी से डक, एक मोटे से
 सामा का बदन दिखने लगा : बोहड़ का
 एक चबरा और गोल ली गाँधी टोपी,
 धौधरी पन्डिम के एक पाँच का लपटा था ।
 अयेज की लम्बी इतकी पतली मूँछें, बाल
 माने वे दिलीप के बिजरे हुए,
 जो सलामी ला पुशाणाह जवान
 अस्लील से पीत की पुन में ज्यक जठा ।
 'बाह । बाह । पड़ोली ने कहूँ,
 देखते नहीं औरत की भी बात' डाँटते स्वर में
 मेरे पाल बैठा लज्जेदपीत भी कहूँ बैठा ।
 गीत बम गया औरत
 बिलकिलहाट भी जठी
 जानाफूनी का बहु आनम
 मेरे मानस में निशा छोड़ गया ।
 दूरी कितनी इक औरत औँ मरों के समूहों में ?
 कबिता साहित्य है पौरुषत सुसंस्कृत अतन्त्र
 बुनियावारी के क्यालों में पला जन-आगत ।
 बाहर कह रात सलोगी, और अम्बर ?
 एकाकीपन महुरा और महुरा होता ही यया ।

(जामा)

प्यासे ही मर जाना भँवरे,
 पात न जाना छत्तियों के ।
 घू घट से हँस साँक रही
 जो बड़ी ठयोरी है
 ये कब्ररारी अँधियान वाली
 हाथ न भोली है,
 फन्दे में मत आना भँवरे,
 बाबू हे सब परियों के ।"

(शकुन्तला सिरोटिया)

'बैचराम इन्द्र हूँ मैं' कीर्तिक कविता में पुरुष के अहम् और विघटनकारी तत्त्वों के प्रति गारी का तीखा व्यंग मुत्तर हो उठा है । अपनी समस्त सहिष्णुता और संभवों की एक लम्बी परम्परा में ब्रिम्बणी के जहर को रसामन मान कर पीन वाली गारी को पुरुष की स्तैष्ण्यचारिता से सर्वत्र मयंकर टक्कर देती पड़ी है । आदि काष्ठ से जब तक उसकी मूल प्रकृति में विषय अन्तर नहीं हुआ झाँकीक तहजीब के तकाबे ने परती को उसकी बद्रक में तो सा बेटाया किन्तु वहीं उन्ही परिस्थितियों में जहाँ उसकी औरचारिकता निभानी पड़ती है अन्धका आयुनिका तित्तियाँ अब भी उसकी लिप्ता और भोव-वितास पर पछनी हे

“बैचराम इन्द्र हूँ मैं ।

स्वर्ग का सुपङ्ग तिहासन

संबंध ही सुरक्षित है मेरे लिए

कितनी ही तपस्याओं की उपलब्धि परची यह,

चारण करता हूँ संन्यासों के बल पर मे

और बखसोय मैं दुबाला हूँ बिरोधी स्वर

घान भोपती हूँ वे मेरी पैगदा, रम्पा

उर्बती बगीकरण प्रबीचा अप्तरार्ये,

और संश्लित तपस्याओं का फल केवल मेरा है

बमब बिनास का विपुल साम्राज्य सब,

दास्यता मुजों से मात्र मेरा है, मेरा है ।

मारे लोको की समस्त सुख-गुबिपार्ये

मरे चरकों में म उनका उपभोगता हूँ

इग्यापी राखी तो मेरी ही है किन्तु वे

रमबी मनहारी अप्तरार्ये भी मेरी है

महलों में महिषी की घीमा रंपकहल में

मूपर की बकागुन म परती है

सोम भरे पात्र प्यास बढ़नी है ।

व्यों व्यर्थ बहाते बम्बु तुम्हारी बाँधें यों ही रोती हूँ-
 में तो बहु सीप नहीं जिससे मिलते जीवन के मोती हूँ,
 मेरी स्नेहित फिरनों के सप नग के शतवज्र मुक्ताते हूँ
 मैं विस्मित-सी रह जाती हूँ वे मुझे बलाने जाते हूँ।

(गीता श्रीवास्तव)

'समिप्टा' शीर्षक कविता में पौराणिक माध्याम के आचार पर नारी के
 परचात्ताप और व्यथा का चित्र आँका गया है

"पिता । तुम न मालो दुःख
 माँ । ममता क्याव हो
 जन क्षिप्त-पत्र में
 अर्पित कर हो मुझको
 बिन्ता क्या है यदि मैं—
 बासी बग आँसू-पी
 हृच्छाओं के रुचने पड़े
 सूख जायेंगे
 अपनी आकांक्षाएँ
 छलना ही होती है
 समझायी क्यों कोई
 बने मेरी व्यथा का
 भेज अपराध किया
 मुझे बण्ड लहने को
 करने को प्रायश्चित्
 आसने को मुझे
 देवयानी के गर्भ में।

(अपर्णा)

'भू ठी मनुहारें' की कुछ पंक्तियाँ

"जीवन चलता है चलने को
 में डरता नहीं आँसू-से

कर सकता निर्मित नव प्रभक्त
 प्रतिदिन जीवन की हारों से

घन घोर राघ्व करती उन्का-
 का आत्मिद्धन कर सकता हूँ

कैसे हूँ पाती ?
 प्रीति करी क्या ऐसी ?
 मनबेजा घर बासी !
 यह क्या मनबानी सुधि—
 मुरली स्वर-कौसी ?
 डेर रहे घड़ी-घड़ी⁵
 बाँहें दो बड़ा तरी
 तीर-बाँध पाती ।
 बाँधो-हुल्लूम्य बलबि
 बीते ना-बबि कड़ि
 उपलें उतारती ।
 कैसे हूँ पाती ?
 क्या झरु, क्या मात बलें
 ये स्वासों की मुहरे,
 हाकें तो अपने को
 भीत तुम्हें बुहरे ।
 जब तो भय मूल चुकी
 डोकर यह शूल बकी,
 पीतों की बाली ।
 बारा में कागज की
 नाभें बहा की बैजू
 कहरें क्या लाती ?
 कैसे हूँ पाती ?”

(प्रकृतपावती)

ऊपर की पाठी प्रतीभातुर बसकल प्रेयसी द्वारा किसी निष्ठर प्रथयी को
 सिखाई गई है जो अनिचार्यता अपनी ही हीमावपूर्ति की प्रभावोत्पादकता के वैचित्र्य का
 सजीव सूत्र है किन्तु नीचे की बिट्टी भगवान की सेवा में प्रपित की जा रही है जिसका
 अतापता कुछ भी नहीं और मक्ति एवं प्रेम की आशा में विभोर उसकी कदमों और
 क्या की याचना में बड़ी ही मीठी-सादी अहजिम भावामिर्म्यजना है :

बिट्टी में लिख रही हूँ इसका जवाब बीजे ।
 जब तक हमें मिलोगे इसका पता तो बीजे ॥
 बिट्टी में अपनी लिखके किस किस पते से भेजूं ।
 वह कौनसी बगल है, हमको बता तो बीजे ॥
 अपना परिचय न दे रही हूँ इसमें शर्म ही क्या है ।
 गुनहवार न बहुत हूँ इस पर भी पीर कौरे ॥
 यह बर पड़ते-पड़ते कहीं एक न आइएगा ।

टकरा-टकरा कर जगसे हँस पड़ती थी ।

मानो कहती हो

'क्या मुझे न खाने बोपी ?

तुम बेबारी सिपर हो निरबल हो

नहीं तो छाय तुम्हें भी कै चलती

पर कक न सकूँगी—"

हुत गति से लहरावा यह मान नबी का

फिर बैग-सहित जल्लाह-सहित बढ़ती जाती जाये ।

देखा अब विस्तार भूमि का, पगु-पक्षी नर-नारी

बेग हुआ कुछ मन्त्र

अनायास ही बुद्धि मुझी,

पर छूट चुकी थी मोह पिता की ।

तब सिप्या आसरा कूलों का कुछ भीम साध है;

किन्तु अपल भी भरहुड़ भी बँचक भी सरिता—सहमी अमिनाया

मुसकापी फिर से बहु बाल-सुलभ-बिडबास सिप्ये मन में

संनिधि बन कूलों को बहु खली सहज जाये ।

जीवन कुछ हरा-भरा था

अप उठा स्नेह, भीरायें हृदय में ।

पाया आलय ककड़, कीचड़ सूखी डाली ने;

मुरझाए पल्लव तिरस्कार था तब का

आ छिपन उसके अंचल में ।

सरिता कुछ से बढ़ती जाती

सहता संसा ने प्रलय मजा ही दिया दिनारा कूलों ने ।

बिस्मित भोली सरिता

हाथ बढ़ाए, भय से कातर

उन्हें पकड़ने बीड़ी ।

घात हुआ बहु धाम्बीलन

फिर दिया सहारा कूलों ने ।

अब तमस खली थी सरिता भी जीवन की गति ।

गिरि की गोदी से उतर पड़ी थी जो तबेय

बहती है आज वही सरिता पीने-पीने

मगपर घनि से ।"

धंग पूजा हो गई बिश्वास की—
 बीतने पर भी तभी तो हार है।”

(देववती शुर्मा)

बीपावली के उपकल्प में ज्योति का वन्दन एवं अभिनन्दन करती हुई कचयिणी
 की उदात्त भावना देखिए

इस ज्योति का वन्दन करो !
 सी बार अभिनन्दन करो !
 जो रश्मि-रूप पर बैठ कर है आ रही बीपावली
 दुर्गम तिमिर पथ पार कर
 हर रोह में हर द्वार पर
 बड़ मुराका के दीप में बन ज्योति प्राणों की जली !
 मलय बन मम में खिजी !
 भू पर बहुत जपती मली !
 कूती निशा की डाल पर अम्बान सोने की कली !
 यह ज्योति का त्योहार है
 मानी तिमिर ने हार है !
 सत से असत को बीत जाग की कामना कूजो फली !”

(श्यामा सलिल)

‘सिद्धा’ में महिम्ना के मिष्ठ कचयिणी अपनी स्थिति का बोध कराती है

“राम के चरणों को छू कर एक धिला
 महिम्ना बनी
 इतलिये चरण बुझारा बे
 धो सिये पथ
 मच्छा हुंसा मने भी
 चरण तुम्हारे
 यदि धो सिये होते
 बुनिया की सारो मात्पताओं से दूर
 एठ स्वर्ग के बाब
 मात्र पत्थर तो न बनती ।

(श्यामा)

एग प्रकार जीवन की बहुकृपा और वैविध्य के आनन्दन के लिए नारी भी
 जगती ही सन्नाह और तन्पर है तथा पुरानी टेबनीक ब कय के प्रति अवज्ञा का दृष्ट

प्रकृति का महान् चितेरा—महाकवि कालिदास

अनन्तव्यापी प्रकृति का निस्सीम प्रसार जिसके विराट् विज-दृष्टक पर उक्त महाकवि के काव्य-सूत्र की अमित रेखाएँ खिंची और सगरा प्रेरणा के बसी मूठ हा जो अपने अतस् की आकांक्षाओं के तुमुक अंतर्निहाद को लेकर ससप्त एकात्म्य हो उठा। अस्मत् को स्पर्श करती उसकी सजगरत अनुभूति व्यो-व्यो अधिक गहरी और संवेदनशील होती गई उतना ही अन्तर्पट अनाभूत होता गया और रज्ज्वमय स्तर भेदकर उसकी अमूर्त्य विधियाँ किसी दुर्बार अंत-शक्ति से दृष्टि के सम्मुख बिलरती गईं। समूचे आवावरण में रमकर उसकी कसार्ने विस्फारित हुईं। मफायक जैसे प्रकृति की रयीमियों से आँस-मिचीनी सलते-सलते वह जो गया हो और अमिल से बल मिलकर उसकी लम्पता अधिक आयरक हो उठी हो। यों महाकवि कालिदास के जीवन-वर्षत की विभिन्न धेनियाँ हैं और इन्ही धेनियों के अन्तार उगका भावोन्मेष हुआ है।

प्रकृति अपने विस्तृत अर्थ में वह सब कुछ है जिसके प्रत्येक अक्षु-अक्षु का अपना इतिहास है। अतएव सौन्दर्य की इस सीलामूमि के मनोमुग्धकारी रूप ने सदा इस महाकवि के अन्तर को सफ़सोरा। प्रकृति के मव-नव रूप और उसकी समष्टि के प्रतीकात्मक प्रसार—नीलाम्बर, बरती की मनोमोहक हरीतिमा बहू उपवन नवी-भासे और पवत-समुद्र यहाँ तक कि छोटे-छोटे पेड़-पौधे और फल-फल तक ने रसानुभूति के माध्यम से उसकी गूहत् सत्ता का आभास कराया। मन की एकरसता उसकी प्रगाढ़तम अनुभूति और चरम आनन्द की पराकाष्ठा को उस सुपमा और सौन्दर्य बोध में लम किया जो सत्य धिव गुन्दरम् की ओर प्रवर्तित करने बाका है।

कवि की अतीन्द्रिय रसमिक्त भावना का भावक स्वप्न ही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकृति के उगुक्त ऐश्वर्य को विभात्मक रूप में बरप करता आया है। कारण—प्रकृति के विविध रूपों को अपनी कल्पना-रस से मंत्रित करने में वह जो गया। जीवन के राग-विराग प्रवृत्ति-निवृत्ति भोग एवं मवम को कभी अपन मुख को कभी पनी कर्पाति मिटाव को कभी सौन्दर्यबोध की अष्टम नलता पर कभी अपने दयावेद और सहज उत्पन्न-प्रियता को उजावर करने के निमित्त उन्हीं प्रकृति के रोजावा सुदृहाक और ममउ उपाशनों से उपात्मक सम्बन्ध जोड़ा उसके प्रति

जाहि नाटकों में ऋतु बिलास प्रकृति-वर्णन और निसर्ग की मनोरम स्त्रीकी बड़े ही भव्य और उदात्त रूप में मिलती है। न केवल वनस्थलियों के वृष्य सदा-बुद्ध फूल-पत्ते वृक्ष-नाटिकाएँ, नदी-निर्झर, पर्वत-समुद्र और वनन्त वन प्राण्य के व्यापक प्रसार का हमें वर्णन मिलता है बल्कि पद्मच्छतुरै—घीष्म वर्षा धरत हेमन्त सिधिर और बसन्त और उनके साथ ही जलग-जलग महीनों श्वेष्ट, आसाङ्ग सावम भावों क्वार, काठिक अमहन पूष माघ फल्गुन चैत वैशाख आदि मिल्न-मिल्न अवस्थिति और कार्य-म्यापारों का भी विशद वर्णन है। अपने लक्ष्य-काव्य 'ऋतु संहार' में बढसती ऋतुरै, उगना अंतरंग प्रभाव और भाव-संस्करण से समुचे वातावरण में परिवर्तन तो है ही बरन् इसके विपरीत मनुष्यों के आचरण और सूक्ष्म प्रतियामों तक पर असर बिलामा गया है। जैसे—बसन्त ऋतुराज है और सङ्ख सौम्योन्मास जागता है तो घीष्म प्रकर किरनों से सबको व्याकुल कर देता है। किन्तु घीष्म के बाद पावस अर्थात् वर्षा ऋतु ठपटी बरा का अपनी शीतल फुरहरी से शान्त करती है उसके बुल्ले प्राणों में मधुम्रीवन का संचार करती है। ऋतु संहार का समुचा बूझरा स्यं वर्षाऋतु के वर्णन में लिखा गया है। आषाढ के पहिने में जब बाबल उमड़ने-जुमड़ने लगते हैं पपीहा मयूर, कौकिल सारस बकोर, पारावत जाहि पक्षी आसा-मत्पासा से मँहू बाए आकाश को टाकने लगते हैं प्वासी भरती पैड़-पीके फूल-गली पशु-पक्षियों के बिपाद की भूमिका न बनकर उनके स्नेह-सिंचन के लिए तत्पर हो उठती है तभी उनके अपेक्षित गर्मों से सावर्म्म रखने वाली मानवी प्रम भाषा का सुजन कर हंस जैसे पक्षी को कमल-नालों का पावस कि मानसरोवर की ओर लड़ाया गया है। पवन की प्रेरणा से गतिमान मैघ जब आकाश में उड़ते हैं तो हँसों की पविठ भी उनके साथ साथ लँगी सी बसती है। वर्षा से रसयिक्त हो—

“विपन्न पुण्यां नक्षिनीं समुत्सुका
बिहाय भुङ्गाः धृतिहारिनिस्वगाः ।
पतन्ति भुङ्गाः सिद्धिवा प्रमुत्पतां
कलापचर्क्यु नदीत्पजाजया ॥

अभिराम बु बार करते उत्कण्ठित भ्रमर पभरहित कमलिनी का परिव्राम कर भीरों क पुच्छ-मंडल को ही भ्रमवण नए-नए कमल मानकर उस पर टट पड़ते हैं और विभोर हो नतन सा करते हुए बुमेर लाते हैं। वर्षा के प्रभाव से—

‘प्रभिल्ल बहुसंनिर्भनुवाङ् कटः
समाचिता प्रीरिक्त कन्दली दलैः ।
विमाति शुक्लेतररत्न ध्रुविता
बराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रवीपकः ॥

वर्षात् वर्षा से भरती की छटा कँची गिराछी हो गई है। बहु सवन बध रेपुति है वर्षा ने माना उसे इर ओर से भर दिया है। विस्तार क बाघ के अंगुर

पर्वत-समुद्र और न जाने कितनी अगमित वस्तुएँ जो महावाग में मिली हैं उनके लिए सहयोग से बीबन में स्फूर्ति और प्रेरणा भरने के लिए, उसे सत्य सुन्दर उदात्त और समृद्ध बनाने के लिए, यही नहीं अपितु हर कोण और हर पहलू से उसमें संपूर्णता जोड़ने के लिए महाकवि कालिदास ने प्रकृति वर्णन के रूप में जो महत्तर भावसृष्टि की है उसके कारण हम आज भी और जाने काले युगों तक अपने कपू वृत्त से ऊपर उठकर उसकी विषद् असीमता का आभास पा सकेंगे ।

सामने ही कुछ दूरी पर हेसते हुए समुद्र का व्यापक प्रसार,

पास ही बृहदाकार पर्वत जो घूमिष्ठ रंग और विभ्य वाता की तरकटा से
सिक्त मेघों-सा चमक रहा था

परायाहों और नीची सतह वाली जमीन पर घण-घातीन सहज मधुरिमा
का वाष्पावन

ओस कुहूत और पक्षियों का संपीठमय स्वर तथा खेत बोने के लिये श्रमिकों
का प्रस्थान आदि सब कुछ ध्यानवार था ।”

(“Magnificent

The morning rose in memorable pomp
Glorious as ever I had beheld—in front
The sea lay laughing as a distance near
The solid mountain ahove, bright at the clouds,
Grain-tinctured, drenched in emphrean light
And in the meadows and the lower grounds
Was all the sweetness of the common dawn
Dew vapours, and the melody of birds
And labourers going forth to till the fields. ”)

ज्यों-ज्यों कवि की बुद्धि का विकास होता है, उसकी सहज भावना की
सौन्दर्यानुभूति में प्रकृति सचेतन और सघ्राय हो उठती है पुनः उसी के साथ तद्रूप
होकर आत्म के सम्बन्धित होती है । धरती-धरती इस आत्म-चेतना के प्रसार में प्रकृति
सर्वचेतन हो उठती है और उस क्षण प्रकृति उसे अपनी ही चेतना का एकरूप और
समगति प्रतीत होती है ।

पृथ्वी और समुद्र समस्त दृश्य-जगत् और उसके समस्त फँसा हुआ अम्बुधि
का निस्सीम अन्त-प्रसार एक विचित्र आनन्दानुभूति से ओतप्रोत हैं । इतस्तत् बड़
की स्पर्श करते हुए मधु अम्बुधत प्रेम की सृष्टि करते हैं । आनन्द की अभिव्यक्ति में
बापी मूक है और पर्वत मौन । उसकी आत्मा इस दृश्य के सौन्दर्य-रस का आस्वादन
कर रही है । मन घटीर, प्राण—सभी तो उसमें विलय हो गए हैं उसका पार्थिव
घटीर ही मार्गों उसमें आ समाया है । उन दूरियों में ही वह खोमा-सा लड़ा है जहाँ
में उसकी चेतना और प्राण कन्धित हैं । ईश्वर-प्रदत्त गुणों में विभोर वह अपने अन्त
मार्ग की विचारों से निरान्त घूम पाता है, इनमें ही मार्गों के लो गये हैं । धर्मवाद
वह नहीं के सकता । छोड़ प्रकट करने में ही वह असमर्थ है । अपनी मूक अन्तर्चेतना
के एकरूप है वह उस परम शक्ति की अभिव्यक्ति में संलग्न है जिसने उसका सृजन
किया और जो उस विभ्य-प्रेम एवं ब्रह्मानन्द की अनुभूति कर रहा है जो प्रधंसा और
अनुभव से परे है ।”

“(Ocean and earth the solid frame of earth
And ocean a liquid mass in gladness lay

अच्छ भाव से बठीठ की मधुर स्मृतियों को गुबगुबा बेठी है। प्रेम की व्यक्ति के रूप में कवि अपने भावों को प्रकृति में प्रतिबिम्बित देखता है। प्रेम की वेदना का रूप यदि प्रकृति में है तो प्रेम की वृत्ति भी उसी में दिखाई देती है। कभी-कभी प्रकृति की विराट् शोड़ी में वह अपने भावों को भर सामने से हट जाता है।

“प्रधान्त

निरखल नीरव जल मेरे मस्तिष्क पर उत्साह का पुर्बह भार सा बनकर छा गया है और आकाश को पड़े कभी इतना सुन्दर न समा या मेरे हृदय में बैठकर मझे स्वप्न-विमोह सा बना रहा है।

(“The calm

And dead still water lay upon my mind
Even with a weight of pleasure, and the sky
Never before so beautiful, sank down
Into my heart, and held me like a dream.”)

सब तो यह है कि प्राकृतिक सौन्दर्य एवं सौम्यता की उपासना में अहमिष्ठ निरत बड़े-सबसे ने सुन्दर एवं सरस भावों की कड़ियाँ पिरो कर अपने काम्य को उभाया है। उसकी अन्तर्हित भावनाएँ प्रकृति से उत्पन्न हो मार्गों साकार हो उठी हैं।

“अप्रकृत का सुन्दर, स्वच्छ प्रभाव है। यह नदी अपनी सबाक्य उद्गामता से पवित्र जीवन की मरमाटी बाध से प्रवाहित हो रही है। नदी के प्रबहमान जल की प्रतिध्वनि वास्तविक वायु में या विनीत होती है। सभी समीप वस्तुओं से जानकर और आकाशा आसार्ण और इच्छार्ण अव्यक्त ध्वनियों की शक्ति फूटी पड़ रही है।”

(“It was on April morning fresh and clear
The rivulet, delighting in its strength
Ran with a youngman's speed and yet the voice
Of waters which the river had supplied
Was softened down into a vernal tone
The spirit of enjoyment and desire
And hopes and wishes from all living things
Went circling, like a multitude of sounds.”)

धीमे-धीमे मनहूस शब्दों का वर्णन करते हुए कोई भी कवि प्रकृति के उत नाना रूपों एवं रूपों तक नहीं पहुँच पाया है, जिसका वर्णन बड़े-सबसे की कविताओं में बनाया ही मिलता है।

“उत्तरी मेंदान स्वच्छ हवा में उठता हुआ दूर तक गहरा जा रहा है। कुछ दूरे बादलों की पिठलवी छाया पृथ्वी की सतह को चितकभय सा बना रही है।”

“(The northern downs

In clearest air ascending, showed far off

Hath had elsewhere its setting,
 And cometh from afar
 Not in entire forgetfulness,
 And not in utter nakedness,
 But trailing clouds of glory do we come
 From God, who is our home ;
 Heaven lies about us in our infancy ;
 Shades of the prison house begin to close
 Upon the growing Boy
 But He beholds the light and whence it flows
 He sees it in his joy
 The youth who daily farther from the East
 Must travel, still is Nature's Priest,
 And by the vision splendid
 Is on his way attended
 At length the Man perceives it die away
 And fade into the light of common day)

अमृत और साक्षर अन्तःप्रकृति में समकर बर्षावर्ष की वरुणा का प्रसार इतना व्यापक हो गया है कि तुच्छ से तुच्छ उपकरणों में भी उसे बिछा दूँ छाया छूट पटाही मखर माटी है। लूसी ग्रे (Lucy Gray) की निम्न पंक्तियों में कवि के कोमल हृदय की मड़कन सुन पड़ती है।

‘सम विषम पथों पर भटकती हुई वह बिना पीछे मुड़े एकाकी गीत गाती है, जो वायु के स्तरों में ध्वनित होता रहता है।’

4 ('Over rough and smooth she trips along
 And never looks behind
 And sings a solitary song
 That whistles in the wind.)

कवि के लिये व्यक्त सत्य है—प्रकृति और मानव। इन्हीं के आध्यात्मिक प्रणय का रूप उसे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं से अग्रभूत रूप-स्वापार उसके हृदय पर नाभिक प्रभाव डाल कर उसके भावों का प्रवर्तन करते हैं। इन्हीं रूप-स्वापारों के भीतर उसे भवबहीन कसा का साहाय्यकार होता है, इन्हीं का सूत्र पकड़ कर उसकी भावना अम्यक्त सत्ता का अमान पाती है। प्रकृति के रोम-रोम में कच-कच में एक दिव्य अलौकिक दमिष्ठ सन्निहित है। उसकी दृष्टि में प्रकृति निर्जीव नहीं प्रत्युत्त जीवित एवं संपन्न है। वह मनुष्य कदुःख-मुग में यौग हैनी है। वह उसके साथ राठी है, हँसती है। वह उसकी महत्वाकांक्षाओं दुर्बलताओं इच्छाओं वेदनाओं तथा मुर्खों में तर्क साध रही है। एक स्थल पर वह वहता है

महाकवि गेटे के दार्शनिक विचार

महाकवि गेटे के मन में व्यक्ति के आत्मविकास की सम्भावनाएँ परिस्थितियों की विषय स्वीकृति नहीं बल्कि उसकी अपनी पूर्णता की प्रक्रिया हैं क्योंकि वह अपने कितने ही प्रयत्नों को अहनिष्ठ पूर्णता की ओर उत्प्रेरित करता रहता है। उसकी विद्वत्स्वात्मक वृत्ति आंतरिक साक्षात्कार से यतिधीन होती है और उसकी इस अभीप्सा और संसक्ति में ही विश्वसृष्टि का आदिम अंकुर छिपा हुआ है।

यों सांगोसांग रूप में अनेक कोष एवं आध्यामों में रह कर जीवन-परतने से जीवन का वैविध्य कैसा असीम सीमा पड़ता है ? कितने अनबुझ प्रयत्नविन्तु सामने आ सके होते हैं ? भावसत्ता के माध्यम से छिन्न आकांक्षाओं के तानबाने के रूप में न वे हुए जीवन के वैमिश्य प्रकट होते हैं तो सपता है कि गेटे जैसे छबे कसाक्षिणी की अनुभूतियाँ कितनी संवेद्य कितनी प्रेयणीय हैं। एक स्थल पर :

“मनुष्य का जीवन क्या है—एक भ्रामक, मिथ्या स्वप्न कितने ही व्यक्तियों में इस बात को समझा-बूझा है और मैं स्वयं इसे बसूबी अनुभव कर रहा हूँ। जब मैं सोचता हूँ कि हमारी सक्रिय जिज्ञासु प्रवृत्तियों की पंथ कितनी स्वल्प कितनी संकुचित परिस्तीमा में है तब तब ही यह वैषयता हूँ कि हमारी कार्य-प्रवृत्तियाँ किस प्रकार व्यर्थ के प्रयत्नों में रमी हैं कि जिनका अतिव्यय परिचाम यह होता है कि वे जहाँ की स्थायिता के प्रयास में रूप जाती हैं, तब वे मूक और अज्ञान ही जाता हूँ। मैं अपने 'स्व' का विद्वेषण करता हूँ और वहाँ एक ऐसी दुनियाँ पाता हूँ जिसमें सारासत आचरक आह्वान के बरसे भूमिस इच्छा-आकांक्षाएँ और कल्पना का गुबार उमड़-पुमड़ रहा है। तब उस क्षण मेरे गर्भों के तमस मानो हर वस्तु तरने लगती है और संसार के मिथ्यात्व में घोया हुआ मैं महज मुस्कराता और स्वप्न वैषयता रहता हूँ।”

मनुष्य की सबसे बड़ी कमबोरी है कि वह बौद्धिक तन्त्र के मोह में फँस पाता है और उसे मित-नर्त घोत्र और दिमानी कसरत में बड़ा रस आता है। चिन्तन-मनन द्वारा नहीं बल्कि कमी-कमी नितांत उबसी और हास्यास्पद जिज्ञासा का प्रभव के वह चिन्तनी के ऐसे अटिस एवं यम्भीर प्रस्नों का समायान घोत्रता है जिसे मनुष्य की बुद्धि अपना तर्क से परे सामान्य व्यवहार के स्तर को भेदकर सरय

—यह कह कर कि मैं उसमें विश्वास नहीं करता। वह सर्वसम्पन्न परमेश्वर क्या भेदे, तेरे और समस्त ब्रह्माण्ड अणु के रूप में व्यक्त नहीं होता? क्या हमारे ऊपर आकाश नहीं है, क्या हमारी दृष्टि के समस्त पृथ्वी का अनन्त प्रसार पैसा हुआ नहीं है और क्या हमारे चिरोँ पर मित्र की जाति मुस्कराते चाँद-सितारे मित्य ही उचित नहीं होते? मुझ से मुझ नेत्र से नेत्र हृदय से हृदय और तेरा-मेरा साक्षात्कार होने पर क्या उसकी परोक्ष-अपरोक्ष सत्ता का आभास नहीं होता और क्या इस प्रकार तेरे-मेरे जीवन के अतुल्य क्षिप्रे हुए बुद्ध-अबुद्ध रजस्य का उद्घाटन नहीं हो जाता? उसकी शक्ति अपरिमेय और अचिन्त्य है। उस अम्यक्त सत्ता की अक्षेतन अभिव्यक्ति को अपने हृदय में अनुभव कर। जब तेरा हृदय विष्य रत से आत्मावित हो जाय तो उसी ब्रह्मानन्द अर्थात् प्रेम और ईश्वर की नितावित होती हुई अनुकम्पा समझ।”

ईश्वर कोई स्वक या सहज ही इन्द्रियगोचर होने वाली वस्तु नहीं है, वह तो भीतर ही भीतर समस्त सत्ता या पूर्ण सत्ता का एक तट्ट साक्षात् ज्ञेय है। इस गहरी दृष्टि का रजस्य है कि मूढबल तर्कों की ठह तक पैठ सके। बाहरी तीर पर इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं बल्कि असीम और अनंत का सम्पन्न ज्ञान—जो धर्मित है प्रेरणा है और तत्वीय स्वक्य है—इसी की व्याख्या में गेटे ने लिखा

“कौन वह शक्ति है जो हृदय को आन्वोमित करती है और जिससे समस्त तर्कों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है? क्या यह उस समस्वरता के अतिरिक्त कुछ और है जो हृदय में प्रकट होकर सारे संसार को उससे समन्वित कर देती है। जबकि प्रकृति बरसे पर अनवरत वर्तमान घाये को अनायास कासती जाती है और सम्पूर्ण सृष्टि की समस्तों का शांसावात परस्पर टकरा कर भीषण झूहास करता है, तब कौन उन्हें जीवनदायी प्रबहुमान स्वरसरणियों में सन्निवत कर्ता है जिससे वह सुस्वरता से सम्पन्न हो जाता है। पुनक-पुनक विभूक्त, विभक्त सत्ताओं को सबध्यापी पावनता के लिए कौन आह्वान करता है जिससे कि वे अचिन्त्य समस्वरता के साथ प्यनित हो उठती ह। वह कौन है जो प्रबल मनोवेनों के अंबड में अकबा आत्मा की दुर्भेद्य गहनता में सौध्य अहनिमा का आशोक भर देता है तथा सुखद अमल की अर्द्धस्फुट कसिकाओं को प्रेमपत्र पर बिलौर देता है?

माह ! म अणु की उस त्रिगुण शक्ति को पहचान सके और समग्र विवायक-परित एव मूक बीज को जोर सक तथा कोरे घग्घाडम्बर से मुक्त ही जाईं।

अनन्त प्रकृति ! क्या मैं तुझे स्थायत कर पाऊँ ना ?”

दरमत्तन मनुष्य में स्वसत्ता का अर्हकार इतना प्रबल और उद्दाम है कि वह अपने समग्र चिरी को नहीं आँकता। यही एक कि वह भगवान तक को चुनौती देता है। इसी पात्र से प्ररित होकर गेटे ने लिखा

“अपने को परमेश्वर का प्रतिरूप मानकर म यह समझ बँटा जा कि मैं समस्त

—यह कह कर कि मैं उसमें बिबाध नहीं करता। वह सर्वसञ्चितमान परमेश्वर क्या मेरे तेरे और समस्त ब्रह्मण्ड के रूप में व्यक्त नहीं होता? क्या हमारे अन्तर आकाश नहीं है क्या हमारी बुद्धि के समस्त पुष्पी का अनन्त प्रसार कैसा हुआ नहीं है और क्या हमारे सिरों पर मित्र की भाँति मुक्कुरते जाँव-सितारे नित्य ही उदित नहीं होते? मुँह से मुँह नेत्र से नेत्र हृदय से हृदय और तेरा-मेरा साक्षात्कार होने पर क्या उसकी परोक्ष-अपरोक्ष सत्ता का आभास नहीं होता और क्या इस प्रकार तेरे-मेरे बीच के अतुल्य सिपटे हुए बुध्य-अदुष्य रहस्य का उद्घाटन नहीं हो जाता? उसको धर्म अपरिमेय और अधिमय है। उस अव्यक्त सत्ता की अचेतन अभिव्यक्ति को अपने हृदय में अनुभव कर। जब तेरा हृदय विष्य रस से आप्लावित हो जाय तो उसी अज्ञानस्थ अवधि प्रेम और ईश्वर की निरावृत्त होती हुई अनुकम्पा समझ।

ईश्वर कोई स्वरूप या सृष्टि ही इन्द्रियगोचर होने वाली वस्तु नहीं है, वह तो भीतर ही भीतर समस्त सत्ता या पूर्ण सत्ता का एक तरह साक्षात् उन्मेष है। इस गहरी बुद्धि का रहस्य है कि मुक्तावृत्त तत्त्वों की तरह एक वृत्त सके। बाहरी तीर पर इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं बल्कि अतीत और अनंत का सम्यक् ज्ञान—जो अविद्य है, प्रेरणा है और तमीय स्वरूप है—इसी की व्याख्या में गेटे ने किया :

“कौन वह अविद्य है जो हृदय को आम्बोक्ति करती है और जिससे समस्त तरबों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है? क्या यह उस समस्वरता के अतिरिक्त कुछ और है जो हृदय में प्रकट होकर सारे संसार को उससे समन्वित कर लेती है। जबकि प्रकृति बरसे पर अनवरत अज्ञान भावों की अनायास कस्तती जाती है और सम्पूर्ण सृष्टि की उत्सवों का संसाधन परस्पर टकरा कर भीषण अड्डुहास करता है तब कौन उन्हें जीवनदायी प्रबहुमान स्वरसरभियों में सविभक्त करता है जिससे वह सुस्वरता से सम्पन्न हो जाता है। पृथक्-पृथक् विभूक्त विभक्त सत्ताओं को सर्वव्यापी पावनता के लिए कौन आह्वान करता है जिससे कि वे अधिमय समस्वरता के साथ ध्वनित हो उठती हैं। वह कौन है जो प्रबल मनोवैभों के अंकुश में अथवा आत्मा की दुर्भेद गहनता में साध्य अधिमया का आलोक भर देता है तथा सुखद वसन्त की अर्द्धस्फुट कलिकाओं को प्रेमपत्र पर बिजोर देता है ?

आह ! मैं अमन् की उस निपुण अविद्य को पहचान सकूँ और समग्र विवाद्यक-अविद्य एवं मूक जीवन को जीवन सकूँ तथा कोरे अम्बाइम्बर से मुक्त हो जाऊँ।

अनन्त प्रकृति ! क्या मैं तुझे स्वागत कर पाऊँगा ?

दरजसक मनुष्य में स्वयत्ता का अहंकार इतना प्रबल और उग्राम है कि वह अपने समग्र किसी को नहीं आँकटा। महीं एक कि वह भगवान एक को चुनीली देता है। इसी भाव से प्रेरित होकर गेटे ने लिखा

अपने को परमेश्वर का प्रतिरूप मानकर मैं यह समझ बैठा था कि मैं समस्त

कॉप, जिसमें कल्पना स्वरचित पत्रपत्रों से पीड़ित होती है। आयातपूर्वक उस घाटी की ओर बढ़ भक्त जिसके सङ्कुचित मुख के चतुर्दिक गरुड़ की छपटें प्रदीप्त हो रही हैं। जैसे बिनाम का भय ही परिणाम क्यों न हो तो भी उन्मात्तपूर्वक एकदम से इस मार्ग को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो जा।

संतोष की प्रबल आकांक्षा होती हुए भी संतोष का भोत हृदय में बरपस फूट नहीं पड़ता। यह धरिता इतनी भीम क्यों सूख जाती है कि हम प्यासे ही रह जाते हैं ? भोकोत्तर प्लुत्य का महत्त्व ऐसी ही अकस्मा में हमारी समझ में आता है और हम पावन आह्वान की ओर उत्कण्ठित हो जाते हैं, ओ और कहीं भी इतनी क्षमता एवं सुषमा के साथ भासमान नहीं होता—अंता कि नवीन साव्य में। प्रजात काल में मे भय से काँपता हुआ उठता हूँ और दिन का बर्धन करके मुझे रोना आता है क्योंकि वह अपन मनबलत बच में एक भी आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सकता। इतना ही नहीं वह आनन्द के पूर्वाभास तक को पुराग्रह द्वारा घटा देता है और क्रियाशील हृदय की उमड़ती हुई रचनात्मक प्रवृत्ति के मार्ग में व्यवधान उपस्थित कर दिग्ग्न डाल देता है।

मैं तो अपना जीवन उद्दाम उद्बेग बच में धन्वनामय उन्माद में स्नेहपूर्वक घृणा में स्फूर्तिदायक उपेक्षा में परसर्प कर देना चाहता हूँ। ज्ञान की पिपासा से तुप्त हुआ मेरा हृदय भविष्य में किसी पीड़ा से पुबक नहीं रहैगा—मानव मात्र के भावबोध को मैं अपने अन्तरगत में भोगना चाहता हूँ। महान् से महान् और शुद्ध से शुद्ध को मैं अपनी धारणा द्वारा ग्रहण करना चाहता हूँ और सबके सुख-बन्ध को अपने अंतर में राक्षित कर लेना चाहता हूँ ताकि मेरी आत्मा उन सबके समान विद्याक होकर अन्त में उन्हीं के समान छिन्नमिन्न हो जाय।

साहसपूर्वक निर्भय सामास्य को बुद्धतापूर्वक पकड़ कैता है, फूट कर जाने नहीं देता तब चूँकि संभव को करमा अभिचार्य हो जाता है वह उतको पूर्ण करके ही मानता है।”

‘स्व’ का विवेक होने पर अंतर्निरीक्षण द्वारा यह महान् तथ्य हमारे समक्ष उभर आता है कि आत्मा क्या है। आत्माएँ उत्पन्न एक है तो उनमें यह वैषम्य यह पार्थक्य और भेदभाव क्या ? यदि बाह्य उपाधियों के कारण य भेदभाव और पार्थक्य हैं तो वस्तुतः ये उपाधियाँ क्या हैं ? क्यों अवांछित रूप से वे आत्मा से संस्मिष्ट हो जाती हैं और किन परिस्थितियों में उस अपनी अकृद्बन्धी में बाबद्ध कर लेती हैं ? जैसे उनसे छुटकारा निकलना संभव है ? वह कौन सी महत् शक्ति है जो उसकी सीमाओं और विषयताओं के बावजूद शिक्षा-निर्बंध को उसे जागे बढ़ाती है ? इन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजने के लिए नेटे ने इस महत् शक्ति को सम्बोधन कर लिखा

‘ओ महत् शक्ति ! मैंने जो कष्ट पाने की तुझ से प्रार्थना की थी तूने मझको वह सब प्रदान किया। तूने अग्नि की छपटों में अपनी आकृति का बर्धन यों हा ध्येय

प्रबलमान बुद्धिगत होती। पश्चीर पक्षरों सङ्गित पक्ष-भेदियाँ मेरी विषयपति को न रोक पाती। आत्मोक्त-मण्डित सागर अपने बस-स्वक को मेरी बुद्धि के सामने कला देता। ऊपर अनाम आकाश है और नीचे सागर की लहरें। कैसा मनोरम स्वप्न है, पर शोक कि बहिक पक्ष मानसिक पक्षों के समान हल्के-फुल्के नहीं हो सकते। तो भी लया नील पवन में गूबने वाला गीत गाता है तब उषण देवदास के अमैय विस्तीर्ण में पक्षों वाली नील मेंडरती है। अब कौन साइलों और सागरों को पार करता हुआ अपने भीड़ की ओर उड़ने का प्रयत्न करता है तब प्रत्येक मानव-हृदय में पुष्पी से हुए ऊँचे उड़ जाने की उत्कण्ठा जगा करती है।”

अंततः सर्वात्मा सन्निधानं वन में ही समस्त ज्ञान-विज्ञान भक्ति एवं दर्शन की अखण्ड साधना व्यप्याहृत है। उससे परे है ही क्या? सचमुच वह सर्वव्यक्तिमान परमेस्वर ही सब कुछ है—‘सर्वं अस्मिन् ब्रह्म उषी से सब उत्पन्न होते हैं, उसी से पुष्ट होते हैं और उसी में लौटकर समाहित हो जाते हैं। तो यह है क्या नीच? यथार्थतः यह आत्मा ही ब्रह्म है। उसमें और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं। अतः स्वयमेव ही पहचानो। अपनी आत्मा को इतना ऊँचा उठानो जिससे सर्वाङ्गीण रूप में उसका पूर्ण परिपाक हो सके। अब तर्क यह जाता है स्वयं अस्मिन् होकर उगमवाने लया है और आत्मा में लया का तिभिर छा जाता है तब उसी का आलोक तो भटके हुए को गतिमान करता है। अतएव हुए स्थिति में परमेस्वर की व्यम्बना ही जीवन की सार्थकता है।

किन्तु यह साहस है कि उसका नाम से? कौन यह सोचना कर सकता है कि मैं उससे विश्वास करता हूँ। कौन अनुभव करने वाला यह कहने का साहस कर सकता है कि मैं उसको नहीं मानता। वह सर्वात्मा सर्वव्यापक क्या तुम्हें-मुझे और स्वयं अपने को घेरे हुए और पारण किए हुए नहीं है? क्या गुम्बर के अदृष्ट आकाश हमारे ऊपर नहीं जया हुआ है? क्या नीचे बरा स्थिर नहीं पड़ी है? क्या सनातन सौहादपूर्ण तारिकाएँ हमारी ओर ताका नहीं करती? क्या तेरी निश्चित भावनाएँ हृदय और मस्तिष्क की ओर उमड़ कर तेरे चारों ओर सनातन प्रत्यक्ष और परोल रहस्य के द्वार तानाबाना नहीं बुनती। यसा महान् है यह अपने हृदय को उससे परिपूर्ण कर के और अब तू पूर्णतया उसे आत्मसात् कर से तो तू उसको ही नाम चाहे दे बालना, चाहे उसको ईश्वर मानना, चाहे हृदय। चाहे प्रेम चाहे परमेस्वर। मेरे पास उसके लिए कोई नाम नहीं है। भाषानमक ही सर्वस्व है नाम और उपाधि तो उस स्वयिक अन्ति को घुमिळ करने वाला बुझा और नाब मात्र है।

सर्व स्थापित करके ही एक महीन आयासहीन संवेदना की मुखरित किया था।

टास्स्टाय की विवेकशीलता ने काव्य-ग्रंथों में स्वाधिकस ज्ञान के साथ-साथ सांगोपांग सरसता और स्रित का भी समन्वय किया। इस महान् कवक ने कस के पुरुष और नापी के राष्ट्रीय चरित्र का पूर्ण बिस्लेषण कर उनके सताभिर्यों से बंधे आ रहे स्वतन्त्रता-संघर्ष को चित्रित किया। न सिर्फ उनकी स्वतन्त्रता उनकी समृद्धि और फौजद की ही सक्ति के लिए ही उसकी लेखनी न मार्ग प्रसस्त किया बल्कि उस संघर्षा महीन पक्ष की सीरु पकड़ने का भी संकेत किया। जहाँ संघ-स्मापना की पुच्छभूमि में एक दृहद् गानवबाही भावना पनप रही थी। बाब में धार्कनिक आन्दोलन के साथ-साथ उसने कृती क्पान्त का पुच्छ भी खोला और समकालिक समाज के जीवन का मर्मसाक्षी चित्राशन प्रस्तुत किया। आधी से अधिक सताम्बी तक टास्स्टाय की दुड़ और सत्पवापी धाबाज संसार भर में गू बठी रही—पू बीवाही वर्य की पंसाची कृति के बंध को तोड़ती हुई और उनकी बालम बन्धुदप की क्पाहिष्ट या इस संहिता और तमाम 'सम्पता' की तकाब में पाकष्य और क्क-कपट की परतों में डकी ससता व कू सार बनाचार का पराफास करती हुई।

टास्स्टाय के विषय में प्रसिद्ध है कि यदि बन्धु विद्वाओं का कृतित्व बाढ़ें तो उनसे दुगुना उस एक क्वक्ति ने बकेले ही लिखा। साठ बर्य तक वह कस में मूमता रहा तमाम चीकों को बेसते हुए—गाँवों-गाँवों में गाँवों के स्कूओं में 'बेकों और हुवाकाओं में अपराधियों और कैंबियों की कोठरियों में कैंबिनट मंत्रियों और बधिकारियों के आमोब-स्वलों में राज्बपाओं के बस्तरो में किसान और मसहुरों की सोंपत्रियों में पैंसनपरस्त स्त्रियों के द्राग क्मों में न बाने कहीं-कहीं और क्कन-क्कन के जीवन में झक कर उसने अपने जनमकों को बठीर। अपने उबार दृष्टि कोण और मिठ-नई परिस्थितियों में निरखने-नरखने और उसमें से कुछ पा खेने की प्रकति के कारण उसने क्कतनी ही समस्याओं से संबेस संघर्ष किया।

टास्स्टाय ने जो मार्ग बनता के सामने प्रसस्त किया था वह बरत्यन्त कष्टप्रब था क्योंकि उसका जीवन और कृतित्व प्रतिकक धारामों में बँटा हुआ पेंचीया सामा बिक उबल-मुबल का परिचायक था। बससी-किरती ठावी बटनाओं ने उसका प्यान बँटाया और इन्हीं बटनाओं के माप्यम से उसकी सारी आबानी भियाओं का सुबपात हुआ। वह महान् ककाकार, जो बन्धु से ही जीवन का प्रेरक रहा सनी-सनी सोवित बर्य का रसक और बेमेक प्रतिद्वन्द्वियों का भसक बना। साथ ही साथ समस्त राजकीब सामाबिक और आबिक सगठनों का—जो बेसहारे निर्बन किसानों को बूसना और कटना ही बानते थे—उनका एक सलक आलोचक भी बन गया। टास्स्टाय ने समय की बिसा-दृष्टि को मोड़ा और तमाम परम्परागत बन्धुविस्थाओं को तोड़ डाला।

'मैं जीवन के वाबरे को अपने में समेटने की कोबिस करता हूँ।' टास्स्टाय ने अपनी एक पुस्तक 'कनकेसन' में लिखा है। 'मे इस नटीबे पर पहुँचा हूँ कि यह जीवन नहीं है, बल्कि यह जीवन की बिबन्धता है और एक क्किस्य का ठिरस्कार था

आज बाइक है और वह रचना उन्हें हुआएमी स्लाएगी तो में उसको लिखने में अपनी पूर्ण धरिण और सारा जीवन समा हुआ

बिस्व में कलाकार जितना ही मनीन है उतना ही पुराना भी । वेस काछ और परिस्थितियों के अनुसार उसके बिचारों में परिवर्तन तो होता रहता है, किन्तु उसके सुबन द्वारा जो सहुन चिरत्व की स्थापना होती है वह बरीठ बर्तमान और भविष्य के छोरों को एक साथ जोड़ देती है । आत्मवेत्ता कलाकार बर्तमान की भीर्यता को एकदम पहचान लेता है और बिभिन्न स्तरों पर जो सपातप्य है उसी को 'आधुनिकता' का घुट बेकर भूत-भविष्य के संदर्भ में प्रविच्छित करने का प्रयास करता है । एक स्वस पर

'कलाकार जो कुछ भविष्यभूत करना चाहता है उसे पूरी तरह प्रकट करने के लिए उसके पास हुनर होना चाहिए । हुनर प्राप्त करने के लिए उसे थमपूबक काम करना चाहिए ।

कलाकार को अपने हृदय की पहचानों से लिखने के लिए अपने बिषय में मगन होनी चाहिए । इसकिए उन बिषयों के बारे में उसे कुछ नहीं कहना चाहिए जिसके प्रति वह उबासीन है । किन्तु जिन बातों को वह हृदय से चाहता है उनके बारे में उसे खमपय सिखना चाहिए ।

कला की उत्पत्ति के लिए य तीन आवारमूठ आवश्यकताएँ हैं और अन्तिम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । इसक बिना खबरा बिषय की कपम के बरीर कला का कोई कार्य सम्भव नहीं ।

लेखक बनने की स्वाहिस तो होती है, पर लेखक बनने के लिए उसे क्या साधना करनी चाहिए, चारों ओर दिशा न काछ की परिधि में किस प्रकार अपने हर एक-एक खन को चिरन्तनता में बाँध देने की उत्कण्ठा होनी चाहिए खर्बत् कोई पूछे चिरन्तनता क्या ?—तो वह लेखक के स्वयं को बिमोर न थमय करने वाला मन का पूर्णत्व है जिसका अल-अणु, कप-कण—दिशा और काछ के परे—समय के चिरन्तन प्रवाह में धम हो जाता है । अपने मित्र को लिखे एक पत्र में टास्वटाय ने रचनाकार या लेखक के सम्बन्ध में जो उद्गार व्यक्त किये वे निम्न हैं

मेरी समझ में प्रथमतः व्यक्तित्व को ठक सिखना चाहिए जब उसके वे बिचार जिन्हें वह व्यक्त करना चाहता है इतने प्रबल हों कि उन्हें शब्दों का रूप रिय बिना वह उनसे छुटकारा न पा सके ।

लेखन के अन्य कारण (उदाहरणार्थ महत्वाकांक्षा या आर्थिक बिबसता) लेखन के मुख्य कारण (खर्बत् धारमामिब्यक्तित्व की अनिबार्यता) से सम्बन्धित होठ हुए भी लेखन की ओच्छता एवं ईमानदारी को प्रच्छ कर बने । इनसे सवेच्छ रहना चाहिए ।

दूसरे, वह बस्तु जिससे प्रामः ही वास्ता पड़ता है और जिस के लिए कई सम-काशीन लेखक भी दोपी है उनकी यह कामता है कि दूसरों से मिला एक मीकिक लिखा

बसता रहा। मानव-संहार, हिंसा और रक्त-पिपासा हर काल और हर परिस्थिति में पाहित है, अतएव ध्वज सं निर्माण की ओर प्रेरित होना भयस्वर है। फलतः 'निर्जनजन' में उसने युद्ध के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किये। एक साहित्यकार को विनाश के भीतर से कीनसी उपलब्धियाँ हो सकती हैं। इसलिए बतियायी तौर पर संकुचित बुद्धि स्वार्थ और अनाचार की भावना से पूबकू भीने की कला विकसित होनी चाहिए। मानव-एकता और समग्र सामाजिक प्रगति के लिए अजायबीय तर्कों का मूलोच्छ्र कर भौतिक कस्याण और विश्वसान्नि की ओर अग्रसर होने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उन्ही दिनों की अपनी बापरी में उसने लिखा

“मेरे हृदय में यह भावना प्रबल हो गई है कि मैं अपने समस्त जीवन को इस नवीन धर्म के लिए बलिदान कर दूँगा। यह नवीन धर्म अप्रतिरोध विश्वबन्धुत्व और विश्वसन्धि की ओर प्रेरित करने वाला होगा।

और अभी से युद्ध के विरुद्ध विश्वव्यापी युद्ध लड़ने की वैचारिक चान्ति ने उसमें सत्य और दार्शनिक बुद्धि की प्रकृता अगई। उसके विचारों ने अपने अमान पर पबर्नस्त छाप डाली और अपने जीवन टाक में ही वह मानवता के पातिभूत के रूप में जन-मानवताओं को दूर तक समेट ले गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसके विश्वास अधिकाधिक पट्ट होकर फलीभूत हुए। उसे बेस के साथी जीवन में एक महान् परिवर्तन का पूर्णमास हो गया था। अतः उसकी यह आदरकृता ही उसकी आरणाओं को नित-नव विकास की सीडियाँ बढते हुए इतनी दूर तक ले गई जहाँ खोजतान और अग्रमक्रण से परे नय सिन्ध और नई कपन भविमा को उभार कर उसमें सामल रखा। अग्रवाद, सधु मानववाद और अहता मभोवुतियाँ किमी हव तक धम्म मान थी जामें किन्तु वे अधिकाधिक गहरी जड़े अमाकर हमारे जीवन की अकुलता को काहिषी उदासीनता और सङ्को-गली उकताहट की मनुहसियत में न समो ले—यह संखना है। अग्रसस सधे कभाकार की मूषी है कि इस ऊद और उदासी में ही अमर विश्वास के स्यवर्णों का उसे आमास मिलता रहे।

स्वयंसेनि ने टास्मटाय को एक सधे कलाकार के रूप में देखा जिसने मनुहदयता से प्रताड़ित और खोपित मनुहून बर्ष की आघातों का संजीव विषण किया। छनिन न टास्मटाय पर अमक खेव किख।

सेनिन ने एक स्वर पर कहा है— ‘टास्मटाय बड़ा था बहुत बड़ा। उसने मेरे-मेरे विचारों और माओं को प्रस्तुत किया है जो करोड़ों क्सी कितानों में अम अके व वे भी उस समय जबकि अधिकात्य आन्वोत्तन रूप में अपने पूरे खोरों पर था।’

टास्मटाय की बापरी का एक पृष्ठ का अकनुबट, १६ ५ में किता गया था कर्न घर के क्सी आन्वोत्तन की अन्न-अों का विशसंपण प्रस्तुत करता है।

“मैं इन काखों-करोड़ों के बीच में सं खेवता हूँ टास्मटाय न १ १ में अपने एक पत्र में लिखा। इन काखों-करोड़ों की ओर से और इन्ही का पक्ष खेते हुए टास्मटाय न अनी-बर्ग की अरपत्त कट्टु आकाशना की। अधिकात्य ‘सम्यता’ अकना कला

जागे मसाल दिखाती हुई खजान बासी सबाई है। जीवन की कसीटी पर बही साहित्य का उतरेगा जिसमें स्वस्य चित्त हो स्वात्म का पोषक भाव हो। चीन्म का सार हो मुक्त की आत्मा हो जीवन की सबाइयों का प्रवास हो—जा जीवन में गति के संघर्ष चीन्म की प्रतिधिया उत्पन्न करे हम पस्त न करे अपितु आमकक बनावे। कला के खल्ल प्रसंग मानवधर्मों का स्पष्टार किया जा सकता है किन्तु उनके द्वारा कला और लोक जीवन में ऐसी निकटता और सामीप्य छाया जा सकता है जिससे कला को तो संघर्षन प्राप्त हो और साव ही लोक-जीवन भी समृद्ध होता चला जाए। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगम की हमारी मानवता को संघर्ष करने की हमारी रसिकता का तृप्त करन की शक्ति होनी चाहिए। बाल स्टूट के साहित्यिक विद्यपदाने 'कयी पद्मपत्र कारियो से मिलकर हम संसक की रचनाओं को अस्मीक व समग्र साहित करन का प्रयत्न किया। समूह टास्सटाय की समता को प्रसन्न रूप से पेश किया उसकी कला बसाता को मिथ्या और इकोमका बताया और पू जीवाठ समाजवादी प्रवृत्ति की शिक्षापत को कल्पित और बकवास समसा। उनका कहना है कि संसार जिसे मानव-जीवन का चिह्न और जिसकी सबक ससनी का पू आबाव का सहारक बताया है वह उतना अधिक बारी कसीटी पर गहा उतरता वह ही कैबल सगठित सरकार की क्याली उद्धानों में ही रचना जानता है।

अमेरिका के प्रतिधियावादी आलोचकों ने न केवल टास्सटाय की निन्हा की वरन् अपने हिमायतियों के पुच्छसे वन समक अविस्मरणीय सपग्यासों तक को 'जीवन का अवास्तविक मूल्याकन' करार दिया। बार एण्ड पीस' का रचयिता उनके लिए उस सख्त बल नागरिक के अतिरिक्त कुछ नहीं था जिसने एक पारिवारिक बसावकी को सम्म ओषों के पढ़ने का मनोरंजन मात्र बना दिया था। अगर इन आलोचकों पर विस्वास किया जाय तो टास्सटाय के सपग्यास जारी अवास्तविक बटनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं और न ही १८१२ के स्वदेश-मुठ के बुद्ध प्रतिश मनुष्यों के चिन्म—जिनके अस्तित्व ने 'बार एण्ड पीस' के पृष्ठ रंदि से।

किन्तु सभी शान्ति विरोधी पक्ष का आक्रोश भी क्या और कमी-कमार इन कीचक उच्छास समीक्षकों में उठाए गए मख-बुरे प्रथन ही उसकी जागरक और सतक प्रतिभा के प्रमाण बन कर प्रकट हुए।

१८१२ के मुठ पर टास्सटाय ने हर्से एक असूतपूर्व मसाला दिया है। मैपे लिबन की सेनाएँ प्लेटन कैरेटसे से पराबित नहीं हुई थी वरिक्त बसी सेना से पराबित हुई थी जिसके सड़ाक चीनिक यूरोप मर में अडितीय थे जिन्हें निर्भीक साधियों और कयी बनता द्वारा सुपुनी सहायता और पोष मिळा।

बंसा कि सेबक ने स्वयं कहा है कि 'बार एण्ड पीस' के विचार जनता से उठे मिळे हैं। टास्सटाय का कहना है— १८१२ का मुठ मातृभूमि के लिए जीवन और मृत्यु की कली चुनौती था। वह संघर्ष था—कयी हृदयों का। तमाम कयी पुस्य और

कस्म मे ऐसी बिप्रोहिणी नारी का ब्यक्तित्व काँका जो साहस पूर्वक जिया रही प्रतिकूल परिस्थितियों से लुझी और हारी नहीं जाहे टूट फूट गई। पठि से सम्बन्ध निष्क्य और अन्त में उसकी मृत्यु उस समाज को लुझी चुनौती है जो सन्धे मानवीय भावों का लुभेजाम मज्जा घोंठते हैं।

मृत्यु क समय स्वयं जन्मा के हृदय के छार भी सहसा क्षणभंगना उठे व त्रिसे गहुरा सबमा और दुष्ती तमन्नाओं की कर्कीच ने जग लड़ा दिया ना। उसके हृदय की गहुराद्यों में जो प्रेम का घोठा फूट पड़ा था और जिस मुहाने सपन में बह जो सी गई थी और अपने अस्तित्व को बिस्मृत कर बैठी थी वहाँ पहुँचकर उसे ज्ञया कि उसमें पग-पग पर बटियल बट्टानों भी ह और बंधकार में डूबी जाइयों भी।

दरअसल जीवन में जनेक बाधण आबाध छह कर सेसक सत्पिडित को उदार करपा बने में समर्ब हुवा है। कबण पहलू अर्थात् दूसरों के दुःख-दरद को बड़ी ही पैनी कुष्टि से टोसना साब ही ऐसे प्रसंगों में आत्मा की समुची यहराई उँडेस देना उस मनोबैज्ञानिक सन्ध का उच्चाटन करता है जिसके बिना कोई भी कला महान नहीं होती। अकथनीय स्थानि और भस्माद्या के इस पुहरे भाव की प्रतिक्रिया में एक साथ उमड़ती और छिमटती रेकार्पे स्वामी मानव-समस्वामों क सम्पूर्ण और सन्धे बिच सभारने की क्षमता रकती है।

टासस्टाय की किजनी की बहिरतीय टारुत बबरम ही धरना के जीवन के अन्तिम दिन में बहुत अधिक उष कम कचोट काकर विछमिसा देती है। जब वह अपनी बगनी पर राबधानी की सड़कों से चुनती है और भूतकाक के भूमे-बिसरे बिच उसके सामने से बुराने जगते हैं तब वह एक बरसठे हुए तान्त्रिक सम्मोहन के बधीमूत हो जाती है और कहती है—“यह सब नीचता है। व गिरजाघर में बंने बजा रहे हे और वह ब्यापारी किजनी साबधानी से ब्यापार कर रहा है मानो उसे कुछ को जाने का डर हो। ये गिरजाघर क्यों हैं यह बंटा क्यों है और यह क्यों बोला है बगा है? क्या केबक इसकिए कि हम तस्य को लुपा दें जिससे हम सब आपस में एक दूसरे से लुपा करें। जैसे वे मोटर-बाइजर आपस में लुभेजाम गन्धी गाकियाँ बक रहे हैं। यह सब मायाजाल है, बयाबाजी है, गिप्प्या है पड़मन्त्र है—नीचता है। उपम्यास की नादिका की मानवीय मुख की लोब और उसकी कार्मिक मृत्यु पाठक की हृदय-तन्त्रियों को लकसोर देती है।

टासस्टाय का तीसरा प्रमुख उपम्यास ‘रिसरेकशन’ है। उसमें निर्बन्धी बनि बारम जमीबाटी प्रथा का मर्मस्पर्धी बित्रांकन है। ‘यहाँ टासस्टाय ने’ —अन्ति के शब्दों में—“सबसे अधिक यथाव उद्देक झूठे गक्राव को बोसा है।

कला के बारे में टासस्टाय के विचार है कि कला लोगों को प्राप्य होनी चाहिए। अपने प्रसिद्ध लका कला क्या है? में उसने लिखा—“जैसे ही ऊपरी दर्ज की कला को बिकास से हटकर कोई कला की बबनति की छोर अपसर होने जगता

कुछ पाश्चात्य कवियों की ग्राम्य सामाजिकता

उच्चस्तरीय काव्य जीवन के सूक्ष्माति सूक्ष्म तत्वों को आत्मसात् कर नियुक्त अवतारणा और उदात्त भावना की प्रतिबिम्बि का निरूपण करता है पर इससे पूर्व कुछ ऐसा भी सुजन है जो रात-दिन के अनमूठ प्रयोगों और नित्य प्रति आँखों से मजदुरों वाली घटनाओं और अगणित समस्याओं में से वास्तविकता को ग्रहण कर उसके सत्सीन्वय का दशन कराता है। ऐसी कविताओं में शोक-संवेद्य उपकरणों के बीच हृदय की सच्ची अनुभूतियाँ उरगित होकर प्रबहमान रहती हैं। समाज के नीचे-जागत वृक्षचित्र ऐसे पक्षों में जैसे उरते रहते हैं और परिस्थिति पात्र एवं प्रसंगानुसृत व्यापक अनुभूतियों के संयोजन से प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करते हैं। कवि का अस्तमंन लोकमानस की चिन्ता धारा से जुड़कर एक विशद सजीवता और सुसम्पन्नता संजोता है जो जन-जन को तुष्ट करन वाले ज्ञान-जीवन के अमृत रूपों को छसकाता है।

यहाँ कतिपय पाश्चात्य कवियों की वन्दित कविताओं में शोक-संवेद्य के उपादानों की स्वीकृति और उनका निर्बाह केवल कुछ वर्षों में ही नहीं हुआ अपितु उनमें शाबगी, भाव-जातीय और प्रयोजन की सपाई है। जीवन की अनगिन ऐनन्दिन घटनाओं में से कुछ ऐसे व्यावहारिक मुक्तों को चना गया है जो सीधे मन और प्राणों को कूते हैं।

सब सामान्य काव्य की विसपता है कि कवि अपन विशिष्ट व्यक्तिगत और इतर-उत्तर बटोरे अनुभवों को इतना संवेद्य और व्यापक बनाकर प्रस्तुत करे कि जिस से उसकी वह तक पहुँचा जा सके। विभिन्न और बहुविध स्तर की जीवों के भावजुव इस प्रकार का सम्पूर्णमास सर्वनात्मक समावनाओं को अधिकारिक विकसित करता है। कसा-सुजन की दो मुख्य कर्तवियाँ हैं—एक सैदानिक चेतना और दूसरी व्यावहारिक चेतना। मनोवैज्ञानिक व सैदानिक विवेचन आंतरिक संघात का विग्रसक है पर व्यावहारिक चेतना की अनुमति किस प्रकार सामान्य अनुभूति के साथ एक सतह पर खड़ी की जा सकती है और उससे मानवीय भावनाओं का जैसे ताशात्म्य किया जा सकता है—यह देखना है। परबसक ऐसी अव्याहत कसा ही उस वैचारिक संवेद्यि को अन्म देती है जिसकी पृष्ठभूमि में एक परम्परा और वर्धन का निवास होता है तथा कुछ विशिष्ट शोकावधों की प्राप्ति के लिए वस्तुस्थिति की सापेक्षता और सत्य

निर्जीव कर दिया था। अत्यन्त परिश्रम के कारण उनका स्वास घुटा जा रहा था और आँसू निकली पड़ रही थी। अन्त में वे कुत्ते मार्ग में निरन्धेष्ट होकर गिर पड़े। वह अवशेष करती हुई भीड़ तक कहीं थी? उसका कोमाहक ता बहुत पहले ही घाय्त हो गया था। आत्म्य के बाजे था इस दीड़ का स्वागत कर रहे थे बहुत पीछे छूट चुके थे। सर बास्टर और उनका हाथ बोज़ा*—ये ही दोनों अकेले दीड़ रहे थे। यह दीड़ पृथ्वी की सी नहीं बरन् स्वर्गीय सी प्रतीत हो रही थी। बचारा हाट अत्यन्त कष्ट से पकव पर चढ़ा। वह कितनी दूर तक दीड़ इसका विवरण देने के लिए में यहाँ नहीं रुकूँगा प्रत्युत् उसकी हृदय-विवारक मृत्यु की घटना का ही उल्लेख करता। सर बास्टर के सम्मुख उनका भीर अरब पीन-हीन असाहाय्य बस्वा में मरा हुआ पड़ा था।

वे मृत बोड़े से उतर कर एक झाड़ी के सहारे बैठ गये थे। कुत्ता मनुष्य बनना परिचारक कोई भी उनके साथ नहीं था। इस निर्जन स्थान में उन्होंने विषयसूचक शब्द बनना बाध-ध्वनि करता आवस्यक नहीं समझा। वे हर्ष से पद्गद् हो चुपचाप उस घोड़े के मृत शरीर को देखते रहे।

उस झाड़ी के समीप जहाँ सर बास्टर बैठे थे विषय प्रदान कराने वाला वह मूक प्राणी निर्जीव पड़ा था। उस ने मुख से सफ़ेद आवा निकल रहे थे। उसके मासिका-रंघ्र पहाड़ी के नीचे बहते हुए मोत के जल को स्पर्श कर रहे थे। उसके अन्तिम गहरे स्वास के साथ जो अस्-कण उड़ कर या गये थे वे अभी तक वायु में प्रकम्पित हो रहे थे।

बोड़े की मृत्यु का हृदय अपूर्ण था। सर बास्टर आनन्दातिरेक के कारण बहुत देर तक स्थिर न बैठ सके। वे सोचने लगे—क्या मनुष्य का भाग्य इतना उज्ज्वल भी हो सकता है? उन्हें अलौकिक अपरिमित आनन्द की अनुभूति हो रही थी। वे प्रफुल्ल-चित्त चारों तरफ़ घूम-घूम कर उस स्थान का निरीक्षण कर रहे थे।

कुछ दूर पहाड़ी पर चढ़कर सर बास्टर ने अनेक अन्य पशुओं के पीठों के पिछले भाग पर देखे। मुख पर से स्वेद-कणों को पोंछकर उन्होंने

* (हार्ट उस बोड़े का नाम है जिस पर सवार होकर सर बास्टर ने दीड़ में विषय पाई थी। स्वामी-मक्त हार्ट ने अपने स्वामी को विषयी बनाने के प्रयत्न में अपने प्राणों की कति बे की। हाट का वह अस्मिन्नात इस कविता की मूल प्रेरणा है।)

गर्मों के समय असह्य उष्ण दिनों में सर बास्टर खपनी। अधिक प्रेयसी के साथ उस मनोरम तिकुज में जाते थे और अनेक गर्तियों तथा गायिकामों के मृग्य सगीतादि से अपना आमोद प्रसार करते थे।

यथा समय सर बास्टर की मृग्य हुई और उनका मूठ छटीर उनके पूर्वजों के समाधि-स्नान में बहला दिया गया। किन्तु यह सब बतकाना हमारा उद्देश्य नहीं। अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये हमें कुछ और भी कहना है।

आदर्शजनक बहामिया-किस्ते सिक्तता मेरा व्यवसाय नहीं बार न मे इस कला से परिचित ही हूँ। मगनधीस व्यक्तियों के लिये सबकाय के समय कुछ चिन्तन का विषय प्रस्तुत करने में ही मुझ पर प्राप्त होता है।

एक बार जब कि मैं हाम्ब से रिचमाण्ड जा रहा था। मेने मार्ग में एक लम्बी बाटी की चौकोर भूमि के छानों कोनों पर तीन सूखे हुए अंगली वृक्ष देखे और एक बृहत् लगभय बार गज की डूरी पर कुएँ के समीप देखा।

इन वृक्षों का क्या अभिप्राय है—यह जानने के लिये कौतूहलवत्त मे चोड़े पर से उतर गया और तभी मेने एक पक्षि में सब तीन पत्थर के पत्तों को भी देखा जिनमें से अन्तिम लम्बा अँधरी पहाड़ी के शिखर पर स्थित था।

वे वृक्ष विस्तृत सूख गये थे। उनमें पत्ते नहीं थे दाबाएँ भी नहीं थीं। उस चौकोर टीले की हरियाली सर्वथा गप हो चकी थी किन्तु यह सब देखकर अनुमान लगाया जा सकता था कि विगत काल में यहाँ मनुष्य भी कभी रहते होंगे।

मेने पहाड़ी के चारों ओर बहुत ध्यान पूर्वक देखा। ऐसा मयामक और निर्जन स्थान मेने पहले कभी नहीं देखा था। प्रतीत हुआ था कि बसन्त का आगमन यहाँ होता ही नहीं और प्रकृति सर्वत्र यहाँ रोगी रहती है।

मैं यहाँ बहुविध भावों और विचारों में लीना हुआ लड़ा था। उस समय एक गवासा जाटा हुआ बिसार दिया। मेने उसे पुकारा और उस स्थान के बारे में पूछा।

वह व्यक्ति रका और उसने वह कहानी बतलाई, जिसका उल्लेख मैं अपनी पूर्वोक्त कविता में कर चुका हूँ। उसने कहा— गुडरे-बमाने

किन्तु अब न ता यहाँ पास है और न सपन छाया ही। पुप भी इस निर्जन भीहड़ प्रदेश में कमी नहीं चमकती। मेरी सम्मति न जब तक इन बूटों पत्थरों जलजलम समी का क्षय नहीं हो जायना तब तक यहाँ मृगदेव की कृपा नहीं होगी।

प्रत्युत्तर में मेने कहा—“महोदय ! जापका कथन सर्वथा सत्य है। मेरे और आपका विचारों में बहुत कम अन्तर है। उस अभाग जीव की वारण हूरया प्रकृति की वृष्टि से छिपी नहीं अपितु वह अब भी उसकी मृत्यु पर सहायमूर्ति से अल्प विमोचन करती है।

‘वह अल्पवत शक्ति जो सर्वत्र वायु, मेघ पत्तों और निक्षुब्धों में निहित है अपने प्रिय सरल निरपराध जीवों के कष्टों और दुःखों की पुनीत स्मृति में सबैव बड़ा और प्रेम के भाँसू बहामा करती है।

‘यद्यपि यह रमणीक स्वान भाव बीरान और उजाड़ है और इसका चारों ओर सर्वनाश और अज्ञकार बृष्टियोधर हो रहा है तथापि प्रकृति कभी किसी समय इस स्वान का भी स्वागत करेगी और अपने गौरव को वह यहाँ पुनः प्रसारित करेगी।

अब जो इन वस्तुओं को उसन मष्ट होने के लिए छोड़ दिया है वह इसलिये कि हमें यह विदित हो जाय कि हम कितने तुच्छ मनोवृत्ति के और बिकेहीन हैं। किन्तु भविष्य में क्या करके वह इन दुःखय स्मारकों को पृथ्वी के गर्भ में छिपा लेगी। मित्र ! प्रकृति ने जो कुछ हमारे समक्ष प्रदर्शित किया है तथा जो कुछ अपने भीतर छिपा रखा है उससे हम यह उपदेश ग्रहण कर कि हम अपने सुखों और महत्त्वा काँदाओं की पूर्ति के लिए तुच्छ से तुच्छ जीव को भी कमी नलेख न पहुँचार्ने।

अपनी सुप्रसिद्ध कविता ‘सूखी दे’ में बहसंबर्ष ने बड़ी मार्मिक और कवना प्लावित भावनाओं का विस्फूर्जन कराया है जो किसी तार्किक आभार पर स्वतन्त्रिष्ठ नहीं अपितु अठवर्षपूज अंतर संपात को व्यक्त करता है

“मे प्रायः लूरी प के विषय में सुनता था—और एक बार जबकि मे बस में भ्रमण कर रहा था ता प्रातःकाळ की छाँय-बहा में मुझे उस एकाचिनी बाधा के दशन हुए।

पृथ्वी की विभूति वह सरल सोसी कन्या एक विस्तृत भूखण्ड में रहती थी। अपने अल्प जीवन में वह सबी-उहेली का परिषय भी प्राप्त न कर सकी। मानव-भृष्टि में ऐसी उत्कृष्ट कुमारियाँ बहुत हीभाग्य

पुनः उनका अनुसरण किया। बहुत दूर तक भी वे समाप्त नहीं हुए। अन्त में कूसी के माता-पिता पुछ पर पहुँचे। पुनः बर्फीले किनारे पर उन्हीं पद-चिह्नों का पीछा करते हुए वे पक्ष के मध्य में पहुँच गये। ठीक उड़ी स्वर पर इन पद चिह्नों का अन्त था।

इस बुर्बटना के पदचातु भी सोमों का बूढ़ बिन्बास है कि बालिका खनी तक भीविठ है और पुन्य बन-कन में मना-कदा उसके दर्शन होते हैं। उँचि-नीचे पुरह बिपम पधों में भटकती हुई बह बिना पीछ मुड़े भाग बढ़ती रहती है और अत्यन्त करण दुःखमय गीठ माती है जो बामु के स्वरों में निरन्तर ध्वनित होता रहता है।

बड़े-बड़े कवियों तक की कविता के प्रेरणा-स्रोत कभी-कभी इतनी तुच्छ नगण्य वस्तुओं पर आधारित होते हैं कभी-कभी वे खुद बीबों के स्नेह सीहार्न और सहान भूति में इतने आरमभिमोर हो उठते हैं कि उनके जीवनगत दृष्टिकोण अपनी समस्त मर्यादा के साथ उनक सम्मुख हाथ बाँधे बड़ रहते हैं। इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध कवि राबर्ट बर्न्स की यह बिषयता थी कि तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं में भी उनकी दिव्यरसपी और मानसिक शक्ति धनिय थी। सन् १७८५ के नवम्बर मास में एक दिन एसी बटना बटी कि जब बर्न्स सत में हक बका रहे थे तो उनके हक की धुरी से एक बूहे का बिलक उलट-मुलट गया। बूहा भयातुर हो खोर से भागा। बर्न्स का ध्येन नाम का एक सेबक छड़ी छेकर उसे मारने बौड़ा किन्तु बर्न्स ने उसे यह कह कर रोक दिया 'जया इसने तुम्हारी कोई शक्ति की है? सम्प्रा समय के कापक-ककम छेकर बठ नए और उन्होंने बूहे पर कविता लिख डाली। बर्न्स की इस सुप्रसिद्ध कविता 'टु ए माइस' (To A Mouse) का भावार्थ नीचे दिया जाता है

॥ओ छोटे धीब भयातुर, डरपोक प्राणी। तेरे पैर में यह कौसी उबल-मुबल मची? तुझे इस प्रकार आर्तनाब करते हुए क्षीमता से सरपट डौड़ने की आवश्यकता न थी। मैं अपनी हिलक आकाशाओं को छेकर तेरे पीछे भागने की बुध्दता न कर सकता था।

मुझे हाबिक सोम है कि मनुष्य का अनुशासन प्रकृति के सुख सामाजिक सम्बन्धों को क्षय कर में ध्वस्त कर देता है। मेरे जैसे तुच्छ पृथ्वी से उत्पन्न लजा और चिरंतन साधी के प्रति तेरी यह बुमबिना जिसने कि तुझे इतनेब से भागने की बाध्य किया, न्यायसयत ही है।

निःसन्देह, तू सब फलता-पूरता रहे। ओ छोटे धीब। तेरा अस्तित्व इतना स्वल्प है कि यदि तू हमेशा बरकरार रहे तो इति ही गया है। मैं तुझे सम्भावना पूर्बक आजीबाँब देना कभी न भूलूँगा।

तेरा बुरा सा छोटा घर उबड़ गया। अब इस अतुलिक कौनी हरीसिमा में गया।

में ऐसे प्रमाण मिले हैं कि सम्राट् घोषोमन भी कवुतरी को डाक हफ्तारों के रूप में पालता था।

ग्रीक रोमन पारसी और पेरसास के शाही सत्यरस में इन कवुतरीं को अवेणबाहक के बतौर इस्तेमाल किया जाता था। युद्ध और धार्मिक प्रेम और व्यवसाय जीवन-मरण सुख-दुख सदेशों का विनिमय उनके द्वारा होता था। गॉस की विजय के समय जूलियस सीज़र ने कवुतरीं से सहायता ली थी और इतिहासकार प्लाइन ने लिखा है कि सम्राट् हरटियस और वूटस ने मांडना यज्ञ-काल में कवुतरीं को सदेश विनिमय का माध्यम बनाया था। सुप्रसिद्ध बाटरलू की लड़ाई में कवुतर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए थे।

हमारे यहाँ मुस्लिम राजाओं से भी पूर्व कवुतरीं का उपयोग होता रहा है और अंग्रेजी शासन काल तक उनके द्वारा 'डाक सर्विस' का प्रत्येक मिस्त्रा है। ५९३ ४७८ ईसा पूर्व एक यूनानी कवि की रचना है जिसे सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि टामस मूर ने अंग्रेजी में रूपांतरित किया है।

भेरे प्यारे कवुतर । यतामो न ।
 क्यों तुम इस प्रकार अपने सुकौमल
 व्यर्थ पंक्तों को फड़फड़ा कर
 बाधु में पुष्पों की सुखर भीनी यत्न
 विकीर्ण करते जड़े खले का रहे हो ।
 बताओ न ? किपर कहीं
 किस गलतप्य की ओर
 तुम भ्रमण कर रहे हो ? प्रिय पत्नी ।
 बताओ न मुझे अपनी
 पूरी कहानी तो सुनते जाओ ।

विचित्र पक्षि !
 टौमन संगीत-परम्परा के भारत कवि से
 मेरा सम्बन्ध है और न नीलकण्ठ
 घोमन नेत्रों वाली तोखर्ये-अपतरी के पास
 उतका मादेश-यत्र
 लिखे जा रहा है
 जाहू ।

इन नेत्रों ने न जाने कितनों को मरमत बनाया है
 पर कवि तो सर्वाधिक उसके स्नेह-यात्र में आबद्ध है ।
 प्रेम की देवी 'वीनस'

अपनी अबाधित उदारता का परिचय देते हुए उसने संविद को बाहरी बीमार पर रक्ष दिया है मानो कि मैं उगरे लूंगी या वहीं पड़े रहने दूंगी ।

क्या मैं निर्मम हूँ या कि कृतघ्न क्योंकि इन अमूल्य बेझाकीपत्ती उपहारों के बदले में तुम्हें कुछ भी तो नहीं दे पा रही हूँ—सबमुक्त कुछ भी नहीं । किन्तु ऐसा नहीं, मैं निर्मम या कृतघ्न नहीं बल्कि मजबूर और इयनीय हूँ । ईश्वर से पूछो जो सर्वज्ञ है ।

अनवरत अभुओं में मेरे जीवन की साक्षिमा को अपहृत कर लिया है और मुझे मृत और निताप्त निष्प्राय बना दिया है । यह ठीक नहीं है आखिर मेरा यह आचार नहीं बन सकता जो उसका है ।

आवे आओ । मुझ से दूर । पर मैं ऐसा अनुभव करती हूँ मानो मैं अब से तुम्हारे आश्रय को छाया में खड़ी रहूँगी ।”

सभार-साधनों के समुचित चिन्ता के पूर्व पैदा हुए कार्यों को मार्ग की अग बिनत बटिनाइयों को पार करना पड़ता था । बाँधी-तुफान बर्पा-बुध और टैची-नीची समतल या पर्वतीय भूमि पर बिड़ पहलाने वाले अंगुली जानवरों से लोहा छेते हुए जान हथेली पर रख कर बसिअक उग्रे जाने बड़ना पड़ता था । इन हुरकारों के पास एक चाबुक होती थी जिसमें छोटी-छोटी बटियाँ कपी होती थी जो इनके भागमम की सूचक थीं । सुप्रसिद्ध कवि रुबियाई किर्वाँठय ने 'ओवरलैंड मेक' की 'पूट सर्विस' (पैरल सेबा) का बड़ा ही रोमांचक वर्णन प्रस्तुत किया है ।

“भारत की महारानी के नाम पर अघसर होते रहो जो अंगुली के स्वामी । तुम बाही कहीं भी हो आगे बढ़ते रहो ।

साँध्य बेला में बन प्रीतर अखिर हो उठता है यहाँ का वातावरण अघांत हो जाता है, फिर भी इन बनबासी अपने घरों से आने वाले पत्रों की प्रतीक्षा कर रहे हैं । डाक छिन जाएँ । घेर अपनी दुम को पीछे मोड़ लें । पहली डाक महारानी के नाम पर किसी तरह सुरक्षित पहुँच जाए ।

ज्योंही साँध्य अंकार लगन होता जाता है घटियों की अमजुन के ताब हुरकारा पमबंडी पर मुड़ता है—जस पमबंडी पर जो पहली पर ऊँचे से जाती है । उसकी पीठ पर डाक के बले लटके हुए हैं और ठोड़ी पर कपड़ा लिपटा है । कमरबंद पर डाकजाने का यह सूचक-चिह्न कटका है जिस पर लिखा है 'रिस से प्राप्त करते ही अमुक तारीख को हुरकारे द्वारा ओवरलैंड मेक के दो बले भेजे गये ।”

क्या मरी में बाढ़ जा गई है ! उसे रीर कर पार करना हीया या नष्ट हो जाना होगा । क्या बर्पा ने सड़क को अबरद कर लिया है ? उसे स्थिर पर से उतरना होगा । क्या अर्पकर तुफान उसे बकने का संकेत देता है ? पर बाँधी-तुफान

बहु हल बनाते बंध से अपनी ताकत की होड़ करती है
 जैसे ही मिट्टी के डोके उखाड़ते हैं
 प्यवा के डोके उसके कण्ड को रुप देते हैं ।

रात्रि में

जबकि उसका काम खरम होता है
 बहु पहाड़ियों पर जाती है
 उस प्यवा बुदा की छितराईं टहनियों के समीप
 घुटने टेकने और रोने जहाँ उसका पति
 बिजली से आहत होकर मरा था ।
 मुँह अँधेरे से उठकर मध्य रात्रि तक
 बहु बुद्ध बनेओं से अनभिन्न गुलाम सी
 कड़ा भ्रम करती है
 स्वाभिमान की निर्मम कड़ता सँभोए
 अपने अलहाय भाठ बच्चों का पालन-पोषण करती हुई
 जो मित्रप्री के सुनों से बंधित है ।

मुँह अँधेरे से मध्य रात्रि तक
 बहु कड़ा भ्रम करती है
 उस मग्ने बल की तरह,
 जो कोल्ह में झुटा हुआ
 अपने घिर-परिबन्धित पत्र पर अचिरत चक्कर काटता है
 और शासता के अनाज को बलकर
 जीवन की करारक पैदा करता है ।”

मानव की उन्मुक्त आत्मा शासता का बंधन कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहती मगर चिन्दगी की अनगिनत मजदूरियों और पेट की भाग में मजदूर नाम की चीज को पस्य दिया । एटीबी की मार उसकी आत्मा के स्वाभिमान को चाट जाती है, उसमें कुछ बचता नहीं । इजिन की भट्टी में फोयला सँकने वाले मजदूरों का एक वृत्त बिना इसी कवि के भागल पटक पर कैसा घमरा है

“कमर तक उबड़े बदन
 बहु भीतर जोह में घुस जाते हैं
 उन मफकर अँधियाली जोहों में
 जो अग्नि से आलस्यवित और पुर्ण से ठसाठत है
 वे नीचे छाया में पैठते हैं
 उन लयन छयाओं में जो मूल, राज और कालिख से अंतप्रोत है ।

प्रसाद के जगम पर आकाश सुशिर्या मना रहा था ।
 बर्षा के बिबुकनों से घास चमक रही थी
 विद्यालय मूकध्व में करपोष उत्फुल्ल हो चौकड़ी भर रहा था ।
 बलसिक्त बरती से बल का पद उड़ता और बुझाबें भरता हुआ
 वह बीड़ रहा था ।
 जहाँ कहीं जाता था
 यह घुब भी धूप में बमकता हुआ उसके साथ पड़ रहा था ।

म तब जब विद्यालय मू-प्रवेश का पंथी था ।
 प्रसन्नता में बिमोर करपोष को चौकड़ी भरते मने देखा ।
 दूर बम्प-प्रवेश म बल की पड़नड़प्राप्त भी मने सुनी
 मचवा सब सुनकर भी जैसे अनजान था ।
 बचल बालक-सा मस्त
 तुहावने जीवम ने मेरे हृदय को अभिभूत कर लिया था ।
 मेरी अपनी अशोत स्मृतिर्षा
 दूसरों की बिर्बना मरी मनहूस बातें
 म सभी कुछ बिस्मृत कर चुका था ।

पर जेता कि प्राय होता है नुसी का अस्तिनाय्य बिबेध-प्रकित
 को सिधिल करता हुआ प्रसन्नता में हमें कितना ही ऊपर उठा देता है
 विद्या के क्षणों में जतना ही नीचे बेंठा भी देता है ।
 वह प्रस्त मेरे किये पसा ही सिद्ध हुआ ।
 भय बरी अस्तभावित कल्पनाओं ने मसे बकाड़ किया ।
 नु बली उवासी और भाजंकारें,
 नहीं बालता कि उन्ह क्या कर्हें
 नुस पर बरी तरह का पद ।

जने लबा पकी को आकास में बहकते सुना । बपल करपोष के
 बारे में भी में सोचता रहा । आह ! मैं पृथ्वी पर कैसा नुसगसोब
 प्राची हूँ । इन सौभाग्यसाली प्राचियों की भक्ति ही
 में समस्त बुविषताएँ मुलाकर बुनिया से दूर—बहुत दूर—बला
 आया हूँ । लेकिन क्या जाने एक दिन ऐसा भी कभी आए
 जब एकाकीपन मनोवेदना दुःख और परीबी मुझे आ घेरें ।

गरी जिनगी मने कलमस्ती में पुजार बी जार्गों जीवन का व्यापार
 केवल खन् विर्गों को बहार हो । मानो सभी ममीस्तिव वस्तुएँ
 मेरे सुखर बिश्वास और अब तक की मेरी सुखर समृद्धि पर रीसकर

बादम और बज्र सा कठोर बनाता पड़ता है । यही एक लम्बे इस महारवि की पृष्टि की गहरी पेंट का उबलन्त प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है :

“गहरे

नीचे गहरे

पुष्पी के प्रसार कोष म

और तरक की-सी अंधेरी पत्तियों में भी

वे कोयला छोड़ते ह ।

जमीन की कठोर काली छाती को चीरकर

वे कोयला छोड़ते ह ।

हर जगह

कामत की रेखाएँ

जो सघन छायाएँ बनकर उनकी आँसों में बँस जाती हैं

जबकि रस-सी कालिमा रस्सों द्वारा

सकमोरती हुई

उन्हें काली लक में इकेल बेती है ।

गहरे

नीचे गहरे

पुष्पी की अंधेरी सीली कोस में

बुपचाप और बनबेसे

जगता बिल धड़कता है

जबकि ऊपर

जमानक सुनापन

निर्मम घना

और कोयले की अट्टन-सा बाह्य बनकर

उनके तिर पर छाया रहता है

हुनेसा

नीले स्वच्छ आकाश को

एक नजर बेसन के लिए

उनकी आत्मा तड़पती है

और तारे

अप्रभाषित पुलाव पुष्पों से

बिनास के पृष्ठों में संश्लिष्ट है जग पड़ते हैं

मैदानी बाड़ के छोर पर बहु बूढ़ उस निश्चित बाबल सा बड़ा ना
जो हवाओं की भीषण गड़मड़कट्ट को भी नहीं सुनता
ओर यदि बसता है तो एक साप भार-संभार लेकर चलता है ।

तबन्तर अपने को अनिश्चित करके उसने उस लक्ष्म्या को छोड़ी
सै झकझोरता और उसके पंखले पानी में इस प्रकार डूबिष्ट पड़ाकर
बेसा मारों कठस्य करने के लिए बहु किसी पुस्तक को
ध्यान से पढ़ रहा हो । एक अपरिचित का श्रेय लेकर
और उसके समीप आकर मने उससे कहा आज
का सुबह एक सुन्दर सुहावने दिन का द्योतक है ।

बूढ़ ने विनम्र माया में कमशः दाम्बोध्कारण कर, मेरी बात का
सौम्य उत्तर दिया । फिर मने उससे पूछा, 'आप वहाँ क्या कर
रहे हैं ? आप जैसे बयोबूढ़ व्यक्ति के लिए यह जगह नितांत
सुनी है ?' अपनी बुझी आँसों किन्तु अब भी प्रखर डूबिष्ट
कँकड़कर किञ्चित् आश्चर्य के साथ उसने उत्तर दिया ।

धीन कठ से लीप सख्य बीमे-धीमे बाहर भाए, पर प्रत्येक
तरतीबदार एक के बाद एक गुरु गभीरता लिये और ऊँची
भावनाओं को समझे । चुने हुए सख्य और लपी-मुझी बात जो
सामान्य व्यक्ति की समझ से परे की चीज की एसी
छानदार बक्तृता जैसी स्काटलंड के समाधि-निवासी
और धार्मिक व्यक्ति जो ईश्वर और ज्ञानव मात्र के
लिए सर्वस्व अर्पित कर देते ह, बोलते हैं ।

उसने बताया कि बल में बहु जोक बूढ़ने भाया है । बूढ़ और
निर्बल होन के कारण यह व्यवसाय उसके लिए बड़ा ही कष्टप्रद और
पका देने वाला हो गया है । उसे मगक मुसीबतें पठानी पड़ती हैं ।
एक मदान से दूसरे मैदान एक लक्ष्म्या से दूसरी लक्ष्म्या इस
प्रकार दर-दर मटकता ईश्वर की कृपा पर निर्भर बँसा भी मौका
देकता है वहीं आश्रय ग्रहण करता है । इस तरीके से
ईमानदारी के साथ बहु अपनी आजीविका कमशा है ।

बूढ़ अभी तक मेरे समीप बड़ा बातें कर रहा था । किन्तु अब
बसकी बायी बक-प्रवाह सी चीमी बड़ी कठिनाई से डी तुन पड़ रही
थी । सख्य को सख्य से पृथक करना कठिन था । उस आदमी का

रुम और बच्च सा कठोर बनाना पड़ता है। यही एक ठम्प इस महाकवि की बुद्धि ने गहरी पैठ का एबलन्त प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है :

गहरे

नीचे गहरे

पृथ्वी के प्रस्तर कोण में

और गरक की-सी मधेरी पत्थियों में भी

वे कोयला खोबते हैं।

भूमीन की कठोर काली छाती को चीरकर

वे कोयला खोबते हैं।

हर जगह

कास्त की रेखाएँ

को सपन छायार् बतकर उनकी आँखों में बँस जाती हैं

जबकि रस-सी कालिमा रस्तों द्वारा

झकझोरती हुई

उन्हें काली जबक में डकेल देती है।

गहरे

नीचे गहरे

पृथ्वी की अँधेरी सीली कोख में

बुपचाप और मगरेसे

उनका बिल पड़कता है

जबकि ऊपर

भयानक तूनापन

निर्मम घना

और कोयले की चट्टान-सा बाबर बनकर

उनके तिर पर छाया रहता है

हुमेला

नीसे स्वच्छ आकाश को

एक नजर देखन के लिए

जमकी भास्मा तनुपती है,

और तारे

असभावित गुलाब पुष्पों से

बिनास के पुष्पों में छलित्य से जान पड़ते हैं

शास्त्र और कथ सा कठोर बनाना पड़ता है । यही एक तथ्य इस महाकवि की कृष्टि की गहरी पैठ का अक्षम्य प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है

गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी के प्रसार कोष में
और नरक की-सी अघेरी मस्जिदों में भी
वे कोयला खोदते हैं ।
जमीन की कठोर कामी छाती को चीरकर
वे कोयला खोदते हैं ।

हर जगह
कास्म की रेखाएँ
जो सघन छायाएँ बनकर उनकी माँझों में बँस जाती हैं
जबकि रात-सी कालिमा रस्सों द्वारा
झकसोरती हुई
उन्हें कामी खदक में डकेल देती है ।

गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी की अँघेरी सीसी कोष में
बुपचाप और मनबेखे
उनका बिल बड़फुटा है
जबकि ऊपर
भयानक सूनापन
निर्मम धना
और कोयले की अट्टान-सा बरख बनकर
धमके सिर पर छाया रहता है

हमेजा
नीले स्वच्छ आकाश को
एक नज़र बेखन के लिए
उनकी आत्मा तड़फती है,
और तारे
अतमाबिल मुकाब पुप्यों से
बिनाश के पृष्ठों में संश्लिष्ट से जाल पड़ते हैं

बादल और बज्र सा कठोर बनाना पड़ता है । यही एक उभय इस महाकवि की दृष्टि की महती पैठ का अक्षर प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है :

‘गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी के प्रस्तर कोण में
और गरक की-सी अघेरी बसियों में भी
वे कोयला खोदते हैं ।
जमीन की कठोर कासी छाती को चीरकर
वे कोयला खोदते हैं ।

हुर जगह
काकस की रेखाएँ
जो सघन छायाएँ बनकर उनकी आँकों में बँस जाती हैं
जबकि राल-सी काकसिमा रस्तों द्वारा
जलझोरती हुई
उन्हें काबी खरक में डकेल देती है ।

गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी की अघेरी लीली कोण में
बुपचाप और बनबेजे
उनका बिल बड़कता है
जबकि ऊपर
भयानक तुलायन
निमग घना
और कोयले की बट्टान-सा बादल बनकर
उनके सिर पर छाया रहता है

हमेशा
नीले स्वच्छ आकाश को
एक नजर देखान के लिए
उनकी आत्मा तड़पती है,
और तारे
असंभावित गुलाब पुष्पों से
बिनास के पृष्ठों में संस्तिष्ठ के आन पड़ते हैं

जबकि रात में चंद्र
 उनकी आँसों के सामने विद्यमान है
 वे भीच बैठे हुए
 कसकर विपटकर
 हाथों से लट्टों को जकड़े रहते ह
 जब कसकर जकड़े हुए
 मासो नींद के दुर्दान्त मोड़ों को
 अपने 'स्व' में समेट लेना चाहते हैं ।

हलबाइयों के प्रति' मीरक कविता में घोर के पहले रात्रि में उगनी क्या स्थिति
 होती है, किस प्रकार मायिज दुर्ध्वंशस्या से अनिच्छित ये मेहनतकश मुक्त मामन
 किन्वगी के दुर्बह भार का बोते हैं और अपनी अभावग्रस्त विभीषिकाओं में स्थग्य और
 हृत्पथ से सम्य विवात हैं । डॉ. बस्टन मेकडानिमस ने अपनी समालोचक रचना को
 ऐसे शब्दों में सजीव रूप में उभार कर रचाया है

'एक लकरी कोठरी में टूटकर बैठे हुए
 जीवन की दुर्गन्ध और मृत्यु की विभीषिका से संभस्त
 वहाँ हुआ उन्हें कबोदती है
 जब मोमबत्तियाँ अपनी लपट से पिघलकर लपट हो जाती हैं
 उसी प्रकार उनका शरीर भी विघ्नता है ।

एक लकरी कोठरी में ठ सकर बैठे हुए
 उनकी आँसु धूर रात्रि के अँधेरे में तरती हैं;
 वहाँ तक कि सर्भनाश के घटावों की ओर
 और अन्वकार के दुरस्व कर्मों में
 वहाँ नींद के बख भी कड़कड़ा उठते हैं
 और पत्तियों के बोल भी ठिठककर बम आते हैं ।

एक लकरी कोठरी में टू सकर बैठ हुए
 उनकी आँसु रात्र की अँधेरे समय में जो आती ह
 क्योंकि अभी तक
 उनकी आँसुओं में प्रियित सुखकर नींद की कुमारी है ।
 वह नींद जिसमें खेतों का भय समाया हुआ है,
 लड़कड़ते लिखते खण्डरों का भय,
 उखड़ती, प्यती सास बरती का भय
 और बरारों बेभुमार बरारों की हस्की जीव का भय,

मीलों समूचे कपड़े पर
 बलबलत बीड़ते हैं
 खात सुल्ल जगलियों से
 निर्मम जजर जोगलियों से
 निव्याज बन्धी जोगलियों से
 अन्न भी
 सबैज
 के प्येसा ही करते हैं ।”

न केवल इस कवि की दृष्टि मात्रों तक सीमित रही है बल्कि परसद के अर्थ उजाड़ और इमर-उमर उड़ने वाले सूखे पत्तों तक को उसने अपनी समझती संवेदना प्रदान की है ।

‘हवा के तुकली शोकों से
 परसद के पत्ते
 निर्भीक निव्याज और खात से
 पानो सरब जगु तक बिद्याम करने के लिए
 जरापाहों में इमर-उमर बिजल गए हैं ।
 संघर्षों से जूमकर
 और सुन्द बनकर
 के नामों गरम करने के लिए
 शाकियों पेड़ों और बड़ों में रम गए हैं—
 जैसे कठिन धम करते हुए किसानों को
 उनके पीछों पर झिप्टे बोरे
 सर्षी से बचाते हैं ।”

इस कविता में कवि ने प्रेम और अन्न को परस्पर संस्मिष्ट कर दिया है । प्रेम और अन्न जीवन के प्रमख आपार और एक दूसरे के पूरक सहयोगी और पाबय रहे हैं ।

“प्रतिबन्ध प्रेम को पोषित करो
 प्रेम जो न जाने कब से किरने बिज अन्न से
 यहन बुनेंघ रहस्य है
 हृदय के प्रथम स्पन्दन
 और पीत के प्युले प्रस्वास से नी जो पुरोगामी है ।
 प्रतिबन्ध अन्न को पोषित करो
 अन्न, जो धृमा के भीषण तुकानों को
 और अंबकार के दुर्लभ्य पर्वतों को

बिस्म-साहित्य के इतिहास में जिनदी को सर्वथा नई दृष्टि देने वाली स्पष्ट स्थितियों के कुछ अभिनव पहलू या क्षण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं जिन्हें केन्द्र मानकर नसाकार अनुभवों का नया संस्पष्ट और दृष्टिकोण प्राप्त करता है। निस्संदेह, ये क्षण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और इन क्षणों में सिरजी कला में उसका आत्मदर्शन होता है। तात्पर्य है कि प्रकारान्तर से भावों का यह सबल चम्येय और प्राणवला ही साहित्य की बहु जाती है जो अपने सहज स्पर्श से अन्तरात्मा के भीतर ठक पँठ कर भावों को पुनर्कित और हृय-विमोह करती चखती है।

